बीहड़ पथ के यात्री

(डॉ. शिवप्रसाद सिंह पर केंद्रित)

प्रधान सपादक

डॉ. प्रेमचन्द जैन

सपादक

डॉ. देवराज

वीरेन्द्र जैन

डॉ. नरेन्द्र सिंह



नेशनल पब्लिशिंग हाउस

23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

शाखा :
चौडा रास्ता, जयपुर

ISBN . 81-214-0583-1

मूल्य : 300.00 रुपये

नेशनल पब्लिशिग हाउस, 23, दरियागज, नयी दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित/प्रथम सस्करण · 1996/सर्वाधिकार : डॉ प्रेमचन्द जैन/लेजर कम्पोजिग · कैंडिट सिस्टम (इडिया), नयी दिल्ली/द्वारा सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, ए-95, सेक्टर-5, नोएडा-201301 मे मुद्रित।

जैन सिद्धान्त, दर्शन, साहित्य एवं प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ तथा निर्भीक वक्ता पँ० पदमचन्द शास्त्री — अपने अच्छे मनस्वी मामा — को; मामी को सादर, सविनय अर्पित —

विनम्र
प्रेमचन्द जैन
१७ अप्रैल १९९६

तिहि गुरुवर सिउ पसाद कहुँ, पह दस्सावहि जेण।
तेणप्पियउ 'बीहड पह पहिउ' णेह णमिय भावेण ।।

—प्रेमचन्द जैन

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृशदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वास्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव-शिव शिवेति प्रलपतः।।

—भर्तृहरि : वैराग्य शतकम्

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्।

—ऐतरेय ब्राह्मण—7 : 15

नमन करूं मैं...

45-46 वर्ष के पूर्व पनपते बालक को आज मेरा मन बडी कातर दृष्टि से खोज रहा है । इस खोज मे कस्तूरी मृग के दौडते चले जाने के रहस्य से परते हटती जा रही है। अपने छोटे गाव की माटी की अदृश्य गध की डोर पकडे मेरा मृगमन गाव के गलियारो पर उछलता-कूदता अपने घर-द्वारे पहुच गया है । द्वार पर एक छोटी चबूतरी थी । सादे-सपाट नीम के तख्तोवाले किबाडो के खोलने पर दरवाजे मे प्रवेश करते ही एक ओसारा था। इसकी चारदीवारी के अदर एक दरवाजा देवालय मे जाने के लिए और दूसरा घर मे जाने के लिए था । घरवाले द्वार मे प्रवेश करते ही एक खुला आगन कच्ची मिट्टी की दीवारो पर टेढ़ी-मेढी कड़ियो की छतवाली दो कोठरिया और एक खुली छतवाला चौका था। उसके आगे फूस की एक छपरिया थी। एक कोठरी के आगे भितौनो के ऊपर टिके छप्परवाला इकौडा था। इसमे भैस की कुट्टी काटने के लिए कुटैडा एक कोने मे मिट्टी के भिडवाली आटा पीसने की हाथ से चलाने की चक्की थी। उसी कोने मे खुरपी गडासी दराती सब्बल आदि के साथ-साथ 2-3 मजबूत लाठिया भी टिकी रहतीं। इसे छप्परवाला घर कहते थे। इसके आगे खुले मे भैस की नाद और उसके बाधने की जगह थी। इकौड़ा के छप्पर की औलातियो के नीचे आगन की एक ओर मिट्टी के घेरे मे तुलसी सुदर्शन और गुलदोपहरी के पौधे थे। इकौडा के चौडे भितौने के सहारे एक ऊचे घिनौंची थी। जिस पर एक बडा मटका और दो घडे पानी से भरे रखे रहते थे। उनके ऊपर स्वच्छ कपडे के छन्ने ढके रहते।

घर के सामने से गाव का मुख्य गलियारा गुजरता। इसके दूसरी ओर डेढ़ गजी मिट्टी की दीवारोद ली लबी-चौडी दुपट कोठरिया, उनके आगे चौंतरिया और ऊपर छज्जो पर छपरिया पड़ी थी। इन कोठरियो के बाहरी भाग मे बैठक और चाचा का आयुर्वेदिक दवाखाना तथा अदर के भाग मे उपले-कडे, लकड़ी भूसा और टूटा-फूटा कबाड़ भरा रहता था। आज मैं सब कुछ पहले की तरह देखना चाहता हू। मा का दुलार बाप की डाट, साथियो की खिलवाड़, जानवरो की सेवा, मुहल्ले के बालक-बालिकाओ के साथ बकायन, निबौरियो मिट्टी से बनायी गयी गोलियो और कजो से खेले जानेवाला गुप्पल का खेल, पचकुट्टा आख मिचौनी

कोड़मारशाही, लवे सादिया, कबड्डी, अलग-अलग ऋतुओं के विविध खेल, दीवाली की फुलझड़िया, अनार, होली पर टेसू के रंग की बांस की देसी पिचकारी से चौपई निकालनेवालों पर बरसात--न जाने क्या-क्या ? माथा झटकने पर भी ये अक्रम चलता चले आनेवाला क्रम थमना नहीं चाहता । मन इतनी तीव्रगति से उडान भर रहा है कि सब कुछ गड्डमड्ड हो रहा है। किसी बात का कोई क्रम नहीं है। अपने बचपन के सभी लड़के-लड़कियों के साथ पढी स्कूली पढ़ाई, मारपीट, खेल, गोलबंदी । गांव के ठाकुरों की बारातों में होनेवाले मुजरों की रंगतें । रात-रात भर होनेवाली नौटंकियों को चाचा से छिपकर देखने जाने का आनंद और चोरी पकड़े जाने पर पिटाई खाने का मजा । कभी मदारी का खेल तो कभी सपेरे की बीन और भालू का नाच । हद है साहब, सबकी सब यादों के चित्र स्वत' सामने उभरते चले आ रहे हैं। कभी खेत-खलिहानों की आग तो कभी ठाकुर और अहीरो की लट्ठपाटी। किसी ज़मींदार द्वारा बेचारे बेगारी को बरगद के पेड पर लटकाकर घोडेवाले हंटर से पीटे जाने का दृश्य तो कभी बारात की अगवानी में बैलतागों के उलट-पुलट जाने से टूटे हाथ-पैरवाले कराहते शौकीन किसान। मन है कि अपनी उड़ान से थमने को तैयार नहीं है । जन्मभूमि की अदृश्य गंध कस्तूरीमृग की गंध से कहीं अधिक चुबकीय है । मृगमन कुलांचे भर रहा है तो उसे दोष देना व्यर्थ है । गुरुवर के शब्दों में, "कस्तूरी मृग की भ्रात दौड़ का कोई अत नहीं जब तक वह अपनी हृत्कमल की कणिका में छिपी कस्तूरी को पा नहीं लेता, पर यह क्या इतनी आसानी से मिलने की चीज है ।"

मैं लगभग छ'-सात वर्षों का बालक रहा होऊगा । मुझसे बड़ी दो बहिनें और एक बडे भाई थे। सभी मिलकर खेलते-झगडते थे । मां बडी बहिन को ज्ञाना कहकर आवाज लगाती थी । अन्य सबका पूरा-पूरा नाम बोलती थी । एक-दूसरे को चिढ़ाने का यह बहुत बड़ा मुद्दा होता । हम सब अपने चाचा के सामने भींगी बिल्ली बने रहते लेकिन मां के सामने हुड़दंग मचाते थे । बडी बहिन को चाचा मानस की चौपाइयां, भजन आदि गा-गाकर सिखाते थे । वे ज्यादातर घर से बाहर बैठक में ही रहते थे। बहिन हारमोनियम पर भजनों का अभ्यास करतीं। जब कभी मैं उनसे चिढ़ जाता तो उनके अभ्यास की नकलें उतारता और उन्हें परेशान करता। एक उनका प्रिय भजन था, "नमन करूं मैं—सद्गुरु चरना..." जब वे आलाप लेतीं, "सद्गुरु चरना, भवदु:ख हरनाऽ, भवदु:ख हरना—भवनिस्तरनाऽ..." तो मैं दूर खड़े-खडे बेसुरा आऽ आऽ करके चिढ़ाता । वे हारमोनियम छोड़ पकड़ने को दौड़तीं और मैं ठेंगा दिखाते टी ली-ली हप्पो कहकर सरपट बाहर भाग जाता। एक बार की घटना याद आती है। रिमझिम-रिमझिम बरसात थी । लगातार कई दिनो तक झर लगने के कारण पीली मिट्टी और गोबर से आये दिन होते रहनेवाली आंगन की लिपाई की लेवरें फूल गयी थीं । बहिन का 'नमन करूं' भजन चल

रहा था। आलाप भी साथ-साथ था। आदतन चिढ़ाकर, भागने में आंगन की फूली मिट्टी पर पैर सरका—पटक लगी । मेरी जो धुनाई हुई सो धुनाई हुई; और ले... सद्गुरु चरनाऽ सद्गुरु चरना ऽ ऽ...। याद नहीं यह कब तक चला ।

हम सब बहिन-भाइयों को अभेद भाव से शिक्षित बनाने के लिए चाचा कृत संकल्प थे । मोटा खाना, मोटा पहनना। कहीं कोई दिखावा नहीं था । 1947 के स्वतंत्रता प्राप्तिकाल तक लड़कियों को शिक्षा दिलाने का प्रचलन नहीं था या न के बराबर ही था । परंतु चाचा ने बड़ी बहिन को उस समय भी बिहार के आरा में चलनेवाले एक कन्या गुरुकुल में पढ़ाई के लिए भेजा । बड़े भाई झांसी आयुर्वेद पढने गये । 'एन्ट्रेंस' पास करने के बाद 57-58 ई. में ज्योतिष और जैन विद्या के अध्ययनार्थ मुझे वाराणसी भेजा गया । अर्थकरी विद्या के अध्ययन का सुयोग नही बना । का.हि वि वि से 1962 ई. में बी.ए उत्तीर्ण करते-करते हिंदी साहित्य के प्रति मेरी रुचि बढ़ने लगी । जिन शिक्षको का पढ़ाने के लिए सुनाम था उनमें डॉ शिवप्रसाद सिंह का नाम अग्रिम पोरो पर लिया जाता था । मेरे चाहने पर भी उनकी बी ए की कक्षा में बैठने का, मुझे सौभाग्य नहीं मिल पाया। एम.ए (हिंदी) में उनसे पढने का सुअवसर मिला। उनकी गंभीर मुख-मुद्रा को देखकर हम लोग भय खाते थे। परंतु कक्षा में पढाने और समझाने की शैली सहज ग्राह्य होने के साथ-साथ गहन अध्ययन की छाप छोड़ जानेवाली होती थी। विशेष अध्ययन के लिए अपभ्रंश पढनेवाले रामाशीष पांडेय एवं एक-दो साथी और थे। हमने देखा अपभ्रश-व्याकरण पढ़ाते-पढाते गुरुवर हममें से किसी छात्र की 'नोटबुक' पर व्याकरण के सूत्र, उनकी व्याख्या, शब्दों की व्युत्पत्ति आदि लिखकर समझा देते थे। इस प्रकार कक्षा में उनसे किसी को भय नहीं लगता था। परंतु कक्षा के बाहर फिर वही भय। एम ए मे मैं एक प्रश्नपत्र के स्थान पर लघु शोध प्रबंध लेना चाहता था । विषय चुनने की समस्या सामने थी। गुरुवर से पूछने का साहस जुटाया। भय अन्यथा था । उन्होंने तत्काल शीर्षक दिया, 'रहस्यवादी जैन अपभ्रंश काव्य और हिंदी पर उसका प्रभाव'। विषय प्रारूप से लेकर संदर्भ ग्रंथों को सुझाने और अहेतुक निर्देशन देने में गुरुजी की ओर से कहीं कोई नकार सुनने को नहीं मिला। कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, विद्यापति जैसे उनके ग्रंथ पढता तो मन सोचता था कि इन्हीं के निदेशन में शोधकार्य करने का सुअवसर मिल सके तो कितना अच्छा हो । धीरे-धीरे मेरी समझ बनी कि गुरुजी में अध्ययन का सहज गांभीर्य है । वे विद्यार्थियों के उपकारक और हितैषी हैं । उनसे भय खाना अन्यथा है । और मैं अध्ययन संबंधी अपनी कठिनाइयों के समाधान हेतु उनसे मिलने लगा । आज तक मुझे एक भी ऐसा प्रसंग याद नहीं पड़ता जब कभी मानवता उनसे विमुख हुई हो ।

गुरुवर डॉ. शिवप्रसाद सिंह जी की ज्ञान-गरिमा, अपूर्व गुरुभक्ति और उनकी

साहित्य-साधना को देखकर ही नहीं, अपितु उनके निश्छल स्वभाव के कारण भी विद्यार्थी उनमें आंतरिक श्रद्धा रखते थे। बचपन में सुने बहिन के भजन की अनुगूंज मेरे अवचेतन की सुषुप्ति से चेतन में उभरने लगी—नमन करूं मैं...। मैं उनका शोधछात्र बना । तब से लेकर अब तक एक विद्यार्थी के रूप में हजारों बार शाम को उनके साथ-साथ घूमा हू। एकाधिक बार साथ-साथ लंबी यात्राएं की हैं। वार्ताएं की हैं। बहसें नहीं । अगाध वात्सल्य पाया है । कई बार लगा है अपने पुत्र नरेंद्र की अपेक्षा मुझे ज्यादा दुलार दे रहे हैं । उनके व्यक्तित्व के न जाने कितने अक्स मेरी स्मृति में हैं, जिन्हें तारतम्य में पिरोना सभव नहीं जान पडता। सृजन, साहित्य, सुख-दुःख, आलोचना आदि सभी पक्षों पर बातचीत करने मे रस लेते हैं; परतु निंदारस को फटकने नहीं देते । भूल से भी वैसा प्रसंग आता है तो खीझकर कह देते हैं, 'अरे ! छोडो...।' उनकी गभीरता, निश्छल व्यावहारिकता, परदुखकातरता, अपने गुरुदेव आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रति अकूत श्रद्धा, सृजनकर्म के प्रति निष्ठा जैसे विलक्षण गुणों ने उन्हे जीवन की भयावह स्थितियों मे संबल दिया है। वे प्रारंभ से लेकर अब तक अपने सबल पैरो पर खडे हैं। दैविक भयावह प्रकोपों को अपनी साहित्यिक-साधना के बल पर पछाड़ा है। निराला के दुर्दिनो और उनके दुर्दिनों में किसी-किसी स्थल पर तो घनी साम्यता है। सत्ता की वैशाखी पर या राजनीतिक पार्टियो के आधार पर चलने से उन्हे घृणा है। वे श्रम का अर्थ और मूल्य दोनो जानते हैं । अतएव किसी शोधार्थी के श्रम का दोहन कभी नहीं किया । स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व की झलक उनमे मिलेगी परंतु पूछने पर कहेंगे, 'मुझे ऐसा कोई भ्रम नहीं है।' वे कहते है, "मैं मनुष्य को, उसकी समस्याओं को अपने ढग से जोड़ना चाहता हूं । इस दिशा में चलते हुए मुझे कोई कम्युनिस्ट, कांग्रेसी, स्वतंत्र जो भी समझना चाहे समझे, पर सत्य तो यही है कि मै उस पार्टी का सदस्य हूं जिसके सामने मनुष्य से बड़ी कोई इकाई नहीं, मनुष्यता से बडा कोई मजहब नही...मैं उसी मनुष्य की अबाध विजय-यात्रा का ध्वजवाहक हूं...उसी की आत्मा के अपूर्व सौदर्य का चितेरा हू...और इसी सत्य की विजय के लिए सचेष्ट हूं। जो भी इसके पक्ष मे है, इसके साथ है, मैं उनके साथ दिखायी पडता हूं। जो इसका नाम लेकर अपना स्वार्थ साधते हैं, मै उनका परदाफाश करता हूं।" मैंने देखा है कि उक्त परदाफाश की प्रक्रिया में राग-विराग, स्व-पर कोई भी उनके आडे नहीं आता। वे सादाहरण, सटीक प्रहारक विवरण भी अवश्य देंगे । लोग अवाक् अथवा सन्न मुह बाये ताकें तो ताकते रहें या कि खुशी में तालियां बजायें तो बजाते रहें। वे बेलौस-बेलाग बोल रहे हैं, तो बोलते जायेंगे। दर्शन, इतिहास, शोध, भाषा, निबंध, कथा, नाटक और समीक्षा आदि किसी भी विषय से संबद्ध डॉ शिवप्रसाद सिंह की कृतियों का आधारभूत तथ्य मानवीय संवेदना ही रहा है।

यही उनकी साहित्य-साधना का बीहड़ पथ भी है। डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र के अनुसार, "एक गांठ हल्दी के पूंजीबल से महाजन-मुद्रा में इतरानेवाले अन्यथा ख्यात लोगों की तरह शिवप्रसाद सिंह ने शगूफे के बल पर साहित्य की दुनिया में मुखियागीरी करने का कभी सपना नहीं पाला।" वस्तुतः उनका सोच छोटी रेखा को मिटाकर अपनी बडी रेखा को खींचने का नहीं है। वे छोटी रेखा के सामने बड़ी रेखा बनायेंगे। परखनेवाले अपनी कसौटी पर परखें। बड़ी रेखा स्वतः बड़ी रहेगी। स्पर्धा की भावना ईर्ष्यालुओं को सर्वदा परास्त करती है । कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा शीर्षक पुस्तक डॉ शिवप्रसाद सिंह का एम.ए. में लिखा गया लघु शोध प्रबंध है । उसके प्रकाशन पर महापडित राहुल-साकृत्यायन ने उन्हे एक शुभाशंसा पत्र प्रेषित कर लिखा 'बीहड पथ को एक सबल पैर मिला।' यह कथन सत्य सिद्ध हुआ ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की तरह ही बीजांकुर गुरुवर डॉ. शिवप्रसाद सिह का भी प्रिय प्रतीक है । उनके निबंध उनके जीवन के साक्ष्य हैं । वे लिखते है, "यदि आपको पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण को तोडकर ऊर्ध्वगामी यात्रा करनेवाले बीजांकुरो के प्रति लगाव है तो मै आपका सहचर हूं, यदि आपको अपने ही भीतर की प्रकृति से लडने की ज़रूरत है तो मै आपके साथ हूं, यदि समाज में फैले अन्याय से जूझते वक्त आपको किसी से सहानुभूति की अपेक्षा है तो मुझे अपने से दूर नहीं पायेगे।...आपके हृदय मे अनत ज्ञान का सनुच्चय गुटका रूप मे आपके मानस की पद्‌मकली मे छिपा है, मै सिर्फ उसकी ओर इशारा ही तो कर सकता हूं ।" सत्य की ओर इशारे में साधक की लोकमगल की भावना और मानवीय संवेदना का सहज दर्शन निहित है ।

बात 1967 के प्रारभ की है। शाम को गुरुवर के साथ अस्सी घाट तक घूमने के बाद लौटते समय दुर्गाकुंड से सटे आनंद पार्क मे बैठे थे। बातचीत मे गुरुजी के अतर्मन की इच्छा सामने आयी। "गुरुवर साठ साल को पार करेंगे। एक भव्य समारोह हो। उनको एक ग्रंथ समर्पित किया जाये...आदि आदि।" समय अल्प था। सकल्पपूर्वक वे जुट गये। उन्हें क्या भारी था। उन दिनों आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी चडीगढ़ में थे। ग्रंथ की पाडुलिपि तैयार हुई। इसी बीच भारतीय ज्ञानपीठ के मंत्री एवं नियामक श्री लक्ष्मीचंद्र जैन दुर्गाकुंड स्थित गुरुजी के निवास पर मिलने आये थे। बातों-बातो मे 'शाति निकेतन से शिवालिक' ग्रंथ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित करने का श्री लक्ष्मीचंद्र जैन ने आग्रह किया। ग्रंथ समय पर प्रकाशित हुआ। 24 सितम्बर, 1967 को काशी हिंदू विश्वविद्यालय के आर्ट्स कॉलेज के नवनिर्मित प्रेक्षागृह में तत्कालीन कुलपति डॉक्टर अमरनाथ जोशी की अध्यक्षता और सुश्री महादेवी वर्मा की उपस्थिति में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का षष्टि-पूर्ति समारोह बड़े उत्साहपूर्वक हम सबने मनाया। अपने द्वारा संपादित 'शांति निकेतन से शिवालिक' की प्रथम प्रति डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने पूज्य

पंडितजी के कर-कमलों में समर्पित की। खचाखच भरा हुआ प्रेक्षागृह तालियों की गडगड़ाहट से गूंज उठा। अत्यधिक उत्साह और उमंग के साथ पंडितजी का सभी समुदायों ने अभिनंदन किया। मैं शोध छात्र के रूप में इस पवित्र कर्म में शरीक था। मेरे मन में हलचल थी कि यदि मैं किसी लायक हुआ तो अपने गुरुजी का षष्टि-पूर्ति समारोह...। समय बीतता गया। मैं लायकी में पिछड़ गया। समय चूंकि पुनि का पछताने...। परंतु पछतावा तो है। कारण जो भी हो। प्रियवर देवराज ने कहा, "कोई बहुत बड़ी समस्या नहीं है...।" ग्रंथ निकालना तय हुआ...लेख मंगाने प्रारंभ हुए । प्रथम पत्रक भी देवराज ने ही तैयार किया । संपर्क सूत्र में मेरा पता ही रखा गया । संपादकों की सूची बनी । किन्हीं कारणों वश कुछ नाम घटाने-बढाने पडे । वाराणसी से लेख प्राप्त करने की असुविधा समाप्त करने की दृष्टि से गुरुवर के एक विद्वान् विद्यार्थी डॉ उमेशप्रसाद सिंह से सहयोग की अपेक्षा रखते हुए मन बनाया कि उन्हे एक संपादक के रूप में देखूं । उनसे अपनी कमियों के कारण मैं भरपूर सहयोग नहीं ले सका । फिर भी उन्होंने अपनी ओर से काफी योगदान किया । अस्तु।

डॉ शिवप्रसाद सिंह पर केंद्रित एक ग्रथ के संपादन की चर्चा सुनकर मुझसे एकाधिक लोगों ने गुरुऋण से उऋण होने की बात कही । इलाहाबाद से पं. नर्मदेश्वर चतुर्वेदी के पत्र में लिखा आया, "...ठीक ही है । गुरुऋण से उऋण होना ही चाहिए...लेख भेजूंगा...।" लेख अब तक भी नहीं आया,लेकिन मैं निरतर सोचता रहा--क्या कोई गुरुऋण से उऋण होता है ? पितृऋण, मातृऋण, गुरुऋण से उऋण हुए बिना मुक्ति नहीं होती--ऐसे उल्लेखनीय मत हैं । इन्हें स्वीकार न करने की मेरी कोई हठधर्मिता भी नहीं है । फिर भी मेरा सोच कहता है कि ये सब जन ऋण कहां देते हैं ? ये तो अवदान करते हैं। अवदान न तो लौटाया जा सकता है और न ऋण की तरह चुकता किया जा सकता है। हा, कृतज्ञतापूर्वक व्यक्ति तथा समाज के प्रति अपने दायित्व का सही निर्वाह भर किया जा सकता है। और प्रयत्नपूर्वक मानें भी कि यह ऋण है; तो ऋण इतना अकूत, अपूर्व और अतुल है जिसको चुकता करने के लिए शत-शत शरद् काल भी अपर्याप्त हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के लेखन में या उनके भाषणो में एक स्थापना प्राय मिल जाती है, "अपने आपको दलित द्राक्षा की भांति निचोड़कर जब तक सर्व के लिए निछावर नहीं कर दिया जाता, तब तक स्वार्थ खंड सत्य है, वह मोह को बढावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय कृपण बना देता है। कार्पण्य दोष से जिसका स्वभाव उपहत हो गया है, उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है, वह स्पष्ट नहीं देख पाता, वह स्वार्थ भी नहीं समझ पाता, परमार्थ तो दूर की बात है।" इस बात की अनुवर्तिता को देखकर गुरुवर शिवप्रसाद सिंह जी भले ही खीझते हों; मै स्फुरण अनुभव करता हू। क्या आपको नहीं लगता कि

डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने अपने शोध प्रबंधों, निबंधों, कहानियों, उपन्यासों, भाषणों आदि के माध्यम से स्वयं को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर न केवल अपने विद्यार्थियों को अपितु अपने समस्त पाठक समाज को सरसता प्रदान की है ? क्या ऐसा उन्होंने किसी बदले की चाहत में किया है ? उत्तर है—नहीं। उनका स्वभाव कार्पण्य दोष से उपहत नहीं हुआ है । भारतीय सांस्कृतिक विरासत, जीवन-दर्शन और उसके उजले सौंदर्य पक्ष को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए दादी मां से लेकर कुहरे मे युद्ध तक और उसके आगे भी वे सृजन की साहित्य-साधना के लिए समर्पित हैं। छोटे-बड़े पुरस्कार अथवा विरोध के स्वर उन्हें उद्दीप्त नहीं करते। सो, मुझे जैसा एक अकर्मण्य अन्य सहयोगियों के साथ मिलकर एक 'बीहड पथ के यात्री' से संदर्भित ग्रंथ सपादित करके गुरुऋण से उऋण होने की बात करे तो हास्यास्पद नहीं होगा ? जान-बूझकर कौन वज्र अपने को हास्यास्पद बनायेगा ? मैं तो अमोघ इच्छा-शक्ति के धनी अपने गुरुवर को नमनपूर्वक उनके कथन को अनुवर्तित करूंगा, "जो आदमी अपना भविष्य नहीं जानता वह दूसरे को क्या बतायेगा ? एक बात गाठ बाध लें। इस महान्, असीम और अथाह आकाश की ही तरह सबके मन में भी एक आकाश होता है । वहां की अमावस्या महीने-महीने आनेवाली अमा से लाख गुना अधिक बोझिल, असह्य आखों को विजडित करनेवाली होती है । बेटे, जैसे हर व्यक्ति के अंदर एक आंगन है, एक तुलसी चौरा है, वैसे ही सबके छोटे-छोटे आकाश मे एक नीला चांद भी होता है। ढकोसलों से नहीं, नियति को जाननेवाले दाभिकों की भविष्यवाणियों से नहीं, तू खुद कालिमा में डूबकर अपने मन के आंगन में जगमगाता नीला चांद देख लेगा, उसका नाम है अमोघ इच्छा-शक्ति ।"

प्रस्तुत ग्रथ की सामग्री को सुविधा की दृष्टि से प्रभावांकन, सृजन-साक्ष्य, आमने-सामने, दृष्टि और सपर्क शीर्षक खंडो में सयोजित किया गया है। आमने-सामने और सपर्क में क्रमशः दो तथा पांच उपखंड भी हैं। इस संदर्भ में सुविज्ञ पाठको के लिए विस्तृत विवेचना की मैं आवश्यकता नही समझता। हां, प्रसंगात कुछ बाते अवश्य लिखना चाहूंगा। मेरे अतिरिक्त ग्रंथ के प्रमुख सहकर्मी संपादक है—देवराज, श्री वीरेंद्र जैन और डॉ नरेंद्र कुमार सिंह। पत्रो, दस्तावेजों के सकलन-संपादन का पूरा श्रेय डॉ नरेंद्र सिंह को ही है । उनके सहयोग के बिना कदाचित् यह संभव नहीं होता। 'सबसे बडा सिपहिया' और 'डूब' जैसी कथा-कृतियों के लिए पुरस्कृत एवं चर्चित लेखक श्री वीरेंद्र जैन ने अपने रचनाकर्म से समय काटकर संपादन का भार संभाला । आयुष्मान् देवराज को इम्फाल से इसी कार्य को पूर्णता प्रदान करने के लिए इधर की यात्राएं करनी पड़ीं । मेरे लिए इनकी सहायता का मूल्य है । मात्र आभार या धन्यवाद औपचारिकता बनकर रह जायेंगे । यदि कहीं कोई त्रुटित स्थिति है तो वह मेरे प्रमाद के कारण है ।

शेष मेरे सहयोगियो का प्रसाद है ।

मैं इस बात को नजरंदाज़ करके आगे नहीं बढ़ सकता कि नीड़ के बनाने में एक तृण की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । ग्रंथ में लेखकों का सहयोग स्तुत्य है । कुछ सामग्री पत्र-पत्रिकाओं से साभार ली गयी है । यथास्थान उसका उल्लेख भी कर दिया गया है । हम हृदय से आभारी है । प्रकाशन की दिशा में हिंदी की सुप्रसिद्ध कहानी लेखिका श्रीमती राजी सेठ की परोक्ष सहायता के लिए मैं कृतज्ञ हू । सुझावो के लिए डॉ सरोज मार्कण्डेय, श्रीयुत वाचस्पति, डॉ ऋषभदेव शर्मा, श्री नित्यानद मैठाणी, डॉ अवधेश प्रधान, डॉ. उमेशप्रसाद सिह, श्री सुरेंद्र कुमार हिंदी और दुर्गाप्रसाद भट्टाचार्य के नाम उल्लेखनीय हैं । इन्हे मेरा साग्रह धन्यवाद है। श्री नरेशचंद्र जी अग्रवाल, डॉ महाराज कृष्ण घिल्डियाल, अमरनाथ त्रिवेदी, दिनेशचद्र शर्मा, राजेद्र शर्मा, सुखराम सिंह गहलौत और वीरेन्द्र जैन पहाडवाले। मुझे निरंतर रचनात्मक कार्यों के लिए प्रेरित करते रहते हैं । ये सभी अविस्मरणीय हैं । छात्र-छात्राओ में प्रथम श्रेय कु पूनम मित्तल को जायेगा। वीरेंद्र प्रकाश शर्मा, मौ दानिश, रिसाल सिंह, हेमलता आदि से भी अपेक्षित कार्य लिया है। इस यज्ञ की पूर्णता पत्नी आशा, पुत्री श्रद्धा, ममता और पुत्र हिमांशु 'चुल्ली' के प्रसन्न रहे बिना सभव नहीं थी । अत इन सबको आशीष है । डॉ कृष्णावतार 'करुण', जगदीश सुधाकर और जसवीर राणा की आत्मीयता के लिए शुभाशसा देना अपर्याप्त नही होगा।

अत मे नेशनल पब्लिशिग हाउस के स्वामी और इस ग्रंथ के प्रकाशक श्री कन्हैयालाल मलिक और श्री सुरेन्द्र मलिक की उदारता के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हू । प्रकाशन कार्य को गति प्रदान करने के लिए श्री रामवीर सिह को साधुवाद देना मेरा कर्तव्य है। गुरुवर को पुन-पुन नमन के साथ।

नजीबाबाद

विदा पुनर्मिलनाय
प्रेमचन्द जैन

अनुक्रमणिका

नमन करू मै ... [V]

प्रभावांकन

बीहड पथ का सबल पैर	*डॉ कृष्णबिहारी मिश्र*	3
मैं जिसका साक्षी हूं	*गिरिजाप्रसाद तिवारी*	10
जमीन से जुड़ी जमानियां की कलम	*डॉ. रवीद्रनाथ सिंह*	17
शिवप्रसाद सिंह का प्रिय व्यक्तित्व . स्मृतियों की बिखरी कडियां	*डॉ एन ई. विश्वनाथ अय्यर*	19
डॉ शिवप्रसाद सिंह नीम का वह पेड जिसे हिलाने में कर्मनाशा हार गयी	*डॉ विश्वनाथ प्रसाद*	22
वसत-वन के कस्तूरी मृग शिवप्रसाद सिंह	*अरुणेश नीरन*	27
डॉ शिवप्रसाद सिंह और उनका रचना-ससार	*विजयकिशोर मानव*	37
शिवप्रसादनुति	*कामेश्वर उपाध्याय*	43

सृजन-साक्ष्य

रसमादन की लोकचिंता	*डॉ अवधेश प्रधान*	49
शिखरों का सेतु	*डॉ. प्रभाकर माचवे*	60
शिखरों का सेतु	डॉ. कमलेश	64
'मानसी गंगा' का अवगाहन	*बाल शौरि रेड्डी*	66
मानव-चेतना के ऊर्ध्व स्तरों का साक्षात्कार	*रामचद्र तिवारी*	70
आरकेस्ट्रा के बीच एक अलग आवाज़	*मूलचंद गौतम*	78
सांस्कृतिक मूल्यों की पहरेदारी	*डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र*	85
सलीके से किस्सा कहने की दुर्लभ कला	*विजयदेव नारायण साही*	89

स्वातत्र्योत्तर भारतीय ग्राम-जीवन की अलग-अलग वैतरणी'	डॉ विवेकी राय	100
साप्रदायिकता का आर्थिक परिप्रेक्ष्य और अलग-अलग वैतरणी	डॉ कुवरपाल सिह	111
अलग-अलग वैतरणी अस्तित्ववाद की नींव पर	डॉ भीमसेन निर्मल	119
हिदी उपन्यास का नया मार्ग-चिह्न अलग-अलग वैतरणी	जितेद्रनाथ पाठक	124
सेतु की गोष्ठी मे अलग-अलग वैतरणी	सुबोध शास्त्री	135
कथाकार शिवप्रसाद सिह की कथासृष्टि परपरा और आधुनिकता का द्वद्व	डॉ रामकली सराफ	140
उपन्यासो की गली का नया मोड	डॉ मान्धाता राय	151
गली आगे मुडती है समाजशास्त्रीय दृष्टि	डॉ नदलाल पाडेय	156
युवा-विद्रोह पर शिव का तीसरा नेत्र गली आगे मुडती है	डॉ जवाहर सिह	164
गली आगे मुडती है एक सास्कृतिक उपन्यास	विद्यावाचस्पति शीलभद्र	172
नीला चाद इतिहास के द्वारा इतिहास का अतिक्रमण	प्रभाकर श्रोत्रिय	176
नीला चाद	डॉ गगासहाय पाडेय	182
नीला चाद सामती मूल्यो और जनता का द्वद्व	मधुरेश	187
सबके अपने-अपने आकाश मे नीला चाद	बलराम	197
अमोघ इच्छा-शक्ति की अद्भुत शौर्य-गाथा नीला चाद	चद्रकला त्रिपाठी	203
नीला चाद परिवेश के यथार्थ सकेत	डॉ निर्मला मौर्य	213
काशी को लौटती कथा नीला चाद	भारत भारद्वाज	226
कथाकृति से झाकती सास्कृतिक विराटता	सजना कौल	229
नीला चाद मध्ययुगीन काशी की महागाथा	वाचस्पति	234
शिवप्रसाद सिह और गाव की कहानी	रवि शेखर	237

मजुशिमा	*डॉ रामविनोद सिह*	240
मजुशिमा तीन दृष्टिया एक	*विद्यानिवास मिश्र*	245
दो	*ठाकुरप्रसाद सिह*	247
तीन	*नाहिद*	249
चित्रो का सही पैनोरमा इन्हे भी इतजार है	*डॉ भगवतशरण उपाध्याय*	252
हनोज दिल्ली दूर अस्त मध्यकालीन अतीत की पदचाप और वर्तमान की चीख	*अशोक प्रियदर्शी*	256
शिवप्रसाद सिह का कहानी कर्म	*डॉ पुष्पपाल सिह*	260
सामती मूल्यो के विरुद्ध	*अब्दुल बिस्मिल्लाह*	271
अधकूप मे नारी	*डॉ जी उषा लावण्या*	275
कहानीकार शिवप्रसाद सिह पक्षधरता का सवाल	*रवि रजन*	288
सतह के नीचे विद्रूप का मूल्यवान दस्तावेज	*डॉ मधु धवन*	295
अधकूप समाजवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य मे	*मोहम्मद दानिश सैफी*	298
सार्थक सवेदन का सजीव रचना कौशल	*डॉ उमेशप्रसाद सिह*	302
कथाकार शिवप्रसाद सिह की भाषा	*डॉ कृष्णावतार 'करुण'*	309
कीर्तिलता का महत्त्व	*डॉ रामविलास शर्मा*	321
कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा	*राधा जनार्दन*	325
उत्तरयोगी नकार से उत्पन्न प्रतीति की उपलब्धि	*डॉ बी डी मिश्र*	327
उद्भवकालीन हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे डॉ शिवप्रसाद सिह का अवदान	*डॉ वासुदेव सिह*	338
सत्याग्नि के स्पर्श का प्रयास उत्तरयोगी	*डॉ सुरेशचद्र तिवारी*	347
घाटिया गूजती है अत साक्ष्य का सच	*देवराज*	355

आमने-सामने

साक्षात्कार एक	*डॉ प्रेमचद जैन*	371
साक्षात्कार दो	*डॉ सत्यदेव त्रिपाठी*	375
साक्षात्कार तीन	*डॉ कृपाशकर चौबे*	378
साक्षात्कार चार	*डॉ हरिशकर शर्मा*	382
भेटवार्ता	*श्री नित्यानद मैठाणी*	386

दृष्टि

जब ड्रैगन लौट गया — *डॉ. शिवप्रसाद सिंह* 405

क्या कहूं कुछ कहा न जाये — *डॉ शिवप्रसाद सिंह* 410

उत्स की ओर उंगली-निर्देश — *डॉ शिवप्रसाद सिंह* 417

संपर्क

बीहड़ पथ के यात्री की पत्र-पेटिका से

हरि मोहन, भारती, राजनाथ पाडेय, कमलेश्वर, शानी, राजनाथ पाडेय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, महादेवी, माता प्रसाद, योगेद्र कुमार चतुर्वेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, वीरेन, रामचद्र शुक्ल, कमलेश्वर, रामस्वरूप चतुर्वेदी, बारान्निकोव, देवीशकर अवस्थी, कृष्णबिहारी, रघुवश, मुक्ता राजे, दुर्गानद, वाचस्पति पाठक, नरेश मेहता, नरेद्र सिह, आनद प्रकाश जैन राही, हजारीप्रसाद द्विवेदी, मधुरेश, नागार्जुन, भवानीप्रसाद, दिगबर झा, नदकिशोर, विश्वनाथ त्रिपाठी, विद्यानिवास मिश्र, कृष्णनाथ, शमशेर, वि ए. चेर्निशोव, वात्स्यायन, योगेंद्रनाथ शर्मा, विक्टर वालिन, नामवर सिह, सुमति, श्यामसुदर घोष, वात्स्यायन। 425

दस्तावेज मे छपा एक पत्र — *कुमार पकज* 463

अलग-अलग वैतरणी : बारह पत्र

पुरुषोत्तम, प्रेमशकर, विजयेद्र स्नातक, धनजय, प्र ग सहस्त्रबुद्धे, बच्चन राजेद्र यादव, रामगोपाल सोनी, विक्रम मरवाह, पातेराम सिह यादव, जगदीश चद्र जैन, शे गो. राजवाडे 466

गुरुदेव के छः पत्र 481

संपादक की नियति

विजयेद्र स्नातक, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, प्रभाकर माचवे, ठाकुर प्रसाद सिह, विलोचन शास्त्री, विष्णुकात शास्त्री, भीष्म साहनी, रामविलास शर्मा, विष्णुकात शास्त्री, विवेकी राय, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, सियाराम तिवारी, प्रभाकर माचवे, विजयेंद्र स्नातक, दशरथ, रामविलास शर्मा, पद्मधर त्रिपाठी। 486

• प्रभावांकन

बीहड़ पथ का सबल पैर

[कथाशिल्पी शिवप्रसाद सिंह के विद्या-व्यक्तित्व का अंतरंग साक्षात्कार]

• डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र

निर्मल वर्मा की संवेदना के संदर्भ में विचार करते श्री अशोक वाजपेयी ने सत्य को रेखांकित किया है। कहा है कि निर्मल वर्मा के आध्यात्मिक रुझानों से वही चौंकते हैं, जो या तो उन्हें उनके समूचे संदर्भों में पढ़ना-समझना नहीं चाहते और जिनके लिए लेखक की यातना का कोई महत्त्व नहीं है और या इतने अनजान हैं कि उन्हें पता नहीं कि मार्क्स और गांधी, तॉल्सतॉय और दोस्तोएवस्की, ज्वायस और काफ्का, निराला, अज्ञेय और मुक्तिबोध गहरी आध्यात्मिक चिंताओं से घिरे रहे हैं और वे उनके कृतित्व की कारक स्थितियां रही हैं। इस कारक की अवज्ञा करना (भले ही कोई उससे सहमत हो या नहीं) केवल नैतिक नहीं, बौद्धिक फूहडपन है, जो दुर्भाग्य से हिंदी के साहित्य-जगत् का आज स्थायी भाव-सा बन गया है। 'दादी मां' शीर्षक कहानी से औपन्यासिक कृति 'नीला चांद' तक की शिवप्रसाद सिंह की कथा-यात्रा उसी आध्यात्मिक चेतना की रचना-यात्रा है, जिसकी भित्ति मानवीय संवेदना होती है। कदाचित् यह एक बड़ा कारण है कि उनके सतीर्थ और हिंदी के नामी समीक्षक डॉ. नामवर सिंह ने उनके साहित्य की पूरी जागरूकता से उपेक्षा की है। बड़ी विचित्र बात है कि डॉ नामवर सिंह जैसा अधीत और प्रखर समीक्षक इस मुग़ालते को दीर्घकाल से पोसे चल रहा है कि आलोचक अपनी कलम के कौशल से चाहे जिसको आकाश में उठा दे और चाहे जिसे पाताल में पहुंचा दे। और नामवरजी प्रसाद, अज्ञेय पर राजनीतिक प्रतिबद्धता के आग्रह से, चोट करते रहे हैं। अब निर्मल वर्मा की चिंतन-मुद्रा भी उन्हें विजातीय लगने लगी है। शिवप्रसाद सिंह एक जनपद, एक शहर और सतीर्थ होते हुए भी नामवर सिंह के लिए बराबर विजातीय रहे हैं और चूंकि शिवप्रसाद सिंह वीतराग संत नहीं हैं, इसलिए अपने विद्या-कुल के समीक्षक की असहृदय मुद्रा का उनके मन पर असर पड़ता रहा है, जो अंतरंग बतकही में यदा-कदा मुखर होता है। तथापि उनकी सृजनशीलता कभी शिथिल नहीं हुई और न तो आलोचक की सनद के प्रलोभन में पड़कर उन्होंने अपने प्रत्यय और ज़मीन

का परित्याग किया।

'दादी मां' को, जिसे डॉ नामवर सिंह ने भी विवेक और समीक्षक की सहज सहृदयता के आग्रह से, नयी कहानी के आदि चरण के रूप में रेखांकित किया है सही वरीयता के साथ, अज्ञेय ने 'प्रतीक' में संपादकीय टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया था। तब 'प्रतीक' में छपने का विशेष अर्थ था। अपनी त्रैमासिक अंग्रेजी पत्रिका VAK मे अज्ञेय ने शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'पापजीवी' का स्वयं अनुवाद कर प्रकाशित किया था। मुसहर की बनजारा जिंदगी की संवेदना को उजागर करनेवाली कहानी तथाकथित प्रगतिशीलों एवं जनवादियों के लिए आज भी चुनौती है। रचना का अध्यात्म वर्गवाद के हठीले दुराग्रह को स्वीकार नहीं करता। 'दादी मां' की संवेदना से ससक्त शिवप्रसाद सिंह ने 'विंदा महाराज' की गहरी वेदना को, एक अवहेलित वर्ग की नितांत मूक पीडा को अपनी प्रातिभ संवेदना का कृती संस्पर्श देकर आध्यात्मिक आबोहवा के लिए एक नयी खिड़की खोली है। यह रोशनी की ओर खुला दरीचा है। क्लीवता के उपहास-दश को दीर्घकाल से झेलनेवाले हिंजडे के अभिशप्त जीवन को उपजीव्य बनाकर कहानी लिखनेवाले कदाचित् हिंदी के पहले कहानीकार हैं, शिवप्रसाद सिंह।

शिवप्रसाद सिह दर्शन-शास्त्र के विशिष्ट विद्यार्थी रहे हैं। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का उन्होंने गहरा अध्ययन किया है। अस्तित्ववाद पर उनकी पुस्तक प्रसिद्ध है। श्री अरविंद के जीवन-दर्शन पर काफी निष्ठा से लिखी गयी उनकी पुस्तक 'उत्तरयोगी' हिंदी में उक्त विषय पर अकेली पुस्तक है, उतनी ही स्तरीय और महत्त्वपूर्ण जितनी फ्रेंच भाषा मे लिखी गयी रोम्या रोलां की रामकृष्ण परमहंस की जीवनी या फिर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में लिखा गया शिवप्रसाद सिह का शोध-प्रबध--'सूरपूर्व ब्रजभाषा और साहित्य'। अपने समय की सभ्यता की विविध मुद्रा के प्रति शिवप्रसाद सिंह जागरूक रहे हैं। विश्व संस्कृति से जुडे ज्वलत प्रश्नों से भारतीय धरातल पर स्थित उनकी प्रज्ञा टकराती रही है। उनकी चिंतना का स्वकीय कोण है, और यह स्वकीयता, बहुत स्पष्ट है कि अपने महान् गुरु के प्रति भरपूर सम्मान रखते हुए भी शिवप्रसाद सिंह की राह गुरु की राह से सट कर नहीं चलती। गुरु-शिष्य मे केवल एक ही मुद्दे पर निकटता दिखायी पडती है, वह है पुष्ट विद्या-निष्ठा। एक गाठ हल्दी के पूजी-बल से महाजन-मुद्रा में इतरानेवाले अन्यथा ख्यात लोगों की तरह शिवप्रसाद सिह ने शगूफे के बल पर साहित्य की दुनिया में मुखियागिरी करने का कभी सपना नहीं पाला। उनकी युवा मेधा और श्रम-निष्ठा से प्रीत होकर, 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा' शीर्षक आरंभिक अनुशीलन-कार्य देखकर बीहड़ पथ के मनीषी यात्री राहुल सांकृत्यायन ने शुभाशसा प्रकट की थी, "बीहड पथ को एक सबल पैर मिला।" और विस्मित मुद्रा में प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ उदयनारायण तिवारी ने अपने मित्र पं. वाचस्पति पाठक से पूछा था, 'कीर्तिलता और अवहट्ठ' तथा 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और

साहित्य' का अध्येता और कहानीकार शिवप्रसाद सिंह एक ही व्यक्ति हैं ? 'उत्तरयोगी' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ को देखकर भी कुछ लोगों ने विस्मय-विद्रूप प्रकट किया था; अपनी सिद्ध कूट-बुद्धि से शिवप्रसाद सिंह की छवि पर विफल आघात किया था। दुनिया के साहित्य की पड़ताल का दंभ ढोनेवाले सामान्य बात नहीं समझ पाते कि जो रचनाकार विजातीय आदेश-निर्देश को निरस्त कर अपनी प्रातिभ प्रेरणा से रचना-धर्म की जिम्मेदारी पूरी करता है, उसे रोम्या रोलां की तरह रामकृष्ण, विवेकानंद, गांधी के जीवनी-लेखन या शिवप्रसाद सिंह की तरह श्री अरविंद के जीवनी-लेखन में कुंठा नहीं होती। राजनीतिक प्रतिबद्धता से मुक्त रचनाकार अज्ञेय और रेणु की तरह सूखाग्रस्त क्षेत्र की व्यथा-कथा की रपट तैयार करता है अपनी प्रतिभा के आग्रह से, भारती की तरह बांग्लादेश के मुक्ति-संग्राम की लहूलुहान धरती की संवेदना से अपनी संवेदना जोडता है, आधुनिक सचेतना के पुरस्कर्ता निर्मल वर्मा की तरह कुंभ मे डूब कर उसकी सास्कृतिक रोशनी को अपनी मार्मिक भाषा में अभिव्यक्ति देता है, धर्म के मर्म को नितात आधुनिक कोण से खोलने को सहज ही प्रेरित होता है और अस्वाभाविक नहीं कतई कि शिवप्रसाद सिंह श्री अरविंद से लोहिया तक की चितना को अपने लेखन का उपजीव्य बनाते हैं। स्मरणीय है, शिवप्रसाद सिंह के मनीषी गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी डॉ राममनोहर लोहिया के प्रति सुमुख नही थे। दरअसल विस्मय और चिंता का विषय यह नहीं है कि कथा-शिल्पी शिवप्रसाद सिंह ने कथा की राह से हटकर श्री अरविंद की जीवनी लिखी, अपने समय के ज्वलत सास्कृतिक प्रश्नों पर विचार किया, 'रसरतन' का पाठ-संपादन किया और सूर के पूर्ववर्ती ब्रजभाषा साहित्य का अनुशीलन किया, पीड़क आश्चर्य है कि वे जो जनजीवन के यथार्थ की हिमायत मे ऊची आवाज टेरते हैं, भारत की स्वकीय संवेदना के आग्रह को देखते ही चौंकते है और अपने रंगीन अंदाजेबया में 'भारत-व्याकुल' कहकर जातीय निष्ठा से अनुप्राणित कृती लोगों का उपहास करते सकुचाते नहीं। स्पष्ट है, अपने देश और समय के प्रति इनकी निष्ठा का स्तर क्या है। इसी जाति के विचारक अपनी विलक्षण उद्भावनाओं और अंतर्विरोधी वक्तव्यों द्वारा पूरी पीढी को गुमराह कर रहे हैं। दुर्भाग्यवश भ्रांति और राजनीति-प्रेरित धारणा को विद्या की नयी मीमांसा माना जाने लगा है। परिणामत भारत की विरासत के उज्ज्वल पक्ष की पडताल की प्रवृत्ति दुर्बल होती जा रही है और समय-संदर्भ से संभवतः लेखक के मूल्यांकन में बाधा पड रही है। दुर्भाग्यवश राजनीति जैसी ही अनुशासनहीनता और अराजकता विद्या-लोक में आज क्रियाशील है। मगर तथाकथित नयी मीमांसा से जन्मी कालिमा शिवप्रसाद सिंह की सृजनशील यात्रा को आतंकित नहीं कर पाती।

'नीला चांद' के उपसंहार की पंक्तियों में शिवप्रसाद सिंह की विद्या-यात्रा को समझने का सूत्र है, **''हर व्यक्ति के अंदर एक आंगन है, एक तुलसी चौरा है, वैसे ही सबके छोटे-छोटे आकाश में एक नीला चांद भी होता है। ढकोसलों से नहीं, नियति**

को जाननेवाले दांभिकों की भविष्यवाणियों से नहीं, तू खुद कालिमा में डूबकर अपने मन के आंगन में जगमगाता नीला चांद देख लेगा, उसका नाम है अमोघ इच्छा-शक्ति।'' अपनी अमोघ इच्छा-शक्ति से शिवप्रसादजी ने उस कालिमा का मुकाबला किया है जो विकट प्रत्यूह बनकर उनकी लोकयात्रा और विद्या-व्यापार को प्रायः घेरती रही है। गर्दिश के दिनो में भी उनकी रचनात्मक ऊर्जा क्लांत नहीं हुई अन्यथा उनकी विधायक भूमिका से हिंदी साहित्य कब का वंचित हो गया होता। दो-दो बच्चो का एक साथ काल के गाल में समा जाना संवेदनशील गृहस्थ की आस्था को लील जानेवाली घटना है। मगर नियति की उस क्रूर मार को शिवप्रसादजी की आस्था ने झेल लिया था। मन से विषाद को उतार कर अपनी जिम्मेदारी से जुड़ गये थे और रचना-कर्म से ही उन्होने अपेक्षित भाव-पोषण अर्जित किया था; वैयक्तिक आघात से मरुआया (म्लान) उनका सहज ठहाका करीब के लोगो को आलोकित करने लगा था।

कालांतर मे साइटिका ने उनकी साधना में अवरोध खड़ा कर दिया, उनके मन की आबोहवा उदास हो गयी। और बहुत उदास होकर द्विवेदीजी ने मुझसे कहा था, ''यह बीमारी भी क्या है, शिवप्रसाद की हसी गायब हो गयी। कितनी निर्मल हंसी हंसता था, कितना पढता-लिखता था। अब उदास मुद्रा में ताकता रहता है। मन खिन्न हो जाता है, उसकी चुप्पी को देखकर।'' शिवप्रसादजी के म्लान उल्लास को जगाने के लिए पंडितजी ने एक दिन जोर का ठहाका लगाया था, ''साइटिका साहित्यिकों की बीमारी है। यह साहित्यिका है। गुरुदेव को भी थी और मुझे भी इसने कम नहीं सताया है। अब जाकर तुम्हें साहित्यिक होने की सही मान्यता मिली है शिवप्रसाद।'' पंडितजी के ठहाके मे सभी भागीदार बन गये थे और सारी पीडा भूलकर शिवप्रसादजी का रोम-रोम गुरु की सहज वत्सलता के अतरंग सस्पर्श से प्रसन्न हो गया था।

सपन्न परिवार मे जन्मे शिवप्रसाद सिंह मूलत ऋजु प्रकृति के आदमी हैं। इनके संस्कार-स्वभाव का रचना गवई आबोहवा में हुई है। ठेठ ग्रामीण प्रकृति—खुली, रुखर और स्वाभिमान-सजग। भारतीय परिवार की मर्यादा-अर्गला के कायल शिवप्रसाद सिंह भारतीय दृष्टि से सद्गृहस्थ है, अपने गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और प्रख्यात मार्क्सवादी विचारक डॉ रामविलास शर्मा की तरह। मगर विडंबना यह है कि इस मर्यादित जीवन-शैली को सामती सस्कार से जोड़नेवाले आधुनिकताबोध के तथाकथित ठेकेदारों को ही आधुनिक चेतना का पुरस्कर्ता मान लिया जाता है, क्योंकि गार्हस्थिक अनुशासन-छद को अपने अनाचार द्वारा वे धृष्ट शैली में धक्का मारते रहते हैं। लेकिन युग-प्रवाह में बहना, अपने अस्मिता-विवेक का बलिदान कर, केवल उन्हीं के लिए संभव होता है जिनके चरित्र की धुरी कमजोर होती है। शिवप्रसाद सिंह को भोजपुरी धरती की परिवार-व्यवस्था पर गर्व है, भोजपुरी माटी की संस्कृति से जुड़कर जीना उन्हें जातीय आबोहवा में जीने का सौभाग्य लगता है। इसलिए तथाकथित आधुनिक

तहजीब उनके संस्कार के प्रतिकूल पड़ती है। परिणामतः आधुनिकतावादी रचनाकारों की भीड़ में उनकी पहचान किंचित् विजातीय और अलग दिखायी पड़ती है। अलग दिखायी पड़ते हैं शिवप्रसाद सिंह अपने शहर और विश्वविद्यालय में भी। न केवल अपने समृद्ध विद्या-व्यक्तित्व के कारण, बल्कि कुनबापरस्तों का हमसफ़र न होने के कारण। आज के बनारस में अपनी जाति-बिरादरी से दूर रहकर रौशनी के साथ खड़ा होना अविश्वसनीय स्थिति ही जान पड़ सकती है। मगर हक़ीकत यह है कि विशिष्ट राजपूत परिवार में जन्मे शिवप्रसाद सिंह को बिरादरी-जमात पराया मानती है और स्व पं वाचस्पति पाठक, श्री नज़ीर बनारसी, पं. करुणापति त्रिपाठी, पं. विद्यानिवास मिश्र और पं गंगासहाय पांडेय जैसे गैर राजपूत काशीवासी के वे स्नेहभाजन रहे हैं। कृती पुरुष कुनबापरस्ती के विपरीत पथ से यात्रा करता है और प्रतिभा केवल मानवीय संवेदना को पहचानती है। संप्रदाय-गोत्र से बंधी दृष्टि रचनाकार की दृष्टि नहीं हो सकती। इसलिए रचना का धर्म अपनानेवाले को व्यावहारिक धरातल पर भारी मूल्य चुकाना पडता है। शिवप्रसाद सिंह को प्रदूषित बयार से समझौता न करने के हठ के कारण व्यावहारिक क्षति उठानी पडी है, कुटिल पैंतरे और जागतिक बुद्धि की पैनी रणनीति से बार-बार आहत होना पड़ा है, तथापि अपने 'नीला चांद' को उन्होंने मैला होने से यत्नपूर्वक बचाया है; आस्था-ऊष्मा और अध्यात्म की बाती को बुझने नहीं दिया है। शिवप्रसाद सिह का विवेक आश्वस्त है कि साहित्य का इतिहास पैंतरे और रणनीति का इतिहास नहीं होता, इतिहास के पन्नों पर प्रतिभा और प्रज्ञा को जगह मिलती है। अपनी प्रातिभ साधना के बल पर शिवप्रसाद सिंह ने इतिहास में अपनी जगह सुरक्षित कर ली है।

घर-आगन के लोग चाहे जिस कारण से शिवप्रसाद सिंह से चिढते हों और पूरी जागरूकता से उनके अवदान को नजरअदाज करने की कुटिल कोशिश करते हों, मगर हिंदी का साहित्यिक जगत् सहृदय रसज्ञों से खाली नहीं हो गया है। इतिहास स्वीकारता है इस तथ्य को कि प्रेमचद और प्रसाद के बाद यद्यपि बनारस में कथा-रचना स्थगित नहीं हो गयी थी, मगर कथाशिल्पी शिवप्रसाद सिंह की भूमिका अप्रतिम है। अपने अनुशीलन-कार्य, व्यक्तिव्यजक निबध-रचना और सद्यःप्रकाशित औपन्यासिक कृति 'नीला चाद' द्वारा उन्होंने अपने कृती गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की परंपरा को समृद्ध किया है, अपनी विद्या-साधना से गुरु ऋण से उत्तीर्ण हुए हैं। 'रस रतन' का प्रामाणिक पाठ-संपादन प्रमाण है कि डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के पाठ पर सारस्वत संस्कार अर्जित किया है। जिस आस्था के बल पर विकट प्रत्यूहों से पंजा लडाते शिवप्रसाद सिंह ने अपनी कृती भूमिका को श्लथ नहीं होने दिया, उसी आस्था को बेटी की मृत्यु ने बुरी तरह घायल कर दिया। उनकी चुप्पी की चर्चा जगह-जगह होने लगी। अतरंग लोक में भी और प्रतिपक्षी मंच पर भी। इकबाल कहते हैं ·

जिस बुलबुल ने पतझड़ नहीं देखा वह बुलबुल ही नहीं।
खिजां नादीदा है जो बुलबुल वो बुलबुल ही नहीं।

शिवप्रसादजी ने पतझड को झेला है। मगर मजु की मृत्यु ने असह्य रिक्तता को जन्म दिया और पीडा के पहाड को लिये शिवप्रसादजी 'सुधर्मा' की प्रकाशहीन चुप्पी के साथ चुप होकर बैठ गये। उनकी चुप्पी को तोड़ने के लिए एक सहृदय ने अध्यात्म की राह सुझायी, "निष्क्रियता निषेध और मृत्यु की राह है। रचनात्मक ऊर्जा को विषाद से क्षार करना रचनाकार के संदर्भ मे अपराध है, विधर्म की आंच से अपना संहार करना है।" आत्मीय सुझाव ने शिवप्रसाद सिंह के चैत्य पुरुष को विधायक उत्तेजना दी। विषाद के कुहरे मे छिपा अपना 'नीला चांद' उन्हें यकायक दिखायी पड़ गया। और एक अंतराल के बाद शिवप्रसाद सिह की बहुमुखी प्रातिभ सक्रियता का काल शुरू हुआ। अवरुद्ध अध्यात्म-यात्रा की गत्वरता की नयी शुरुआत।

जिस नेह-छोह पर मजु (बेटी) का अधिकार था उसे मीरा (पुत्रवधू) और उसके बेटा-बेटी को बांटते शिवप्रसादजी हर क्षण नयी समृद्धि का अनुभव करते है। अपनी मुस्कुराती गृहस्थी से भरपूर भाव-पोषण अर्जित करते, हर रोज प गगासहाय पाडेय के यहां दौडनेवाले रोगी शिवप्रसाद सिंह, अपनी बीमारी की बात भूल गये है, भोजपुरी शैली मे जमकर खाने-पीने लगे है, कमरे मे राह-घाट मे उनका युवा ठहाका गूजने लगा है, गप्प का मरुआया छद उत्तान मुद्रा में नर्तन करने लगा है। हा, शिवप्रसाद सिह विश्वविद्यालय की प्रदूषित आबोहवा से मुक्त हो गये है। साहित्यिक सभाओ-गोष्ठियों में शरीक होने दूर-दूर जाने लगे हैं। संस्कृति-सभ्यता से जुडे ज्वलत प्रश्नो पर विचारोत्तेजक निबंध लिखने लगे है। पिछले दिनो चार उपन्यासो की रचना की है। 'नीला चांद' और साठोत्तर काल की शिवप्रसाद सिह की रचनाए जर्मन दार्शनिक की धारणा की पुष्टि करती है कि **साठ वर्ष के बाद रचनात्मक ऊर्जा पुनर्नवा होती है। 'दादी मां' को सामने रखकर 'नीला चांद' की शीलभद्रा मां को देखने पर बात साफ होती है कि संवेदना-ऊष्मा की समृद्धि ही साहित्य का अध्यात्म है जिसे उपलब्ध करने की बड़ी प्रतिभा सदा व्याकुल रहती है। शिवप्रसाद सिंह की उपलब्धि का प्रमाण है 'नीला चांद'।**

द्विवेदीजी की षष्ठि-पूर्ति के उपलक्ष्य मे डॉ शिवप्रसाद सिह ने काशी में बडा समृद्ध आयोजन किया था; 'शांतिनिकेतन से शिवालिक' नामक महत्त्वपूर्ण आकलन-ग्रथ प्रकाशित किया था, जिसके नाम-पद की नकल पर बाद मे कई किताबें छपीं और अकबर इलाहाबादी का शेर याद आया था :

शेख ने दाढी बढायी सन की सी,
मगर वह बात कहा मालवी मदन की सी।

पंडितजी अपने पट्ट शिष्य की निरानंद मुद्रा को देखकर एक दिन गहरी उदासी मे

डूब गये थे। आज पंडितजी होते तो 'अपने शिवप्रसाद' को सहज मुद्रा में हंसते-बोलते देखकर प्रीत-आश्वस्त होते, उनकी प्रातिभ ऊर्जा के अपेक्षित रूपायन की उच्छल संभावना-कामना से। रवींद्रनाथ का गान गाते अपने आशीर्वाद से शिवप्रसाद सिंह को प्रेरणा-समृद्ध करते :

आसबे पथे आँधार नेमे
ताइ बलेइ कि रइबि थेमे
ओ तुइ बारे-बारे ज्वालिबे बाति हयतो बाति ज्वलबे ना,
ता'बले भाबना करा चलबे ना ।।
शुने तोमार मुखे वानी,
आसबे फिरे बनेर प्राणी
तबु हयतो तोमार आपन घरै पाषाण हिया गलबे ना--
ता'बले भाबना करा चलबे ना ।।

मैं जिसका साक्षी हूं

• *गिरिजाप्रसाद तिवारी*

मेरा क्षेत्र तो अखाडा और खेल का मैदान था। साहित्यिक रुचि होते हुए भी परिस्थितिया कुछ और थी। इसलिए यह कार्य कुछ और कठिन लग रहा है। परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना है कि इस दुरूह कार्य को सुगम करे। यह कार्य जो मै करने जा रहा हू बडा ही कठिन और पावन है। ऐसे कार्यो पर बहुत तरह की दृष्टिया पडती है। कोई सहज सहानुभूति की दृष्टि रखता है तो कोई काक दृष्टि अर्थात बुराइयो को ही ढूढने लगता है। पर मेढक के टर्राने से गाय पानी पीना बद नही करती न कुत्तो के भूकने से हाथी चलना ही बद करता है।

किसी अभिन्न के विषय मे लिखना बडा ही धर्म-सकट मे डालनेवाला कार्य होता है। सचमुच की भावुकतावश कार्य चाटुकारिता का न हो जाये या बहुत-सी बाते अस्वाभाविक न लिख जाये। इन्हीं सब कारणो से मै मौन था। जैन साहब का पत्र घूमते-घामते कलकत्ते जैसी महानगरी मे पहुच गया। मार्ग मे मात्र एक डेढ माह ही लगा था। यह कोई देर नहीं कही जा सकती क्योकि युग वैज्ञानिक है। पत्र के पहुचने पर मै सोचने लगा कि क्या करना चाहिए। इसी तरह की ऊहापोह मे मैं हैरान था। डॉ मिश्रा (कृष्णबिहारी मिश्र) से भी भेट नही हो पायी। सयोग की ही बात थी कि एक मित्र ने बतलाया कि अभी समय है । शिशु कक्षाओ के शिवप्रसाद पर कुछ लिखा जा सकता है और उसे जैनजी के पास भेजा जा सकता है। इसी से साहस जुटा कर डॉ शिवप्रसाद पर नहीं बल्कि शिशु कक्षाओ के विद्यार्थी रूप पर कुछ लिखने जा रहा हू।

हर बडे व्यक्ति के जीवन को ध्यान से देखा जाये तो मिलेगा कि बहुत तरह के मोड उनके जीवन मे आये है। बालक शिवप्रसाद या विद्यार्थी शिवप्रसाद जब मा की पाठशाला से बाहर आया तो शिशु कक्षाओ के गुरुजनो से भेट हुई। आज से 50-60 वर्ष पूर्व के हमारे गुरुजन साधक हुआ करते थे। बच्चो मे परिवर्तन उपस्थित करना उनका कर्तव्य हुआ करता था। ऐसे समय मे अपर प्राईमरी स्कूल मे एक साधक से भेट होती है। उन्हे हम लोग मुशीजी * के नाम से जानते हैं। सादा जीवन और उच्च

* जगदरी के निवासी मुशी श्री चद्रिका प्रसाद श्रीवास्तव जी।

विचारवाली कहावत उनके लिए सार्थक है। इनका प्रभाव बालक शिवप्रसाद पर अत्यधिक गहरा और क्रांतिकारी पड़ता है। यही वह स्थान या मोड़ है जिसके कारण बालक शिवप्रसाद आकाश में न उड़कर इस मिट्टी पर ही रहा। नहीं तो इतना बड़ा गणितज्ञ आज कोई दूसरा भाभा रहा होता। हम लोगों के परमपूज्य गुरु विद्यासागर सिंह इस बच्चे को मेधावी (जीनियस) कहा करते थे। उनका कहना था कि पूरे स्कूल में एक ही लड़का गणित जानता है, वह है शिवप्रसाद।

इतनी बड़ी रुचि और जानकारी रखने के बाद भी गुरु (मुंशीजी) का मंत्र सफल हुआ। प्राइमरी स्कूल में ही 'फल' पर निबंध लिखने को दिया। प्राइमरी का विद्यार्थी इस शीर्षक को पाकर अपने ही निहाल नहीं हुआ बल्कि आज की भारती को भी निहाल कर रहा है। मुंशीजी ने बालक की रुचि को 'कल्याण' की तरफ झुका दिया। उस समय 'कल्याण' मे बड़े-बड़े दार्शनिकों के लेख हुआ करते थे। संस्कृतनिष्ठ हिंदी लिखनेवाले लोग हुआ करते थे। यही कारण था कि बालक शिवप्रसाद की भाषा संस्कृतनिष्ठ हुआ करती थी। यह क्रम प्राइमरी से लेकर मिडिल तक चलता रहा। यों कहा जाये कि हाई स्कूल में भी कुछ दिनों तक कायम था।

संयोग ही था कि दूसरे गुरु के रूप में जगतनारायण सिंह जी मिले। ये आधुनिक रुचि के थे। आधुनिक साहित्य पर पूरा अधिकार था। गुरु की दृष्टि हाई स्कूल के छात्र शिवप्रसाद पर पडी। कल्याण की हिंदी से निकाल कर जनहिंदी की ओर मोड़ दिया। यह समय क्रांतिकारी या रेडिकल चेंज का था। यह समय कौमार का था। सोलह वर्ष की आयु ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन। चेहरा लाल तेज और ओज से भरा। यू.पी. बिहार के लोगो मे उन दिनों तक यही परिपाटी थी कि 12-16 के बीच बच्चो की शादी होनी ही चाहिए। बालक शिवप्रसाद की भी शादी हुई। घोड़ा दहेज में मिला, जैसे आज मारुति मिलती है। इसी का फल हुआ कि चिरंजीव का आगमन 16 वर्ष की उम्र में हुआ। कुछ दिनों के बाद एक बच्ची भी हुई। दोनों ही बढ़ने लगे। परंतु काल के क्रूर नियम कौन जानता है। ये दोनों बालक एक दिन इस संसार से विदा हो गये। चिरंजीव पिता से भी बढ़कर होनेवाला था पर दैव को मान्य नहीं था।

हाई स्कूल में पढते-पढ़ते ही यह बालक अपनी रुचि को प्रकट कर चुका था। इसकी रुचि हिंदी में इतनी हुई कि गाव में वाद-विवाद प्रतियोगिता, निबंध-लेखन, कविता आदि प्रतियोगिता के विषय बन गये, नाटक ढोलना भी गांव की रुचि हो गयी। पुरस्कार भी मिलने लगे। संपूर्ण गांव के लोगों की रुचि साहित्यिक हो गयी। सभी विद्यार्थी हिंदी में अधिक से अधिक रुचि लेने लगे। इसी से सभी बच्चों की हिंदी अच्छी हो गयी। इसकी जड़ में और कोई नहीं बल्कि आपका विद्यार्थी शिवप्रसाद ही था।

प्रारंभ में एक रुचि और भी परिलक्षित हुई थी। वह थी प्रहसन के प्रति झुकाव। इस रुचि से एक बहुत बड़े गंभीर साहित्य की रचना करनेवाले का गला घोटा जा रहा था। पर विधि के विधान को कौन जान सका है? जो उसे करना है वह कराकर

ही रहता है। क्योंकि कर्ता तो वही है हम और आप तो करण-कारक हैं। ऐसे ही मौके पर एक गुरु महोदय सामने आये। यह काशी में इंटर में पहुंच जाने के बाद की घटना है।

राजर्षि की जन्म-तिथि मनायी जाती है, उस समय भी मनायी जा रही थी। मैं उस स्कूल का छात्र तो नहीं था पर ऐसे मौकों पर वहीं रहा करता था क्योंकि प्रत्येक होस्टल में मेरे मित्र रहा करते थे। हर होस्टल के बच्चों में होड रहती है कि मैं अपने होस्टल का अक बढा रहा हूं। सभी प्रतियोगिताओं के अक जुटते हैं। इसी को आधार मानकर होस्टल प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ समझे जाते हैं। बालक शिवप्रसाद भी अपनी मेधा का प्रयोग कर अपने होस्टल को अंक दिलाना चाहते थे। गुरु-कृपा हुई, जिससे जानी वाकर और महमूद होते-होते बचा। जी पी सिंह प्राचार्य बच्चो के हंसोडे कार्यक्रम को देखकर प्रभावित तो अत्यधिक हुए, परंतु मुझे लगा कि उनके मानस पटल पर एक चिता की रेखा भी उग आयी होगी क्योंकि अपने कक्ष मे बुलाकर उन्होने बहुत हमदर्दी से गुरु कार्य सपन्न किया। उन्होने समझाया कि यह तुम्हारा कार्य बडा ही सराहनीय है परतु तुम्हारे जैसे मेधावी विद्यार्थियो के लिए नहीं है। तुम्हारी सपूर्ण शक्ति जोकरी में निकल जायेगी। इण्टर के छात्र शिवप्रसाद ने इस बात को गाठ बाध लिया। और उनके संकेत को जीवन का लक्ष्य बना लिया और गभीर साहित्य का सृजन करने लगा।

इन सारी बातो को ध्यान मे रखने से एक बहुत बडी समस्या का हल मिल जाता है कि यह विद्यार्थी अपने गुरुजनों मे कितनी निष्ठा और विश्वास रखता था कि उनके आदेशो के पालन मे अपना सब कुछ या रुचियों का बलिदान करता था।* बाल्यकाल में मुंशीजी ने गणित से साहित्य की ओर, हाई स्कूल में संस्कृतनिष्ठ हिंदी से जनभाषा की ओर झुकना और श्री मार्कण्डेय सिंह जी के आदेश पर तो सभी भाषा के चालू शब्दो की ओर रुचि बढ़ती नजर आयी। गणित छूट गयी पर भाषा पर जो अधिकार और एक्यूरेशी है वह गणित के कारण है। भाषा का हम जादूगर ही कह सकते हैं। व्याकरण की परिपक्वता गणितज्ञ होने के नाते ही आयी।

गुरुजनों में आस्था की चर्चा करनी पडी है, इसका एकमात्र कारण यह है कि इनके विषय में एक आम धारणा रही है कि ये बडे अहम्वादी हैं। साथियो की कुछ उलाहना भी मुझे मिला करती थीं। बच्चे जब तक बच्चे हैं तब तक तो अत्यधिक सोचने-समझने की कोई बात उनकी दुनिया मे नहीं हुआ करती, पर जब बढ़ने लगते हैं तब ससार की हवा का प्रभाव उन पर पडने लगता है। वे भी अपनी सज्ञा को पहचानने लगते हैं। जो बच्चे या जो साथी उन्हें छोडकर आगे बढ़ने लगते

---

* कथाकार के प्रमुख चरित्रो के रचना-विधान मे यह बात बहुत ही प्रमुखता से देखी जा सकती है, 'नीला चाद' तो इस आदर्श को बहुत ही ठोस धरातल प्रदान करता है।

हैं उन्हें ईर्ष्या या कुछ इसी तरह के विकारों से देखने लगते हैं।

जिस वातावरण से बालक शिवप्रसाद निकला है, उसका भी तो उसके जीवन पर प्रभाव होना ही चाहिए। अगर ऐसा नहीं होगा तो वह लेखक कैसे होगा ? उसका लेखन जड़ बनकर रह जानेवाला होगा। बालक शिवप्रसाद को बंदूक से पक्षियों को मार कर खुश किया जाता था। इतना बड़ा परिवार बालक शिवप्रसाद को तानाशाह बनाने में लगा था। हजारों बीघे पर खेती, नौकर-चाकर, परिवार के सभी सदस्य चाहे वे बडे पिता हो या चाचा या भाई गांव के सब लोगों का प्यार और झुकाव इधर रहा है। दुख और कष्ट तो बालक को छू भी नहीं पाया था। बाबा गणेश सिंह ने संपूर्ण त्याग, तपस्या और अरमान से पाला था। सोलह वर्ष की अवस्था तक भोजन मे नमक तक नहीं प्रयोग कर पाया था। दूध पर ही जीवन रखा जा रहा था। अमृत तत्त्व से ही शरीर और आत्मा पुष्ट हो रही थी। ऐसे* वातावरण में पलनेवाला बालक क्या होगा ? इसे भी गभीरता से सोचना होगा।

रेस मे दौडनेवाला धावक पीछे मुडकर यदि देखने लगे तो पिछड जायेगा। वह तो अपने गतव्य पर पहुच कर ही पीछे की ओर देखता है। आगे बढ़नेवालो को इतना मौका कहां है कि वह रुके और पिछडों को लेकर आगे बढ़े। मेरे पास जब साथियो की शिकायत आती है तो मै बडे शांत भाव से उन्हें बहुत तरह की बातें बताकर सतुष्ट करता हू। यह शिकवा-शिकायत उसी तरह की होती है, जिस तरह की शिकायत हम रात मे स्वयं से करते हैं। अपनी संज्ञा ही उसे सुनती है।

हम लोगों की कंपनी बडी ही शांत और हंसी-मजाक प्रिय कंपनी थी। अच्छा भोजन करना तो बस इसका सबसे बडा गुण हुआ करता था। शब्द भी हम लोग अपने गढ़ लेते थे या पुराने शब्दों को प्रयोग किया करते थे। जैसे—'चिपोरना' एक बार मै और विद्यार्थी शिवप्रसाद बीमार होकर एक ही होटल में के एक ही कमरे में रहने लगे। इनके चाचा बृजनाथ सिह हम लोगो की देख-रेख में थे और क्लास मे भी थे। मैदान होकर लोटा साफ करना पड़ा तो बालक शिवप्रसाद मिट्टी को छुडाने में परेशान। हाथ में मिट्टी चिपक गयी। साफ करना कठिन हुआ। पर एक बार बतलाने पर उसे समझ कर अपना लेना बालक शिवप्रसाद अपना धर्म या कर्तव्य मानता था। आज भी वह शब्द किसी-न-किसी रूप मे हम लोगों से चिपका हुआ है। क्या चिपोर रहे हो ? जैसे मुंह चिपोरना आदि। मेरे कहनें और लिखने का एकमात्र कारण यही है कि इस तरह की कमी या दोष व्यक्ति का नहीं बल्कि वातावरण का है।

गुलाब का फूल, लाल चंदन, धूप, सीपी आदि का प्रभाव भी आधिक रहा है। जैसे गुलाब काटों में खिलता है, मुस्कराता है और अपनी सुगंधि से संपूर्ण वातावरण को महमह बनाता रहता है। चंदन शीतल बना रहता है, विषधरों के लिपटे रहने पर

* देखिए—गर्दिश के दिन, सं.—कमलेश्वर

भी अपनी शीतलता नहीं छोडता । ठीक इसी तरह ऐसे वातावरण में रहने पर भी इनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । अपनी शीतलता और सुगंधि को कायम ही रखा। एकांत में बैठकर घटों संध्या पाठ करना बालक शिवप्रसाद का गुण था। हाई स्कूल की परीक्षा के समय एक ही धर्मशाला में करीब दो-ढाई सौ विद्यार्थी दो स्कूलों के ठहरे हुए थे। उस आपा-धापी मे घंटों बैठकर भगवान की प्रार्थना करना कुछ और ही प्रकट करता है। यह सब आज भी किसी-न-किसी रूप में है। सबसे बडी बात तो यह कि डेढवलिया के प्रधानाध्यापक रामजन्म सिंह जो हम लोगों के हिंदी शिक्षक थे वे और मलसाई के हिदी शिक्षक दोनों ही गाजीपुर पहुंचकर भी पढ़ाने के लिए न आये क्योंकि उनका विश्वासी और मेधावी छात्र शिवप्रसाद संध्या समय दोनों स्कूलों के विद्यार्थियों को बैठा कर क्लास ले रहा था।

शिशु शिवप्रसाद की एकांतप्रियता और गहरी दृष्टि मुझे पहले ही दिख गयी थी। आज के शिवप्रसाद या साहित्य को देखकर मुझे कुछ भी आश्चर्य नहीं होता क्योंकि मुझे विश्वास था कि यह लडका अपनी सभी चौकडी को छोडकर आगे चौकड़ी भर जायेगा।

अपरिवर्तनशील व्यक्तित्व और इतना परिवर्तनशील कि कहना और विश्वास करना कठिन होता रहा है। इसका मैं तो कायल था। सभी विरोधियों और साथियों की कटूक्तियो के बाद भी मैं उन्हें शांतिपूर्वक उत्तर देता रहा। वही उत्तर आज किसी-न-किसी तरह शिवप्रसाद साहित्य के रूप में दिखलायी पड रहा है। बीज में सारी शक्ति छिपी रहती है। प्रकृति उसमें सृजन की सपूर्ण शक्ति छिपाये रहती है। समयानुसार हवा, गर्मी और बरसात के मिलने से एक अकुर निकलकर वृक्ष के रूप मे बदल जाता है । वह वृक्ष पक्षियों का बसेरा बनता है और बचाता है, राही और गर्मी से जलनेवाले पशुओं को। ऐसे ही बीज रूप में सारी अच्छाइयों और सृजनात्मक शक्ति को प्रकृति ने इस बालक में भर रखा था। जैसे-जैसे गुरुजनों एवं शुभेच्छुओं से योग मिला वही शक्ति, वही बीज आज शिवप्रसाद साहित्य को रूप दिया है। वही वृक्ष आज के साहित्य पर चलनेवाले राहगीरो और पिपासुओं की तृषा को शात कर रहा है।

सबके जीवन मे विध्वंसक मोड भी आते रहते हैं। वैसे ही मोड विद्यार्थी शिवप्रसाद से लेकर शिवप्रसाद साहित्य के रचयिता के जीवन में भी आये हैं। पर मैंने उन्हें हमेशा अडिग पाया। उसी का फल है जो आज भी दिखलायी पडता है। पुराने जर्जर सामंती परिवार का लड़खड़ाना और टूटना, पितामह श्री गणेश सिह का संसार की लीला समाप्त करना फिर अपने पिताओं मे भी बंटवारा होना* पिता का भी स्वर्गवास होना। ये सब ऐसे मोड हैं जहां लोग रुकते ही नहीं बल्कि कठिनाइयो को आत्मसमर्पण भी कर देते

---

* देखिए –गर्दिश के दिन, स –कमलेश्वर

हैं। पर बालक शिवप्रसाद का आदर्श वह खैरा पीपल था, जो संपूर्ण झंझावातों से अप्रभावित रहता है। **'धक डोले चकबम्बम डोले पर खैरा पीपल कबहूं न डोले।'*** यह खैरा पीपल कितना महान आदर्श बालक के लिए सिद्ध हुआ। दरवाजे के दक्षिण और पश्चिम के कोने पर पोखरे के दूसरे छोर पर उसी तरह अडिग झूमता दूसरी तरह विद्यमान है। इन आदर्शों और प्रतीकों को लेकर ही तो संसार की रंगशाला या रण-क्षेत्र में व्यक्ति प्रवेश करता है। जीवन संघर्ष है या संघर्ष ही जीवन है। बात चरितार्थ होती है शिवप्रसाद के जीवन से। 'खैरा पीपल', 'चंदन', 'गुलाब', 'सीपी', 'कर्मनाशा की हार' ये सारे शीर्षक लेखक से दूर नहीं, ये सब तो लंगोटिया यार हैं।

जिदगी जब आगे खिसकी तो एक और वज्रपात हुआ, जिसकी चर्चा मैं आगे कर चुका हूं। दोनों बच्चों का स्वर्ग सिधार जाना, यह ऐसा दैवी प्रकोप था, जिससे उबरना कठिन था, पर प्रकृति को मंजूर था कि बालक से अभी कुछ काम लेना है, इस कारण अनिष्ट से बचा लिया। पर पत्नी चपेट में आ ही गयीं। अर्द्धविक्षिप्त-सी रहने लगीं। बडी परेशानी हुई। स्वतत्र विचरण करनेवाला छात्र दुर्गाकुंड के भाडेवाले मकान मे परिवार के साथ रहने लगा। धीरे-धीरे समय-चक्र हिलने लगा। संतुलन बना रहा। कोई घबराहट नहीं। ऊपर से सब ठीक-ठाक था। पर भाई शंभूनाथ सिंह कुछ-कुछ अपनी अकर्मण्यता के मन को अवश्य डांवाडोल करते रहे। उतना ही जितना आधी और तूफान के बाद जब हम देखते हैं तो पता चलता है कि किसी की टोपी तो किसी की पगड़ी उड गयी है। मूल तो बचा ही रहता है। उतना ही परेशान हुआ था भाई शंभूनाथ के कार्यों से शिवप्रसाद।

अंतिम और सबसे घातक दैवी प्रकोप आता है बच्ची की बीमारी का। यद्यपि यह बीमारी सामान्यजन के लिए नहीं है। पर मैं देखता हूं की शिवप्रसाद किसी को चैलेंज नहीं करता था लेकिन सबके चैलेंज को स्वीकारता अवश्य था। हुआ भी यही। बच्ची की किडनी में दोष आया। पिता घबड़ा उठा। बचाव के लिए काल के मुख में अपने को झोंकने को तत्पर हो गया। भगवत कृपा ने बच्ची को काल के मुख से निकाल लिया। बच्ची पर पिता की ममता अधिक होती ही है। सब कुछ दांव पर रख दिया। बच्ची बच कर भी बच न पायी । ईश्वर ने क्या सोचकर ऐसा किया, कहा नहीं जा सकता। इस दुर्दांत घटना के बाद जब मुलाकात हुई तो ऐसा लगा जैसे कोई साधारण बात घट गयी हो। अथक प्रयास का फल था, जो इन्हें संतुष्ट किये हुए था कि मैंने जो कुछ किया है वह काफी संतुष्टिवाला है। इससे अधिक एक शिक्षक कर ही क्या सकता था।

मुसैसीपुर में बड़े काका जो सामंती प्रथा के प्रतीक थे, बंदूक, घोड़ा और अपने नौकरों-चाकरों से घिरे रहते। शिकार खेलना, मस्ती के साथ रहना और वहां के संपूर्ण

* देखिए—खैरा पीपल (कहानी)

हिस्से का भार सभालना उनका कार्य था। हम लोग भी कपनी के साथ वहा हो रहा (होला) खाने के लिए ईख का रस पीने के लिए वहा पहुचते थे। बडा आदर हम लोगो को वहा मिलता था। गगा का किनारा बबूल के अधिक पेड आज भी झकझोर देते हैं मन को। बडी तमन्ना के साथ धन्नी काका भी सूढना की जमींदारी की देख-रेख किया करते थे। जमींदारी की देखरेख करनेवाले काका नटो के परिवार के मान्य मुखिया थे।*

मेरी मा अर्थात स्वर्गीय रघुवशी देवी का योग भी बालक शिवप्रसाद पर अधिक रहा है। मा निश्चय ही सबकी मा थी। गाव मे बच्चो के डॉक्टर के रूप तो गरीबो को जब बीमारी के बाद पथ्य न मिलता तो घर के लोगो की चोरी से पहुचना उनका धर्म था। गाव की लडकियो की पाठशाला मा के द्वारा सचालित थी। सिलाई-कढाई उन्हीं की पाठशाला से सीखकर अपनी ससुराल जाया करती थीं। पाक विद्या में माताजी बडी निपुण थीं। सफाई तो उन्हीं के हिस्से पडी थी ऐसा जान पडता था।**

अब तो विश्वविद्यालय से अवकाश प्राप्त कर अपने लेखन को जिदा रखे हुए मस्त पडे हैं।

---

* अलग-अलग वैतरणी के खलील मिया का चरित्र इन्हीं के इर्द गिर्द बुना गया है।

** उपधाइन कहानी का चरित्र इन्हीं के आधार पर खड़ा होकर विश्वसनीयता प्राप्त करता है।

जमीन से जुडी जमानियां की कलम

• डॉ. रवींद्रनाथ सिंह

कवि-दिवस (राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का जन्म दिवस) के अवसर पर 3 अगस्त 1990 को इलाहाबाद मे हिंदुस्तानी एकेडेमी की ओर से मेरी पुस्तक 'कम्ब-रामायण और रामचरितमानस के नारी पात्र एक तुलनात्मक अध्ययन का विमोचन उत्तर प्रदेश के राज्यपाल द्वारा कराये जाने का कार्यक्रम था। इस अवसर पर हिंदी- साहित्य के अनेक मूर्धन्य साहित्यकार—श्री उपेद्रनाथ अश्क डॉ विद्यानिवास मिश्र अमृत राय डॉ राही मासूम रजा डॉ देवराज केशव चद्र वर्मा डॉ शिवप्रसाद सिह डॉ रघुवश नरेश मेहता शैलेश मटियानी डॉ हरदेव बाहरी लक्ष्मीकात वर्मा अमरकात वीरेद्र कुमार भटटाचार्य डॉ राममूर्ति त्रिपाठी डॉ विष्णुकात शास्त्री डॉ विश्वनाथ प्रसाद तिवारी गिरिराज किशोर डॉ परमानद श्रीवास्तव डॉ मीरा श्रीवास्तव डॉ सत्यप्रकाश मिश्र डॉ जगदीश गुप्त डॉ वाडिवडेकर आदि उपस्थित थे।

राज्यपाल महामहिम श्री बी सत्यनारायण रेड्डी जी के कर-कमलो द्वारा मेरी पुस्तक का विमोचन हो चुका था। मैं मच के निकट बैठा हुआ था। मेरी पुस्तक की प्रति एक हाथ से दूसरे हाथों होती हुई लोगो के बीच घूम रही थी। लोग जिज्ञासावशात् देख रहे थे। उन्हे इस पर विशेष प्रसन्नता थी कि दक्षिण भारतीय साहित्य पर पुस्तक प्रकाशित हुई है। मुझको भी अधिकाश लोग दक्षिण भारतीय ही समझ रहे थे। मेरी बगल मे बायीं ओर काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रवक्ता डॉ कैलाश नाथ तिवारी जी बैठे हुए थे। अन्य लोगो की तरह उन्होंने भी पुस्तक को देखा किंतु लेखक-परिचय देखकर वे चौंक गये। बड़ी जिज्ञासा एव कौतूहल के साथ पूछा—क्या आप गाजीपुर उत्तर प्रदेश के हैं ? आप मद्रास के नहीं हैं ? विस्मय से मेरे पीछे बैठे हुए व्यक्ति से उन्होने बताया कि डॉ साहब ये भी गाजीपुर के ही हैं। इसके बाद डॉ तिवारी ने मुझसे बताया कि मेरे ठीक पीछे बैठे हुए सज्जन काशी हिंदू विश्वविद्यालय के पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ शिवप्रसाद सिह जी हैं। मेरे पीछे मुडते ही उन्होंने स्वय अपना हाथ मिलाने के लिए आगे बढाया। उन्होने कहा कि मैं जमानिया का हू। आपके गाव का क्या नाम है तथा यह किस क्षेत्र मे पडता है। परिचय हेतु सर्वप्रथम गाव के विषय मे पूछना उनके गाव एव गाव की मिट्टी के प्रति अगाध स्नेह को प्रकट करता है।

गांव तथा मिट्टी के प्रति उनका यह प्रेम उनके साहित्य में भी दर्शनीय है।

जब मैंने उन्हे अपने गांव का नाम तथा क्षेत्र बताया, तो चौंकते हुए कहा भाई ! केवल कृषि-उत्पादन की दृष्टि से ही नहीं, अपितु आपके क्षेत्र की मिट्टी तो साहित्यिक दृष्टि से भी बहुत उर्वर है। ज्ञातव्य है कि मेरे गांव और पत्रालय–रानीपुर से मात्र एक किलोमीटर की दूरी पर डॉ भोलानाथ तिवारी (आरीपुर), मात्र पांच किलोमीटर की दूरी पर डॉ राही मासूम रजा (गंगौली), मात्र दो किलोमीटर की दूरी पर डॉ इद्रदेव सिंह का गांव है, डॉ शिवप्रसाद सिह का सकेत इसी ओर था। उन्होंने मुझको बधाई देते हुए कहा कि अब जब कभी भी वाराणसी आयें तो मुझसे अवश्य मिलें उन्होंने कहा कि यहा पर प्रतिवर्ष हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा कवि-दिवस मनाया जाता है, इसको अवश्य याद रखें। अब तो मैं प्रतिवर्ष आपसे इस आयोजन में मिलना चाहता हूं अर्थात् आपकी प्रतिवर्ष इसी भांति एक पुस्तक प्रकाशित होती रहे, जिसके विमोचन समारोह मे हम मिलते रहे--आपके लिए मैं ईश्वर से यही मगलकामना करता हू।

डॉ शिवप्रसाद सिह से यद्यपि मैं पहली बार मिला था, किंतु वे इतने सहज एव स्वाभाविक रूप से मिले कि मुझको यह अहसास ही नहीं होने पाया कि मै हिदी साहित्य के इतने लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार से पहली बार मिल रहा हू, हमारी उनकी यह प्रथम मुलाकात है। एक पूर्णत अपरिचित के प्रति भी ऐसी है उनकी सरलता, सौम्यता, सहजता। सहृदयता के धनी डॉ सिंह से मिलकर मुझको जो सुखद अनुभूति हुई "वह भावत जाय किंतु नहिं बरनि" आडबर तथा कृत्रिमता की कहीं पर भी कोई गध नहीं--उनका यह व्यक्तित्व मुझको बहुत ही मोहक लगा जो अन्य साहित्यकारो एवं लोगों के लिए एक उत्तम दृष्टांत है।

लगभग तीन दशको तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय की सेवा के उपरांत डॉ सिह अब अवकाश ग्रहण कर चुके हैं। एक सफल तथा सुयोग्य अध्यापक, साहित्यकार शोध-निदेशक के रूप में उन्होने अपना सब कुछ काशी हिंदू विश्वविद्यालय तथा उसके सहस्रों विद्यार्थियों को दिया है। उनकी सेवाओं के लिए उन्हें न तो यह विश्वविद्यालय भूल सकता है, न ही हिंदी-जगत्, जिसमें उनके ज्ञान का रक्त सचरित है। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वह उनका शेष जीवन अत्यंत मंगलमय सुखद बनायें तथा उन्हें सब प्रकार से स्वस्थ एव समृद्ध रखें, जिससे कि वे पूर्ववत् हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि करते रहे, क्योंकि वे अभी विश्वविद्यालय की सेवा से निवृत्त हुए हैं, परंतु वे साहित्य-सेवा से कभी निवृत्त नहीं हो सकते। अभी उन्हें बहुत कुछ लिखना है। अतत मैं गालिब के शब्दो में यह कहना चाहता हू

"तुम सलामत रहो हजार बरस,
हर बरस के हो दिन पचास हजार।"

शिवप्रसाद सिंह का प्रिय व्यक्तित्व : स्मृतियों की बिखरी कड़ियां

• डॉ. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर

दक्षिण भारत के प्रमुख प्रदेश केरल में वर्षों से हिंदी भाषा व साहित्य के क्षेत्र में सेवा करते रहने से अनेक प्रशस्त व प्रतिभाशील हिंदी साहित्यकारों एवं हिंदी प्राध्यापकों से संपर्क करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। इसे अपनी हिंदी-सेवा की सबसे बड़ी उपलब्धि मानता हूं। इस सेवा के दौरान मैंने कई बार काशी नगरी की यात्रा की है। उस नगरी मे छोटी-छोटी अवधि का निवास किया है। स्नातकोत्तर उपाधि के लिए में काशी में पं मदनमोहन मालवीय के मूर्तिमान विद्यादान—काशी हिंदू विश्वविद्यालय का छात्र हो सका था। उन दिनों कई नयी-पुरानी प्रतिमाओं के दर्शन हुए थे अनेकों के बारे में पहले सिर्फ सुना था। सर्वश्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पद्मनारायण आचार्य आदि प्रौढ़ आचार्य थे। युवा पीढ़ी के शिवप्रसाद सिंह और श्री नामवर सिंह उन दिनों खास प्रशस्त थे। छात्रों में रामदरश मिश्र कवि के रूप में लोकप्रिय थे। अपने अल्पकालीन प्रवास में केवल कीर्ति श्रवण के रूप में जिनका परिचय मिला उनमें प्रमुख शिवप्रसाद सिंह थे। केरल से आये स्नातकोत्तर छात्रो में मेधावी छात्र शिवप्रसादजी की विशेष चर्चा थी। वे शीघ्र ही शोधछात्र के रूप में वहीं जम सके। हजारीप्रसाद द्विवेदी के वे प्रिय शिष्य थे। हिंदी विभाग मे वे शीघ्र ही प्राध्यापक भी बने।

शिवप्रसाद सिंह की जो प्रथम कृति मैंने पढ़ी वह थी—'कीर्तिलता और अवहट्ठ'। यह एक गंभीर विद्वत्तापूर्ण शोधग्रंथ था। उसे पढ़कर लेखक के बड़े बुजुर्ग होने का भ्रम होता था। बुजुर्ग ही ऐसे सूखे विषय पर लिख सकते थे। मगर शीघ्र ही शिवप्रसादजी को कहानीकार के रूप में देखने का मौका मिला। विद्वान् प्राध्यापक के रूप में उनका यश काशी विश्वविद्यालय के केरलीय छात्रों के माध्यम से यहां बराबर पहुंच रहा था। अतएव केरल विश्वविद्यालय के एरणाकुलम केंद्र में स्थित हिंदी विभाग में एक गोष्ठी के लिए उन्हें निमंत्रित किया। वे सप्रेम आये। उनके भाषण बड़े प्रभावशाली रहे थे। उनके आत्मीय व्यवहार से मैं मुग्ध हुआ। कोचिन के उनके सहपाठियों की

खुशी का ठिकाना नहीं रहा।

मेरे मन में शिवप्रसाद सिंह के प्रति ममता और सम्मान की मिश्रित भावना रही। इसलिए खुलकर बातें करने का मौका कम मिला। आगे मेरी काशी यात्राएं भी कम हो गयीं। उनकी कहानियां बीच-बीच में पढ़ने का अवसर आता था। उसी से मुझे संतुष्ट होना पड़ता था। कुछ समय बाद उनके व्यक्तिगत जीवन की दुर्घटना की खबर सुनी। उनके रोगग्रस्त होने की सूचना भी मित्रों से प्राप्त हुई। सच्चे कवि-हृदय के धनी शिवप्रसादजी पर जो बीता उसकी ऐसी ही प्रतिक्रिया हो सकती थी। उनके ज्यादा चलने-फिरने में कठिनाई की बात सुनकर और भी दुःख हुआ। वे धीरे-धीरे सुधर गये। उनके स्वास्थ्य के सुधरने के दिनों में ही एक दफे काशी फिर से जाने का सुअवसर आया। समय की कमी के कारण मुझे दोपहर के समय उनके घर जाना पड़ा, उन्हें जगाना पड़ा। वर्षों बाद की मुलाकात थी। उनकी थकान देखी तो अधिक कष्ट देना अनुचित लगा । मैंने केवल दर्शनों से संतोष कर विदा ली।

वर्षों बाद मेरे मन की अधूरी अभिलाषा पूरी हुई। अखिल भारतीय हिंदी पाठ्यक्रम के निर्माण के लिए जो समिति विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने गठित की उसके संयोजक के रूप में शिवप्रसाद सिंह नियुक्त हुए। इधर मैं केरल विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग खोलने के सिलसिले में विशेष अधिकारी नियुक्त हुआ । इस नयी हैसियत से मुझे भी पाठ्यक्रम समिति का सदस्य बनाया गया। समिति की बैठकों में मैं शिवप्रसादजी को नज़दीक से देखने और उनसे बातें करने में सफल हुआ।

अखिल भारतीय स्तर पर हिंदी के पाठ्यक्रम का निर्माण बड़ी चुनौती का काम था। यह केवल हिंदी में विद्वत्ता का काम नहीं रहा। ऐसे पाठ्यक्रमों का आविष्कार करना था जो हिंदी भाषी-अहिंदी भाषी--दोनों श्रेणियों के लोगों के लिए उपयोगी निकले और प्रयोजनमूलक दृष्टि से भी कारगर हो। समिति के कार्यकलाप से विभिन्न मानसिक प्रकृतियों तथा शैक्षणिक रुचियों के विद्वान् जुडे थे। उन सबको संभालना था। बड़ी सूझ-बूझ से काम लेना था। इन सबके अलावा कई दिशाओं से कठिनाइयां और आपत्तियां उठाकर संयोजक को परेशान करने का प्रयास भी जारी था। उनसे भी जूझना। चक्रव्यूह में फंसे सेनानी की सी स्थिति रही।

मैंने देखा कि वे सारी विषम समस्याओं का सामना करते हुए आगे बढ़ रहे थे। वे प्रेम से हर नये प्रस्ताव को सुनते, तटस्थ दृष्टि से उसका मूल्यांकन करते और प्रस्ताव की उपयोगिता व औचित्य परखकर उसे स्वीकार करते थे। उनके व्यक्तिगत प्रभाव और स्नेह के कारण उन्हें चुने हुए विद्वान् सदस्यों का पूरा सहयोग प्राप्त था। उनके निर्णयों में एक खासियत अनुभव होती। वे कोई दबाव न पसंद करते, न बरदाश्त ही। मगर न्याय व प्रेम उनसे कोई भी उचित प्रस्ताव स्वीकार कराता था। उन दिनों उनका स्वास्थ्य खराब रहता था। डॉक्टरी सलाह होती थी कि वे आराम करें । परंतु अपने गुरुतर दायित्व की चेतना के कारण वे बैठक में आ ही जाते थे,

पूरी चर्चा में भाग लेते थे। मैंने पाया कि स्वाभिमान उनका विशेष गुण रहा और वे हिपोक्रेसी से दूर हैं। आमने-सामने दिल खोलकर बातें करते थे। यह प्रवृत्ति व्यावहारिक जीवन में कूटनीतिक दृष्टि से कभी-कभी नुकसानदेह निकलती है।

शिवप्रसादजी के सरस व्यक्तित्व को भी निकटता से देखने का मौका उन दिनों मिला। पाठ्यक्रम की औपचारिक चर्चाओं के बीच विश्राम के क्षणों में व्यक्तिगत वार्तालाप का अवसर निकल आता था। अनेक सरस प्रसंग उठते थे। ऐसे संवाद में अधिकतर वे ही वक्ता होते, हम लोग श्रोता। काशी नगरी के अनेक साहित्यिक प्रसंगों के संस्मरण, काशी विश्वविद्यालय के अतीत के गरिमामय संस्मरण आदि बड़े ही प्रभावशाली ढंग से सुनाने में वे सक्षम हैं। उनके संस्मरणों में हजारीप्रसाद द्विवेदीजी की चर्चा बारम्बार आती थी। इन संस्मरणों में वक्ता की सहृदयता, भावुकता, स्मरणशक्ति आदि अनुभव होते थे। प्राचीन भारतीय कलाएं, अरविंद दर्शन, समकालीन साहित्यिक चिंतन आदि कितने ही विषयो पर उनका गज़ब का अधिकार भी प्रकट होता था। संस्मरणों के हल्के क्षण बताते थे कि कैसे इन्होंने कई सरस पात्रों की कल्पना अपनी कहानियों में की।

वेशभूषा में भारतीयता और विचारों मे हिंदी के प्रति दृढ़ आस्था शिवप्रसादजी के दो खास गुण अनुभव हुए। उनके चेहरे पर अपरिचितों को कुछ शंकित करनेवाली गंभीरता रहती है। उनकी आंखें इसी भावना को बढ़ाती हैं। लेकिन जब वे अपने मधुर संस्मरणों के बीच मुक्त हंसी हंसते हैं, तभी उनसे आज़ादी से बात करने की हिम्मत होती है। पान का उनका शौक बड़ा ही मशहूर है। मगही पान की मिठास उनकी बातों के साथ कहानियों में भी अनुभव होती है।

विश्वविद्यालयों में पद अनेक लोगों को राजनीतिक प्रभुता और धाक देते हैं। उनका जय-जयकार करनेवाले भी बहुत मिलते हैं। परंतु ऐसे लोगों के पद छोड़ते ही जयकार करनेवाले भी साथ छोड देते हैं। लोकप्रियता भी एकदम कम होती है। किंतु ठोस मौलिक सृजन और गंभीर प्रकृति का सम्मान धीरे होता है, पर ठोस होता है। शिवप्रसादजी इसी अंतिम कोटि के हैं। इसलिए हिंदी जगत् इस सरस्वती पुत्र का सम्मान करता ही रहेगा।

डॉ. शिवप्रसाद सिंह : नीम का वह पेड़ जिसे हिलाने में कर्मनाशा हार गयी

• *डॉ. विश्वनाथ प्रसाद*

मैं उन दिनों बी ए का छात्र था । निराला जयंती पर दो-तीन विद्वानों के व्याख्यान हुए उनमें से एक की बातों ने मन को छू लिया । वक्ता एकदम नौजवान था। भरा-पूरा शरीर, उस पर धोती और कुरता एकदम लक-दक ! आवाज थोड़ी भारी। नाम था डॉ. शिवप्रसाद सिंह। निराला की कविता 'राम की शक्ति पूजा' के नवीन पुरुषोत्तम राम और उनके लीला सहचर हनुमान के प्रसंग में बिल्लेसुर बकरिहा के बिल्लेसुर की बात उन्होंने उठा दी थी । बिल्लेसुर ब्राह्मण होकर भी बकरी पालता कि गांववाले उसका सबसे प्यारा बकरा गायब कर देते हैं । बड़ी खोज करता है । हनुमान की मूर्ति के सामने खड़ा होकर मन्नौती मानता है। फिर भी बकरा नहीं मिलता, तो खीज कर हनुमान की मूर्ति पर डंडा चला देता है । डॉ शिवप्रसाद सिंह ने कहा कि निराला का बिल्लेसुर हनुमान पर नहीं, बल्कि अंधभक्ति और रूढ़ियो पर प्रहार करता है ।

एक पीढी का अंतर

निराला के बिल्लेसुर से मैरो पाडे का विद्रोह अधिक प्रगतिशील और सार्थक है। निराला के कुल्ली भाट के विद्रोह की आभा थोडी-सी मैरो पांडे में है। दोनों जात-पात के बंधन को तोड़ते हैं। लेकिन कुल्ली संतान-विहीन मर जाते हैं। स्वयं भी समाज में बहुत प्रतिष्ठित नहीं रहे हैं। लेकिन मैरो पांडे अपने ब्राह्मणत्व को तिलांजलि देकर फुलमतिया और उसके बेटे को स्वीकार कर लेते हैं। यह निराला और शिवप्रसाद सिंह का नहीं, बल्कि पूरी एक पीढ़ी का अंतर है।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में मैं उन दिनों पढ़ रहा था, जब वह अपने अखाड़ेबाजी के लिए पूरे भारत में सरनाम था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की अध्यक्षता को बार-बार चुनौती दी गयी थी। उन पर तरह-तरह के

आरोप लगाये जा रहे थे। उनका बाणभट्ट किसी से नहीं हारा था, लेकिन वे दुरभिसंधियों से हारने लगे थे। डॉ. नामवर सिंह और डॉ. शिवप्रसाद सिंह, हर बैच के विद्यार्थी इन दो नामों का विकल्प बनने की जी-तोड़ कोशिश करते, लेकिन सारे प्रयास निष्फल और आत्मपीड़क ही होते थे। विकल्प बनने का कौन कहे, दो नामो के साथ तीसरा नाम भी कभी नहीं चल सका। उन दिनों मैं डॉ. नामवर सिंह के अधिक करीब था। उनकी वाग्मिता पर लट्टू था । लेकिन साहित्य पर राजनीति का बढता हुआ दबाव मेरी बरदाश्त के बाहर था। साहित्य को जनता की लड़ाई का हथियार तो बनाया जा सकता है, लेकिन इस मुद्दे पर साहित्य राजनीति का हथियार नहीं बन सकता है। उसकी संवेदनात्मक गहराई उसके लक्ष्य को वृहत्तर बना देती है और फिर साहित्य अधिक रचनात्मक होता है । वह जोडता है, तोड़ता नहीं। शायद इन्हीं बातों ने मुझे डॉ. शिवप्रसाद सिंह के करीब लाना शुरू कर दिया। फिर शुरू हुआ समाजवादी युवजन सभा का आंदोलन । हिंदी की अस्मिता का आंदोलन। इसने मुझे शिवप्रसाद सिंह के बहुत करीब ला दिया।

चिंतन का आधार

डॉ शिवप्रसाद सिंह को लोहिया ने सबसे अधिक प्रभावित किया है । पूंजी और कठोपनिषद् का तालमेल बैठानेवाले लोहिया को वे भारतीयता की मुकम्मल पहचान मानते हैं। यानी वर्ग चेतना के साथ भारतीय संस्कृति की पहचान डॉ. शिवप्रसाद सिंह के चिंतन का आधार है । मार्क्सवादी वैज्ञानिक दृष्टि को वे किसी भी सचेत व्यक्ति के समान स्वीकार करते हैं, किंतु प्रगतिशील और जनवादी आंदोलन चलानेवाले उन कार्यकर्ताओं से बराबर परहेज करते रहे हैं, जो अपने सुख में ही सिमटे हुए सिद्धांत को केवल ऐय्याशी के साजो-सामान का साधन मानते हैं। मार्क्सवादी चिंतन की केवल बात करनेवाले उस नीम के पेड़ की ताकत और दर्द को नहीं जान सकते, जिसे हिलाने मे समाज की कर्मनाशा की लहरे हार गयीं। लोहिया ने अर्थ के शोषण के अतिरिक्त जाति और भाषा के शोषण की भी बात कही थी । शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'गली आगे मुड़ती है' में भाषा के शोषण को लेकर आंदोलन ही खड़ा हो जाता है ।

नौजवान जूझते हैं इस शोषण के खिलाफ । आदिवासियो और हरिजनों के शोषण का दस्तावेज तो लगभग सभी कहानियां और उपन्यास हैं । वर्ष भर खपरैल और सुराही बनाने में जी-तोड़ मेहनत करने के बाद भी आधा पेट खाकर तड़पनेवाले कुम्हार, छोटे किसान, बेदखल काश्तकार, खेतिहर मजदूर, चरवाहे, घर की मजदूरी करनेवाले कहार और बारी, सेवकाई करनेवाले नाऊ, बड़ी जातियों से प्रताड़ित मुसहर, सपेरे और बनजारे ऐसे अछूते संदर्भ हैं जो डॉ. शिवप्रसाद

सिंह की कहानियों में बार-बार आते हैं। इनके अलावा वे टूटे हुए लोग भी हैं, जो हवेली के खंडहर पर छप्पर डालकर अब भी अपने को बड़ा आदमी समझ रहे हैं। गांवों की स्वार्थपरता, पारिवारिक कलह, जातीय भेदभाव, बेकारी, गुंडागर्दी, औरतों के साथ छेड़छाड़, बलात्कार, नशाखोरी, टुच्ची राजनीति, हत्या आदि को लेकर अलग-अलग वैतरणी का विपिन कहता—"हमारे गांव उस स्थिति में पहुंच गये हैं, जहां दर्द की इंतहा ही दवा बन गयी है।"

हिंदी के समीक्षक गुटों में बंट गये हैं। केवल अपनों की ही पहचान बनाने की कोशिश की जाती है। सिद्धांत की बात करते हुए भी लोग एकदम नंगे नजर आने लगे हैं। ऐसे में शिवप्रसाद सिंह गुट से अलग रहने का अंजाम झेलने को मजबूर हैं, किंतु इसकी कोई शिकायत नहीं है। शोषितों और पीडितों की तरफदारी करनेवाला व्यवस्थावादियों की राजनीति का शिकार होता ही है। चारों ओर से घेर कर वार किया गया। ऐसे मे निराला विक्षिप्त हो गये थे और शिवप्रसाद सिंह अपने अंदर ही सिमट गये। उन्हीं दिनों वे अरविंद दर्शन की ओर झुक गये। अरविंद के धर्मविहीन अध्यात्म और कम्यून पद्धति के जीवन ने उन्हें बेहद प्रभावित किया था। अभेद की यहां आध्यात्मिक दृष्टि थी और लोहिया में अर्थ की अभेद दृष्टि थी। उन्हीं दिनों उन्होने अस्तित्ववाद का भी अध्ययन किया। 'नन्हो' कहानी की नन्हो अस्तित्ववादी, आत्म-निर्वासन से पीड़ित है और मुरदा-सराय का हरिचरण भटकाव का आत्म-निर्वासन झेलता है। लेकिन धीरे-धीरे दोनों का घाव भरता है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह भी मानते हैं कि अस्तित्ववाद आज निरर्थक है। वह केवल पीडा को गहराता है।

आजीवन संघर्ष

व्यवस्था और पूंजी से संघर्ष केवल साहित्य मे ही नहीं, व्यक्तिगत जीवन में भी रहा। विश्वविद्यालय की नौकरी मे अपने आप जो मिलता गया, मिलता गया। लेकिन व्यवस्था और पूंजी का हाल यह है कि जो उससे लड़ता है, उसको भी वह दबोचने की कोशिश करती है। वाराणसी के एक आलीशान होटल में कुछ प्रशासनिक अधिकारियों की कृपा से 'धूमिल जयंती' का आयोजन किया गया था। समाजवादी विचार के कुछ नवयुवकों ने इसका जमकर विरोध किया। इनकी अगुआई की डॉ शिवप्रसाद सिंह ने। गरीबों के कवि की जयंती एक आलीशान होटल में उन्हें पसद नहीं आयी। उठकर चले गये और प्रगतिशीलता के हामी एक समीक्षक ने उसकी अध्यक्षता की। इसके बाद से ही धूमिल की जयंती उनके गांव में, उन्हीं लोगों के बीच मनायी जाने लगी, जिनके लिए उन्होंने लिखा है। ऐसी ही गहमागहमी हुई एक अन्य साहित्यिक संस्था के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देने पर। डॉ शिवप्रसाद सिंह को लगा कि संस्था पर पूंजीपति, नौकरशाह और अवसरवादी लोग हावी

हो रहे हैं।

डॉ. शिवप्रसाद सिंह के जीवन की सबसे कारुणिक घटना है, उनकी पुत्री की बीमारी और उसका निधन। 24 नवंबर, 1981 को मंजु बीमार होकर काशी हिंदू विश्वविद्यालय के चिकित्सालय में भर्ती हुई। एक पुत्र और पुत्री-यही था उनका पारिवारिक धन। लेकिन बेटी को किडनी की बीमारी थी। उन दिनों एकदम चुपचाप, अंदर ही अंदर गुनते, सर सुंदरलाल चिकित्सालय की फर्श पर दरी बिछाकर दिन-रात गुजारते शिवप्रसाद सिंह को मैं अपलक देखता रहता था। सामने अपने सर्वस्व के स्वाहा होने की आशंका थी। किसी लेखक का यह मौन धूलिवंदन था। कर्मनाशा की प्रचंड लहरें अब नीम के पेड़ के नीचे की जमीन को अंदर ही अंदर काट रही थीं। फिर 19 जनवरी, 1982 का भारत बंद के दिन बिल्लौर में बेटी को भर्ती कराया, लेकिन मंजु नहीं बच पायी। 19 दिसंबर, 1984 को वह अग्नि को समर्पित हो गयी। पूंजी और व्यवस्था से जूझने के बाद अब मौत से जूझने का उपक्रम था । निराला ने भी यह पीडा झेली थी । खुद भी मौत से पंजा लड़ाया था। मेरी समझ में अपनी मृत्यु से अधिक त्रासद होता है अपनी वयस्क संतान का निधन। इस अथाह सागर से लेखक एक अंजलि जल उठाता है। लेकिन अपनी संतान की मौत बाहों को तोड़ देती है। अंजलि में उठा हुआ जल छुल्ल से फिर सागर मे लीन हो जाता है। ऐसे में मैं उस रचनाकार को समर्थ मानता हूं जो बाह टूटने पर भी उद्दाम जिजीविषा से अपनी गति को नहीं रुकने देता। वह 'नीला चांद', 'शैलूष' और 'मंजुशिमा' जैसे तीन-तीन उपन्यासों को एक सांस में लिख जाता है। सरोज के निधन ने भी निराला को एक मोड़ देकर गतिशील बनाया था और मंजु ने इस जीवन मे ही पिता का हाथ पकड़ कर उसे एक जबरदस्त आत्मपीड़ा और आत्मनिर्वासन की वैतरणी को पार करा दिया। मौत की उफनती हुई कर्मनाशा यहां हार गयी। उसका पानी न हरीतिमा को खत्म कर पाया और न उसकी लहरो का प्रचंड वेग भोजपुरी गांव से नीम की जड को हुमसा पाया।

कुछ अनुभव, कुछ विवाद

डॉ शिवप्रसाद सिह ने बाहर से देखने में बंधा-बंधाया जीवन बिताया। विश्वविद्यालय की व्यवस्था के चौखटे में निरंतर विकसित होते रहे। प्रेमचंद की तरह जीवन में न उतार-चढ़ाव आया और न अमृतलाल नागर की तरह एकदम स्वतंत्र और अलमस्त रहे। गांव उनसे बहुत पहले छूट गया। शहर में आने के बाद फिर गांव में रसे-बसे नहीं, महज दूर-दूर से उसे देखा। लेकिन पहले का जितना देखा था, उस अनुभव में नये परिवर्तनों को जोड़कर अपने को एकदम टटका बनाने की भरपूर कोशिश वे अब भी करते हैं। 'गली आगे मुड़ती है' को लिखने के पहले और उसे लिखते समय भी काशी की एक-एक गली को छान डाला। किसी दृश्य

अथवा स्थान के बारे में लिखने के पहले उसे अनेक कोणों से बार-बार देखा। इर्द-गिर्द के पात्रों को अपने सांचे में ढाल कर नया रूप दे दिया। एक दैनिक वाराणसी की चंदौली तहसील का भूगोल उभारता है । शैलूष अर्थात् नटों के जीवन पर लिखा हुआ यह उपन्यास बनाफर ठाकुरों की उत्पत्ति के संबंध में डॉ. शिवप्रसाद सिंह के विचार को लेकर गहरे विवाद का विषय बना । एक दिन कुछ बनाफर नौजवान शिवप्रसाद सिंह के घर आकर तकरार करने लगे। कुछ बहुत झन्नाटेदार पत्र भी आये। एक दिन वे मुझसे कहने लगे कि एक ओर मुझे ठाकुर कोस रहे हैं तो दूसरी ओर ब्राह्मण। अपनी कथाकृतियों में मैंने इन पर जो चोट की है उससे ये लोग रुष्ट हैं। मैने कहा—आपकी चोट सही जगह पर है। लोहियाजी ने जातीय शोषण कहा था उसमें ब्राह्मण मानसिक शोषण और क्षत्रिय आर्थिक शोषण के प्रतीक हैं। आपने इन जातियो की नहीं, बल्कि उस जातीय व्यवस्था के अंतर्गत पलनेवाले शोषण की निंदा की है। शिवप्रसाद सिंह थोडी देर चुप रहकर एकटक देखते हुए जैसे मेरी बात को तौल रहे थे। फिर बोले, "तुम ठीक कह रहे हो, मैंने लोहिया को ही जीवन में सही माना है, तो उन्हीं की बात कहूंगा, मुझे समझने के लिए लोग लोहिया को पढ़ें।"

मेरी दृष्टि एकबारगी कमरे में रखी हुई लोहिया की तसवीर पर गयी। दाहिनी ओर सागर की उत्ताल लहरों पर पालों को खोलकर अपने पूरे वेग से बढ़ते हुए किसी जहाज का चित्र था। प्रचंड लहरें बार-बार थपेड़े मारती हुई लग रही थीं, लेकिन जहाज बढता ही जा रहा था-आंदोलित होता हुआ, लेकिन पूरी शक्ति के साथ...

(धर्मयुग, 21 अगस्त '88 से साभार)

वसंत-वन के कस्तूरी मृग : शिवप्रसाद सिंह

• अरुणेश नीरन

'प्रिय अरुणेश नीरन, लगभग समानांतर दुःख-भोग के बीच से दो व्यक्ति साथ-साथ बाहर आये, किंतु दोनों का आत्मबोध इतना विरोधी क्यों है ? तुम विद्वान् मनई बनने के प्रयत्न में चालू किस्म के राजनेता लोगों को अपना आदर्श क्यों मानते हो ? अभी क्या नियति के किसी दूसरे धक्के की प्रतीक्षा कर रहे हो ? जितनी जल्दी सही राह पर आओगे, तुम्हारे पूर्वजों के कर्म से जुड़ी तुम्हारी नियति सहायक बनती जायेगी। क्यों ? इसलिए कि तुम्हें अनाम बनकर मरने का सौभाग्य नहीं मिलेगा। नीरन नाम रख लेने से सुनाम नहीं बनोगे, सुनाम बनने के लिए रोज दस घटे श्रम करना चाहिए। इसे ही हमारे पूर्वज तपस् कहते थे । बिना तपस् के मेटा-लैंग्वेज की प्राप्ति नहीं होगी। भाग्य है कि तुम्हें एक सशक्त भाषा प्राप्त है, किंतु उसे अंतःप्रज्ञा से जुडी 'मेटा-लैंग्वेज' बनाने के लिए तपस् जरूरी है। जब तक नहीं है, तब तक पाणिनीय सूत्रों का प्रत्याहार भी नहीं समझ पाओगे। शिव के डमरू-नाद पर जिसे नाचना नहीं आता, उसे बावन अक्षरों में बंधी भाषा का सान भी नहीं मिलता। अतः ईमानदार बनो। चुपचाप एक दिन समाचार देकर काशी आ जाओ और बीस-पचीस घंटे बातचीत करो, तब तुम्हारी समझ में आ जायेगा कि भाषा में सत्य क्यों जरूरी है ?'

भाषा में सत्य क्यों जरूरी है ? मैं नहीं जानता। शिवप्रसादजी जानते हैं। जानते ही नहीं; उस सत्य की आंच में अपने-आपको पिघलाकर अपने अनुभवों को पकाते रहते हैं। अनुभव प्राप्त करने की प्रक्रिया भी कम कठिन नहीं है। उसकी भी एक आग है, प्रचंडा उसमें वे हविष्य की तरह जलते हैं, तब उठता है वह धुआं, जो मिट जाने पर फैलता है। वह घेर लेता है आकाश को। मेरे ख्याल में सर्वव्यापी अनुभव से गुजरते हुए अपने को रचनात्मक भट्ठी में झोंक देने का संकल्प ही वह 'तपस्' है, जो 'हम सब में, सब हम में, हम फिर बहुरि अकेला' की 'औरत' जैसे उपन्यासों और तमाम कहानियों की सृष्टि करता है, पाणिनि के सूत्रों का प्रत्याहार समझाता है और अंतःप्रज्ञा से जुड़ी 'मेटा-लैंग्वेज' के सान से जोड़ता है ।

शिवप्रसादजी की पुत्री मंजु 'किडनी-फेल्योर' का केस बनकर मृत्यु से जूझ रही थी। सर सुंदरलाल अस्पताल की तीसरी मंजिल के 'नेफ्रोलॉजी वार्ड' में डायलिसिस के लिए उसे जाते हुए मैं देखता था। तीसरी मंजिल के ही सर्जिकल वार्ड में मेरी पत्नी भी कैंसर से ग्रस्त होकर मृत्यु से संघर्ष कर रही थीं। उस अवधि में न मैं मंजु को देखने गया, न शिवप्रसादजी से मिला—शिवप्रसादजी भी मेरी पत्नी को देखने नहीं गये, न मुझसे मिले। यही समान दुःख। जो एक ही समय, एक ही अस्पताल मे, एक ही मंजिल पर हम दोनों साथ-साथ भोग रहे थे, अंततः यह दुःख भोग समाप्त हुआ। पहले मजु गयी, उसके बाद मेरी पत्नी। न मैंने शिवप्रसादजी को सांत्वना का कोई पत्र लिखा, न उन्होंने मुझे। बाद में सुना कि शिवप्रसादजी ने लिखना बंद कर दिया है, लोगों से मिलना-जुलना बंद कर दिया है, वे विक्षिप्त हो गये हैं और रचनाकर के रूप में खत्म हो गये हैं। गोरखपुर के एक मित्र ने सूचना दी कि दिल्ली और लखनऊ के साहित्य-समारोहों में शिवप्रसादजी बोल नहीं पाये। बावजूद इसके मैं शिवप्रसादजी को लेकर चिंतित नहीं था। मैं जानता था कि उनके अंदर का जो अग्नितत्त्व है, उसे कोई भी मौत बुझा नहीं सकती, वह निष्कप-निर्धम होकर निरतर जलता रहेगा। मंजु की बीमारी के दौरान मित्रों, सहकर्मियों और साहित्यकारों ने जो पीडा दी थी, विश्वास को जो आघात पहुंचाया था, उससे वे चकित थे, स्तब्ध थे। इसी स्तब्धता ने उन्हें ग्लेशियर के रूप में बदल दिया था। वे अपने को समेट कर मौन हो गये थे। वे आत्मग्लानि से जूझ रहे थे, निराला की तरह। उन्हीं की तरह आत्मग्लानि अपने कर्म के विषय में नहीं, अपने कर्म की विडंबना पर—आत्मग्लानि उस निष्ठा, लगन, प्रयत्न की विफलता पर—जिसके लिए सब कुछ विसर्जित करके भी आत्मतोष नहीं मिल सका था। अपने सत्य के लिए, व्यक्ति और समाज को देने के लिए आत्मविसर्जन करना होता है । इलियट कहता था कि कवि की गति सतत के आत्मत्याग मे है, सतत के आत्मविसर्जन मे है। जिसमें आत्मविसर्जन का भाव होता है, वह पराजित नहीं हो सकता। निराला ने सरोज की मृत्यु के बाद दो वर्षों तक कुछ नही लिखा और लबे अंतराल के बाद 'सरोज-स्मृति' लिखी, तो अपने अंतर्मन के वज्र-कठोर को पूरी तरह झकझोर कर रख दिया। शिवप्रसादजी भी मौन रहकर, बाहरी दुनिया से अपने को काट कर अपनी खोई हुई विश्वास-निधि को प्राप्त करने की कोशिश कर रहे थे, अपनी आत्मशक्ति को पहचाने रहे थे, अपने सर्वस्व को विसर्जित करके नयी शक्ति और अपनी सृजनात्मक साधना को नयी सार्थकता देने की जद्दोजहद कर रहे थे। वे मृत्यु के सामने खम ठोंककर खड़े रहे थे। उससे पूरी त्वरा के साथ संघर्ष किया था, इसलिए वे मृत्यु को जानते थे। वे जानते थे कि मृत्यु का वर्तमान से कोई सबंध नहीं है—वह या तो अतीत में है या भविष्य मे। वर्तमान में एकमात्र होती है अनुभूति और अनुभूति है निर्विचार, शून्य, मौन।

यही कारण है कि जीवन की परम अनुभूति है निर्विचार चैतन्य। मृत्यु से न मुक्त हुआ जा सकता है न उसे जीता जा सकता है। उसे सिर्फ जानना है। मृत्यु का ज्ञान मृत्यु को विलीन कर देता है। तब जीवन में अनायास प्रवेश हो जाता है। शिवप्रसादजी का मौन मृत्यु को जानने के लिए था। जो उसे जान लेता है, वह मृत्युंजय हो जाता है। मंजु की मृत्यु ने उन्हें मृत्युंजय बना दिया। अपनी बीमारी के दौरान बहुत पहले भी उन्हें मृत्यु का साक्षात्कार हुआ था और तब लगा था कि 'जीवन का एक अर्थ होता है, एक तटस्थ मोहविद्धता की ऐसी स्थिति जो जीवन को बेमानी कहने से संतुष्ट नहीं होती।' जीवन को नया अर्थ मिला और वे अपनी धारणाओं से ऊपर उठते हुए समयातीत सत्य की खोज में निकल पड़े। मौन टूटा। दुःखों के बीच से नयी प्रतीत हुई। दुःख काली के दुलार की छाया बन गया। यहीं शिवप्रसाद सिंह का दूसरा जन्म हुआ; लेकिन पहले उनके पहले जन्म की बात।

सन् '68 में वाराणसी आने के पूर्व शिवप्रसादजी का साहित्य पढ़ चुका था। गांव की माटी की सोंधी गंध, मेड़ों पर घूमते हुए सीधे-सादे पात्र, यथार्थ का गहरा बोध मन को बाध लेते थे। उनकी कहानियों में समकालीन तनाव के संपूर्ण कोण मौजूद थे--मूल्यवत्ता से विच्छेद भी और मूल्यहीनता को मूल्य के रूप में स्वीकार करने की जीवन दृष्टि भी। इनमें संघर्षों से जूझते मनुष्य की हताशा भी थी और उससे निकलने और अपनी अस्मिता की चुनौती देने का साहस भी था। उन दिनों में जब कहानियों में एक के अकेलेपन की प्रतिक्रिया दूसरे का आधार बन रही थी और ऊब के सिलसिले कला के मुहावरों के रूप में विकसित हो रहे थे--शिवप्रसाद सिंह इससे अलग एक ऐसे कथा-संसार की रचना कर रहे थे, जिसमें थी अपनी नियति के अतिक्रमण की आकांक्षा--जो अस्तित्व के गूंज-सी थरथराती थी और चाहे थोड़ी देर के लिए ही सही, उसमें वह शक्ति फूटती थी कि हम अपनी नियति को पहचान और स्वीकार सकें । यही वह चीज है जो यथार्थ के प्रति गहन संवेदना को जन्म देती है और सर्जक होने की अनिवार्य शर्त है। यथार्थ के प्रति इस गहन संवेदना का अर्थ है सब कुछ को एक साथ देखने की चेतना और इसका माध्यम बनता है उनका 'गांव'। वे स्वयं मानते हैं 'मेरी जिंदगी में गांव एक ऐसी हकीकत है, जिसे मैं चाहकर भी काट नहीं सकता। गांव की अछोर हरियाली में डूबे सीमांत, फसलों के रंग-बिरंगे गलीचे बिछाकर किसी अनागत की प्रतीक्षा में डूबी धरती, सरसों-झरबेरी-जलकुंभी के जंगली फूलों से मदहोश वातावरण के बीच अपनी सामान्य जिंदगी के लिए संघर्षरत किसान, मेरी कहानियों के अविभाज्य अंग हैं।' शहर के जीवन ने जहां एक ओर उनके आधुनिकता-बोध को निरंतर तीव्र और सक्रिय बनाया है, वहीं गांव की धड़कनें जो अब भी सड़ी-गली परंपरा और कूटस्थ रूढियों का कूड़ा-कचरा ढोती हुई कराह रही हैं--उनके कहानीकार के लिए सदा एक चुनौती रही है। शिवप्रसादजी को शहर

से कोई परहेज नहीं है; लेकिन दिक् और काल की अछोर सीमा में जीनेवाली संस्कृति जो गांवों में बिखरी है, स्वभावतः जिंदगी के मरोड़ों से ज्यादा भरी-भरी होती है; क्योंकि हजारों सालों से चली आती हुई परंपरा का बोध वहां जितना जटिल है, उतना शहरों में नहीं।' इसीलिए उनकी कहानियों का फॉर्म गांव से जुड़ा रहने पर भी उससे निरूपित नहीं है, बल्कि वह स्वयं काल को दिक् में निरूपित करता है ।

कलात्मक आरोपण से उनकी कहानियों का संसार जीवन के यथार्थ से उपजा सहज सवालों से भरा संसार है। धूल, धूप और धुएं में डूबे इस गांव में संघर्ष है, समस्याएं हैं, राजनीतिक दबाव हैं, आर्थिक विपन्नताएं हैं—तो इनके बीच अपनी इकाई में दुहरा-तिहरा होता हुआ वह मनुष्य भी है, जो अभाव की यंत्रणा से त्रस्त और अपमान से आहत होते हुए भी स्नेह के तंतुओं को सूखने से बचाये हुए है। वह निरंतर एक लडाई लड़ता है—चाहे वह आत्मिक संबंधों के स्तर पर हो या व्यवस्था या व्यक्ति के स्तर पर। बदलते हुए गांव द्वारा जिये जानेवाले जीवन की सापेक्ष अनुभवशीलता में पुरानी सामाजिक चेतना को उनकी कहानियां नये संदर्भों में नयी रचनात्मक शक्ति देती हैं। इसीलिए वे मेरे पसंदीदा कहानीकार थे। उनमे समकालीन तनाव के सारे कोण मौजूद तो थे ही, मूल्यहीनता को मूल्य के रूप में स्वीकारने की जीवन-दृष्टि भी थी ।

शिवप्रसादजी के अंदर एक कवि हमेशा से मौजूद रहा है, हालांकि वे कवि नहीं है। 'रेणु' के भीतर भी एक कवि निरतर गाता रहता है। निर्मल वर्मा में भी यह उपस्थित रहता है। इसी नाते उनका संवेदनात्मक पक्ष जितना मजूबत है, घटनाओं-सवेदनाओं-संदर्भों और कथांचलों का 'पिक्चराइजेशन' भी उतना ही जीवंत है। उनकी कहानियां स्वय उनका सृजन करती हैं और वे स्वयं उनका सृजन करते है। उनकी सृजनात्मक चेतना अतिम और उच्चतम रूप में इनका सृजन करती है। और उसके बाद जो संसार हमारे सामने आता है, वह उस संसार से भिन्न होता है, जिसमे हम जी रहे है। इसका निर्माण विशिष्ट प्रकार की शक्ति और विवेक, क्षमता संशक्ति ने मिलजुल कर किया है। शक्ति है, देखे हुए के भीतर से अदेखे को देखने-समझने की, विवेक है, वस्तुओं के सही संदर्भ और उसके उलझावो को निबटने की—क्षमता है, विविध जीवन-खंडों के आधार पर पूरे 'पैटर्न' को संकेतित करने की—और संशक्ति है, सामान्य जिंदगी को गहराई से अनुभव करने की, जो जिंदगी के अछूते से अछूते कोनों को प्रकाशित कर दे। जीवन का पुनर्कथन लगनेवाली कहानियां न तो बाह्य स्तर पर कहीं टकराती हैं, न मन की परतों को खोल पाती हैं—न उनमें संघर्षों से जूझते व्यक्ति की तलाश का मर्म होता है। उस समय मानसिक द्वंद्व के विस्तार के नाम अनावश्यक विवरणों से भरी हुई कहानियां लिखी जा रही थीं। मुख्यतः उनमें बयानबाजी का सहारा

लिया जा रहा था और इससे अमूर्तन के घेरे में बंद होकर वे अपना प्रभाव खो रही थीं। शिवप्रसादजी की कहानियों में पुनःकथन नहीं था, वह पुनर्मुक्त थीं, पुनरुज्जीवित थीं। उस दौर की कहानियों में वे गांव के बहुआयामी चरित्र को बहुत रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हैं और बौद्धिक प्रश्नों को भी गहरे भावात्मक स्तर पर महसूस करते हैं। इसलिए उनकी भाषा में एक रम्य उत्तेजना निरंतर बनी रहती है। उनके भीतर का गाता हुआ कवि बौद्धिक बहसों को भी एक भाव-ऊर्जा से प्राणवंत बना देता है। 'आरपार की माला', 'कर्मनाशा की हार' 'विंदा महाराज', 'नन्हो', 'सुबह के बादल', 'अंधकूप', 'अरुंधती' और 'मुरदा-सराय' जैसी कहानियों में जो परिवेश था, प्रकृति थी, लोग थे, संघर्ष था, बेचैनी थी—सबको देखने का जो 'एंगिल' था—वह मेरा परिचित था, मेरा सहचर था, मेरा था, इसलिए अपना लगता था। उनके समकालीन तमाम अन्य लेखकों से अलग जिनके दिमाग इस्पात के बने थे और जो अत्याधुनिक ढंग की 'स्ट्रीम लाइंड' कहानियां लिख रहे थे। वे कहानियां बहुत पॉलिश्ड थीं, हर नोक-नुक्ते से दुरुस्त थीं, मगर बेजान थीं। शिवप्रसादजी इसलिए भी अलग लगते थे कि उन्होंने लोकजीवन में जो भोलापन और आनंद का तत्त्व है, उसे पा लिया था। जीवन की उत्सवधर्मी ऋजुता में उनका विश्वास था और अस्तित्ववादियो को पढ़ने और उन पर लिखते रहने के बावजूद उन्होंने वहां से शुरू किया था, जहां पांच हजार साल की परंपरा ने चीजों को लाकर छोडा है। इसीलिए अमूर्तन से बचते हुए वे उस भ्रम के शिकार नहीं हुए कि भावात्मक लगाव को निचोड कर बाहर कर देने पर ही महान् साहित्य की रचना होती है। वे इस लगाव को खत्म करके अमूर्तन की ओर कैसे जा सकते थे, जबकि उनके चारों ओर सत्तर करोड़ लोग थे ?

शिवप्रसादजी से पहली बार मिला तो वे कामाकोठी के अपने कमरे में किसी भक्त को कुछ समझा रहे थे। बहुत ही मासूम और फोटोग्रैफिक मुद्रा में। कुछ और भक्त भी बैठे थे। 'मैं अरुणेश नीरन हूं'। 'बैठिए'। किताबों से भरा हुआ कमरा। दीवाल पर श्री अरविंद और श्री मां के चित्र। ठीक सामने पनडब्बा और पीकदान। लुंगी-बंडी में पहलवानी काया। पहली नजर में गांव के पढ़े-लिखे ऐसे जमींदार का 'लुक'—जो कटिया-दौरी कराता है, पहलवानी करता है, भाग छानता है, चीख-चीख कर बात करता है, ठहाके लगाता है, मेड़ों पर घूम-घूम कर धान की बालों से दोस्ती करता है, शरबती आकाश का मटमैला सौंदर्य अपने माथे पर लादे ईंगुदी शाम को खेतों में उतरते हुए देखता है, गांव में अनवरत बहनेवाली वैतरणी से जूझता है और उदास पतझर के पीले पत्तों में अपने गांव की लाश को नीलाम होते हुए देखकर चीखता नहीं—नदी के किनारे बैठकर वसंत की आकुल प्रतीक्षा करता है।

लगातार दो घंटे मैं उस कमरे की हजारों किताबों में एक किताब बनकर

बैठा रहा और शिवप्रसादजी राजनीति, अर्थनीति, धर्मनीति, साहित्य, दर्शन, कला, खेत-खलियान, बुद्धिजीवी-किसान-मजूर-और न जाने किस-किस पर बोलते रहे। थक जाने के बाद मेरी ओर मुड़े--'कहिए ?' मैं क्या कहता ? 'कहां से आये है ?' क्या करते हैं ?' आदि-आदि रस्मी सवाल और जवाब हुए और मैं वहां से चला आया। लौटकर गोदौलिया के 'दी रेस्टोरेंट' में चाय पीने बैठा ही था कि धूमिल आ गये। बातचीत में शिवप्रसादजी का जिक्र आया। धूमिल ने कहा, कि उनकी कहानियों में अजवायन की महक आती है और इसीलिए उसे पसंद आती है। मैं हंसने लगा। जुमलेबाजी धूमिल की आदत थी। 'तुम नहीं समझोगे अजवायन की महक को--इसलिए कि गांव से तुम्हारा रिश्ता महज किताबी है। तुमने गांव को पढा है। मैं गांव में रहता हूं, वहां मसाले की गंध पूरे वातावरण में व्याप्त रहती है; क्योंकि रसोई का सामान जुटाने, उसे पकाने और खाने में वहां के लोगों की पूरी जिंदगी बीत जाती है। गांव की सबसे बड़ी समस्या है पेट और पेट का रिश्ता अजवायन की महक से होता है।' हम लोगों की बात चल ही रही थी कि एक और लेखक मित्र आ गये। रेस्तरां में घुसते समय बातचीत का आखिरी टुकड़ा उन्होंने सुन लिया था। 'ठाकुर शिवप्रसाद सिंह के बारे में बात हो रही है न ?' 'ठाकुर' शब्द पर उनका विशेष जोर था--शिवप्रसादजी में धरती की सोनियल चमक और मिट्टी का मैलापन भले ही मिले, धूप के लगातार प्रहार से सख्त हो गये 'धूह' को उकेर कर उन्होंने एक सलोनी मूर्ति भले ही तैयार कर दी हो; लेकिन धूमिल ठीक कहता है कि उनमें अजवायन की महक आती है। और बंधु, खुशबू ताजी हो या मैली, मटियल हो या गंधीली, अब वह अपना अर्थ छोड़ चुकी है। हमे गमक नहीं, तराश चाहिए।'

वे आवेश में बोले रहे थे। सामने पानी का आधा भरा गिलास रखा था, जिसके कांच को भेदकर उनकी डपट उसमें लहरें पैदा कर रही थी। सर्दियों की वह शाम एकाएक तन गयी थी और उसका तनाव कुछ तिरछा होकर मित्र के चेहरे पर उभर आया था। उन्होंने एक घूंट पानी पिया, मेरी ओर देखा और बोले--'शिवप्रसाद सिंह पूरे नट हैं।'

शिवप्रसादजी स्वय मानते हैं, 'मैं भाषा का शैलूष हूं।' शैलूष होना पूरे संतुलन की मांग करता है। भाषा तंग और खतरनाक पहाडी रास्ते से उतार कर हमें खुले मैदान में ले आती है। यह खुला मैदान फूलों से भरा हो सकता है। जलता हुआ रेगिस्तान हो सकता है। खाली हो सकता है। अधेरे और तूफानी हवा से गूंजता हुआ हो सकता है। केवल भाषा अपने-आपमें कुछ नहीं है। वह या तो सौंदर्य है या तोड़कर बिखेर देनेवाली पीडा, वह शाप है या आशीर्वाद, वह फूल है या गंदगी, वह सच है या झूठ, वह प्रकाश है या अंधकार--इन सबके बीच की खाली जमीन पर सधे हुए कदमों के साथ चलनेवाला लेखक ही भाषा का शैलूष--भाषा का नट

हो सकता है। इसलिए शिवप्रसाद सिंह भाषा के शैलूष हैं।

यायावर कबीले शुरू से शिवप्रसादजी की जिज्ञासा और सहानुभूति के केंद्र में रहे हैं। अपनी छावनी के इर्द-गिर्द मुसहर, कंजड़, नटों के खेमों में रहनेवाले सुडौल, गठीले बदन के लोगों, उनकी चुलबुली अदाओं, दोपहर को सुनसान दरवाजों पर खड़े होकर रोटी मांगती हंसोड़ नट्टिनों, शाम को दरवाजों पर बैठकर गांजे का दम लगाकर आल्हा गाते नटों को उन्होंने बचपन से ही इतना निकट से देखा था कि उनका तिरस्कृत-उपेक्षित जीवन उनके लिए कभी रहस्य नहीं रहा। उनके सामने वह नट कन्या के आंचल के दाग की तरह या चोली में छिपी अफीम की पोटली की तरह स्पष्ट था। मनुष्य के इतने बड़े अंश को पशु के धरातल पर जीवन व्यतीत करने के लिए विवश करने का जिम्मेदार वे स्वयं को भी मानते हैं। इस देखे-जाने दर्द को 'आर-पार की माला', 'पापजीवी', 'इन्हें भी इंतजार है', 'सपेरा' जैसी कहानियों में उन्होंने बांधने की कोशिश की और यह कोशिश ही मिट्टी के धूह को उकेर कर एक सलोनी मूर्ति तैयार करने की कोशिश है। मैंने मित्र की बात का प्रतिकार नहीं किया; क्योंकि मैं भी मानता था कि शिवप्रसाद जी पूरे नट हैं।

शिवप्रसादजी में पूर्वाग्रह नहीं है। इसलिए आपकी बात को इस तरह मान सकते है कि आपको सदमा लग सकता है। परहेज, चाहे वह साहित्य का हो या पान का, वे नहीं करते। वे आप से राजनीति की भी बात करेंगे। चाहे मनुस्मृति की राजनीति हो या कौटिल्य अर्थशास्त्र की, शेयर घोटाला हो या विदेशी मंत्री का त्यागपत्र, वे किसी पर भी हो रही बहस में हिस्सा लेंगे; लेकिन अगर आपने भूल से भी पूछ लिया कि आप किस पार्टी को बिलांग करते हैं, तो बहुत संभव है कि वे उत्तर दें, 'मैं उस पार्टी का सदस्य हूं, जिसके सामने मनुष्य से बड़ी कोई इकाई नहीं है, मनुष्यता से बड़ा कोई मजहब नहीं है...मैं उसी मनुष्य की अबाध विजय-यात्रा का ध्वज-वाहक हूं...उसी की आत्मा के अपूर्व सौंदर्य का चितेरा हूं और इसी सत्य की विजय के लिए सचेष्ट हूं। जो भी इसके पक्ष में हैं, इसके साथ है, मैं उनके साथ दिखायी देता हूं। जो इसका नाम लेकर अपना स्वार्थ साधते हैं...मैं उनका पर्दाफाश करता हूं।' इतना लंबा उत्तर सुनने के बाद आपके ऊपर इसकी दो प्रकार की प्रतिक्रिया हो सकती हैं—एक, आप उनकी पार्टी के समर्थन में हाथ उठा सकते हैं; दूसरी, आप जल-भुन कर खाक हो सकते हैं।

'अलग-अलग वैतरणी' और 'गली आगे मुड़ती है' के बड़े कैनवस पर शिवप्रसादजी ने उन सबका पर्दाफाश किया, जो मुनष्य का नाम लेकर अपना स्वार्थ साधते हैं। करैता की ठनक सुनने के बहाने आजादी के बाद समूचे भारतीय परिवेश और जीवन में होनेवाले परिवर्तनों, विसंगतियों, कठोर सच्चाइयों और प्रतिक्रियाओं का सीधा साक्षात्कार करने की ईमानदार कोशिश करते हुए शिवप्रसादजी ने टूटते हुए गांव की आत्मा को देखा और पाया कि गांव के जीवन में अनेक वैतरणी बहने

लगी हैं, जिन्हें पार करने का प्रयत्न गांव की जनता करती तो है; पर बीच में ही दम टूट जाने, हिम्मत हारने और भग्न हृदय के कारण नगरों की ओर दौड़ती है। गांव के आदमी, जो इस वैतरणी से जूझ रहे हैं, उनके दुःख का रूप क्या है, रंग क्या है, कितनी गहरी है उनकी उपेक्षित व्यथा, कितना करुण है उनका आवेग—यह कोई साहित्यकार बिना प्रेतों की नगरी में बसे नहीं समझ सकता है, न समझा सकता है। अज्ञान से, शून्य से, अलगाव से जो अंतहीन लड़ाई चिरकाल से चल रही है, उसके सबसे विश्वस्त अग वे पदसैनिक पिशाच हैं, जिनके शब्दहीन दु:ख को साहित्यकार अपने वक्ष में धारण करता आया है। करैता का दु:ख भारत के सारे गावों का दु:ख है, जो एक के बाद एक क्रांतियों की लगातार घोषणाओं के बाद भी आज वहीं ठहरे हुए हैं, ठिठके हुए हैं और दिन-प्रतिदिन दो समानांतर जीवन-दृष्टियों के विरोधाभास में पिस रहे हैं।

शिवप्रसादजी उन दिनों अस्तित्ववादियों पर 'धर्मयुग' में लगातार लिख रहे थे। एक ओर उनका गांव अकेले था, दूसरी ओर तमाम रूसी-जर्मन-अंग्रेज और फ्रासीसी लेखक थे, अस्तित्ववादी थे, ट्यानबी और सोरोकिन थे, मार्क्स और लेनिन थे और थी समूची भारतीय परंपरा। उस समय का अधिकांश लेखन भी अस्तित्ववादियो के इर्द-गिर्द घूम रहा था। मैंने शिवप्रसादजी से पूछा कि आप बात करते हैं अस्तित्ववादियो की और चीजें उठाते हैं गांवों की—अपने स्कॉलर का रोब गाठने के लिए क्या यह जरूरी है ? मेरे प्रश्न के बचकानेपन पर वह ठठाकर हसे। थोडी शरारत के साथ बोले कि कामू और काफ्का की अधिकांश कहानिया चाहे वह किसी स्कूल मास्टर से संबंधित हों या अल्जीरिया के किसी चरित्र से—सभी गाव में घटती हैं। यानी प्रकारांता से कामू ग्राम-जीवन का कथाकार है। काफ्का का 'कासल' उपन्यास ग्राम में नहीं तो और कहां घटता है ? इस प्रकार काफ्का और कामू गांवों की थीम उठाकर बहुत ऊंची बात कर सकते हैं; लेकिन उन्हीं के संदर्भ मे यहा ग्राम-जीवन के कथाकार से पूछा जाता है कि वह इन आधुनिक विचारधारा के मसीहा लेखकों की क्यों बात करता है, तो आश्चर्य होता है। तुम लोग सोचते हो कि दिशाहीनता-कुंठा-संत्रास का 'सम-टोटल' ही अस्तित्ववाद है। अस्तित्ववाद का आरंभ भले ही सार्त्र, हेडगर, यास्पर्स आदि के प्रयत्नो से स्पष्ट हो सका, फिर भी इसके मौलिक तत्त्व किसी-न-किसी रूप में हर युग के बड़े लेखक के सामने रहे हैं। हर बड़ा लेखक अपने जीवन में कहीं-न-कहीं निपट अकेला रहता है। जैसे 'निराला' में इस छोर अकेलेपन की व्यथा बहुत सघन रही है, लेकिन उन्होने संत्रास का हल्ला कभी नहीं मचाया, क्योंकि वे जानते थे कि नकली आवाज की कागजी पिपिहरी ज्यादा देर तक नहीं बज सकती। उन्होंने जीवन को आस्थावादी पद्धति के अनुकूल ढाला और अपने सर्जनात्मक अस्तित्व को मोमबत्ती की तरह तिल-तिल पिघलाकर अंतिम क्षण तक प्रकाश देते रहे।'

शिवप्रसादजी को पढ़ने के बाद लगा कि उन्होंने किसी 'वाद' या दर्शन को अपने साहित्य का आवरण नहीं बनाया। वे ऊपर से लादी गयी आस्था के उतने ही विरोधी हैं जितने आत्मघाती दिशाहीन आस्था के। वे मानते हैं कि परंपरा को जानकर उसके अवांछित तत्त्वों को अस्वीकार करना आस्था है और परंपरा को बिना जाने उसे अस्वीकार करने का प्रयत्न ढोंग है। नैतिकता, आस्था या संस्कृति को बिना समझे उससे कतराने का प्रयत्न खोखलेपन का द्योतक है। वे साहित्य को आत्म-अन्वेषण की प्रक्रिया मानते हैं और उनका विश्वास है कि मनुष्य मात्र स्वभावतः चरम अनास्था का विरोधी है।

शिवप्रसादजी के बारे में बहुत सारे भ्रम फैले हुए थे। वे अहंकारी हैं, लोगों से ठीक से बात नहीं करते, ज्ञान बघारते हैं, सबका बखिया उधेड़ते हैं, आत्मप्रशंसा करते हैं, गुटबाज हैं, टोना-टटका करते हैं, तांत्रिक हैं, रुद्राक्ष पहनते हैं, पाखंडी हैं आदि-आदि। हिंदी-विभाग और साहित्यकारों की गुटबाजी के चलते इनमें नयी-नयी अफवाहे भी जुडने लगी थीं। शिवप्रसादजी न तो इनका खंडन करते थे, न इनसे प्रभावित होते थे। वे अपनी परंपरा की कचोट को स्वयं जी रहे थे, इसकी विसंगतियो में स्वयं सुलग रहे थे और इस प्रक्रिया में अपने को बार-बार खोकर फिर से पा रहे थे। 'आरकेस्ट्रा के बीच एक अलग आवाज' नामक निबंध मे उन्होंने लिखा--'एक कवि था जान क्लेयर। लोगों ने उसे पागल समझा और वह पागलखाने में बद कर दिया गया। उसी पागलखाने में, काली दमघोट चार-दीवारी के भीतर सभी प्रकार की घुटन, पीड़ा, आत्मविदीर्णता, विशृंखलता के बीच उसने सत्य की एक रोशनी पायी और अपने को पहचान सका :

अपनी सभी विपदाओं का मैं स्वयं भोक्ता हूं
आत्महारा। फिर भी मै जिन्दा हूं।
तीखी जुगुप्सा, तिरस्कार, शोरगुल के
औ' कुछ न होने के निरर्थक से भाव में
जहा जीवन की खुशियों का कुछ भी अर्थ नहीं होता
मै जिन्दा हू।'

काली से काली रात के भीतर विडंबनाग्रस्त जीवन की भुक्ति और मुक्ति की चेतना ही कलाकार की उपलब्धि होती है। यह अंधेरा बढ़ता गया। काली रात और काली होती गयी। मंजु बीमार हुई। लिखना बंद हुआ और इन्हीं तत्त्वों ने घोषित कर दिया कि 'सैजोफ्रेनिया' से ग्रस्त शिवप्रसाद सिंह एक लेखक के रूप में खत्म हो गये। एक ओर शिवप्रसाद सिंह थे जो बनारस से वेल्लूर तक अपनी बेटी के साथ मौत से लड़ रहे थे, दूसरी ओर वे लोग थे, जो अपने अर्थों को, उद्देश्यों को, अपनी-अपनी सार्थकता को खोज रहे थे, निषेध करते हुए, अस्वीकार करते हुए लोग थे। हर माध्यम की स्थूलता को लेकर असंतुष्ट लोग थे। एक-दूसरे के अधूरेपन

के प्रति असहिष्णु लोग थे। शंकालु लोग थे। उत्तप्त लोग थे। ज़मीन से डेढ इंच ऊपर हवा के जर्रों को टटोलनेवाले लोग थे। अपनी सीमाओं का सारा दोष दूसरों पर लाद देनेवाले लोग थे। इसी शहर में ऐसा पहले भी हो चुका था। शिवप्रसादजी के गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ।

शिवप्रसादजी जानते थे कि वे असंभव को संभव नहीं कर पायेंगे, न नियति के चरमराते पाश को टूटने से रोक पायेंगे, फिर भी वे प्रत्यक्ष मृत्यु के सामने खम ठोंककर खडे रहे। विषाद में से फूटते प्रकाश का बोध, संघर्ष का पौरुष, परिस्थितियों से टकराने और जूझने का संकल्प जिस लेखक में होता है—वही रच पाता है सृजनात्मक प्रकाश का वह वलय, जो अंधकार में से फूटता है और जीने की नयी स्थितियों का निर्माण करता है, नये धरातल की खोज करता है। मृत्यु के साक्षात्कार ने उन्हें जीवन को एक नया अर्थ दिया। 'उत्कामातः मृत्योः षड्वीशमवमुञ्चमान'—अर्थात् मृत्यु के पाश को तोडकर आगे बढो। दुःख काली के दुलार की छाया बन गया और शिवप्रसाद सिंह का यही दूसरा जन्म हुआ। एक दशक के मौन के बाद 'शैलूष', 'नीला चांद', 'मंजुशिमा', 'औरत' जैसे उपन्यास लिखे गये, एक दर्जन कहानियां आयीं, 'हनोज दिल्ली दूर अस्त' और 'वैश्वानर' पर काम आगे बढ़ा। इतनी रचनात्मक सक्रियता देखकर वे लोग चौंके, जिन्होंने शिवप्रसाद सिंह को एक लेखक के रूप में समाप्त हो जाने की घोषणा कर दी थी। जीवन और लेखन के बीच में यथार्थ का स्थानांतरित होना—जीने की प्रक्रिया में यह अपने में बडा दिलचस्प वार्तालाप, अपने और अपनी 'फिक्शनल आई' के बीच होता रहता है। निर्मल वर्मा ने एक बहुत ही सटीक बात कही है कि जिसे हम इतिहास कहते हैं, वह 'फिक्शन' मे बीता हुआ जीवन है। जिस समय में कोई घटना घटती है, वह समय मेरे व्यक्तिगत जीवन का इतिहास है। उस इतिहास को पिघला कर 'फिक्शनल' समय में ढालना लेखक के लिए बहुत बडी चुनौती है। जो चीज हो चुकी है, वही चीज आप दुबारा कुरेदना और पुनर्जीवित करना चाहते हैं; क्योंकि उसमें आप मर चुके होते हैं और आपको अपनी उस मृत्यु की संपूर्णता पर संतोष नहीं होता। आप अपनी कथा मे उस मृत्यु को बार-बार जीना चाहते हैं। जितना भी लेखन या सृजन है, वह अपने जीवन में हुई मृत्युवे की शृंखलाओ को रचना के जीवित क्षणों में रूपायित करने की कोशिश है। शिवप्रसाद सिंह का संपूर्ण लेखन ऐसी ही कोशिश है। वे अपनी मृत्यु को बार-बार अपनी रचना मे जीना चाहते हैं। उन्होंने अपने एक निबंध मे लिखा है कि 'कस्तूरी मृग की भ्रांत दौड़ का कोई अंत नहीं, जब तक वह अपनी ही हृत्कमल की कणिका में छिपी कस्तूरी को नहीं पा लेता; पर यह क्या इतनी आसानी से मिलने की चीज है।' न मिले कस्तूरी; पर वन की घासों के फूलों को बटोरते हुए, उनकी सोंधी गंध मे क्षण-भर के लिए विरमते हुए दौड़ते जाना, दौड़ते जाना कितना आनंददायी है। कस्तूरी-गंध से पागल होकर दौड़ते रहने में क्या कम सुख है ? *(दस्तावेज 53, अक्टूबर-दिसंबर '91 से साभार)*

डॉ. शिवप्रसाद सिंह और उनका रचना-संसार

• विजयकिशोर मानव

सिर्फ एक बार किसी से मिले हो तो उसके बारे मे आप कितना कुछ जान सकते हैं। अक्सर जितना वह प्रकट होना चाहता है, आप उतना ही जान पाते हैं । मैं भी पहली बार मिला था डॉ शिवप्रसाद सिह से बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में। एक भव्य देह और उस पर भव्य भारतीय पोशाक, प्रभावशाली व्यक्तित्व कुछ-कुछ अहम् की सी झलक देता। बहुत बातें नहीं हुईं इससे वह मुझे रचनाकार कम सामंत से ज्यादा लगे । 'गली आगे मुड़ती है' उन दिनो 'धर्मयुग' में छप रहा था, इससे उनसे मिलने का बहुत मन था और बहाना था अपने अखबार के बनारस से शीघ्र प्रकाश्य प्रवेशांक के लिए कुछ लिखने का निवेदन करने का । उनके कहे के मुताबिक शाम को (13 , गुरुधाम कालोनी) उनके घर पर उनसे फिर मिला और वहां से निकलते हुए मुझे लगा किसी व्यक्ति से एक बार मिलकर बहुत कुछ जाना जा सकता है। उनकी रचनाओं को पढते रहने के कारण और बनारस के दूसरे प्राध्यापकों, पत्रकारों, रचनाकारों की पूर्वाग्रह युक्त टिप्पणियां सुनने के बाद एक सवालिया व्यक्ति बनकर मैं उनके सामने बैठा रहा था ।

दिन मे विश्वविद्यालय मे पहना उनका चोला उतरा हुआ। बातचीत में अपनापे के साथ एक खुलापन सहजतः चलता जाता और पता नहीं कब उनकी हंसी, उनका फक्कड़पन, उनके कमरे में बनारस को उपस्थित कर देता। गांव का और फिर शहर का लगने लगता यह व्यक्तित्व और फिर पता नहीं कब उनका आत्मसम्मान पुत जाता उनके चेहरे पर। गंभीर बातें शुरू हुईं तो वेद-पुराण, उपनिषद् और दर्शन इस तरह छा गया कि अविश्वास होने लगा कि यह वही व्यक्ति है जो अभी-अभी मुंह में भरपूर पान होने के बावजूद हस रहा था।

शिवप्रसाद सिंह का भाषाज्ञान उर्दू, अंग्रेजी और बंगला या पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी या फिर बुद्ध, गांधी, लोहिया और अरविंद का चिंतन तो किसी और में भी मिल सकता है; परंतु उनमें एक ओर संस्कृति और अपनी मिट्टी से गहरा जुड़ाव मिलता है, वहीं दूसरी ओर वेद-पुराण, उपनिषद् और भारतीय दर्शन की पूरी पृष्ठभूमि उनके

चिंतन को एक व्यापक फलक देती है। शिवप्रसाद सिंह विश्व के शीर्षस्थ साहित्यकारों को भी बारीकी से पकडते हैं और शायद हमेशा उनकी नजर इसी पर टिकी रहती है कि उनमें ऐसा क्या था जो उन्हें शीर्ष पर खड़ा करता है। शिवप्रसाद सिंह अपनी सारी रचनाओं में वैयक्तिक संवेदनाओं से ऊपर उठकर अपने परिवेश और संस्कारो के प्रति एक व्यापक संवेदनशीलता से जुडे रहते हैं और एक ऐसे बड़े रचनाकार के रूप में सामने आते हैं जिसकी अनुभूति की संवेदनशीलता अभिव्यक्त होते-होते ठोस का जामा पहन लेती है। उनकी सभी कृतियो में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की प्रधानता रहती है तथा अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों में भावुकता तथा चिंतन का निर्वहन होता है। पात्र की भावुकता के साथ उसकी उदात्तता और तरलता के दर्शन होते हैं। 'मंजुशिमा', 'गली आगे मुड़ती है', 'शैलूष' और 'नीला चांद' किसी भी कृति में उनकी तरलता हावी रहती है।

डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने पश्चिम के शीर्षस्थ रचनाकारों से एक उल्लेखनीय सीख ली है जिसका इधर भारतीय लेखकों में लगभग अभाव है और वह है लेखन की विषय-वस्तु के क्षेत्र पर असाधारण अधिकार। शिवप्रसाद सिंह की जो पहचान बनारस बनाता है (यानी 'गली आगे मुडती है' और 'नीला चांद') वह अन्य कृतियों से नहीं बनती, जबकि उनमें भी कहीं-न-कहीं बनारस मौजूद है। बनारस का बिगड़ता आज, बनारस का बीता कल, इतिहास, दर्शन, साम्राज्यों का सिलसिला वर्षों पहले से लगता है कि शिवप्रसाद सिंह बनारस के विभिन्न कालखंडों की जी रहे थे। इसीलिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बावजूद 'नीला चांद' एक सामाजिक और चिंतनपरक उपन्यास बन गया है जबकि अक्सर ऐसी कृतियों के उपन्यास की जगह इतिहास बन जाने का खतरा रहता है।

डॉ. शिवप्रसाद सिह ने अपनी निजी व्यथा को 'मजुशिमा' की विषय-वस्तु बनाया, उसमे उनका आहत पिता है, परतु हारा हुआ नहीं। अपने निजी दुख का गज़ब का साधारणीकरण मौत से ऐसी लड़ाई जिसमें कोई भी उन्हीं की तरफदारी करे। 'मंजुशिमा' इस दृष्टि से एक युद्ध-कविता है जिसमें जीत-हार के बीच एक मन, जीवित मन मिलता है लेकिन यदि उनकी भावुकता के समग्र दर्शन करना चाहें तो हम पाते हैं मंजु से जुडा उनका संताप वैयक्तिक ही है जबकि बनारस से उनका लगाव कहीं और अधिक है। तभी तो उसके प्रति उनकी सवेदनशीलता शताब्दियों तक फैली है। ऐतिहासिकता में काल सापेक्ष समाज और संस्कृति का विशेषतः ध्यान रखनेवाले शिवप्रसाद सिंह काल विशेष के पात्रों के व्यवहार की असामान्यता के लिए अपने गुरु पर भी उंगली उठाने का साहस रखते हैं। अपने साहित्य में इस सबके प्रति सचेत शिवप्रसाद सिंह में एक ओर जहां उनके बनारस और किस्सागोई की मिठास और सहजता है, वहीं उनकी शास्त्रीयता, पांडित्य और सूक्ष्मता में पात्रों और घटनाओं का रेखांकन भी है। इसी कारण जहां उनकी रचनाओं में पठनीयता है, वहीं संजोकर

रखने लायक याद रहनेवाले पात्रों और घटनाओं की बड़ी संख्या भी । एक सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि परंपरा, संस्कृति, इतिहास और शास्त्र के तत्त्वों की भरमार के बीच वह आज को परखते और समकालीन चुनौतियों के संदर्भ में भविष्य का आकलन करते हैं जो कल के निर्माण की आश्वस्ति देता है ।

शिवप्रसाद सिंह नयी संवेदना के ऐसे रचनाकार हैं जो अस्तित्ववादी चिंतन, मार्क्सवादी विचार-पद्धति और अरविंद दर्शन को एक साथ रखकर अपनी संवेदना को रूपायित करते हैं। निबंधों की दृष्टि से भी डॉ. शिवप्रसाद सिंह का रचनाकार उल्लेखनीय है । उन्हें पढते हुए गुलेरीजी से लेकर आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी के निबंधों की याद आती रहती है। गुलेरीजी के निबंध प्रसंग-गर्भित होते हैं और इनके भी। और इसी से ये दुर्बोध नहीं हैं। शुक्लजी के निबंधों में जिस तरह सभ्यता का आवरण हटाकर बडी होती कुत्सित प्रवृत्तियों का नकार मिलता है, वह भी शिवप्रसाद सिंह का वैशिष्ट्य है और द्विवेदीजी को तो जैसे आप कई बार उनमें पढ़ रहे होते हैं। निबंधों को प्रारभ करने का ढग, विचारसूत्र फैलाने और समेटने की पद्धति, पहले को दूसरे विचार से जोडने की तकनीक और पाठक से निरंतर जुड़े रहने के ढंग से द्विवेदीजी की शैली की याद आती है। अंतर है दोनों की संवेदना के विकास और आधुनिक बोध के स्तर में। आचार्य द्विवेदी के आदर्श मानव की आस्था में कहीं जोड लक्षित नहीं होता जबकि श्री सिंह में यह है। उनके निबंधों का प्रतिपाद्य मनुष्य की सार्थकता का अनुसधान है। बात कहीं से चले, विषय कोई भी हो, प्रतिपादन में विचार-सूत्रों के सदर्भ कुछ भी हो, उनकी चिंता मनुष्य पर ही केंद्रित मिलती है ।

शिवप्रसाद सिंह के मन में, विचारों में एक पूरी काशी है—धर्म, संस्कृति, ज्ञान, अध्यात्म, सुखों-दुखों, युद्धों-घटनाओं से भरी । शिवप्रसाद सिंह कहते भी हैं कि उनकी तीसरी काशी अभी आनी है। 'गली आगे मुडती है' और 'नीला चांद' उनकी दो अलग-अलग काशियां हैं जिनमे पूरा भूगोल तक ज्यों का त्यों नहीं मिलता। मतलब लेखक की तीनों काशियां उसके मन के बिल्कुल अलग-अलग खानों में बंद हैं । 'नीला चांद' शिवप्रसाद सिंह की आंखों देखी ग्यारहवीं शताब्दी की काशी है, विदेशी आक्रांताओं के पहले की काशी। काशी ही क्यों उत्तर भारत का आईना। उस काल के राजाओं की आपसी फूट, अत्याचार, लड़ते रहने और लड़ मरने की प्रवृत्ति को सिर्फ काशी ही के नहीं पूरे उत्तरांचल के संदर्भ में देखते हुए शिवप्रसाद सिंह कई ऐसी मूल प्रवृत्तियों को परिभाषित कर जाते हैं जो हैं तो ग्यारहवीं शताब्दी की घटनाओं और प्रसंगों में, परंतु आज की ओर भी लक्ष्य करती हैं। उदाहरण के लिए देश व राजा के प्रति वफादारी से भरी और भारी कष्ट उठाती प्रजा का आदर्श, अपदस्थ और निराश्रय के बावजूद हिम्मत न हारकर कठिन प्रयत्न करके राज्य हस्तगत करनेवाले कीरत का पुरुषार्थ, अत्याचारी राजाओं के पतनगामी परिणाम । ऐसे ही और भी प्रसंग हैं जैसे उत्तर-दक्षिण की एकता का प्रसंग और मंदिर को राजनीति से जोड़ने, उसमें सेना रखने और तलाशी

के लिए कहने पर खून की होली खेलने की धमकी देना। क्या ये बातें आज भी हमारे सामने खड़े बड़े सवाल नहीं हैं ? भरत डोम के प्रसंग में उस वर्ग के कार्यों की महत्ता और अनिवार्यता की चर्चा करते हुए वाजिब मजदूरी का सवाल उठाना शिवप्रसाद सिंह जैसे जागरूक रचनाकार के ही बस की बात थी। उन्होंने इस उपन्यास में कई जगह ग्यारहवीं शताब्दी की महिला की स्थितियों पर भी अलग-अलग उंगली उठायी है। कुल मिलाकर 'नीला चाद' प्राचीन काशी की सास्कृतिक, सामाजिक आर्थिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों का प्रामाणिक दस्तावेज है। एक और प्रशसनीय यश है उपन्यास का कि प्राचीन युग बोध का आधुनिक युग बोध के साथ सामंजस्य हुआ है जो किसी ऐतिहासिक रचना की सबसे बडी उपलब्धि है। यह उपन्यास एक साथ ही उस काल की काशी के समाज, संस्कृति और इतिहास का गवाह बन गया है जो न कोरी काल्पनिक रचना से और न ही ऐतिहासिक लेख मालाओं से इतने जीवंत रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता था ।

सृजन कार्य—शोध समीक्षा

1	विद्यापति	1954
2	कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा	1955
3	सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य	1957
4	रसरतन	1967
5	आधुनिक परिवेश और नव लेखन	1970
6	योगी श्री अरविन्द की जीवनी, उत्तर योगी	1972
7	आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद	1973-78
8	शाति निकेतन से शिवालिक	

कहानी-संग्रह

1	आर-पार की माला	1955
2	कर्मनाशा की हार	1958
3	इन्हे भी इतजार है	1961
4	मुर्दा सराय	1966
5	अंधेरा हसता है	1975
6	भेडिये	1977
7	मेरी प्रिय कहानियां	1978
8	अंधकूप	1978
9	एक यात्रा सतह के नीचे	1979

10. सुनो, परीक्षित सुनो 1991
11. अमृता 1991

उपन्यास

1 अलग-अलग वैतरणी 1967
2 गली आगे मुडती है 1974
3 नीला चांद 1988
4 शैलूष 1989
5. मंजुशिमा 1990
6 औरत 1991
7 हनोज दिल्ली दूर अस्त 1993
कुहरे में युद्ध, भाग-1
दिल्ली दूर है, भाग-2

ललित निबंध

1 शिखरो का सेतु 1962
2 कस्तूरी मृग 1972
3 चतुर्दिक 1972
4 मानसी गगा
5 किसको-किसको नमन करू
6 क्या कहू कुछ कहा न जाए

नाटक

1 घाटियां गूंजती हैं 1963
2 अश्मक का फूल

रिपोर्ताज

1 अतरिक्ष के मेहमान 1965
(प्रथम अंतरिक्ष यात्री गगारिन को समर्पित)

पुरस्कार सम्मानादि

1 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' पर हरिजी डालमिया पुरस्कार।

2. 'उत्तर योगी' पर बालकृष्ण शर्मा नवीन पुरस्कार।
3. 'अलग-अलग वैतरणी' पर देव पुरस्कार।
4. 'गली आगे मुडती है' पर प्रेमचंद पुरस्कार।
5. 'रसरतन' पर मदन मोहन मालवीय पुरस्कार।
6 'कस्तूरी मृग' पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल पुरस्कार।
7 'नीला चांद' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार 1990
8 उत्तर प्रदेश का हिंदी संस्थान सम्मान 1990

शिवप्रसादनुतिः

• *कामेश्वर उपाध्याय*

काश्यां सुधाधवलिते ललिते प्रभागे
योगालयो लसति यत्र महेश्वरस्य।
तत्रैव दीर्घसमयात् कलया भवान्या·
संदीक्षितो विजयतेऽद्य शिवप्रसादः ।। 1 ।।

वन्द्यानि यस्य चरितानि सदा शुभानि
गार्हस्थधर्मनिरतानि च ङ्गलानि।
सारस्वतेन तनुनाऽसि सदा नवीन·
कीर्त्या कवे· सकलविश्वमिदं प्रसन्नम् ।। 2 ।।

शुक्ला कला विलसिता प्रगतिस्त्वदीया
दीप्तस्त्वमेव पुरुषो मनुजेषु मान्य· ।
आचारपूतचरणेषु जनेषु पूज्यो
लोके हिताय महते स शिवप्रसाद· ।। 3 ।।

योगे स्पृहा नवनवा दृढमूमिरूपा
यस्यां विधाय चरणौ लभते च सिद्धिम् ।
ता सर्वकारणकलां हृदि धारयन्त
राजर्षिवंशतिलकं मुनिमानतोऽस्मि ।। 4 ।।

न त्वादृशं प्रणयिनं भुवनेषु विद्मः
यो हन्त ! कामरहितः स पुन : सकामः ।
एक· कृतीर्जयति शोकजरापकीर्तिं
शीरीरकेन यशसाहि सदास्थितेन ।। 5 ।।

बाल्यात् प्रबोधसरणिर्गुरुभिश्च लब्धा
छात्रत्वकालमनुधावति सा स्रवन्ती।
तां प्राप्य यौवनतटे गुरुता वहन् त्वं
लोक प्रदीपयसि मंजुलभारतीभिः ।। 6 ।।

आभाति देहे नवकान्तिपुञ्जो
रम्यो यथा नव्यतमो निकुञ्जः ।
भाले विशाले किल चारुगन्धा
दीप्तिस्त्वदीया स्फुरिता विचित्रा ।। 7 ।।

कृष्णस्य गेहस्य यथा प्रभावो
भाति प्रकृष्टा च तथा सुधर्मा ।
धाम्नि त्वदीये गुरुराजमार्गे
साक नरेन्द्रेण विभाति मीरा ।। 8 ।।

धर्मे हि यस्याः सुमतिर्निबद्धा
राजेश्वरी सा जगतो जनानाम् ।
'धर्मावती' नाम सुधारसज्ञा
भार्या च सार्या शिवशक्तिरूपा ।। 9 ।।

कन्या नवाऽवतरिता सदने शिवेव
श्रीरेव वा प्रमुदिताऽभ्युदिता चकास्ति।
'मञ्जु' स्वभावसरला तरला प्रकृष्टा
वाग्देवतेव शनकैर्गृहमण्डनाय ।। 10 ।।

दुखात्मक फलमिद मुनिभि प्रदिष्टं
यस्यास्ति भोगकरणे विवशो मनुष्य ।
कैश्चिद् विशिष्ट–कविभी रसित समग्रं
काव्यात्मकं स्वचरितं वहते सुखान्तम् ।। 11 ।।

माता विषादभरिता सदने सदा ते
दुःखातिरेकमनसा स्मरण करोति ।
कन्या गता क्व ? विधिना परिमर्दिता वा
तातोऽपि रौति सुचिर प्रविहाय धैर्यम् ।। 12 ।।

मञ्जुं विना क्षणमपि प्रलयानुरूप
कष्ट चिरं वहति शोकदवाग्निदेहे ।

दग्धोऽपि जीवति पिता त्वयि बद्धभावः
पुत्री श्रिया विरहितो हि शिवप्रसादः ।। 13 ।।

काये राजति यौवनाश्रितकला हालेव लीलामयी
वक्त्रे मन्त्रमयी सुधामधुरता कण्ठे च सा वाग्मिता ।
हस्ते निर्झरिणी विभाति रुचिरा स्रष्टुः कथाकामिनी
नित्यं नृत्यति भारती तव गृहे धन्योऽसि हे चिन्तक ।। 14 ।।

वैविध्यपूर्णरचनां यदि वान्छसि त्वं
ज्ञातुं तदा पठ चिरं कविविश्ववाहम् ।
सारस्वतीं नवनवां प्रतिबिम्बजुष्टां
प्रासादशोभिधवलां महतीं शिवस्य ।। 15 ।।

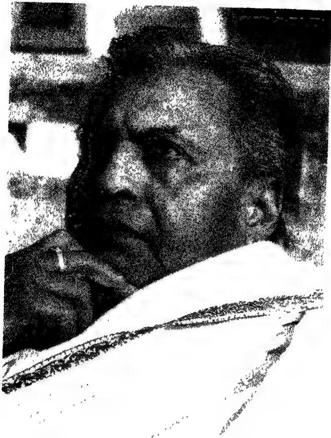
हिन्द्यां कथाऽस्ति विविधा रुचिरार्थपूर्णा
तत्रापि शक्तिसहिता नहि काचिदन्या ।
'रथ्या पुरो व्रजति वक्रगतिं' तथाहि
नैवाधुना मतिपथे रचना चकास्ति ।। 16 ।।

'नन्हो' कथा सुविदिता सुधिभिश्च पीता
संवीक्षिता सहृदयैर्विविधैः प्रकारैः ।
'कस्तूरिका मृगपदा' किल लेखमाला
यस्यां प्रमत्तमधुपा रसिका रमन्ते ।। 17 ।।

सर्वा लेखमयी पूजा विहिता शब्दब्रह्मणः ।
स्वयं शिवप्रसादेन हिन्दी मन्त्रो नियोजितः ।। 18 ।।

विधिक्षताः प्रजाः सर्वा लोके यान्ति तिरस्कृतिम् ।
'शैलूषे' कविना तास्ता उच्चैर्मञ्चेषु योजिताः ।। 19 ।।

तपसा साध्यमिदं कर्म गृह एव सुलेखकैः ।
लब्धं जीवने तत्त्वं कल्याणाय समर्प्यते ।। 20 ।।



डॉ शिवप्रसाद सिह गहन मुद्रा मे



पत्नी श्रीमती सुधर्मा के साथ



प सुमित्रानदन पत, सुश्री महादेवी वर्मा और गुरुवर हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ प्रफुल्ल मुद्रा मे



(बाएं से दाएं) तीन पीढ़ियां : प्रेमचन्द्र जैन, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीमती द्विवेदीजी और बौद्ध भिक्षु पोतुविल गुणरत्न। (चंडीगढ़ विश्वविद्यालय के आवास पर लिया गया चित्र)



पहले पान ले लिया जाय तो नए
कारस्म का आनन्द है



गारतीय ज्ञानपीठ के प्रथग पुरस्कार विजेता श्री जी शकर कुरूप के साथ।
पीछे खडे है प्रेमचद्र जैन व वी डी नम्बियार।



(यह चित्र श्री गुरुजी के एर्णाकुलम (केरल) निवास पर लिया गया था।)
पूछो भाई ! पूछो न... देवराज एव प्रेमचद्र जैन



डॉ. शिवप्रसाद सिंह 'अज्ञेय' जी के साथ



जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ   कन्याकुमारी–समुद्र स्नान (चित्र   प्रेमचद्र जैन)

• सृजन-साक्ष्य

रसमादन की लोकचिता

• डॉ. अवधेश प्रधान

शिवप्रसाद सिंह मूलत: सृजनशील प्रतिभा के धनी हैं—मरमी कथा-शिल्पी । पर वे अपभ्रंश, भाषाविज्ञान और प्राचीन इतिहास के खोजी पंडित भी हैं, दर्शन और अध्यात्म की रहस्यभूमियों के यात्री भी हैं, ज्वलंत सामाजिक समस्याओं और विचारों से उद्वेलित भी होते रहते हैं; साहित्यिक बहसों में पूरी आलोचकीय तीक्ष्णता के साथ हस्तक्षेप भी करते हैं । आदिकालीन से लेकर समकालीन साहित्य तक, तोल्सतोय से लेकर समरसेट मॉम तक, लोहिया से लेकर अरविंद तक, कामू और सार्त्र से लेकर रामकृष्ण और विवेकानंद तक के पूरे अधिकार पूरी सहृदयता और सजीवता के साथ आपसे घंटों बातचीत कर सकते हैं । वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अपनी कक्षाओं में जिस अधिकार और लगन से कीर्तिलता और पृथ्वीराज रासो पढ़ाते रहे हैं, उसी अधिकार और लगन से भाषा-विज्ञान और कामायनी । जितना मजा उन्हें सार्त्र और अरविंद के दर्शन पर बात करने में आता है, उससे भी अधिक मजा लेते हुए अपने गांव जलालपुर के नटों और कंजड़ों, तालाबो और बगीचों के बारे में बात करते हैं। वे और चीजों से ऊब सकते हैं पर जलालपुर पर बात करते हुए कभी नहीं। प्रसंग राष्ट्रीय हो या अंतर्राष्ट्रीय—बीच में जलालपुर जरूर आयेगा। वहां के लोग, उनकी बातें, हंसी-मजाक, कहावतें, वहां के गीत वगैरह। बात लंबी खिंच गयी तो अचानक पनडब्बा खोलकर बड़े प्रेम से पान लगायेंगे, इनको, उनको, आपको, हमको खिलाने के बाद खुद खायेंगे और थोडी देर घुलने-घुलाने के बाद फिर शुरू । और हां, बीच-बीच में घनघोर ठहाके। उनके जीवन के बाहरी और भीतरी विपदाओं से भरे सात-आठ साल छोड़ दें तो उनका व्यक्तित्व ऐसा ही है—अध्ययन-अध्यापन के उत्साह और गरिमा से, लेखन और चिंतन की ऊर्जा और महिमा से, बहस, बातचीत और ठहाकों की मस्ती, उमंग और आनंद से सराबोर। उन्होंने बहुत लिखा : कहानियां और उपन्यास, ललित निबंध और आलोचना, शोध और जीवनी, नाटक भी; पर उनके बहुरंगी व्यक्तित्व की एकत्र अभिव्यक्ति उनके ललित निबंधों में ही हुई है। उनके ललित निबंधों पर उनकी विद्वत्ता और सहृदयता, किस्सागोई और चिंताशीलता, परंपरा की पहचान और आधुनिक दृष्टि,

भावप्रवणता और सजग लोकनिष्ठा की स्पष्ट छाप दिखायी पडती है।

प्रेम और सौंदर्य का 'रसमादन' उनकी निबंध-रचना का एक केंद्रीय तत्त्व है। उन्हीं के शब्दों में कहूं तो 'रसमादन' यानी अपने इकट्ठे किये हुए रस से अपने मन को, तन को, जिह्वा को मधुर कर लेना हमारी संस्कृति की मूल भावना है।' वे अथर्ववेद की मधुमयी ऋचा को याद करते हैं और फिर आज के मधुरिक्त जीवन को देखकर चिंतित हो उठते हैं। उन्हें लगता है कि 'जब से आधुनिकता आयी है न रस रहा, न मधु । एक हवस बच गयी है जो बेशुमार छटपटाहटों से भरी हुई है।' हवस में रस का औदात्य नहीं है। रस के लिए चाहिए सौंदर्य के सम्मान और आस्वाद का धैर्य। हवस और अतृप्ति के मारे कुंठित जनों के बारे में टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं, "हवस और अतृप्ति के कारण लोगो के पास सुंदरता को कुछ देर तक सहने की शक्ति ही नहीं बची है। ये बेचारे तो 'माखन के मुनि' की तरह 'हुताशन' मे हवन करने की कोशिश मे ही गले जाते हैं।" कुंठा के बजाय अकुठ और स्वस्थ मनोभूमि उन्हें काम्य है, जहां उदात्त सौंदर्य-भावना पलती और बढती है। प्राचीन भारतीय साहित्य की सौंदर्य-साधना उन्हें स्पृहणीय लगती है जहा "छककर मधुपान् था इसलिए छककर सौंदर्य देखने का साहस और शक्ति थी। एक-एक कवि अध्याय पर अध्याय सौंदर्य की मादकता का वर्णन करता चला जाता है, वह उसके एक-एक मनभावन पक्ष को उभारता है और भाषा के लालित्य में बांधकर छंद बना देता है, नया छद ढालता है।...वह मासलता के छद से छला नहीं जाता। वह छंद से कभी छंदित नहीं होता।" पर आधुनिक भारत अपनी इस सहज सांस्कृतिक विरासत से विमुख होकर पश्चिमी सभ्यता की अंधी नकल कर रहा है। इस नकल से शिवप्रसादजी को चिढ है। इस नकली रसाभास की वास्तविकता उद्घाटित करते हुए वे लिखते हैं, "मन तो रस आखेटक बना समुद्र पार की यात्रा कर रहा है। पश्चिमी साहित्य की नयी-नवेलियों से परिचय कर रहा है। उनकी यादो में लार टपकाता है, पूरा न पड़ने पर गौडीय वैष्णवो या सहजिया संप्रदाय के पिछले खेवे के कवियों को पुकारता है कि हे विषगारुडी, तुम मेरे भीतर के इस ज़हर को सोख लो, मुझे फिर से ताजा कर दो किंतु वह नहीं जानता कि पश्चिमी सभ्यता की भुजंगिनी से डसा हुआ मन पूरबी सभ्यता की भुजगिनी के विषदश से ही दूर होगा। नागिन के विष को नागिन ही खींचती है।" शिवप्रसादजी काम को 'वर्जित फल' की नैतिकता से नहीं देखते। वे इतने खुले हैं कि हिप्पियों तक के जीवन पर सहानुभूति से विचार करने का आग्रह करते है। पर कामतत्त्व का सारा विवेचन उन्होने 'पूरबी सभ्यता' की ज़मीन पर खडे होकर किया है। वे काम के उदात्त और अनुदात्त रूपों पर बार-बार विचार करते हैं। काम जिस उत्सव का मुख्य देवता है, वह है होली। मदन ऋतु वसंत और मदनोत्सव होली उन्हें बेहद प्रिय हैं। उन्होंने सबसे अधिक निबंध वसंत और होली पर ही लिखे हैं। भंडासुर के प्रतीक द्वारा वे बताते हैं कि "अमर्षयुक्त निर्बाध मदन भड होता है। ललिता त्रिपुर सुंदरी

की कृपा से वह कलुषित मदन सात्त्विक मदन में बदल जाता है। शिव ने मदन को जलाकर भंड बनाया, ललिता ने उसे मर्यादित करके कामराज में बदल दिया।" होली का हुडदंग है भंड मदन का अतिचार, नये संवत्सर का प्रेमगान है सात्त्विक मदन का संचार। होली की रात के, पंचदशी के चंद्रमा में 'षोडशी ललिता त्रिपुर सुंदरी का माधुर्य' नहीं होता, वह तो 'मादक मदन के भंड कार्यों का प्रेरणास्रोत है।' दिन-भर की हुड़दंग के बाद रात को जो 'सिंदूरा हण विग्रह' अमृतपूत सोम उदित होता है वह 'कामेश्वर सोम' है क्योंकि "वह षोडशी से अभिषिक्त और सिंचित होता है।" काम का उदात्तीकरण है प्रेम। उनकी दृष्टि में प्रेम एक तरह की साधना है। वे प्रकृति और मनुष्य दोनों मे इसकी प्रक्रिया को लक्षित करते हैं, "मनुष्य के हृदय में प्रेम और वनस्पति के हृदय मे फूल एक ही प्रक्रिया के भिन्न परिणाम हैं।" मर्यादित प्रेम-साधना और निर्मयदि कामभावना का अंतर काव्योचित संकेत से स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "हरे वृक्ष ने आग को बाध लिया था, अपने भीतर उस उत्ताप को जज्ब किये रहा और वही अग्नि फूल बनकर उसकी शाखाओं में खिल गयी। जब वही अग्नि नियंत्रण से छूट जाती है, बहिर्गत हो जाती है तब गीले काठ तक को जलाकर राख में बदल देती है।" उनकी दृष्टि मे, काम एक रहस्यमयी शक्ति है जो महत् उद्देश्य या क्षुद्र आकांक्षाओं से परिचालित होकर मनुष्य को ऊर्ध्वमुखी या अधोमुखी कर सकती है। कृष्ण के जीवन को 'ऊर्ध्वमुखी कामशक्ति का सयक् विलास' मानते हुए उन्होंने गोवर्धनधारण, रास, महाभारत और द्वारकानिवास की आध्यात्मिक व्याख्या की है। राधा उनकी नजर में, रुक्मिणी से श्रेष्ठ है। रुक्मिणी के प्रेम में 'शरीर का ऐश्वर्य' है, राधा के प्रेम में 'हृदय का रसतत्त्व'। जब 'दिव्य जीवन की महायात्रा' शुरू होगी तब रुक्मिणी नहीं, राधा का महत्त्व होगा, जीवन का लक्ष्य ऐश्वर्य नहीं, आनंद होगा।'

लेकिन शिवप्रसाद सिंह परंपरा के अंध-अनुगामी नहीं हैं, वे परंपरा को भी आधुनिक आलोक में देखते-परखते हैं। आधुनिक दृष्टि ही है जो उन्हें अतीत के अध-मोह से बचाती है और आत्मविभोरता की स्थिति में भी आत्म-सजग रखती है। अमूमन ललित निबधकार अतीत के ऐश्वर्य या प्रकृति के वैभव में डूब जाना ही अपनी सिद्धि मानते हैं लेकिन शिवप्रसाद सिंह के साथ ऐसा नहीं है। वे गहन रसमादन के क्षणो में भी लोक की चिंता नहीं छोड़ते। यथार्थनिष्ठ दृष्टि उनकी रोमांटिक तरंगमाला को लोकचिता के प्रवाह में नियंत्रित किये रहती है। उनके निबंध इसी रोमांटिक और ऐंटी रोमांटिक लहरों के तनाव के बीच रचे गये हैं। एक उदाहरण लीजिए : निबंध का शीर्षक है—'सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते'—कालिदास की सुप्रसिद्ध उक्ति है वसंत वैभव की सर्वतोमुखी सुंदरता के बारे में। सहज ही मन में ऋतुराज की सुषमा का क्लासिकीय चित्र घूम जाता है पर निबंध शुरू होता है आपके मूड को तर्क का झटका देते हुए "बीसवीं शती की भारतीय प्रिया इस शीर्षक को सुनकर क्या कहेगी? यदि एकदम से आधुनिका हुई तो शायद यह कि तुम पागल हो। यथार्थवादी हुई तो यह

कि तुम भावुक हो, और कहीं बहुत सहनशील, भारतीय परंपरा में पली, पति की दासी यानी उसे परमेश्वर माननेवाली हुई तो यह कि मुझे घर के कामकाज से इतनी फुरसत नहीं कि आपके निठल्लेपन की बातों को सुन-सुनकर मन को परितोष दूं।" झटका देकर सोचने को विवश करना, अतीत में जाकर भी निगाह आज के यथार्थ पर रखना—यह शिवप्रसाद सिंह की ऐसी विशेषता है जो उन्हें अन्य ललित निबंधकारों से अलग करती है। उनकी कलम में मंडन मिश्र अपनी डायरी लिखते हुए जब इस प्रसंग पर पहुंचते हैं जब ब्राह्मणों ने आचार्य शंकर को धर्मद्रोही कहकर उनकी मां की अंत्येष्टि में शामिल होने से इन्कार कर दिया और शंकर ने अपनी मां के शव के तीन टुकड़े कर, उन्हें बारी-बारी से श्मशान में ले जाकर शवदाह किया तब उन्हें मालूम हुआ, "शंकर ने अपनी मृत मां के शव के टुकड़े नहीं किये थे, उन्होंने कर्मकांड की सारी जर्जर; समाज-विरोधी, मिथ्या सीमाओं को छिन्न-भिन्न कर दिया था।" पुराणों की पतिता नायिका तारा उनकी कलम से मुनि वशिष्ठ की शास्त्रीय परंपरा को ललकारते हुए पत्र लिखती है। वज्रयानी कापालिक ब्राह्मण कर्मकांडों का विरोध करते हुए आये लेकिन उन्होंने अपना एक नया कुकर्मकांड बना लिया। 'श्मशान' शीर्षक निबंध में श्मशान उनकी कापालिक साधना का भांडा फोड़ते हुए कहता है, "तुम्हारी जाति के वे महाशक्तिशाली कापालिक पशु से भी बुरे थे। उनकी साधना पतन का साधन थी। सुंदरियों का अपहरण, प्रतिद्वंद्वी यशस्वी कापालिक की हत्या, जनता में अपनी शक्ति का आतंक फैलाने के लिए किसी निर्दोष बालक की बलि, यही इन सबके काम थे।...मुर्दे को ऊर्ध्वमुखी बनानेवाले ये इच्छाचारी कापालिक जीवित लाश की तरह अधोमुखी हो गये। इसी तरह वर्ण-व्यवस्था भी भारतीय परंपरा का ही अग है पर शिवप्रसाद सिंह को उससे सख्त घृणा है। वे उन परंपरा प्रेमियों में नहीं जिन्हें प्राचीन भारत में सब कुछ अच्छा ही अच्छा दिखे। वस्तुतः वे लोग परंपरा के नाम पर वर्ण-व्यवस्था जैसे कोढ़ को ढंकते हैं और उसे बनाये रखने में मदद करते हैं। शिवप्रसाद सिंह 'श्मशान' के शब्दों में इस वर्ण-व्यवस्था की अमानवीयता पर घृणा और क्रोध से धधक उठते हैं, "तुम्हारी जाति न केवल अपने भीतर ही टुकड़े-टुकडे में बंटी है बल्कि उसने मुझ अकिंचन की इस कड़ी छाती को भी घेरों में बांट दिया है, यहा केवल राजा के शव जलेंगे, पंडित के, ऋत्विज के। यहां शूद्र के, यहां इसके, वहां उसके। सच कहता हूं, यह सब देखकर जी में आता है, एक लंबी करवट लूं जिसमें जिंदा लोग शव की तरह भहराकर गिर पड़ें।"

चंद्रमा पर मनुष्य के पहले अभियान के साथ ही चंद्रमा से संबंधित तमाम कल्पनाएं और पुराणकथाएं हवा हो गयीं और चंद्रमा के काव्यसुलभ सौम्य रूप के बजाय उसका ऊबड़-खाबड़, चट्टानी, विराट, भयोत्पादक और जीवनविहीन चेहरा सामने आ गया। मनुष्य के चिरकाल से चले आते रोमांटिक कल्पना-संसार को भारी धक्का लगा। पर शिवप्रसाद सिंह इस घटना से भी श्रेष्ठ मानवीय आदर्श का रस खींच लेते हैं। चंद्रमा

नीरस है तो इसलिए कि उसने अपना सारा रस पृथ्वी को दे दिया है। उसकी त्यागजनित नीरसता ही उसकी शोभा है, "संपूर्ण पृथ्वी को अमृत, सोम, शीतलता और जीवन देनेवाले ग्रह को ऐसा ही होना पडेगा जैसा चंद्रमा है। यदि वहां स्वयं जीवन होता, हरियाली होती, जल होता, जीवधारी होते तो चंद्रमा का समूचा रसतत्त्व उन्हीं के पोषण में खर्च हो जाता। चंद्रमा महान् त्यागी कामिनी-भक्त ग्रह है जो सूर्य से प्राप्त अग्निशक्ति को सोम में बदलकर उसे निःशेष भाव से पृथ्वी को सौंप देता है। वह स्वयं जल रहा है, ऊबड-खाबड़ है, बीभत्स है, धूसर है, नीरस है पर यह इसलिए कि वह अपनी सारी शक्ति किसी और ग्रह के पोषण के लिए उत्सर्ग कर देता है। वह असल में पृथ्वी का फेफडा और हृदय है।" शिवप्रसाद सिंह सचाई को जानने के लिए अपने मन की सारी खिडकियां खुली रखते हैं। उनके मानस-कक्ष में चारों तरफ की हवाएं आती हैं। जब अस्तित्ववाद की बयार बह रही थी, उन्होंने उसका भी जायजा लिया पर वे उसकी विकृतियों से ग्रस्त नहीं हुए। उन्होंने शंका और अनास्था की गंभीर दार्शनिक व्याख्या की और आस्थाशीलता को गहरे अर्थों में परिभाषित किया। सिसिफस की कथा के व्यर्थता-बोध को उन्होंने एक नयी सामाजिक अर्थवत्ता में बदल दिया, "क्या अपराध था सिसिफस का ? यही न कि वह न्याय के पक्ष में था, उसे धरती से, फूल से, समुद्र से प्रेम था। 'सिसिफस' इस यातना से विचलित नहीं होता। गिरी हुई चट्टान को फिर से उठाने के लिए जब वह चलता है तो उसके पैरों में दृढ़ता, बाहों में ओज और आत्मा में अविजेय मनुष्यता की ज्योति जलती रहती है; उसकी यही अमर जिजीविषा और अडिग आत्मास्था उसे दडित करनेवालों के मन को सकोच, पराजय और खीज से भर देती है।" इस मिथ को भारतीय समाज के मौजूदा यथार्थ पर घटाते हुए वे साहित्यकार की न्यायबुद्धि को झकझोरते हैं, "जहां देशनायक भ्रष्टाचार को ही पवित्र धर्म मानते हों, छिछली बुद्धि के द्वितीय श्रेणीवाले व्यक्ति शासन को हाथ में लेकर निरंकुशता का चक्र चला रहे हों, कौरव सभा में चीरहरण की लीलाएं देखकर भी न्यायाधीश मौन ग्रहण कर रहे हों; गरीबी, दीनता और जहालत के नीचे जनगण पिस रहा हो, वहां के साहित्यकार क्या करें ? ईमानदारी को छोड़कर जनतंत्र या साम्य के नाम पर प्रचारित फार्मूलों का गुणगान गाते रहें या जो कुछ देखें-सुनें उसे सही-सही कहकर पीड़ित जनसमुदाय के साथ खडे हों।" मौजूदा यथार्थ की मांग है कि साहित्यकार या तो यथास्थिति के पक्ष में खड़ा हो या उसके क्रांतिकारी बदलाव में हिस्सेदारी करे क्योंकि वह समाज से अलग 'इकाई' नहीं है, वह भी साधारण जनता के साथ इस 'पागलतंत्र और उच्छृंखल चक्र' के नीचे पिसता है। साहित्यकार क्या करे--यह सवाल उठाने के बाद फिर खुद ही जवाब देते हुए वे लिखते हैं, "बस, उसके लिए एक ही रास्ता है, वह है आत्मविश्वास और अपनी ईमानदारी में आस्था। इसी के बल पर शका, संदेह, अनिश्चितता, अतार्किक जीवन, सबके बीच से वह अपनी कला के माध्यम से सहस्रों लोगों तक जीवन का संदेश पहुंचा सकता है। वह अपने

दु:ख और सुख को सबके दु:ख-सुख के साथ मिला कर जी सकता है।" शिवप्रसादजी अपने ही दुख और सुख को 'आत्मसत्य' या 'निरपेक्ष सत्य' मानकर गाते रहनेवाले द्वीपवासी प्रयोग-साधकों में नहीं हैं, वे अपने दुख-सुख को 'सबके दुख-सुख के साथ मिलाकर जीने' के हामी हैं। उन्हें साहित्यकारों की सामाजिक समस्याओं पर चुप्पी साधे रहनेवाली प्रवृत्ति से बेहद चिढ़ है। उनकी आधुनिकता पश्चिमी लेखकों की उद्धरणी और नकलवाली आधुनिकता नहीं है। आधुनिकता उनके लिए दृष्टि है, उत्तरदायित्व है। वे सवाल करते हैं कि यहूदियो की समस्या पर यूरोप के आधुनिक से आधुनिक साहित्यकारों ने जिस सवेदना और गहराई के साथ लिखा है, हिंदी साहित्यकार कलकत्ता, अलीगढ, सागर, जबलपुर के दंगों पर, साप्रदायिकता की समस्या पर उस तरह क्यों नहीं लिखते. "मुझे बडी हैरानी होती है। अचानक कोई समस्या जब सारे राष्ट्र को हिलाने लगती है तो हिंदी लेखक वक्तव्य देने लगते हैं। उसके पहले भी तो उस समस्या के बीज-बिदु समाज मे प्रकट-छिपे रहते ही होंगे; फिर उस समय कुछ न करना, कहना और बाद में अखबारो में 'स्टेटमेंट' देना क्या लेखकीय सूझ-बूझ और समाज की नब्ज पहचानने की असमर्थता का प्रमाण नहीं है ?" दरअसल, ऐसे कलाकार आधुनिकता की आड़ मे सचाई से आखे चुराते हैं ताकि उनके कैरियर पर आच न आये। शिवप्रसाद सिह बगला देश की पीड़ा से उन्मथित हो उठते हैं और बाल्ट खिटमैन को गुस्सा भरा पत्र लिखते हैं। उन्हें साप्रदायिकता की समस्या परेशान करती है और वे इस पर लगातार सोचते रहते है। वे धर्म, सांप्रदायिकता, अध्यात्म और विज्ञान के अतर्विरोधो और अंत:सबधों पर बार-बार सोचते हैं।

वे अध्यात्म को धर्म से अलग करते हैं और धर्म के कर्मकांडी रूप से साप्रदायिकता का सबंध जोड़ते हैं। वे देश विभाजन से पहले के धार्मिक उन्माद और रक्तपात को भूल नहीं पाते। वे रामकृष्ण, विवेकानंद और अरविद की साखी देकर धर्म के इस रूप की भर्त्सना करते हैं और अध्यात्म की ओर इशारा करते हैं जो सभी धर्मों से ऊपर है और मानवता के हित से जुडा है। उन्हे कबीर, नानक, ख्वाजा निजामुद्दीन, खुसरो, तानसेन, बीरबल, ताज, चादबीबी और टीपू सुल्तान पर नाज है। वे हिंदू-मुसलिम एकता की पुरानी परपराओ की बार-बार याद दिलाते हैं और साप्रदायिक वैमनस्य के क्षणो में उनकी गुहार लगाते है। वे हिंदू-मुसलिम एकता को केवल पुराने दृष्टांतो के कोरे भावात्मक आधार पर ही नहीं बल्कि मौजूदा लोक जीवन मे जारी भाईचारे के व्यवहार की ठोस जमीन पर स्थापित करना चाहते हैं। "मैं बार-बार सोचता हूं, कबीर का भारतीयकरण किसने किया ? कव्वाली गायक हबीबुल्ला का भारतीयकरण किसन किया ? अब्दुल हमीद का भारतीयकरण किसने किया ? हजारों-हजार मुसलमान जो हिंदुओ के सुख-दुख में हंसते और राते हैं, शादी-ब्याह में न्यौते पर जाते है, दरवाजे पर बैठकर दुख-दर्द की बातें करते हैं, सुहाग की चूडियां बेचते हैं, शहनाई बजाते हैं, लहंगा और दूल्हे का कपड़ा सीते हैं—इनका भारतीयकरण किसने

किया है ?" इसे 'भारतीयकरण' का नारा लगानेवालों ने नहीं, भारतीय लोक जीवन के स्वाभाविक प्रवाह ने संपन्न किया। इसी लोक जीवन की राह पर चलकर सांप्रदायिक सद्भाव को बढ़ाया जा सकता है, भारत को एकताबद्ध और मजबूत किया जा सकता है, 'भारतीयकरण' के नारे पर चलकर नहीं। इसका दूसरा आधार है विज्ञान जो "बड़ी तेजी के साथ धर्म की अनावश्यक रूढ़ियों को तोड़कर भविष्यत् मानवता के नये तत्त्वों को गढता जा रहा है।" विज्ञान तर्क और प्रयोग पर आधारित है। विज्ञान का सत्यलोक जैसे-जैसे फैलेगा, धर्म का अंधविश्वास मूलक आधार वैसे-वैसे छिन्न-भिन्न होता जायेगा। शिवप्रसाद सिंह का ध्रुव विश्वास है कि "जैसे-जैसे विज्ञान का प्रभाव बढता जायेगा, जैसे-जैसे आदिम प्राकृतिक गुत्थियों का तर्कपूर्ण प्रामाणिक सामाधान उपस्थित होता जायेगा, विश्व के सभी धर्म सामूहिक कानून संहिता के स्थान पर व्यक्तिगत चीज होते जायेंगे और उनका रूप मात्र आध्यात्मिक निष्ठा के अलावा और कुछ नहीं रहेगा। यह प्रक्रिया जितनी ही तीव्र होगी, धार्मिक दंगे और टुच्चे सांप्रदायिक कलह उतने ही कमजोर दिखायी पडेंगे।"

उनकी दृष्टि में साप्रदायिक एकता का तीसरा आधार है—संगीत। "इस दिशा में मुसलमानों का योगदान हिंदुओं की अपेक्षा कहीं से भी कम नहीं है।" खुसरो, गोपाल नायक, बैजू, हरिदास, तानसेन की समवेत प्रतिभा ने जिस भारतीय संगीत का निर्माण किया वह "न हिंदू सगीत है न मुसलिम सगीत। वह शुद्ध हिंदुस्तानी संगीत है।" सगीत की ही तरह वह हिंदी प्रदेश की सामान्य साहित्य-परंपरा, हिंदुस्तानी साहित्य-परपरा के हामी हैं और इस मामले में हिंदी-उर्दू का झगडा उन्हें बेचैन करता है। हमारे समाज में "जकडबदी का समर्थन सफलता की कुजी है, मानवता की हिमायत कैरियर को कलकित करनेवाली चीज है।" लेकिन वे जकडबंदी का समर्थन नहीं करते और नाना धर्मों और नाना जातियों के बीच निहित 'मोहन मानवता' के आकर्षक रूप को खुली आंखों देखते और दिखलाते हैं।

उनके निबंधों की एक मुख्य विशेषता है—लोक जीवन से उनका गहरा लगाव। उनके लिए लोक जीवन अरविंद के 'दिव्य जीवन' से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। वे उसे रोज पोथी की तरह बांचते और गुनते हैं। वह ऐसा अक्षय स्रोत है जिससे वे निरंतर नयी ऊर्जा पाते हैं। कोई बिरहा की पक्ति उन्हें 'रसमादन' का सूत्र दे देती है जिसे पकडे हुए वे अथर्ववेद तक पहुंच जाते हैं। दीना चमार की लड़कियों का लोकगीत उन्हे 'सदियों की रेत के नीचे दबे' जाने किस समुद्र के अवशिष्ट जल की भांति यम-यमी-संवाद तक पहुचा देता है। चद्रमा से जुडे तमाम पौराणिक प्रतीकों के जाल में व्यस्त हो जाने पर भी वे नहीं भूलते कि उनके गांव के बाबू फेरू सिंह होली की रात के चंद्रमा को 'जालिम चांद' कहा करते थे। वे बडे उत्साह से दुर्गाकुंड पर वलीउल्लाह की कजली में ब्रह्मा-विष्णु-महेश से कबीर के शास्त्रार्थ की कहानी सुनते हैं। वे स्वयं खोजी पंडित और अध्येता हैं और कहानियां भी लिखते हैं; इस पर उन्हें

आश्चर्य नहीं होता क्योंकि स्वय जनता भी बहुआयामी सृजनशक्ति से भरपूर है, "सच मुझे उस समय बडा अचभा होता है जब निहाई पर लोहा पीटनेवाले घूरे मिस्त्री को हारमोनियम बजाते देखता हू। कुदाल की मार से बंजर पथरीली धरती तोड़नेवाले भीखम चाचा सतपुतिया के फूलो को यों सहलाते थे जैसे पालतू खरगोश के कान में से धूल झाड रहे हों। यदि मैं जगल की सख्त लकडियों को टंगे की चोट से छिलगाने वाले टीमल मुसहर से कहूं कि भले आदमी, आंख की बूदों को अपनी पथरीली उंगलियों से ऐसी मुलायमियत से क्यों झाड रहे हो तो वह क्या सोचेगा ?" वे खुद को भी 'मिरदगिया' कहलाने के बजाय 'खंजडी गायक' कहलाना पसंद करते हैं जो कंधे पर भिक्षा की झोली और सोटे में खजड़ी लटकाए एक गाव से दूसरे गांव को गीतों से गुंजाता चलता है। उन्हे राहुल और निराला का ग्रामीण व्यक्तित्व अच्छा लगता है, उन्हें हजारीप्रसाद द्विवेदी और त्रिलोचन गांव के खेतिहर किसान जैसे मालूम पडते हैं, गवईपने की ही वजह से शमशेर और नागार्जुन उन्हे अपने लगते हैं। उन्हें स्वाभिमानी भोजपुरी जनता पर, कबीर और धरमदास की, कुंवर सिह और रामावतार शर्मा की, राहुल और राही की, द्विवेदीजी और डॉ. अलीम की भोजपुरिया कल्चर पर गर्व है जिसमें "एक साथ क्रांतिबीज और जवामर्दी है तो ऊख का पियूख और लचकदार गीत गुंजार भी है।" वे अन्य ललित निबंधकारो की तरह लोक जीवन के ललित पक्ष में ही नहीं रमते, उसके दलित या गलित पक्ष से आंखे नहीं चुराते। वे अपनी जन्मभूमि जमानियां के नौजवानो की बेरोजगारी और पूर्वांचल की गरीबी देखकर बेचैन हो उठते हैं।

शिवप्रसाद सिंह के मन पर गाव के बाद सबसे गहरी छाप बनारस की है। यहीं वे किशोर से युवा और युवा से वानप्रस्थ हुए। यहीं उनकी विद्याभूमि और कर्मभूमि है। वे अपने शहर को बेहद चाहते है—उनके मृण्मय रूप को भी और चिन्मय रूप को भी। काशी उनके लिए इतिहास का प्रवाह है, वे 'महाकाल के अलबम में काशी' के इतिहास-चित्र देखते हैं, काशी के नखदर्पण में भारतीय इतिहास की चलती-फिरती छवि के दर्शन करते-कराते है। वे ऋग्वैदिक काशी और 'हिप्पियों के हैवन' बनारस को समान स्नेह से दुलारते हैं। मकर सक्रांति पर कर्फ्यू की दहशत में उन्हे लगता है कि 'बनारस खो गया है।' मारू देश की यात्रा करते हुए भी उन्हें बनारस नहीं भूलता। बनारस उनके निबधों में होली-रगोली, बोली-ठिठोली, फक्कड़पन, मौज-मस्ती, हास्य-व्यंग्य, चहक-बहक, स्फूर्ति और आनंद बनकर छा गया है।

उनका मन एक और क्षेत्र मे रमता है--वह है साहित्य के शलाका पुरुषों का जीवन। यो तो उन्होने शेक्सपियर और कामू पर भी लिखा है, हेमिग्वे और कामू का भी स्मरण किया है, चेखव, प्रास्तरनाक और शोलोखोव के रूसी मानस में भी डुबकियां लगायी हैं पर गहरे अपनाव से जिन पर लिखा है वे हैं— निराला, राहुल, हजारीप्रसाद द्विवेदी और त्रिलोचन। निराला उनके लिए श्रद्धेय हैं, पूज्य भी; उनका व्यक्तित्व 'आत्मविसर्जन की पुण्य गाथा' है। निराल। एक ऐसे प्रकाशस्तंभ हैं "जिसने विपत्ति

की काली से काली रात्रि में भी आलोक के लिए आत्मत्याग करने में कभी संकोच नहीं किया।" पर राहुल के प्रति उनके मन में श्रद्धा के साथ-साथ आत्मीय प्रेमभाव भी है। उनकी नजर में राहुल 'सैकडो गर्मी-बरसातें झेले हुए फिर भी उदग्र कंठ और उन्नत वक्ष' गांव का बूढा पीपल है—'अनगिनत पछी जिसकी सघन पत्तियों की छाया में नीड़ बसाए विश्राम लेते हैं।' राहुल का 'आच्छादक, उन्मुक्त अपनपौ से भरा ग्रामीण व्यक्तित्व' उन्हे आकर्षित करता है। "विशाल शरीर, भरा-पूरा चौड़ा-चकला सीना, वृषभस्कंध" राहुल की देह-गठन उन्हें बाधती है। पर इससे भी अधिक वे राहुल की स्वतंत्र अनुसंधानवृत्ति, घोर अध्यवसाय, विनम्रता, निश्छलता, रूढ़िमुक्त खुलापन, विशाल हृदयता आदि आंतरिक गुणो के कारण उनके आगे नतमस्तक हैं जैसे उनसे मन ही मन बहुत कुछ सीख रहे हों, प्रेरणा और प्रोत्साहन पा रहे हों। हजारीप्रसाद द्विवेदी उनके गुरु है, श्रद्धेय हैं पर उनके साथ कुछ ऐसा आत्मीय भाव है कि उन पर लिखते हुए वे कहीं दबते या झिझकते नहीं हैं, उनकी खूबियो को रेखांकित करते हैं तो उनसे असहमति भी जतलाते हैं, खीझते भी हैं। कुछ-कुछ परिचय, विश्वास, प्रीति और आदर का मिश्रित मनोभाव। वे राहुल की तरह द्विवेदीजी की भरी-पूरी बाह्य रूपरेखा अंकित नही करते, बस कुछ भास्वर चित्रांशों को उद्भासित कर देते हैं जैसे भाषण करते समय 'शिव के अकुठ नृत्य की मुद्रा में' स्टेज की रोशनी को हलकोरते दो हाथ, बोलते समय हाथो के साथ पैरो में भी कप, ठहाको की तडतडाहट। वे अपना ध्यान सबसे अधिक पडितजी की आतरिक विशेषताओ पर केंद्रित करते हैं। वे उनके भाषण और लेखन मे निहित 'अछोर भावोद्रेक और असीम आवेग' के साथ 'समाहार चेतना' के सयम को लक्षित करते हैं। संकट और सत्रास में भी उनका अडिग धीरज, संयम और किसी महत् उद्देश्य से चालित उनकी अदम्य जिजीविषा, आस्था और समर्पणशीलता को समझने और समझाने की कोशिश करते है। काशी हिंदू विश्वविद्यालय से निकाले जाने के बाद, विपत्तियों से घिरी नितांत प्रतिकूल परिस्थिति और मनोदशा में लिखे जाने के कारण 'कुटज' के विशेष महत्त्व और संदर्भ को उजागर करनेवाले शिवप्रसाद सिह पहले व्यक्ति हैं। उनकी दृष्टि में द्विवेदीजी एक किसान है "जो अपनी माटी की खूबियों और त्रुटियों दोनों को समझते हैं और उसे अपने अथक परिश्रम और अध्यवसाय से ऐसी भूमि में बदल देते हैं जिसमे हजारों वर्ष पुरानी भारतीय संस्कृति की खाद है, साधनाओं का उर्वरक है और नवीन से नवीन प्रकार के अधिक फल देनेवाले आधुनिक बीज हैं।" पंडितजी सृजनधर्मी हैं, ध्वंस की बात सोच भी नहीं सकते, अत्यंत अनभल ताकनेवाले का भी नुकसान नहीं कर सकते उनकी इस सर्वतोभद्र निरीहता पर कभी-कभी शिवप्रसादजी को पीड़ा और खीज भी होती है। सबसे अधिक खुलकर उन्होंने लिखा है त्रिलोचन पर। त्रिलोचन उनके अग्रज हैं पर मैत्री के सूत्र से बंधे हैं। सखाभाव के कारण त्रिलोचनवाले लेख में आत्मीयता, सहानुभूति, छोह, करुणा, कचोट, चुटकी, आलोचना, हास्य, रेखाकन, मूल्याकन, सस्मरण आदि विविध तत्त्वों का मिश्रित

रसायन घुला हुआ है। द्विवेदीजी की विनम्रता और आस्था उनका कवच है तो त्रिलोचन के ठहाके उनकी ढाल है, "त्रिलोचन के ठहाके जो किसी जमाने में कृत्रिम ढाल बनकर फूटे होंगे, कवच न रह कर उनकी खाल बनते गये।" शिवप्रसादजी त्रिलोचन की असाधारण विशिष्टताओं को आलोचनात्मक नजरिए से परखते हैं; कहीं विश्वासपूर्वक आदर करते हैं, कहीं उनका लुत्फ भी उठाते हैं। वे त्रिलोचन की अक्खडता के पीछे निहित कारणों को भी जाच करते हैं। त्रिलोचन उन्हें "साहित्यकार की अपेक्षा अपने काम से मतलब रखनेवाला स्वत तुष्ट खेतिहर लगते हैं। खेतिहर की आत्मीयता, अंतर्निहित विरक्ति और कर्मवाद और नियति की मौन और समझपूर्ण स्वीकृति तथा अपने मानस को निरंतर उर्वर बनाने और अनावश्यक हानिकर पौदों की सोहनी, उनके व्यक्तित्व का अग बन गयी है।"

शिवप्रसाद सिंह के कुछ शुरुआती निबंध कथा-शैली मे रचे गये हैं, जैसे—'जेहि मन पवन न सचरै', 'श्मशान', 'कामराज भंडासुर' आदि। इनमें जहां-तहां प्रसादीय नाट्यशैली की भी गहरी छाप है। आगे चलकर यही कथा-शैली उनकी ललित निबंध-रचना के ललित प्रवाह की अभिन्न तरंग बनकर अंतर्लीन हो गयी यानी कथा-शैली निबंध के पूरे विन्यास को नियंत्रित करने के बजाय उसका उपकारक घटक बन गयी। बाद के निबंधों में भी बीच-बीच में कथातत्त्व का समावेश है पर यहां कथा में नाटकीयता न होकर सहजता है, दूसरे वह निबंध के पूर्वापर प्रसंगों से घनिष्ठ रूप से संबद्ध रहती है। उनके निबधों मे कथा कहीं बौद्धिक एकरसता को भग करके नया रस पैदा करती है, कहीं हास्य की सृष्टि करती है, कहीं विवेच्य विषय को स्पष्ट करती है तो कहीं विवेचन से प्राप्त निष्कर्षों को पुष्ट। उनके कुछ निबंध पत्र शैली में हैं जैसे 'टेराकोटा का साक्ष्य' जिसमे राधा का भागवत के प्रणेता कवि के नाम मार्मिक निवेदन है, और 'तारा का पाप' जिसमें तारा ने मुनि वसिष्ठ को सबोधित अपने पत्र में स्थापित नैतिकता पर प्रश्न उठाया है। शिवप्रसादजी के डायरी शैली में लिखे हुए निबध भी बेहद दिलचस्प हैं। उनके निबंधों में शैलियों की विविधता तो है ही, यह विविधता निबंध-कला में निहित विविध प्रयोगों की संभावना को भी उजागर करती है।

भाषिक प्रयोग और शब्द-चयन के लिए वे वाणी का द्वार खुला रखते हैं लेकिन इस मामले मे वे 'सब धान बाईस पसेरी' वाली नीति नहीं अपनाते, बहुत सावधानी से शब्दों को चुनते हैं, नये शब्द गढते हैं—इत्मीनान से जैसे पान लगा रहे हों। उनके यहां सस्कृत की तत्सम मसृण परावली भी मिल जायेगी; खासकर दो-तीन शब्द उन्हें बहुत प्रिय हैं जैसे 'तिर्यक्', 'पिच्छल' और 'प्रीतिकर'। उनके यहां द्विवेदीजी की तरह 'अपदार्थ', 'कष्ट भरा व्यापार' और 'बध्या कर्म-परिपाटी' भी मिल जायेगी। संस्कृत के राजकोष के अलावा वे उर्दू के कारखाने से भी उम्दा चीजें छांट लेते हैं पर उन्होंने अपना असली खजाना जनपदीय भाषाओं की खान से तैयार किया है। कुछ उदाहरण

पेश हैं—अफाट मुर्दनी, नवचा, बहेतू, अनभल ताकना, बरा जाना, सुहाना, मड़िया मारना, बोह लेना, छिलगाना वगैरह। बोलियों के शब्द उनके यहां अजायबघर की चीजों की तरह अलग से दिखायी नहीं पड़ते, वे हिंदी वाक्य-प्रवाह में एकमेक होकर दौड़ते हैं। एक उदाहरण बतौर बानगी : "कभी वे सॉनेट के पथ पर दौड़े थे, फिर गज़लों का रेस मारा, आजकल जब से बार बढ़ाया है, बरवै लिखे जा रहे हैं। बरवै चुके, बरवा भी मुडाया दिया।" वे सूक्तियों के अभ्यस्त नहीं हैं पर कभी-कभी उनकी कलम से ऐसी ढली-ढलाई पंक्तियां निकल आती हैं, "दुख बांटने से आधा हो जाता है और सुख बांटने से दूना।" प्रायः भाषा उनका मूड देखकर चलती है। मौज-मस्ती के मूड में भाषा भी उछलती-कूदती, हंसती-ठठाती, बहती-बहाती चलती है; बौद्धिक विवेचन या चिंता की मनोदशा मे आवेश और तनाव के मारे तन जाती है।

जब वे काम का आध्यात्मिक और रहस्यवादी विवेचन करते हैं या आवेश में सबसे घृणा करने लगते है (जैसे 'बूढ़ा वसत और मैं' के अंत में; हालांकि यह अपवाद मात्र है) या प्रमाण के लिए ग्रथो के उद्धरण देने लगते हैं तो आप अपनी असहमति या अरुचि जाहिर कर सकते हैं लेकिन रचना के मूल रस और संदेश को नहीं छोड सकते। मानव जीवन मे प्रेम, सौदर्य और आनंद की प्रतिष्ठा, परंपरानिहित विकृतियों का निषेध और भारतीय सस्कृति के सकारात्मक पहलुओं का विकास, आधुनिक यथार्थदृष्टि और लोक जीवन के प्रति गहरा लगाव—यही उनकी निबंध रचना का प्राण है। उनकी कल्पलता आनद और विषाद के दो छोरों पर फैलती है। उनके निबधों की गति रोमान और यथार्थ, प्राचीनता और आधुनिकता के दो चरणों पर तुली हुई है। उनकी निबधकला में रसमादन की लोकचिंता व्याप्त है।

प्रवक्ता, हिंदी विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी

शिखरों का सेतु

• *डॉ. प्रभाकर माचवे*

'शिखरों का सेतु' पढकर बहुत दिनों के बाद ऐसा लगा कि एक अच्छी और संतोषजनक हिंदी गद्य कृति पढ़ने को मिली। कहना होगा कि इस ललित निबंध संग्रह के लेखक के पास एक उत्तम निबंध-लेखन के लिए आवश्यक सभी गुण हैं : विद्वता, फक्कड़पन, यायावरी वृत्ति, लोककथा-प्रेम, सूक्ष्म विचार-शक्ति और गद्यकाव्य-जैसी शैली।

विद्वता-गुण के लिए पुस्तक के आठवें निबंध 'तीन घेरे एक क्षितिज' का यह अश देखिए : "इस 'सिस्टर' शब्द की आज जो भी दुर्गति हो पर उसके मूल में विश्वव्यापी कल्याण की एक अनुपम अर्थवत्ता छिपी हुई है। आज 'सिस्टर' अंतर्वैयक्तिक मर्यादाहीन सेक्स का आवरण बन गया है। किंतु आवरण की शक्ति की क्या उसके पवित्र अर्थ की अभिव्यंजना नहीं करती ? आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि 'सिस्टर' शब्द संसार की सभी भाषाओं में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। पुरानी अंगरेजी में Sweoster, डच भाषा में Zuester, जर्मन मे Schwester, मध्यकालीन अंगरेजी में Suster, स्कैंडिनेवियन मे systir, स्वेडेन की भाषा मे systor, लैटिन में soror; और इन सबका मूल कहां है ? एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका देखिए तो मूल स्पष्ट हो जायेगा। मूल में है संस्कृत शब्द 'स्वसृ' जिसका अर्थ अमर सिह से पूछिए—'सुष्ठु अस्यति अस्यते वा। सौष्ठव। स्वस्ति।' अर्थात्, जिसके कारण कल्याण हो, सौष्ठव हो।"

फक्कडपन के गुण के लिए सग्रह का छठा निबध 'टेराकोटा का साक्ष्य' पृष्ठ 48 परिच्छेद दूसरा देखे : "नृत्य आरभ हुआ, कलाइयो के कगन, पैरों के पायजेब और करधनी के छोटे-छोटे घुघरुओं की समवेत ध्वनि से दिशाए गूंज उठीं। यमुना की रमण-रेती के बीच गौरागनाओं से वलयित श्याम ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो पीली-पीली दमकती हुई सुवर्णमणियों के बीच नील मणि अपनी पूर्ण प्रभा में उद्दीप्त हो रहा हो , पैरों का लोल नर्तन, रेशमी दुपट्टों का तीव्र आघूर्णन, भौंहों को सस्मित वकिम विलास, आंचल का अनायास स्खलन, कान के कुंडलों का इंद्रधनुषी वितान, स्तन-मंडन की अनुपम थिरकन। श्रम से पसीने की बूंदें ललाट पर छलछला उठीं, कवरी शिथिल हो गयी, नीवी की गाठें खुल गयीं। अपरिमेय गति से नाचते हुए कृष्ण

के शरीर से सटी गोपियां ऐसी लगतीं कि काजल-काले बादलों में पिंगल विद्युत् की लहरें मचल रही हों, किसी की कवरी से गुंथे फूल बिखरकर पृथ्वी पर आ गये, श्वास की गरमी से किसी के वक्ष पर लगा चंदन का लेप सूख गया !"

यायावरी वृत्ति के लिए इसी प्रकार बारहवां निबंध 'लाल इमारतों का नगर' पृष्ठ 104 : "चौड़ा रास्ता। जी हां, यह जयपुर का मशहूर चौराहा है। यहां नदी की विशाल धारा की तरह चौड़ी-चौड़ी चार सड़कें मिलती हैं, बीच में एक बहुत बड़ा दूबों से ढंका हुआ चबूतरा है जो चारों सड़कों को अपनी-अपनी सीमाओं में बांधता है। मिलन को नियमित बनानेवाले इस टापूनुमा चबूतरे पर अजीबोगरीब किस्म के लोग जमे हुए दिखायी पड़ते हैं। एक तरफ फूलहाट, जहां छोटी-बड़ी बीसियों टोकरियों में कई तरह के फूलों की मालाएं सजाये फूल-विक्रेता—आदमी कम, औरतें ज्यादा : गंदी कुछ काली-काली मालिनें, गाढे रंगों में रंगी ओढ़नियों और छींट के लहंगों में लिपटीं। गेंदे के फूलों की टोकरियां ज्यादा थीं। पीले-लाल रंग के गेंदे के फूलों की मीठी गंध की इस चहारदीवारी की बगल में हजामत बनाने के लिए बैठे नाइयों की लंबी कतार, बालों को आकार देती कैंचियों की चमक, खल्वाट सिर पर मौजों में फिसलते छूरे की रंगत देखते आगे बढिए तो हथेलियों, अंगूठे आदि के छापों के काले-भूरे नक्शे फैलाए और गणित करने के लिए छोटी-सी स्लेट और पेंसिल लिये मोटे थुलथुल ज्योतिषीजी, जो हाथ की रेखाओं से ज्यादा आंख की रेखाएं पढ़ने के अभ्यस्त मालूम होते थे। उनकी नज़र पुष्प गंध की डोर पकडकर पिच्छल रास्ते में दौड़ ही जाती थी, ज्योतिषीजी की बगल में नानक और अन्य सिक्ख धर्म-गुरुओं के चित्र बेचते सरदारजी, बगल में एक झुड गन्नेवालियां, पैसे के भाव गन्ने लुटाने को आतुर, झगड़ती और चिल्लाती हुईं। पास में खाली जगह देखकर बैठे हुए थके-थकाये कुछ लोग, संभवतः अदालती काम से आये हुए हैं ये ग्रामीण, जो अपने खाने की गठरी खोलकर निर्द्वंद्व भाव से पेट-पूजा में मग्न ।..."

लोक-कथा की ओर प्रेम के उदाहरण में संग्रह के पांचवें निबंध 'पशु-प्रेम मानुष द्वारे' का पृष्ठ 43-44 देखें : "1954 के 'चीनी-साहित्य' के दूसरे अंक में कई कहानियो के अंगरेजी अनुवाद दिये हुए हैं। 'जेन की प्रेम-गाथा' इनमें सर्वोत्तम कहानी है जिसमें एक पशु-परी फॉक्स फेअरी के प्रेमोत्सर्ग की मार्मिक घटना का वर्णन है। जेन ने चेंग नामक व्यक्ति से प्रेम किया जो न तो बुद्धिमान था, न रूपवान। जेन के रूप से आकृष्ट होकर जाने कितने सामंत-पुत्रों ने उसे अपनाना चाहा, पर वह तैयार न हुई। चेंग के संबंधी और संरक्षक वाइने बलपूर्वक जेन को अपनी बनाना चाहा। जेन बेहोश होकर गिर पड़ी। उसने कहा, 'आप धनी हैं, सुंदर हैं, समाज में आपका आदर है। चेंग गरीब है, मैं ही उसका सहारा हूं। आप क्यों हमारे इस छोटे-से घर को उजाड़ना चाहते हैं ? वह आपका दिया खाता है, पहनता है, इसी से शायद आप ऐसा करने का साहस करते हैं। काश, चेंग अपने पैरों पर खड़ा हो पाता !' कालांतर में वाइ-जैसे कुत्तों ने उसे जान से मार डाला, परंतु पशु-परी जेन ने अपने प्रेम को

कभी कलंकित न होने दिया। उसने चेग को जीने की शक्ति दी, अपने पैरों पर खड़ा होने का बल दिया, परावलविता से छुटकारा दिलाया। वह पशु थी, पर उन सैकड़ों मानवियो से अच्छी थी जो धन-रूप से आसक्त होकर अपने को तथा अपने प्रेम को बेच देती हैं।"

सूक्ष्म विचार-शक्ति को उपयुक्त उद्धरणों से सजाने की कला देखे दूसरे निबंध 'दक्षिणेश्वर ने कहा' पृष्ठ 21 पर · "1930 में बर्लिन की वह संध्या किसे भूलेगी जब विश्व-वैज्ञानिक आइंसटीन ने विश्व कवि रवि ठाकुर से पूछा, 'कवि, क्या मानव सृष्टि के लय हो जाने के बाद प्राकृतिक नियम भी नष्ट हो जायेंगे ? जैसे, क्या यह सत्य कि त्रिभुज के तीनों कोणो का योग दो समकोण के बराबर है, व्यर्थ हो जायेगा ?' मानवतावादी कवि ने कहा, 'हा, क्योंकि ये नियम मानवबुद्धि के किसी-न-किसी स्तर की उपलब्धि है, फिर मानवबुद्धि के विलय के बाद इनका अर्थ ही क्या रहेगा ?' वैज्ञानिक चुप हो गया। रुककर बोला, 'यद्यपि आप भारत से आ रहे है, तथापि मैं आपसे कहीं अधिक आस्तिक हू।' "

गद्य काव्य-जैसी शैली का एक उदाहरण सग्रह के चौथे निबध 'देवी मेरी प्राण-वल्लभा', पृष्ठ 34 से लें · "तुम मुझे पागल क्यों नहीं कर देती ? मेरी सारी चेतना का अपहरण क्यों नहीं कर लेती ? मै तुम्हे कहा ढूंढूं ? क्यों ढूंढू ? क्यों एक छलना को सत्य मानकर पागल हिरण-सा वन-वन दौडता फिरू ? उठते-बैठते तुम्हारी वे कजरारी आखे मेरे मन को हजारो बाणों से घायल कर देती है। आंखें छितनारी, बरौनियों में चमकती आंखें, जैसे हजारों-हजार धाराओं मे निरंतर बरसती हैं। ऊदी-ऊदी आखें, श्वेत रतनारी आंखें-जाने कहा का रहस्य भरा है तुम्हारी उन आंखों में। वर्षा की काली रात मे हजारो-हजार आखें मेरे चारों ओर नाचती हैं। स्नेह, ममता, प्यार, क्रोध, विरक्ति से भरी आखें...!"

शिवप्रसाद ने यह पुस्तक डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी को निम्न अपभ्रश मे रचित पद्य से अर्पित की है

ललिअ णिबन्धह खेत्ति महँ, कल्पलता विथ्थार किय
कब्ब छइल मण भम्मडहि, जिण असोय कहँ फूल दिय
तिहि गुरुवरहिं दुवेइ कहुँ, णेह णमिय भावेन
कुटय थवक्क समप्पियउ, सिह सिउ पस्सावेन

हजारीप्रसादजी की शैली का उन पर खासा असर है। पर एक बात में यह उनसे भिन्न हैं। हजारीप्रसादजी में परंपरा-मोह है, वे स्पष्टत· प्राचीन और नवीन में नवीन का रास्ता नही चुन सकते। उनकी विमोहकता इसी में है कि वे निरंतर अध-बीच में, मज्झिम निकाय में रहते हैं, वे अनिश्चय की स्थिति को ही सत्य मानते हैं। शिवप्रसाद ने अपने निबध संग्रह के अंतिम अंश में अपनी विचार-दिशा बिल्कुल साफ-साफ सामने

रखी है।

हिंदी वैयक्तिक निबंध को जिन कुछ नये कुशल शैलीकारों ने आगे बढ़ाने की दिशा में योग दिया है—यानी जो उसे सियारामशरण, हजारीप्रसाद, बेनीपुरी, महादेवी से आगे ले चले—उनमे हैं विद्यानिवास मिश्र, कुट्टिचातन और शिवप्रसाद सिंह। बात कहते-कहते, हल्के से हल्के स्तर से, परिहास-व्यंग्य-विनोद के सहारे, चाटूक्ति के सहारे, एकदम गभीर दर्शन तक बात को ले जाना, पाठको को पूरे आत्मविश्वास में लेकर कहीं भी उन्हें ऐसा न लगने देना कि वे जानकारी से उबाये जा रहे हैं या अनिबंध चिंतन में भटक रहे हैं-यह शिवप्रसाद की खास शैली है। शिवप्रसाद चिंतन के युग-संधि-स्थल पर खडे हैं। वे मार्क्सवाद की आर्थिक मजबूरियो से परिचित हैं, वे अस्तित्ववाद की गहन निराशा-भरी 'नो एग्झिट्' वाली विवशता से भी परिचित हैं—वे सीमाओं को जानकर उनके आर-पार देखना चाहते हैं। शब्दों की माला पिरोने में वे अटक नहीं गये हैं। वे सचेतन रूप से अचेतन में अवगाहन करते हैं। यही उनकी 'आधुनिकता' है।

'आशाबध' शीर्षक से पुस्तक की भूमिका मे शैली के बारे में वे कहते हैं : "शिल्प की बात आयी इसलिए कुछ शब्द इन रचनाओं के शिल्प पर भी निवेदित हैं। अध्यापकीय आलोचना के दावेदार मेरे सहकर्मी अवश्य ही असतुष्ट होंगे कि इनमें कहानी, गद्य काव्य, स्केच, व्यक्ति-व्यजक निबंध, सस्मरण तथा यात्रा-वर्णनों में से किसी की भी तयशुदा पद्धति का कडाई से पालन नहीं किया गया है। यही नहीं, इनमे कहीं कथोपकथन है, कही आतरिक एकालाप (इंटीरियर मोनोलोग), कहीं सुसुप्त चेतना-प्रवाह (स्टीम ऑव कॉन्शस्नेस), कहीं स्मृति पुनरावर्तन (मेमॅरी फ़्लैशबैक), तो कहीं सांस्कृतिक संदर्भगूढ़ता और कहीं ऐतिहासिक अंतर्बधता (हिस्टॉरिकल इंटरलॉकिड्), कहीं नाटकीय पद्धति का अनुसरण है तो कहीं मुक्त रंगमंचीय विधान। आखिर यह सब क्या है ? यह मेरी विवशता है। लाचारी है कि मैं शैली को शरीर का चमडा अथवा कोट कुछ भी नहीं मान पाता। शायद शॉपेनहॉअर का यह कथन मेरी शैली के आदर्श का सकेत है कि 'शैली और कुछ नहीं, मन-बुद्धि अथवा सूक्ष्म मस्तिष्क की विचार-भावनाओ की बाह्य रूपाकृति मात्र है।' और मेरे निकट उसकी साधना व्यक्तित्व का विलयन है, एक आध्यात्मिक प्रक्रिया।"

मैं शिवप्रसाद सिंह को हिंदी का एक बहुत बडा आशा-प्रकाश स्तभ मानता हूं। वे अपने कथ्य के प्रति प्रामाणिक हैं, उनमें लघु-मानववाली कोई कुंठा नहीं, प्रगतिवादियों की जिघांसु प्रदर्शन-प्रियता नहीं। उनमें सहज चिंतक और कवि-कथाकार के बड़े मधुर एवं सुदृढ़ दर्शन होते हैं। 'जहँ मन-पवन न संचरहिं' शीर्षक निबंध उनके इस संग्रह का मेरा सबसे प्रिय अंश है।

शाबाश ! डॉ शिवप्रसाद सिंह—और लिखो ।

(ज्ञानपीठ पत्रिका : अप्रैल 1993 से साभार)

शिखरों का सेतु

• डॉ. कमलेश

लेखक ने प्रारंभ में ही 'आशाबंध' शीर्षक से अपने प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि 'विषय की दृष्टि से और कथ्य की परिधि को देखते हुए ये रचनाएं चार वृत्तों में उपस्थित की गयी हैं; ये वृत्त परस्पर स्वतंत्र हैं किंतु ये एक-दूसरे को सहज रूप से काटते हुए भी दिखायी पडेगे, और यह अच्छा ही है क्योंकि तभी अनेक कटाओं और अल्पनाओं का जन्म होता है।" यह कथन सर्वथा सत्य है।

प्रथम वृत्त 'अतीत के तोरण' में जो नौ रचनाएं संकलित हैं, उनम भारतीय सस्कृति के कई शिखरो को अपनी मोहक शैली के द्वारा प्रकाशित करने का प्रयत्न किया गया है। इन निबंधों की शैली वह है जिसका प्रचलन हिंदी में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तिगत निबंधों के बाद हुआ है। किसी भी प्राचीन विषय को लंबी-चौड़ी भूमिका बिना सहज ही प्रारभ कर देना और फिर उस पर उपलब्ध समस्त जानकारी के सूत्रों को एक स्थान पर ऐसे एकत्र करके रख देना कि प्राचीन-से-प्राचीन विषय भी नूतन युग के साथ घनिष्ठता के साथ जुडा रहे, इस शैली की विशेषता है। इस प्रयत्न में नये-नये तथ्य-रत्न अनायास हाथ लगते चलते हैं। लेकिन आवश्यकता गहन अध्ययन और चिंतन-मनन की होती है, इसके अभाव में प्राचीन और नूतन का तारतम्य जोडना असंभव होता है।

प्रस्तुत कृति के लेखक में अध्ययन की वह गरिमा यथार्थ में है जो ऐसे निबधों के लिए अपेक्षित है। फिर भी, इस वृत्त की कुछ रचनाओं—जैसे 'दक्षिणेश्वर ने कहा'—में देवी-पूजा के संबंध में, 'देवी मेरी प्राणवल्लभा' में तांत्रिक साधना के निमित्त नारी के उपयोग में, और 'चार चरण' में कृष्ण के जीवन में प्राण, मन, बुद्धि और प्रज्ञा के चार स्तरों की कल्पना और उनमें उत्तरोत्तर काम-शक्ति की ऊर्ध्वमुखी यात्रा के प्रतीकात्मक विश्लेषण में उनकी जो शक्ति प्रकट हुई है, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वास्तव में इन निबंधों से हमे यह पता चलता है कि भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक और दार्शनिक क्षेत्र के नाना पूजोपचार 'आउट ऑव डेट' कहकर उडा देने की वस्तु नहीं, उनको उनके वास्तविक रूप में समझकर उनसे युगानुकूल प्रेरणा लेने की आवश्यकता है। लेखक एक सफल कथाकार है, अतः उसने डायरी और पत्र, संवाद

और स्वगत चिंतन आदि की शैली अपनाकर इन गंभीर और शुष्क विषयों को सरस बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। इनमें भी पत्र रूप में लिखे निबंध 'तारा का पाप' और 'टेराकोटा का साक्ष्य' मन पर अमर छाप छोड़ते हैं। नारी की विवशता का चित्रण इनमें अद्‌भुत ढंग से हुआ है।

द्वितीय वृत्त 'अबोले बोले' में चार निबंध हैं, 'महाकाल के अल्बम में काशी' 'श्मशान', 'लाल इमारतों का नगर' और 'मारुदेश की जादुई झील'। उनमें पहला काशी की समग्र ऐतिहासिकता को लिये हुए है, दूसरे में श्मशान के मानवीकरण द्वारा आधुनिक जीवन के पाखंड पर प्रहार हुआ है, और शेष दो में जयपुर और सांभर झील की यात्राओ का वर्णन है। लेखक की दृष्टि यहां भी इतिहास की गहराई को लिये हुए है। यात्रा-वर्णन का भी उसका अपना ढंग है। दृश्य-चित्रण अथवा स्थान-वर्णन की बारीकी के साथ इतिहास का पुट उनका सबसे बड़ा आकर्षण है।

'पुष्प के अभाव मे' तीसरा वृत्त है जिसमें निराला, चेखव, पास्तरनाक, अल्बे'।र, कामू और हेमिंग्वे के साहित्य का मूल्यांकन है; और चौथे वृत्त 'निबंध चिंतन' में सामयिक समस्याओ पर विचार। इनमें पहले में जिन लेखकों पर उसने लिखा है उनके प्रति उसकी श्रद्धा और सहानुभूति से ही प्रकट होता है कि वह उनकी संघर्षप्रियता से अत्यधिक प्रभावित हुआ है। 'निबंध चिंतन' वृत्त में, 'भूदान और साहित्यकार' तथा 'शंकापुत्र बनाम अनास्था के बेटे' महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं । इनमें से पहली में विनोबा की सेवा भावना को जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण बताया गया है और दूसरी में अपने व्यक्तित्व के प्रति अटूट विश्वास को आस्था का नाम दिया गया है।

इस प्रकार देखें तो, प्रस्तुत कृति में लेखक के अपने चिंतन-मनन के कई रूप और प्रकार सामने आये है लेकिन एक तारतम्य उन सबमें है। इस तारतम्य को एक शब्द में रखे तो उसे 'उदारदृष्टि' कह सकते हैं। इसी उदारदृष्टि को केंद्र बनाकर उसने नये-पुराने विषयों को अपनी शैली मे प्रस्तुत किया है। इस शैली में कहीं-कहीं नहीं, लगभग सर्वत्र ही उसकी मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। अनास्था पर उसका मत है कोई व्यक्ति समाज में आस्था नहीं रखता, पुरानी परंपराओं में आस्था नहीं रखता, ईश्वर और ईश्वरीय विधान मे आस्था नहीं रखता, न सही। इतने मात्र से उसे अनास्थावान् कहना उचित नहीं।... अनास्था उसे कहेंगे जब अपने में भी आस्था न रहे।" अंतिम निबध में लेखक ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए अपने को 'वाद-विनिर्मुक्त मनुष्य की आत्मा के अपूर्व सौंदर्य का चितेरा' कहा है, जिसे हम उसके इन निबधों का केंद्रबिंदु मान सकते हैं। कदाचित् इसीलिए उसने केंद्रित ज्ञान-विज्ञान और भाव-अनुभाव की बहुरंगी, अनेक दिगतव्यापी अनत शक्तियों की थाह लेना साहित्यकार का परम धर्म बताया है और पुरातनवाद को वैज्ञानिक आधुनिकतावाद की सज्ञा दी है। कहना न होगा कि उसकी यह धारणा ही साहित्य के लिए और साहित्य का लक्ष्य मनुष्य के लिए भी श्रेयस्कर है।

(ज्ञानपीठ पत्रिका, अप्रैल 1983 से साभार)

'मानसी गंगा' को अवगाहन

• *बाल शौरि रेड्डी*

आधुनिक उपन्यासकारों मे डॉ शिवप्रसाद सिह एक ऐसे सशक्त हस्ताक्षर हैं जिन्होने गत तीन दशकों से न केवल हिदी साहित्य की उपन्यास विधा को समृद्ध किया अपितु अपना एक अलग रास्ता ही बना लिया। शिवप्रसादजी देहात से जुडे हुए है। प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारो मे शिवप्रसादजी का नाम आदर के साथ लिया जाता है। ग्रामीण जीवन का उन्हें ऐसा गहरा अनुभव है, और ग्रामीण जीवन से जुडे रहने के कारण उनके पात्र भी सजीव से लगते है। ऐसा मालूम होता है कि प्रेमचद के पश्चात् बहुत कम उपन्यासकार ऐसे हुए हैं जो ग्रामीण जीवन से हटकर अपनी रचनाए हिदी साहित्य को देते रहे, लेकिन कुछ समीक्षको का कहना है कि शिवप्रसादजी ग्रामीण जीवन का चित्रण तो करते रहे लेकिन प्रेमचद की भांति वैसा ग्रामीण जीवन का पूर्ण चित्र प्रस्तुत नही कर पाये।

प्रेमचंदजी का समय ही, लेकिन, कुछ अलग था। साथ ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी कुछ भिन्न हो सकता है। शिवप्रसादजी ने अपने ढग से अनुभव किया –जो देखा--जो सुना--उसका उन्होंने अपनी रचनाओ मे चित्रण किया। प्रेमचद के समय मे जो गावों की स्थिति थी, आज के समय मे बहुत ही भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। वह इसलिए भी कि स्वतत्रता के पूर्व हमारे देश मे गुलामी तथा जो बधुआ प्रथा थी, या यों कहिए कि जमीदारी प्रथा थी, उसके कारण ग्रामीण जीवन इतना कुठित था। परंतु स्वाधीनता के उपरात ग्रामीण जनता का भी मनोबल बढ़ गया। परिणामस्वरूप आज वे हमारे सामने स्वतंत्र नागरिक के रूप में उपस्थित है। ऐसी स्थिति मे कथ्य और शिल्प में भी भिन्नता का होना स्वाभाविक है।

वैसे शिवप्रसादजी के अब तक पांच उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। समीक्षको ने उनको चोटी के उपन्यासकारो में माना है। इसके अतिरिक्त वे एक ललित निबंधकार के रूप मे हिंदी में अपना अलग स्थान बनाये हुए हैं। डॉ शिवप्रसादजी का पहला निबध संग्रह 'शिखरो का सेतु' जब प्रकाशित हुआ तभी पाठको और समीक्षकों ने उनकी प्रतिभा का मूल्यांकन किया। हिंदी के मूर्धन्य निबधकारो में से अनेक विद्वानो ने उनकी

प्रशसा की। यहां तक कि डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने न केवल प्रशंसा की, अपितु उनके पूरे आशीर्वाद भी उनको प्राप्त हुए थे। डॉ. प्रभाकर माचवेजी ने इसकी समीक्षा लिखते हुए जो वाक्य कहे हैं, वह यहां पर स्मरणीय हैं। माचवेजी संतुलित समालोचक माने जाते हैं, उन्होंने अपनी समीक्षा में एक जगह पर बताया है—मैं शिवप्रसाद सिंह को हिंदी का एक बहुत बड़ा आशा-प्रकाश स्तंभ मानता हूं। वे अपने कथ्य में प्रामाणिक हैं, उनमें लघु मानववाली कोई कुंठा नहीं है, प्रगतिवादियों की जिघांसु प्रदर्शनकारिता भी नहीं है। इससे हमको विदित होता है कि ललित निबंध लेखन में शिवप्रसाद सिंह ने अपना एक अलग स्थान बनाया है। आज हिंदी के जो कतिपय ललित निबंधकार हैं, जिनमें विद्यानिवास मिश्रजी हैं, और उस कोटि में शिवप्रसाद सिंह भी अत्यत आदर एव श्रद्धा के साथ उल्लेखनीय हैं।

'मानसी गंगा' नाम से प्रकाशित उनके सपूर्ण निबंधों के प्रथम खंड में लगभग तेंतीस निबंध हैं जिनमें उन्होंने विभिन्न विषयों पर कलम चलायी है। खासकर उनके कुछ निबध डायरी शैली मे लिखे गये हैं। उदाहरण के लिए जैसे 'काशी के संबंध मे', 'तारा का पाप', 'बूढा वसंत और मैं'—जैसे जो निबंध हैं, उन्हें पढ़ते हुए हमें ऐसा लगता है कि लेखक का जीवन और जगत् के साथ गहरा अनुभव है। उनका उन्होंने अत्यंत सूक्ष्मता के साथ स्थिति और अवसरों का ऐसा अनुशीलन किया है, जिसका निचोड उनके निबधो में देखने को मिलता है।

वर्तमान समय मे जितने भी निबधकार—शैलीकार—हैं, उनमें डॉ. शिवप्रसादजी का नाम भी आदर के साथ लिया जा सकता है। निबध-लेखन के लिए दो-तीन शर्तें अत्यत आवश्यक मानी जाती है। एक तो भाषा पर लेखक का असाधारण अधिकार होना चाहिए, और दूसरी बात कथ्य का उन्हे ऐसा प्रामाणिक अनुभव होना चाहिए, विषय का ज्ञान पूर्ण होना चाहिए। इसके पश्चात् प्रस्तुतीकरण में भी अपनी अलग ऐसी शैली हो, जो पाठक को अपने साथ उसकी उंगली पकडकर ले जाने की क्षमता रखती हो। ये तीनो गुण शिवप्रसादजी में भरपूर विद्यमान हैं। उनके ललित निबंधों के सग्रह खडों मे प्रकाशित हो रहे है। ऐसा लगता है कि वर्तमान निबंधकारों में शिवप्रसादजी ऐसे हस्ताक्षर है कि भविष्य में इनके निबंध भी हिंदी के लिए गौरवशाली होगे। रामचद्र शुक्ल की परपरा में शिवप्रसादजी का नाम भी लिया जा सकता है। रामचद्र शुक्ल ने जिस परपरा को शुरू किया, महावी"प्रसाद द्विवेदीजी के पश्चात् वे ऐसे हस्ताक्षर है, जिन पर सारा साहित्य जगत् गर्व कर सकता है। इस परंपरा मे प. हजारीप्रसाद द्विवेदी, शिवपूजन सहाय, विद्यानिवासजी जैसे मर्मज्ञ और मूर्धन्य निबंधकार हुए हैं, और उस धारा को पुष्ट बनाने में डॉ. शिवप्रसाद सिंह जी अपनी रचनाओ के द्वारा सक्रिय योगदान दे रहे हैं। इसलिए निबंधकारों में उनका नाम अजर और अमर रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

शिवप्रसादजी ने अपने निबंधो के लिए कुछ ऐसे कथ्य लिये हैं, जिन पर उन्होंने

गहनतापूर्वक विचार किया और हमारे सामने सचमुच विचारणीय चिंतन सामग्री रखी। उदाहरण के लिए यदि हम 'मानसी गंगा' के एक-दो निबंधों के कथ्य पर विचार करें तो पता चलेगा कि उनका चिंतन कितना गहरा है तथा उनका सोच किस दिशा की ओर अग्रसर है। 'मंडन मिश्र की डायरी' के माध्यम से उन्होंने मंडन मिश्र और शंकराचार्य के बीच हुए संवाद या शास्त्रार्थ का चित्रण करते हुए अंत में मिश्र की पत्नी के कथन और तर्क का इतना भव्य चित्र हमारे सामने रखा है कि उससे बहती रसधारा के कारण हम ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे हम किसी ललित निबंध का नहीं, बल्कि कहानी का अध्ययन कर रहे हैं। इस तर्क-प्रसंग में हर पंक्ति से उनकी विद्वत्ता प्रतिबिंबित होती है। 'तारा का पाप' नामक निबंध में उन्होंने आदिकाल से आज तक नारी पर लगाये जानेवाले लांछनों तथा किये जानेवाले अत्याचारों पर गहराई से विचार करते हुए सिद्ध किया है कि तारा ने जो पाप किया, उसके पीछे परिस्थितियो और परिसरों का भी प्रभाव है। उन्होंने कहा है कि इसे तो पापिनी कहा जाता है लेकिन अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जो इससे पूर्व भी इस पतन के गर्त में गिर गये थे। देवगुरु वृहस्पति की पत्नी और शशाक के बीच प्रणय—अगम्या गमन—की व्याख्या करते हुए तारा गौतम की पत्नी अहल्या तथा देवलोक में रंभा, उर्वशी, मेनका, तिलोत्तमा आदि अप्सराओं द्वारा अनेक ऋषियों के चरित्र को भ्रष्ट करने के पीछे देवराज इंद्र के षड्यंत्रों का उल्लेख करती है। ऐसी स्थिति में यह तर्क उपस्थित करती है कि समाज में नारी के प्रति कोई आदर की भावना नहीं है। शिवप्रसादजी ने इस प्रकार समाज मे पीडित, दलित—चाहे नारी हो, चाहे पुरुष वर्ग हो—की स्थिति पर गहराई के साथ चितन-मनन किया है और उनकी वकालत करते हुए यह बताया है कि आज के सदर्भ में यदि हम सामाजिक नियमो को कसौटी बनाकर देखते हैं तो हमे ऐसा प्रतीत होता है कि जो लांछित, दलित, पीड़ित, प्रताडित और प्रवंचित वर्ग के साथ इतिहास में अन्याय हुआ है तथा इसका शमन करके भविष्य मे इसकी पुनरावृत्ति से बचा जा सकता है।

इसी भाति उन्होने काशी के संबंध मे भी विचार किया है। एक समय था कि गंगा का जल पवित्र माना जाता था। गगाजी में नहाना पुण्य माना जाता था। लेकिन आज गगाजल अत्यंत प्रदूषित हो गया है। इसी संदर्भ मे लेखक का कहना है कि मैं पाठको को ऐसे प्रदूषण से बचाना चाहता हूं जिसको हम लोग मानसिक प्रदूषण कह सकते हैं। बौद्धिक दृष्टि से मनुष्य इतना पतित हो गया है, मस्तिष्क इतना कलुषित हो गया है कि इस कलक को मिटाने के लिए मानसिक गंगा की आवश्यकता है। ऐसे निबधों के माध्यम से सामाजिक मन के प्रदूषण को दूर करने का प्रयास निबधकार ने करना चाहा है—यह स्वागत योग्य है।

सफल लेखक अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठको के हृदय या मस्तिष्क का परिष्कार कर सकता है और उसको निर्मल बना सकता है, साथ ही उनमें ऐसी प्रेरणा भर सकता है जिससे वे योग्य नागरिक बन सकते हैं और उत्तम मानव बनकर भविष्य

में वे देवता की श्रेणी में जा सकते हैं। आज यह आरोप लगाया जाता है कि समकालीन निबंधों के पीछे वस्तु में उतना बल नहीं है और ऊपरी तौर से सरसरी निगाह से सतही अनुभवो को ही लेखकगण निबंधों में व्यक्त करते हैं। लेकिन साथ ही शिवप्रसाद सिंह जैसे सशक्त निबंधकार भी हैं जिन्होंने शैली की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से, विषय और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से ऐसे सशक्त निबंधों को प्रणयन किया है, जो हिंदी साहित्य की इस विधा को संपन्न बनाने के साथ अधिक गहन और व्यापक बनाने में सक्षम हैं। अत: हम आशा रखेंगे कि भविष्य में भी डॉ. शिवप्रसाद सिंह इसी प्रकार अपने निबंधों से इस विधा को अधिक परिपुष्ट बनायेंगे जिससे कि हिंदी भी अपने ऐसे लेखकों के कारण गर्व का अनुभव कर सके और साथ ही विश्व साहित्य में हिंदी का निबंध साहित्य भी छाती फुलाकर खडा हो सके।

एक और बात कि डॉ. शिवप्रसाद का अध्ययन इतना गहरा है कि कभी-कभी वे इतनी गहराई में चले जाते है कि वहां साहित्य की सीमा को पार करके दर्शन की सीमा में पहुंच जाते हैं। दूसरे इनकी भाषा सर्वत्र विषय के अनुरूप है–इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती। साथ ही, अनुभव संसार उनका इतना प्रशस्त है कि वे इतिहास, पुराण, उपनिषद् आदि से उद्धरण देकर उसे प्रामाणिकता प्रदान करते हैं।

हमारे यहां एक डॉ. सुरवरम प्रताप रेड्डी हुए है जिन्होंने 'आन्धुल सांहिक चरित्र' अर्थात् 'आंध्र का सामाजिक इतिहास' लिखा है। इस ग्रंथ का अनुवाद हिंदी में भी हुआ है और साहित्य अकादमी, दिल्ली से प्रकाशित है। उन्होंने अनेक निबंध लिखे हैं, जैसे उदाहरण के लिए हमारे पर्व त्यौहारों पर उन्होंने अच्छे निबंध लिखे हैं। इनके अतिरिक्त दूरराम रेड्डी, सी आर रेड्डी ने बहुत सशक्त निबंध लिखे हैं। इसी प्रकार सामाजिक निबध लिखनेवालो में बल्लमपलि सोमचक्र शर्मा आदि हुए हैं तथा विज्ञान संबंधी विषयों पर भी तेलगू के निबधकार खूब लिख रहे हैं। ऐसे निबंधकारों की तुलना में हिंदी के ललित निबधकारो मे डॉ. शिवप्रसाद सिंह का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। प्रत्येक भाषा मे ऐसे सशक्त हस्ताक्षर होते है, जिनका हम ससम्मान स्मरण करते है –इतिहास बनानेवाले ऐसे हस्ताक्षरो मे डॉ. शिवप्रसाद सिंह सम्मिलित हैं।

मानव-चेतना के ऊर्ध्व स्तरों का साक्षात्कार

• *रामचंद्र तिवारी*

शिवप्रसाद सिह हिंदी के कृती रचनाकार हैं। आपने गद्य-साहित्य की कई विधाओ को अपनी रचनात्मक ऊर्जा से समृद्ध किया है। निबध, आलोचना, जीवनी, यात्रावृत्त, कहानी, उपन्यास आदि अनेक विधाओं में उनके रचनाकार ने अपनी मौलिक अंतर्दृष्टि का परिचय देते हुए विचार और सवेदना के विलक्षण सामजस्य के बल पर शिखरस्तरीय सौदर्य चेतना का सस्पर्श किया है। अपनी रचना-यात्रा के क्रम में आपने मनुष्य की सार्थकता के अनुसधान की चेष्टा की है। मनुष्य, पशु-सुलभ धरातल से ऊपर उठकर, जडता के बंधनो को काट्कर, चिन्मय तत्त्व की ओर अग्रसर मनुष्य। सहज मनुष्य। वर्जनाओ और रूढ़ नैतिक मान्यताओं के दबाव से मुक्त आत्मा के धर्म को स्वीकार कर जीवन-शक्ति को अतिवादी सीमाओ के बीच से निरंतर विकसित करता हुआ मनुष्य। आपके निबंधों में मनुष्य के इसी रूप की प्रतिष्ठा की गयी है।

आपके कई निबंध-संग्रह प्रकाशित हैं। 'शिखरों के सेतु', 'कस्तूरी मृग', 'चतुर्दिक्' आदि सग्रहों के बाद आपके सपूर्ण निबधों का सग्रह 'मानसी गगा' और 'किस-किस को नमन करू' शीर्षकों से दो खडो मे प्रकाशित हुआ है। यों तो आपकी मानसिक यात्रा को देखने-परखने के लिए इन सभी संग्रहों का अध्ययन आवश्यक है, किंतु इस यात्रा की उपलब्धियों का आकलन अतिम दो सग्रहों के आधार पर बखूबी किया जा सकता है।

डॉ शिवप्रसाद सिह बहु-अधीत रचनाकार हैं। उन्होंने देश-विदेश के प्राचीन और नवीन साहित्य का अध्ययन तो किया ही है, साथ ही धर्म, सस्कृति, दर्शन, इतिहास, मनोविज्ञान आदि ज्ञान-धाराओं मे भी उनकी अच्छी गति है। यही नहीं, आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियो और सीमाओं से भी वे भली-भांति परिचित हैं। यह सारा ज्ञान उनकी सवेदना के विस्तार की आधारभूमि प्रस्तुत करता है। उनके निबंधों को पढकर कभी गुलेरीजी का स्मरण हो आता है, कभी शुक्लजी का, आचार्य द्विवेदी की याद तो बराबर आती रहती है। गुलेरीजी के निबंध प्रसंग-गर्भित है। यह प्रसंग-गर्भत्व शिवप्रसाद सिंह के निबंधो को भी वैशिष्ट्य प्रदान करता है। आपके निबंधों का पूरा-पूरा रसग्रहण

करने के लिए सहृदय के साथ अध्येता होना भी आवश्यक है। यहां यह ध्यातव्य है कि आपके निबध प्रसंग-गर्भित हैं, ज्ञान-गर्भित नहीं। ज्ञान-गर्भित निबंधों को दुर्बोध बनाता है, जबकि प्रसंग-गर्भत्व संवेदना को एक रम्य संचरण भूमि का आधार देकर वैचारिक विश्वसनीयता प्रदान करता है। आपके निबंधों को पढ़ते हुए कहीं-कहीं शुक्लजी का भी ध्यान आता है। शुक्लजी जब सभ्यता के आवरण को हटाकर आज के स्वार्थ-लोलुप मनुष्य के असली चेहरे का साक्षात्कार कराते हैं और यह बताते हैं कि यह कार्य कविता का है, जो सभ्यता के विकास के साथ कठिन होता जा रहा है और आप जब 'श्मशान' द्वारा आज की व्यावसायिक सभ्यता के रंग में रंगे स्वार्थ-लोलुप मनुष्यो का असली चेहरा बेनकाब कराते है तो दोनों एक ही भूमि पर खडे दिखायी देते हैं। शुक्लजी का भाई की संपत्ति हड़पने के लिए जाली दस्तावेज बनवानेवाला तथाकथित 'सभ्य (कुटिल) भाई' (कविता क्या है ?, पृ 143) और सारी संपत्ति के लोभ मे स्वर्गीय भाई के एकमात्र किशोर पुत्र को ज़हर पिलाकर मार डालनेवाला और इसके बाद चिल्ला-चिल्लाकर भगवान् को कोसते हुए असह्य दु:ख के इजहार का ढोंग रचनेवाला आप द्वारा मूर्त 'छोटा भाई' (मानसी गगा, पृ 121) दोनों एक ही मनोभूमि की उपज है। इसी प्रकार जब सस्कृत के 'स्वसृ' शब्द का सबध पुरानी अंग्रेजी, डच-जर्मन, मध्यकालीन अंग्रेजी, स्कैंडेनेवियन, स्वीडेन और लैटिन आदि भाषाओ मे विद्यमान इसके यत् किंचित् उच्चारण-भेद से युक्त किंतु समान अर्थवाले रूपो से जोडते है (तीने घेरे एक क्षितिज, पृ. 86), तो सस्कृत के 'लुभ्' धातु से बने 'लोभ' शब्द का सबध अग्रेजी के 'लव' (Love) सैक्सन के 'लुफ' (Lufe) और लैटिन के 'लुबेट' (Lubet) से जोडते हुए शुक्लजी याद आ जाते हैं। आपको पढते हुए द्विवेदीजी की याद ही नहीं आती, कहीं-कहीं उन्हीं को पढने का भ्रम भी उत्पन्न हो जाता है। 'रसमादन', 'बूढा वसत और मै', 'सर्वं प्रिये चारुतरं वसते', 'चद्रमा मनसो जात', 'चद्रमादन', 'देवी मेरी प्राणवल्लभा', 'बीड़ा उठाइए' आदि निबंध आचार्य द्विवेदी के निबधो की भाव-भूमि में सचरण का सुख प्रदान करते हैं। निबंधों को आरंभ करने का ढग, विचार-सूत्रो को फैलाने और समेटने की पद्धति, एक विचार-सूत्र से दूसरे तक आने और दोनो को जोड़ने की तकनीक तथा पाठक से निरंतर सबंध बनाये रखने की कला आपने द्विवेदीजी से प्राप्त की है। इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व के अवशेषो से कुछ सार्थक और मूल्यवान् चुन लेने और उसे आधुनिक जीवन-संदर्भ से जोड़कर आधुनिक पाठक के लिए प्रासगिक बना देने की कला भी आपने आचार्य द्विवेदी से ही ग्रहण की है। अंतर दोनो की संवदेना के विकास और आधुनिक बोध के स्तर मे है।

शिवप्रसाद सिंह नयी सवेदना के रचनाकार हैं। उन्होंने अस्तित्ववादी चिंतन, मार्क्सवादी विचार-पद्धति तथा अरविंद-दर्शन के तत्त्वों के बीच से अपनी संवेदना का विस्तार किया है। द्विवेदीजी आज की नवीनतम विचारधाराओं और इनसे प्रभावित

या प्रेरित रचनाओ के प्रति चाहे जितने सहिष्णु रहे हों, ये रचनाएं इनकी संवेदना का अंग नहीं बन पायी थीं। नये के प्रति वे आशावादी भले रहे हों, पूर्ण आश्वस्त नहीं थे। इसीलिए द्विवेदीजी के निबंधों में जो मनुष्य उभरता है, वह ठीक वैसा ही नहीं है, जैसा शिवप्रसाद सिंह की रचनाओं और निबंधों के भीतर से उभरनेवाला मनुष्य। श्री सिंह 'मनुष्य की स्वतंत्रता को उसकी अंतिम अनिवार्यता माननेवाले' श्री अरविंद तक पहुंचने के पहले अल्वेयर कामू के 'मिथ ऑफ सिसिफस' से गुजर चुके हैं। इस कृति ने एक समय उनकी आस्था की दीवारों को जड-मूल से हिला दिया था। इसके बाद श्री अरविंद के इस वाक्य से उन्हें शक्ति मिली कि 'कोई भी धारणा न सही होती है, न गलत, वह जीवन के लिए सिर्फ काम योग्य या अयोग्य होती है, क्योंकि यह सब समय की उपज है और समय के साथ ही अपना उपयोग खो देती है। इसलिए तुम धारणाओं से ऊपर उठो और समयातीत सत्य को खोज निकालो'। (किस-किस को नमन करूं, पृ 177) जाहिर है कि श्री सिंह की आस्था टूट कर फिर से जुडी है। इसलिए उनके 'आदर्श मानव' की आस्था मे यह जोड तो होगा ही। आचार्य द्विवेदी के 'आदर्श मानव' की आस्था मे कहीं जोड़ लक्षित नहीं होता। खैर, यहां हमारा लक्ष्य आचार्य द्विवेदी और शिवप्रसाद सिंह के निबंधो की तुलना नहीं है, किंतु हम इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि आचार्य द्विवेदी की शैली में जो सहजता, प्रवाह, मार्दव और दीप्ति है, उसका कारण उनकी बोधवृत्ति का अकुंठ आस्था से मडित होना ही है।

हम आरंभ में कह आये हैं कि श्री सिंह के निबंधों का प्रतिपाद्य मनुष्य की सार्थकता का अनुसधान है। आपने बात कहीं से उठायी हो, विचार के लिए विषय चाहे जो चुना हो, प्रतिपादन के क्रम में विचार-सूत्रों को चाहे जितने सदर्भों से जोडा हो, अंतत मनुष्य ही आपकी चिंता के केंद्र में उभर कर सामने आया है। कुछ निबंधों को सामने रखकर इस तथ्य की परीक्षा की जा सकती है। पहला ही निबंध लीजिए। प्रसंग आचार्य विरति-वैभव और राजकुमार के साक्षात्कार का है। 'नैतिकता' को लेकर दोनो तर्क-वितर्क करते हैं, किंतु निष्कर्ष रूप में जो दात सामने आती है, वह यह कि मानव की मूल प्रवृत्तियों को झुठलाना अनुचित है। विरति-वैभव कहते हैं-'तुम यदि मानव की मूल प्रवृत्ति को ही पाप कहोगे, तो आरभ ही गलत हो जायेगा। मन केवल वासना के पुज का नाम नहीं है, वह अमृत देनेवाली सिद्ध गुटिका भी है। चित्त वह उर्वर भूमि है, जिसमे मनुष्य को महान् बनानेवाली इच्छाओं के अंकुर उगते हैं।' (मानसी गंगा, पृ 13) विरति-वैभव मन के दमन का विरोध करते हैं। उनके अनुसार नैतिकता पाखंडियों का कवच है। सहज जीवनयापन करते हुए मन के उन्नयन की आवश्यकता है। दूसरे निबंध—पशु-प्रेम मानुष द्वारे—में उर्वशी और पुरुरवा की प्रेम-कथा का प्रसंग सामने रखा गया है। इसमें निबधकार ने निष्कर्ष निकाला है -'पुरुरवा और उर्वशी का प्रेम सामाजिक परंपरा का प्रथम विरोध था। दो प्रकार की संस्कृतियों के इस मिलन में न जाने कितनी रूढियां दीवार की तरह अडी होंगी।' (मानसी गंगा, पृ 19) यहां

भी लेखक ने रूढ परपराओं का विरोध किया है। वह मनुष्य के सहज विकास का हिमायती है। मनुष्य का विकास उसे निषेध की दीवारों में बंद करके नहीं किया जा सकता। उसकी संवेदना का सहज विकास भावनाओं, विचारों के आदान-प्रदान तथा संस्कृतियों के अंतरावलंबन से ही संभव है। 'रसमादन' निबंध में लेखक ने संस्कृति की व्याख्या करते हुए कहा है– 'सस्कृति किसी भी कौम की अच्छी से अच्छी चीज की उसके सदस्यो के व्यक्तित्व में बची हुई सुगंध है। संस्कृतियां कौमों की अपनी आत्मा का आनंद, चमत्कार और प्रकाश होती हैं, जैसी जिस कौम की आत्मा होगी, वैसी ही उसकी संस्कृति होगी, इसलिए हमे दूसरी सस्कृतियों को कोसने की आदत छोड देनी चाहिए'। (मानसी गंगा, पृ 25) लेखक की मान्यता है कि दूसरी संस्कृतियों को कोसना बुरा है, किंतु उनकी नकल करना और भी बुरा है। हां, स्वस्थ आदान-प्रदान होना चाहिए। इसी से मनुष्य की सौदर्य और रस चेतना विकसित हो सकती है। लेखक ने उदार मानवतावादी मूल्यो की खोज और प्रतिष्ठा पर निरंतर बल दिया है। इन्हीं मूल्यो को ऊपर करके जातिगत और संप्रदायगत संकीर्णता से मुक्त हुआ जा सकता है।

उच्चतर मूल्यों के विकास द्वारा ही दिव्य मानव और उसकी महायात्रा की कल्पना की जा सकती है। मात्र शरीर-धर्म की रक्षा और पालन करनेवाला मनुष्य उच्चतर मूल्यो को चरितार्थ नही कर सकता। मात्र ऐश्वर्य की सिद्धि को जीवन का लक्ष्य माननेवाला मनुष्य भी दिव्य मानव के गतव्य तक नहीं पहुंच सकता। 'देश कोश का साक्ष्य' निबध मे राधा और कृष्ण के प्रणय की मीमांसा करता हुआ लेखक कहता है– 'रुक्मिणी और सत्यभामा के प्रणय की कहानी वहीं तक विश्व का साथ देगी, जहां तक मनुष्य की बुद्धि, शरीर, कर्म और ऐश्वर्य की सीमा को आखिरी मंजिल मानकर बैठ जायेगी, पर जब दिव्य मानव की महायात्रा शुरू होगी, तो वह सीमा गंतव्य नहीं, प्रस्थान-शिला बनेगी और तब मनुष्य की मानस-यात्रा का नेतृत्त्व करेगी प्रज्ञा। उस प्रज्ञा के लोक में कृष्ण-प्रिया रुक्मिणी नहीं...राधा होगी। जीवन का लक्ष्य ऐश्वर्य नहीं 'आनद होगा'...'रसो वै स'। (मानसी गंगा, पृ 82), 'चार चरण' निबंध में कृष्ण के व्यक्तित्व के विकास की व्याख्या करते हुए लेखक ने इस तत्त्व को और अधिक स्पष्ट किया है। उसके अनुसार कृष्ण का गोवर्धन धारण 'प्राणमय कोश में महाशक्ति के स्फुरण का प्रतीक है।' कृष्ण की माखन चोरी 'अन्नमय कोश में सर्वमंगला महाशक्ति के प्रसरण की अलौकिक गाथा है।' रासलीला नारी और पुरुष के महामिलन का विराट् पर्व है। यह वासना के उन्नयन की अमरगाथा है। कृष्ण के मन की कामशक्ति स्थूल देह-वासना नहीं थी, वह उन्नयन की साधना थी। रास में जिस उच्छल आनद की अनुभूति हुई, वह जडोन्मुख स्थूल शारीरिक सुख नहीं, चिदोन्मुख आत्मा के सहज प्रकाश की दिव्य अनुभूति है। कृष्ण का द्वारका निवास उनकी स्थितिप्रज्ञता का द्योतक है। कृष्ण का पूरा जीवन दिव्य मानव की महायात्रा का मूर्त रूप है। 'आदमी माने ब्रेक

का बंडल' निबंध में लेखक ने मनोजगत् के स्तर पर भोगे जानेवाले स्वाभाविक प्रेम का समर्थन करते हुए स्वच्छ एवं निर्मल जीवन व्यतीत करने के लिए वर्जता और स्वच्छंदता के बीच सामंजस्य पर बल दिया है। निबध का अंत करते हुए वह कहता है –'आवश्यकता इस बात की है कि लोगों को बताया जाये कि मनोमय कोश का जीवन शारीरिक जीवन से कई गुना अधिक सूक्ष्म, सुंदर और आनंददायक है। प्रेम को शरीर से भोगने की अपेक्षा मन से भोगना इंसानियत के बडप्पन का सूचक है। शरीर झुठलाने या तिरस्कार करने की चीज कतई नहीं है, पर शरीर की भूख या विकृति को ऊंचे मूल्यों का बलिदान देकर तृप्त करना बहुत अच्छी बात नहीं है'। (मानसी गंगा, पृ 155)

अधविश्वासों, रूढ़ियो और कठोर नैतिक वर्जनाओं से जर्जर समाज में न तो उच्चतर मूल्यों की प्रतिष्ठा हो सकती है, न व्यक्ति का मानसिक उन्नयन। इसलिए इनका विरोध करना प्रत्येक विवेकशील विचारक और साहित्यकार का कर्तव्य है। इसीलिए श्री सिंह ने भारतीय इतिहास और सस्कृति से ऐसे संदर्भों का चयन किया है, जिन्हे सामने रखकर सामाजिक अन्याय का विरोध किया जा सकता है। 'मंडन मिश्र की डायरी' मे आचार्य शकर के प्रबल तर्कों को सामने रखकर कर्मकांड की जर्जर सीमाओ का खडन किया गया है। आचार्य शकर कहते हैं– 'कर्म मन शुद्धि के साधन हैं। उन्हें साध्य मानने से हानि होती है। कर्म से शुद्ध चित मे ही तो ज्ञान का उदय होता है। ऋषि ने कर्म को इसी चित-शुद्धि के लिए आवश्यक बताया था, उसके बाह्य आडंबर मे फंसने के लिए नहीं'। (मानसी गगा, 97) 'तारा का पाप' निबध मे तारा पातिव्रत के पवित्र आसन से अपनी विच्युति के लिए स्वय को अपराधी मानती है। वह प्रायश्चित के लिए तैयार है, किंतु उसे दु:ख इस बात का है कि उसे सत्य के स्वीकार के लिए दंडित किया गया। वह मुनि वशिष्ठ से सीधे प्रश्न करती है—'किंतु मुने, क्या सत्य बोलना ही अपराध था ? क्या अक्षय ज्योति को अनावृत करके ही मैने पाप किया ? क्या काया का पाप आत्मा के पाप से भी बड़ा है ?' (मानसी गगा, पृ. 102) किसी भी देश के पर्व, त्योहार, देव-मडल, उनकी रूप-गुण-कल्पना, उनकी पूजा का विधान आदि उस देश के निवासियों के मानसिक विकास के साक्षी होते है। इसीलिए इनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन के माध्यम से उस देश के मानसिक उन्नयन को रेखाकित किया जा सकता है। भारत में मातृशक्ति की पूजा सर्वत्र प्रचलित है। मात-शक्ति के रूप-गुण की अवधारणा अनेक रूपों में की गयी है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा मातृ-मूर्तियो के अध्ययन का साराश प्रस्तुत करते हुए डॉ सिंह कहते है–

वस्तुत:, भारतीय वाङ्मय में पराशक्ति, अथवा देवी के रूप, गुण और शक्ति का जो विवरण मिलता है, वह कई दृष्टियों से अनुपम है। देवी का स्वरूप सपूर्ण भारतीय साधना की मनोज्ञ परिणति है। संसार में जो कुछ भी सत्य है, शिव है, सुंदर

है, वह सब यहां एकत्र समन्वित है। वह देव-शक्तियों का समवाय है; पर उनकी जननी भी है। ससार में जहां कहीं भी शुचिता, पवित्रता, लज्जा, उदारता, कला, चेतना, बुद्धि, जो कुछ भी है, सब उसी का अंश है, वह सभी अंशों की समष्टि है, सबसे अलग पर सब में परिव्याप्त है। वह सभी शक्तिमान् तत्त्वों के भीतर अतर्निहित शक्ति है'। (मानसी गंगा, पृ 115)

यहां यह ध्यातव्य है कि देवी की रूप-गुण-कल्पना का जो विकास हुआ है--भयकारी रूप की आह्लादकारी रूप मे जो परिणति हुई है--वह मानव-बुद्धि के विकास-स्तर की द्योतक है। मानव-बुद्धि क्रमश' जड़ता के स्तरों का अतिक्रमण करती हुई चिदोन्मुख है। भारतीय वाङ्मय में मातृ-शक्ति के क्रम-विकास की परिणति प्रकारातर से भारतीय मनीषा की मूल्य-अवधारणा के विकास का द्योतक है। इसीलिए श्रीसिंह ने अपने कई निबधों में इस प्रसग का विवेचन किया है। तात्पर्य यह है कि श्री सिह के निबध समय-समय पर हिल्लोलित उनकी मनोलहरी मात्र नही है, इनकी रचना का एक निश्चित उद्देश्य है। वस्तुत यह निबध भारतीय मनीषा के उन्नयन-बिंदुओं को रेखांकित करते हैं। अपने तीसरे निबंध सग्रह 'चतुर्दिक्' की भूमिका मे आपने लिखा था

'इस स्थूल त्रिदिक् के भीतर कभी-कभी अचानक अनायास कुछ ऐसा झांक जाता है, जो इस दुनिया से भिन्न किस्म का एक नया संस्पर्श लिये होता है। कुछ ऐसा, जो पकड में नहीं आता, पर अपनी पूनम गधी शीतल छाया से हमें आह्लादित कर देता है। इस पकड मे न आनेवाले 'रहस्य' को ही आपने 'चतुर्दिक्' कहा है। कहना न होगा कि मानसिक जगत् के सूक्ष्म स्तरों के निरंतर विकास का विश्वासी लेखक ही इस रहस्य के सस्पर्श का दावा कर सकता है। श्री सिह इसी कोटि के लेखक है।

'किस-किस को नमन करू' (शिवप्रसादजी के दूसरे निबध-संग्रह) मे मुख्यत उन महामानवों को नमन किया गया है, जो चेतना के सूक्ष्म स्तरों पर जीने में समर्थ रहे हैं। अर्थात् 'मानसी गगा' मे जिन मूल्यो की खोज की गयी है, 'किस-किस को नमन करू' मे उन्ही मूल्यो को चरितार्थ करनेवाले महामानवो को नमन किया गया है। भूमिका मे लेखक ने कहा है– 'नि स्वार्थ प्रेम, अदम्य साहस, अपने अह को निचोड कर विराट् मे विलीन कर देने का प्रयत्न, विरोधी परिस्थितियो में भी अपनी व्यक्तिगत स्वतत्रता की रक्षा करनेवाले लोग, अपने राष्ट्र गौरव की रक्षा करने मे अपना बलिदान देनेवाले व्यक्ति, वे ही हैं, जो निजी स्थूल पिजडे को तोड़कर सर्वव्यापी चेतना में विलीन होने के लिए जूझे या जूझ रहे है, वे सब मेरे नमस्य है'।

इन महामानवो में नेहरू, निराला, राहुल सांकृत्यायन, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', शातिप्रिय द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, त्रिलोचन, सपूर्णानद, रामचद्र वर्मा, शेक्सपीयर, चेखब, पास्तरनाक, अलवेयर कामू, मॉम, वाल्ट

व्हिट मैन, मिखाइल शोलोखोव, शंकर कुरुप, विनोबा आदि अनेक व्यक्तित्व हैं। इनमें बहुतों से लेखक का व्यक्तिगत परिचय नहीं है। इनसे उनका मानस साक्षात्कार हुआ है। श्री सिंह यह मानते हैं कि चेतना के सूक्ष्म स्तर पर जीनेवालों से उनका वाइब्रेशन मिलता है। कुछ भी हो, उपर्युक्त सभी महामानव चेतना की उच्चतर भूमि पर जीनेवाले थे। श्रीसिंह ने पूरी सजगता और तन्मयता के साथ इनके व्यक्तित्व को मथकर उस भूमि का साक्षात्कार किया है। उनका यह मूल्यांकन उनके अंतःकरण की शुचिता और निर्मलता का साक्षी है।

'नेहरू' इसलिए प्रणम्य हैं कि वे 'व्यक्ति स्वातंत्र्य और मनुष्य के सार्वभौम अधिकारों के प्रति हमेशा प्रणत शिर रहे।' 'निराला' इसलिए विरल विशिष्ट हैं कि 'उन्होंने अपने अहं को विसर्जित कर दिया था।' राहुल सांकृत्यायन इसलिए महान् हैं कि उनकी 'आत्मा' मनुष्यता को चरितार्थता प्रदान करने के लिए निरंतर विकल रही'। मैथिलीशरण गुप्त इसलिए प्रणम्य है कि दुःखों से मंजकर उन्होंने 'आस्था, उन्मुक्तता और असंगता का वरण किया था। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का व्यक्तित्व इसलिए श्लाध्य है कि उसमें त्यागपूर्ण बलिदानी राष्ट्रीय भावना और गहन एकांत सूनापन का अद्भुत सामंजस्य लक्षित होता है। शांतिप्रिय द्विवेदी के आकर्षण का कारण भारतीय संस्कृति में उनकी अटूट आस्था है। वे उस मृदुता और सौंदर्य के साहित्यकार हैं, जो वर्तमान सामाजिक जीवन में 'यूटोपिया' बनकर रह गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व का सबसे बड़ा आकर्षण उनकी दुर्दम्य जिजीविषा और सृजनधर्मिता है। लोक-जीवन से उत्पन्न स्नेहगंधी मानस 'त्रिलोचन' को विशिष्ट बनाता है। संपूर्णानंद अग्नितत्त्व के ज्योतिर्मय स्फुलिंग थे। शेक्सपीयर की भाव-चेतना इतनी विकसित थी कि वह जड़ चेतन सब में स्पंदित प्रकृति के विविध व्यापारों और क्रियाओं को अपने मानस में रूपायित कर लेता था। उसका मानस इतना भाव-प्रवण था कि 'प्रकृति की अभिव्यक्ति की हलकी से हलकी लहर भी उसमें चिन्हित हो जाती थी।' चेखव किसी देश या जाति का कथाकार न होकर मनुष्यता का कथाकार है। हेमिंग्वे में काली से काली रात में भी सवेरे की रोशनी देखने की अपूर्व क्षमता है। पास्तरनाक में मानवता की प्रतिष्ठा और वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए सब कुछ उत्सर्ग कर देने का अदम्य साहस है। कामू घोर नैराश्य और अंधकार के बीच जीते हुए भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य और मानवीय मूल्यों के प्रति आस्थावान है। मॉम सर्वसाधारण की जिंदगी के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध है। मिखाइल शोलोखोव में मनुष्य के अपने व्यक्तिगत चुनाव और सामाजिक क्रांतियों के बीच की विसंगतियों की अद्भुत पहचान है। शंकर कुरुप के वाङ्मय में सौकुमार्य, यथार्थ और मानवतावादी चिंतन की अद्भुत त्रिवेणी है।

इस प्रकार श्रीसिंह ने विश्व के अनेक महान् रचनाकारों और मानवीय विभूतियों के व्यक्तित्व के भीतर बहुत गहरे प्रवेश करके मूल्य-चेतना के शिखर-बिंदुओं और ज्योतिकणों को पहचाना है और उन्हें उजागर किया है। उनकी प्रणति चेतना के

ज्योतिकणों के प्रति है। इस संग्रह में कुछ यात्रावृत्त और कुछ साक्षात्कार भी हैं । कुछ ऐसे निबंध भी हैं, जिनमें लेखक ने अपनी रचना-प्रक्रिया की मनोभूमि को भी विवृत किया है; किंतु यह सब उसकी सौंदर्य-चेतना और मूल्य-दृष्टि से दीप्त है। स्थान और वस्तुएं उसके लिए जड़ पदार्थ नहीं हैं । इनमें भी उसने चेतन-तत्त्व का साक्षात्कार किया है। देखा जाये तो श्रीसिंह का पूरा निबंध साहित्य मानव-जाति के विकास के साथ उसमें विकसित होनेवाली चेतना के स्तरों के अनुसंधान का साहित्य है।

आपने निबंध रचना में अनेक शैलियों का सफल प्रयोग किया है। अपनी बात को प्रभावशाली ढंग से कहने के लिए आपने कहीं पत्र-शैली का प्रयोग किया है, कहीं डायरी शैली का, कही बचपन मे सुनी किसी कहानी के स्मरण से बात आरंभ की है, कही अपने मन की स्थिति के विश्लेषण से, कहीं देश में घटित किसी क्षोभकारी घटना की प्रतिक्रिया से निबंध आरंभ हुआ है। कहीं स्थिति की गंभीरता की ओर संकेत करनेवाले प्राकृतिक दृश्य के चित्रण से, कहीं किसी नाटकीय क्षण को मूर्त करते हुए बात आरंभ हुई है। कहीं घरेलू बातचीत की सहज भंगिमा से, कहीं बरसों पहले किसी मित्र द्वारा पूछे गये प्रश्न से बात उठायी गयी है, कहीं समाचार-पत्र में प्रकाशित किसी वक्तव्य की चर्चा से। मूल कथ्य को प्रस्तुत और प्रतिपादित करने की बहुविध भगिमाए आपकी शैली को आकर्षक बनाती हैं। आपके निबंध वर्णनात्मक या विचारात्मक शैलियों के परपरानुमोदित ढांचे में नहीं समाते। कथा, डायरी, साक्षात्कार, रिपोर्ताज, टिप्पणी, नाट्य-विधान, प्रश्न-प्रतिक्रिया आदि अनेक गद्य-बंधों के तत्त्व आपके निबधों में विद्यमान हैं। आपकी भाषा आपकी संपूर्ण बौद्धिक-मानसिक ऊर्जा का दर्पण बन गयी है। उसके इतने रूप हैं, मुद्राए हैं, भगिमाएं और छायाए हैं कि उन सबका विवेचन एक स्वतंत्र निबध की माग करता है। उसके सबध में इतना ही कहा जा सकता है कि वह एक बहु-अधीत अनुभवसमृद्ध, बौद्धिक ऊर्जा से दीप्त, मानसिक विकास के सूक्ष्मतर स्तरो के चेतन प्रकाश से भास्वर, अत्यंत संवेदनशील रचनाकार के समग्र व्यक्तित्व को साकार करनेवाली भाषा है। निश्चय ही शिवप्रसाद सिंह के निबंध हिंदी की ललित-निबध परपरा की समृद्धि के साथी हैं। उनके बीच से गुजरना एक सुखद मानसिक यात्रा है; किंतु इस यात्रा के लिए चेतना के ऊर्ध्व और सूक्ष्म स्तरो को स्पर्श करनेवाली विकसित संवेदना की अपेक्षा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(दस्तावेज 53, अक्तू.-दिस.'89 से साभार)

आरकेस्ट्रा के बीच एक अलग आवाज

• *मूलचंद गौतम*

हिंदी की जातीय गद्य की परंपरा अत्यत समृद्ध रही है। बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुद गुप्त, पूर्णसिह, रामचंद्र शुक्ल, रामवृक्ष बेनीपुरी और हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों का लालित्य, सूक्ष्म गंभीरता, तरलता, व्यंग्य और विश्लेषणात्मकता को एक शृखला मे देखने पर जाना जा सकता है कि यह परपरा कोई अनायास आसमान से टपकी चीज नहीं थी। विचार के साथ फक्कडपन का यह मेल अद्भुत एव अपूर्व होकर भी सर्वथा अव्याख्येय नही है। शिवशंभु के चिट्ठो को पढकर इनकी पैनी व्यग्यात्मक धार और राष्ट्रीय आदोलन मे सक्रिय-सजग भूमिका का एक नया आयाम उभरता है। जिसमें इन समर्थ गद्यकारो के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण योगदान है। एक तरह से देखा जाये तो शैली, व्यक्तित्व और विचार का ऐसा मेल, उसी परपरा के सापेक्ष है, जहा भारतेदु, प्रसाद, प्रेमचद, जैनेद्र, अज्ञेय, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी का कृतित्व, अपनी विशिष्टता में अलग से पहचाना जा सकता है। यह विशिष्टता इतनी मौलिक है कि इसकी नकल असभव है। सृजन व्यक्तित्व के संयोग से मिलकर समकालीन लेखन के आरकेस्ट्रा मे एक अलग आवाज की तरह पहचाना जाये, इससे बडी उपलब्धि और क्या हो सकती है? इस उपलब्धि का पता व्यक्तित्वहीन विराट लेखन के बरअक्स ही पाया जा सकता है, जहां सब कुछ भीड के सपाट चेहरों में तब्दील होता जा रहा हो। जाहिर है कि यह 'अदाजे बयां' जो अलग से पहचाना जा सके, गुट, शिविर, आदोलनो और संघो से ऊपर और बडी चीज है।

गभीरता से विचार किया ज़ाये तो लगता है कि धूमिल के बाद किसी कवि का चेहरा पहचान मे नहीं आता, कहानी मे भी छठे दशक के बाद कहानीकारो की कोई विशिष्ट पहचान नहीं उभरती, उपन्यास की हालत तो और भी खराब है। इस सत्य को अतीतजीवी-प्रतिक्रियावादी खानों में डालकर नहीं झुठलाया जा सकता। दिल के बहलाने के लिए कोई भी चार-छह नाम ले सकता है, लेकिन उनका भविष्य किसी ने क्या देखा है?

हिंदी निबंध-परंपरा मे आचार्य द्विवेदी के बाद निगाह डालकर देखा जाये, तो

कुबेरनाथ राय, शिवप्रसाद सिंह, विद्यानिवास मिश्र के अलावा चौथा आश्वस्त करने वाला नाम नहीं उभरता। अन्य लेखकों की दिशाए तथा यात्राए पुरानी ऊंचाइयों के मुकाबले अभी तो बहुत बौनी ही लगती हैं। ज्ञान, विचार, लालित्य और फक्कड़पन यहां सहज ग्राह्य एव काव्यात्मक तरलता से युक्त न लगकर, पुस्तकीय बोझ से दबा हुआ है। इसीलिए इनके निबध अपनी उच्छल धारा में पाठक को थोड़ी दूर तक ही बहाकर ले जा पाते हैं। थोडी दूर चलकर वह फिर तिनके की तरह किनारे आ लगता है। गरिष्ठता निबंध को बोझ बनाती है, फिर यह चाहे विचार की हो या जानकारियों को जबरदस्ती ठूंसने की। तब निबध सहज, सुरुचिपूर्ण, हल्का-फुल्का, सुपाच्य न रहकर अपरिपक्व लेखकीय ज्ञान का वमन बनकर रह जाता है। हिंदी गद्य में जातीय विशेषताओ का ह्रास, उसे जीवंत न रहने देकर, यात्रिक निर्जीवता में तब्दील किये दे रहा है। व्यक्तित्व का स्पर्श और मौलिकता के बावजूद कहीं उलझन है, जो न तो रचना को और न ही व्यक्तित्व को पारदर्शी बनने दे रही है। ज्ञान को अज्ञान बनाकर प्रस्तुत करना भी एक कला है और यह सादगी कम-से-कम हिंदी गद्य से गायब हो रही है। तब संवाद कैसे हो ? आत्ममुग्ध लोग यों भी सवाद चाहते कब हैं ? वे तो विश्लेषण करते है और एकतरफा फैसले सुनाते हैं। तर्क और बहस उनकी दुनिया का दस्तूर नहीं। इसीलिए निबंध, लेखक के अतर्महाद्वीपीय ज्ञान के कोलेशंस के दबाव मे कुछ ज्यादा ही अप-टू-डेट और अतर्राष्ट्रीय हो गया है ? निबंध के पंखों पर यह बोझ कुछ ज्यादा ही है, जिससे वह पख भी नहीं फडफडा सकता। तब फिर चाहे बेकन का नाम लिया जाये या ह्विटमैन का, क्या फर्क पडता है ?

कुबेरनाथ राय के गवई, रससिक्त आखेटक ने शुरू में कुछ अच्छे ललित निबध दिये, फिर धीरे-धीरे उनकी बौद्धिक रुक्षता हावी होती गयी। पं. विद्यानिवास मिश्र परपरा की जो एकागी शक्ल निबंधों मे उभार पाये, वह धीरे-धीरे सत्ता दल की स्तुतियों और ठेठ हिदी, हिदू की शास्त्रीयता के दलदल में तब्दील होती जा रही है। और शिवप्रसाद सिह के निबधों में 'शिवप्रसादीय स्पर्श' के बावजूद अस्तित्ववादी दार्शनिक, अरविद कुछ ज्यादा ही मुखर हैं और फिर 'इकोलाजिकल निबंध' क्या परंपरा के साथ आधुनिकता दर्शाने के लिए, यह शब्द या अभिधान बेहद आवश्यक है ? 'शिखरों का सेतु' के बाद उभरी यह दार्शनिकता और दुर्बोधता लेखक के आत्मपरीक्षण का विषय भी है। शिवप्रसादजी में आत्मालोचन की यह प्रवृत्ति, शुभ लक्षण है। अपने अंत करण से सायुज्य सबंध की तरह जुड़ी समाज-संपृक्त स्थितियों को निबंधो में प्रस्तुत करने की विनम्रता, एक ही शैली के बजाए वैविध्यपूर्ण शिल्प चुनती है। शिवप्रसादजी का कथाकार, ग्रामीण संवेदना, स्वतंत्र विचारक, फक्कडपन प्राचीन साहित्य और संस्कृति की परपरा से जुडाव, एक अलग किस्म की मौलिकता को जन्म देता है, जो निबंधों को यथार्थपरक बनाता है। कस्तूरी मृग की तरह शास्त्र तथा लोग, गांव और बनारस की संकरी गलियों में भटकता, उनके रचनाकार का मन तात्कालिक

सामाजिक-राजनीतिक घटनाओ से पूर्णतः निरपेक्ष नहीं रह पाता। फिर चाहे वह बौद्धिकों की मानसी गंगा में उत्पन्न प्रदूषण की समस्या हो, या हिंदी-उर्दू तथा हिंदुस्तान-पाकिस्तान व बगलादेश की स्वतंत्रता का संघर्ष, या अमेरिका की राजनीति व धर्म की विसगति से उत्पन्न समस्याए।

शिवप्रसाद सिंह के निबंधो की विषय-विविधता के कारण उन्हें किसी एक साचे या खाने में नहीं डाला जा सकता। उनके ज्ञान व अनुभव-संसार मे व्यक्ति-व्यंजकता एव आत्मानुभूति के साथ विश्व के रचनाकारों, रचनाओ, स्थानों, घटनाओं, इतिहास व सस्कृति की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। द्विवेदीजी की तरह शिवप्रसादजी के निबंधों मे प्रकृति—वसंत, चद्रमा, हरियाली से लदे सीवान, कस्तूरी मृग, अमराई, कोकिल—एक अनिवार्य तत्त्व की तरह सम्मिलित हैं। उन्हीं की तरह अतीत के मोहक—प्राकृतिक सौंदर्य एवं वर्तमान की नीरसता का द्वंद्व यहा भी विद्यमान है। खीझ भरा लेखक अतीत की स्वर्णिम यादो के बहाने ही जैसे वहा पहुच जाता है- कालिदास के कल्पना लोक मे। रसमादन, बूढा वसत और मै, सर्वप्रिये चारुतरे वसंते, बनारस खो गया है, बबुआ प्रिय बिब्बोक बिब्बो वसते जैसे निबधों मे रसप्रिय लेखक अतीत और वर्तमान की संधि के बीच स्थित होकर भविष्य को दूर से देख लेता है।

शिवप्रसाद सिह के निबधो मे अतीत व इतिहास की एक नयी बौद्धिक तर्कसगत व्याख्या मिलती है। 'जेहि मन पवन न सचरै' निबध में पूरी तत्र प्रक्रिया व दृष्टि को विरतिभैरव व राजकुमार के सवादों में उभारकर, लेखक कुत्सित व गर्हित रूप को हटाकर, स्त्रीपुरुष सबधो की सकारात्मक परिणति की ओर ले जाता है। काल्पनिक एव अतिवादी लोग मामूली-सी भौतिक एव जैविक घटनाओं को भी अतिमानवीय बनाकर पेश करते है। फिर चाहे पुरुरवा और उर्वशी की प्रेमकथा हो या लोककथाओं व किंवदतियो मे पशु-पक्षी प्रेम की कथाए, सामाजिक परपरा के प्रथम विरोध का यह परिणाम यहा बेहद मानवीय घटना के सयोग की तरह घटित होता है। यही आधुनिकता और बौद्धिकता पाठक मे ऐसा विवेक पैदा करती है कि अतीत का एक अनसोचा रूप उसकी आखो में झलमलाने लगता है। अतीत के मैल की जो परत उतर जाती है, उसके बाद यथार्थ की अनुभूति आकाश मे उडाने के बजाय ठोस धरती पर ले आती है। मदन काशी, तीन घेरे एक क्षितिज, कामराज भडासुर, समया माता, दक्षिणेश्वर ने कहा जैसे निबधों मे समूची भारतीय सस्कृति के तत्त्वो की ऐतिहासिक व्याख्या निहित है। काल के नैरंतर्य को शाश्वत मानकर लगनेवाला समया माता का मेला हो, या मातृहता परशुराम की जन्मस्थली के पास श्रवण कुमार की माता-पिता के प्रति घृणा, आधुनिक वैज्ञानिक सदर्भों मे ये मिथ एक नया अर्थ ग्रहण कर लेते है। युवकों की अवज्ञा व उच्छृखलता का कारण खोजता लेखक जिस परिणाम पर पहुंचता है, वह एक चमत्कृत कर देनेवाले अर्थ से सयुक्त हो जाता है। पितृ संताक व मातृ सताक समाज के सक्रमण की प्रक्रिया क्या केवल धार्मिक तत्त्ववाद है, या उसमे समाज के विकास के महत्त्वपूर्ण

सकेत हैं। अतीत के प्रति यही दृष्टिकोण शिवप्रसाद सिंह की वैचारिक व संवेदनात्मक जीवन-दृष्टि का आधार है, जहा इतिहास विधाता की शवसाधना आधुनिक युग की ओर मुखातिब होती है, जबकि इसमे साधक के अतीत की कब्र में ही फंसकर रह जाने का खतरा कम नहीं होता।

इन निबधों मे शिवप्रसादजी के कथाकार की नेपथ्य भूमि भी उपस्थित है। श्मशान, बनारस खो गया है, बीडा उठाइए, हिप्पियो का हैवन-वाराणसी, महाकाल के अलबम मे काशी को पढ़ने के बाद, निश्चित ही अलग-अलग वैतरणी तथा नीला चांद उपन्यासों का लोक कुछ ज्यादा परिचित लगेगा। यहां राधा, तारा का आत्मालाप और अपने अवमूल्यन की शिकायते पौराणिक मिथको को नये सदर्भ में देखने को बाध्य करती हैं।

शिवप्रसादजी का निबधकार अपनी यात्रा मे व्यक्ति स्वातंत्र्य और लोकतंत्र का हिमायती है और इन पर कहीं से भी आनेवाली बदिशो का सख्त विरोधी है। सत्य के साथ उन्हे अकेले रह जाना मजूर है, झूठ के साथ समूह में नहीं। यह आत्मसाक्ष्य कभी सात्त्विक क्रोध बनकर उभरता है, कभी घृणा। श्रद्धा और घृणा का यह समन्वित योग सत्य के प्रति निष्ठा से ही उपजता है, भले ही कभी-कभी यह बड़बोलेपन का शिकार हो जाता हो, कुरुचि में बदल जाता हो। ऐसा विचलन होने पर मुजीब के स्वाधीनता संग्राम के आगे माओ, चेग्वारा और लेनिन की क्रातियो के नक्शे बेकार हो जाते हैं। (मानसी गगा, पृ 159)। ऐसा दृष्टिकोण अतिशय भावावेग का परिणाम है। ऐसे अवसरो पर आरकेस्ट्रा की अलग आवाज बेसुरी लगने लगती है। सबका विरोधी हो जाने का परिणाम आत्मघात है, जो सार्त्र और कामू का नकारात्मक पक्ष रहा।

भारतीय सस्कृति के सनातन एव बुनियादी मूल्यों की पहचान के लिए शिवप्रसाद सिह मानवता के पक्ष मे देश की सीमाए लाघकर, विश्वप्रसिद्ध रचनाकारों के सृजनलोक मे जाकर वहा से भी अपने मतलब की चीजें लाने में नहीं चूकते। इस मामले में राहुल उनके आदर्श हैं। उनके लिए मानव सत्य साहित्यिक और राजनीतिक सत्य से कहीं बड़ा है। इसीलिए वे शासन-हुकूमत के सस्कृति और मनुष्यता पर ढाये जानेवाले अन्यायों का पूरी दृढता से विरोध करते है। पास्तरनाक के अवमूल्यन की उनकी चिंता और शिविरवादी राजनीति की बिडबना के प्रति आक्रोश बाजिब है। इसे आज रूस में पास्तरनाक की पुनर्प्रतिष्ठा से जोडकर देखने पर लेखक की दूरदर्शिता का अंदाज लगाया जा सकता है कि कैसे उसने घृणित प्रचार का शिकार न होकर, अकेले एक ऐसे रचनाकार का पक्ष लिया, जो आवश्यक था। 'कम्युनिस्ट शासन मे व्यक्ति की सत्ता और स्वतंत्रता को नकारनेवाली हुकूमत की लफ्फाजी का सख्त विरोधी' यह लेखक समाजवादी समाज के निर्माण व स्थापना का विरोधी नहीं। इसीलिए वह अंधपंथी होने के बजाय प्रेमी बनना पसंद करता है, जो दोषों की आलोचना के लिए स्वतत्र होता है, गोकि उसकी नीयत पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। वह शातिप्रिय

द्विवेदी की विज्ञान व मशीन विरोधी धारणाओ को मूर्खता और युद्ध यूटोपिया कहकर खारिज कर सकता है, तो ह्विटमैन के बहाने अमेरिकी सरकार वा साहित्य की अतर्विरोधी विसगति का भी उतनी ही निर्ममता से पर्दाफाश कर सकता है। वह नेहरू की अव्यावहारिकता व अतर्द्वंद्व पर सही जगह उंगली रखने में भी नहीं झिझकता, भले ही वे उसके जीवन के व देश के आदर्श पुरुष रहे हो। 'वे इतिहास के स्वप्नदृष्टा जबरदस्त थे, इतिहास को मोड़ देनेवाले कार्यशील व्यक्तित्व उतने बडे नहीं।' ये जैसे नेहरू के परस्पर विरोधी तत्त्वो की कुजी है।

इसी निष्पक्ष दृष्टिकोण के कारण शिवप्रसादजी का देश की आजादी से मोहभंग होता है और विभाजन दु:स्वप्नो की लबी कतार से जुड़ा दिखता है। तब पद्रह अगस्त एक जाली सिक्का मात्र रह जाता है, जो बस सत्ता पक्ष द्वारा जनता को बुद्धू बनाने के काम आता है। औद्योगिक विकास की मीनारों के तले और उनके कारण देश मे बढते दैन्य, गरीबी, शोषण, अशिक्षा, भुखमरी को देखनेवाला ही इस यथार्थ का समझ सकता है। यह केवल कहानी-किस्सों की हक़ीकत न होकर समाज की वास्तविकता है, जिसे शिवप्रसादजी पन्नो, डायरी के पन्नो, यात्रा विवरणों में अंकित करते चलते है। सेलम और बंगाल में देवी-देवताओ तथा राष्ट्रीय महापुरुषों की मूर्तियो का टूटना 'विश्वास के मुखौटे' का टूटना है, जो मोहभग का अनिवार्य परिणाम है, लेकिन केवल ध्वस शिवप्रसादजी की प्रशसा नही पा सकता, जब तक कि उसके पीछे पुनर्निर्माण व सही विकल्प की तलाश की कोशिश न हो। वे आज भी उत्तर और दक्षिण भारत के बीच पनपे सास्कृतिक-राजनीतिक विद्वेष का सामधान कार्तिकेय में खोज लेना चाहते है। भारत, पाकिस्तान तथा बंगलादेश के विभाजन की पृष्ठभूमि से लेकर आज तक घटित घटनाए शिवप्रसादजी को सर्वाधिक उत्तेजित करती हैं। बूढा वसत और मै, अविससा = शवासन + खामख्याली, लडाई अभी जारी है तथा अपनी सस्कृति से गद्दारी का नाम 'बिहारी मुसलमान' निबधों मे वे बार-बार इसी समस्या से उलझते हैं कि इसका हल किसी का पक्ष लेने मे नही, वस्तुस्थिति के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के द्वारा खोजा जा सकता है। इस कार्य में राजनीतिज्ञों के बजाय साहित्य व सस्कृति से जुडे लोग विश्वसनीय हो सकते है। उदार सास्कृतिक दृष्टि व मानवतावादी दृष्टिकोण सस्कृतिकर्मी लोगो को मोहरे की तरह इस्तेमाल करने मे झिझकता है, जबकि नेताओं की जमीन ही लोगो को इस्तेमाल करने पर टिकी है। इसीलिए लेखक को 'अपने देश की राजनीति से, पार्टियो से, नेताओ से, न्यायाधीशों से, विधानसभाओ से, अपने से, सबसे घृणा है'। विभाजित व्यक्तित्व न तो व्यक्ति को छोड़ता है, न समाज को। इसीलिए लेखक मुसलमानो के भारतीयकरण पर जोर देता है ताकि वे डॉ अलीम व राही मासूम रजा की तरह के लोगों की राष्ट्रवादी धारा का हिस्सा बन सकें, अजनबी नहीं, प्रतिद्वद्वी नहीं। ऐसा सोचकर लेखक स्वय की नैतिकता व विवेक को भी जोखिमपूर्ण दाव पर लगाता है।

शासन की विश्व प्रचलित प्रणालियां व्यक्ति और समाज को अनुशासित करने तथा विकास की पद्धति को नियमित करने के लिए अपनायी गयीं, लेकिन व्यवहार मे ऐसा नहीं हो पाया। रामराज्य और वर्गविहीन समाज का यूटोपिया अभी तक केवल कल्पना की चीज है। 'हुकूमतें हमेशा झूठ बोलती हैं', 'शैतानियत का शासन', 'जनता की इच्छाओं का', जीने और जीते रहने की मामूली ख्वाहिशो को संगीनों की नोक पर उछालने की कोशिश करता है और आदमी के मामूली सपनो को अपने भद्दे बूटों से कुचल देने की वहशियाना हरकत करता है, केवल तेजतर्रार सूक्तिया नहीं हैं। वियतनाम, दक्षिणी अफ्रीका, बंगलादेश, अफगानिस्तान, फिलिस्तीन के ऐतिहासिक सदर्भ में इन्हे बखूबी समझा जा सकता है। महाशक्तियों के स्वार्थों में देश और जनता पिस जाते है। अतर्राष्ट्रीय गिरोहगर्दी के चलते स्वार्थ की सहिता की रक्षा ही परम पवित्र उद्देश्य बन जाती है। तब सत्य सत्य नहीं रह जाता। जुल्म और अमानवीयता के प्रति आखे बंद कर ली जाती है।

शिवप्रसादजी ऐसी विषम और जटिल सरचना के बीच कवचहीन आस्था को पूरी निष्ठा से जीना चाहते हैं, जिसका लाभालाभ उन्हें भोगना भी पडा है। साहित्य को आत्मान्वेषण की प्रक्रिया मानकर वे किसी वाद या दर्शन को साहित्य का आवरण बनाने से इंकार करते है और ऊपर से लादी हुई आस्था का उतना ही विरोध करते हैं, जितना आत्मघाती दिशाहीन अनास्था का। यह खुद को उसी चौराहे पर खड़ा करने की ईमानदारी है, जिस पर कबीर ने खुद को खडा किया। दभ के चलते यह साहस नही आ सकता। शकापुत्र बनाम अनास्था के बेटे, मन का दर्पण बनाम कुछ न होने का कुछ, मेरी कहानी की नेपथ्य भूमि, मै क्या हू, आरकेस्ट्रा के बीच एक अलग आवाज, मै और हम, और कस्तूरी मृग भटकता रहा निबध, शिवप्रसादजी के आत्मवक्तव्य के साक्ष्य है। यह साखी उनके साहित्यिक मूल्याकन को सही सदर्भ में देखने के लिए मदद कर सकती है, कोई जरूरी नहीं कि बहिर्साक्ष्य का सहारा ही न लिया जाये ?

निबध साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा विशिष्ट एवं व्यक्तित्व सपन्न विधा है। यहा स्थान, घटनाए व चरित्र कल्पनालोक के न होकर भौतिक जगत् के जीवित यथार्थ होते हैं। इसलिए निबंधकार रचना में खुद को या खुद के विचारो को छिपा नहीं सकता, यदि छिपाया जायेगा तो वह खुद उघडता जायेगा। फक्कडपन के ड्रामे से भी इस कार्य में कोई मदद नहीं मिलती। बहुपठित, बहुश्रुत होना जैसे निबंधकार के लिए अनिवार्य है। इतिहास, संस्कृति और समकालीन घटनाचक्र की व्याख्या तथा अपने अस्तित्व की पहचान के लिए, निबंधकार को बार-बार उद्यत होना पडता है। शिवप्रसाद सिंह इसी प्रक्रिया मे अपनी तथा विदेशी भाषाओं के श्रेष्ठ रचनाकारो के पास जाते है। उनके व्यक्तित्व और रचनाओ, विचारों को समझने की इस सस्मरणात्मक-समीक्षात्मक कोशिश मे—वे खुद को भी कहीं समझना चाहते हैं।

इसी कार्य से लेखक को निराला, राहुल, मैथिलीशरण गुप्त, नवीन, शांतिप्रिय द्विवेदी, अपने गुरु हजारीप्रसाद द्विवेदी, त्रिलोचन, संपूर्णानद, रामचंद्र वर्मा, शेक्सपियर, चेखव, हेमिग्वे, पास्तरनाक, कामू, माम, ह्विटमैन, शोलोखेव, शकर कुरूप तथा विनोबा के पास जाना पडता है। कभी यह संवाद रू-ब-रू है तो कहीं रचनाओं के माध्यम से। लेखक द्वारा उठाये गये प्रश्न व समस्याएं युगीन संदर्भों को स्पष्ट कँरती हैं।

यह साहचर्य मानसिक सहयात्रा के रूप में उभरता है। चेतना का स्तर और मनुष्यता की सवेदना भाषा और काल की सीमा से परे है। इसी माध्यम से लेखक को जहा विश्लेषण द्वारा परंपरा की अपने लिए खोज करनी पडती है, वहां यह कोशिश उसकी खुद की पहचान के लिए भी जरूरी होती है। कल्चर में उभरनेवाला यही इसानियत का जज्बा, उसे कस्तूरी मृग की तरह त्रिकाल मे भटकाता रहता है। यह रचनाकार की अनिवार्य नियति है, जो अभिशाप की तरह उसका पीछा करती है। इसे आत्मसात करने के लिए धर्म, मत, पंथ, वाद सभी बाहरी-अदरूनी बाधाओं को भटकना जरूरी होता है। अपने लेखन का मकसद तलाश किये बिना लिखना, मुशीगीरी से ज्यादा कुछ नहीं और कम-से-कम शिवप्रसाद सिंह की इस मुंशीगीरी मे कोई आस्था नहीं। प्राचीनों से गप लगाते आधुनिक का यह शिष्य गुरु की तरह ठहाके लगाता फक्कड भले न हो, जिद्दी होने की हद तक अक्खड जरूर है। इसीलिए वह विद्रोह और विरोध के बजाय चाषलूसी और स्तवन को ही अभीष्ट उपाय माननेवाली विनायक परपरा से न जुडकर आत्मविश्वासी कार्तिकेय के प्रतीक को आदर्श बनाता है, जो आज के सजग युवक का तेवर है। यह चुनाव कहीं उसकी खुद की जोखिम पसदगी से भी जुडा है, जो आंख मूदकर किसी का पिछलग्गू नहीं बनना चाहता, न रचना मे, न जीवन मे।

सांस्कृतिक मूल्यों की पहरेदारी

• *डॉ. कृष्णाबिहारी मिश्र*

डॉक्टर शिवप्रसाद सिंह ही ख्याति कथाशिल्पी के रूप में है, जो उनके गुरु पडित हजारीप्रसाद द्विवेदी मध्यकालीन साहित्य के अधिकारी विद्वान् और श्रेष्ठ निबंधकार के रूप मे सम्मानित थे। द्विवेदीजी की साहित्यिक परपरा के अन्यतम बारिस डॉक्टर शिवप्रसाद सिंह ने अपने समृद्ध रचना-ससार द्वारा अपनी बहुआयामी प्रतिभा का प्रमाण दिया है। अग्रणी कथाकार ही नहीं, अपने गुरु की परंपरा को समृद्ध करनेवाले विशिष्ट निबधकार के रूप मे भी सम्मान पाने योग्य उन्होने रचनात्मक कार्य किया है। 'शिखरो का सेतु', 'कस्तूरी मृग' और 'चतुर्दिक' शिवप्रसाद सिह के व्यक्ति-प्रधान निबंधों के सकलन बहुत पहले प्रकाशित हुए थे। इधर उनके विशिष्ट निबंधो के दो संकलन-- 'मानसी गगा' और 'किसको नमन करू' प्रकाशित हुए हैं जो उनके निबधकार का पूरा परिचय देते है।

उपन्यास-विधा निबधकार पडित हजारीप्रसाद द्विवेदी के लिए अथवा कवि-कथाकार अज्ञेय के लिए निबध-विधा जैसे द्वितीय कोटि की विधा नही थी वैसे ही कथाकार शिवप्रसाद सिह के लिए निबध-रचना बैठे-ठाले का धधा नहीं है। यद्यपि अपनी प्रकृति में निबध इतना उन्मुक्त होता है कि इसे अपेक्षाकृत साधारण और हल्की विधा मान लिया जाता है। इस भ्रम के चलते अप्रतिम लोग भी इस विधा मे कलम चलाने लगते हैं। मगर इस विधा की गुरुता-महत्ता स्तरीय प्रतिभा, गभीर रचना-धर्म और साधना की मांग करती है। हिंदी निबधकारों की, व्यक्ति व्यंजक निबधकारों की, सूची बडी नहीं है लेकिन प्रातिभ उष्मा प्रत्येक बिंदु पर विशिष्ट मुद्रा मे अम्लान है। गपशप की शैली में सामान्य से सामान्य प्रसंग को, मृत पुरा-वृत्तांत को, अपने समीपी ससार के जड-पदार्थ को, घर-आगन की नाचीज वस्तुओ को, परिचित लोक के प्राकृतिक परिदृश्य को, पशु-पाखी को बोली-बानी को अपने प्रातिभ सस्पर्श से निबधकार नया सास्कृतिक आयाम देता है, मूल्यों की पहरेदारी में अपने पूरे ससार को अपना सक्रिय सहयोगी बनाता है। निबधकार में संस्कृति के अंत:स्पदन को पकड़ने की अचूक दृष्टि और उसे निहायत आत्मीय शैली में उजागर करने की कला-सिद्धि

होती है। निबंधकार के वैदूष्य या अभिज्ञता के भार से कला की सहजता जहां बाधित होती है, वहीं निबध विधा क्षत होती है। विज्ञप्त तथ्य है कि पांडित्य-प्रदर्शन के मोह में पड़कर कुछ नामावर निबंधकारों ने इस विधा की उदार मर्यादा के साथ अनाचार किया है। जहां तक पूरी विधा की पंडिताई का प्रश्न है निबंधकार पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी और पडित विद्यानिवास मिश्र अग्रणी हैं किंतु कुछेक दूसरे निबंधकारो की तरह पाडित्य बोझिल मुद्रा इनके निबंधों में कहीं नहीं दिखायी पडती, यद्यपि ज्ञान की समृद्ध लहर इनके निबधों में सर्वत्र दिखायी पडती है जो अपने पाठको के जीवन मे गौरैया की तरह निताात आत्मीय अंदाज में घुसकर उसे आलोकित कर देती है। शिवप्रसाद सिंह के निबंध इसी जाति के निबंध हैं। इनके निबंधों में पांडित्य की आतक मुद्रा नहीं दिखायी पडती, अनुभूति की उष्मा और अभिज्ञता सहज अभिव्यक्ति है। सहज शैली बडी से बडी बात को भी सरलता से संप्रेषित कर देती है जब कि कलात्मकता का अतिरिक्त आग्रह और आरोपित पंडिताऊ शैली अदना बात को भी पाठको के लिए दुरूह बना देती है। प्रसिद्ध निबंधकार श्री कुबेरनाथ राय की शैली का यही ऋण पक्ष है। शिवप्रसाद सिंह के निबधों में द्विवेदीजी के निबधो के स्तर का सहज खुलापन और विद्यानिवास मिश्र के निबंधों का लालित्य भले ही न हो किंतु कुबेरनाथ राय जैसा अनावश्यक आरोपण का आग्रह उनमें नहीं है। कुबेरनाथ राय के निबधों मे लेखक का अध्ययन मुखर है, धरती की संवेदना एक अश तक चुप है। विद्यानिवास मिश्र के निबधों मे, वैदुष्य-समृद्धि के बावजूद, धरती की संवेदना बोलती है, सहज ललित मुद्रा मे। शिवप्रसाद सिह की निबंध शैली और दृष्टि द्विवेदीजी के अधिक निकट है। दोनों मे जो अतर है वह दोनो के व्यक्तित्व का और पीढियो का है।

दीर्घकाल से नगर मे रहनेवाले शिवप्रसाद सिंह का मन गवई है। गाव के चेहरे-चरित्र और ग्रामीण समस्याओ को ही अधिकतर उन्होने अपने कथा-संसार का उपजीव्य बनाया है। निबंध रचते समय भी मुख्यत' वे गाव की जमीन पर ही खड़े दिखायी पडते हैं। वहीं से देश की ज्वलत सास्कृतिक समस्याओ पर आलोकपात करते है। अतीत-वर्तमान की बहुरगी अभिज्ञता उनके निबंधों को विचार-विशिष्ट बनाती है। कोरा वाग्जाल व्यक्ति-व्यजक निबध की सही पहचान नहीं हो सकती, वे समझते हैं। सरस बतकही में भी आदमी विचार-पोषण खोजता है। शिवप्रसाद सिह के निबध अपने पाठकों को विचार-पोषण से वंचित नहीं करते। अपने पाठको को सबोधित करते उन्होंने लिखा है

'आपके हृदय मे अनत ज्ञान का समुच्चय गुटका रूप मे आपके मानस की पद्मकली के भीतर ही छिपा है, मैं सिर्फ उसकी ओर इशारा ही तो कर सकता हू जिसने स्वय उस आतरिक कस्तूरी गध के स्रोत-स्थान की जानकारी प्राप्त नहीं की है, वह आपकी भला क्या सहायता कर सकता है।' शिवप्रसाद सिह के निबधों मे समर्थ सास्कृतिक इशारा है। सहज और आत्मीय इशारा।

शिवप्रसाद सिंह ने हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'शवसाधना' शीर्षक निबंध पढा है, उसका मर्म समझा है। पुरा प्रसंगों और मिथकों से सांस्कृतिक प्रकाश अर्जित करने की कला उन्हें आती है। सडी रूढियों के विरोध के लिए वे अपने निबंधों में बार-बार पुराने प्रसंगों और लोककथाओं का सहारा लेते हैं। 'पशु प्रेम मानुष द्वारे' शीर्षक निबंध का उपसंहार करते शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है, 'पशु ने बुद्धि के ठेकेदार मनुष्य को हृदय की शुद्धता का नया सदेश दिया। छल, छद्म, कपट, स्वार्थ में पले लोगों के सामने पशु-जगत् की शुद्धता, सचाई और निश्छलता का प्रमाण पेश किया। उर्वशी और पुरुरवा की प्रेमकथा मानव-प्रेम के इसी नये अभियान का विजय-ध्वज है।' इसी प्रकार 'टेरा कोटा का साक्ष्य' शीर्षक निबंध में भागवत् प्रणेता को संबोधित करते उपेक्षिता कृष्णप्रिया कहती है, 'राधा और कृष्ण का प्रेम आत्मा और आत्मा का मिलन था। उसमें शरीर का ऐश्वर्य नहीं, हृदय का रस तत्त्व था। तुम्हारा भागवत् ऐश्वर्य की कहानी कहता है।।।। पर जब दिव्य मानव की महायात्रा शुरू होगी, तो वह सीमा गंतव्य नहीं, प्रस्थान-शिला बनेगी और तब मनुष्य की मानस-यात्रा का नेतृत्व करेगी प्रज्ञा। उस प्रज्ञा के लोक में कृष्णप्रिया रुक्मिणी नहीं।।। राधा होगी। जीवन का लक्ष्य ऐश्वर्य नहीं आनद होगा।।।। सो वैस।' ऐश्वर्य तृषा मनुष्य के रस को सोखती रही है, आनंद के मूल आस्वाद से उसे दूर करती रही है। उपभोक्ता सस्कृति की माया में फंसा आज का मनुष्य ऐश्वर्य-मोह का कायल होकर आनद का वास्तविक स्वाद भूलता जा रहा है। निबधकार शिवप्रसाद सिह बडा प्रासंगिक सवाल उठाते हैं, 'ऐसा क्या हुआ कि भारतीय चित से रसमादन का लोप हो गया और उसकी उत्कट मुर्दनी नीरसता और ऊब ने ले ली।' जो कहते हैं कि विजातीय सस्कृति के सपर्क का यह स्वाभाविक परिणाम है--उनके निदान को शिवप्रसाद सिंह का विवेक गलत मानता है, 'दूसरी सस्कृतियों के सपर्क से शक्तिशाली संस्कृति और भी समृद्ध होती है, कमजोर संस्कृति उसके भार से दबकर लंगडी हो जाती है। किंतु किसी संस्कृति की नकल निःसंदेह बुरी होती है क्योकि वह हमें लंगडी नहीं 'खेत का धोख' बना देती है। एक बहुरूपिया और जनखा बनाकर छोड देती है। भारत बहुत-सी सस्कृतियो के सपर्क मे आया।।। पर जब से उसने विदेशी सस्कृति की नकल शुरू की है वह विराट की जगह 'मिनी' हो गया है। और इस 'मिनी' भाव को आबोहवा के पोषकों को लक्ष्य कर शिवप्रसादजी कहते हैं-- 'अरे निर्लज्ज, तेरा घर तो चूहा खाये जा रहा है और तू ऊपर से छप्पर बाधने की बात क्यों करता है। यह चूहा है नकली बाना धारण करनेवाली अवसरवादिता का। इसी ने हिंदुस्तान की रूह को कुतर कर रख दिया है।' और यही भारत के रस को सोख रहा है, भारतीय चित से मधु को अपनी मैल से प्रदूषित कर उसके सहज उल्लास को मुर्दा बना रहा है। स्वाभाविक परिणाम यह है कि 'हवस और अतृप्ति के कारण लोगों के पास सुदरता को कुछ देर तक सहने की शक्ति ही नहीं बची है।'

शिवप्रसाद सिह की सस्कृति सुमुख प्रज्ञा विचार-जगत् मे व्याप्त अनेक भ्रांतियों का सबल तर्कों द्वारा निरास करती है। एक भ्रम तथाकथित प्रगतिशील लोगो मे यह है कि आध्यात्म और दरिद्रता का घनिष्ठ सबध है, परालोक की सूझ 'हारे को हरिनाम' है। ऐसी भ्रातियों और प्रयोजन विशेष से फैलाये जा रहे भ्रमो से हानेवाली सास्कृतिक क्षति को शिवप्रसाद सिह समझते है। इसलिए ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर अशुभ मतव्य का बडी दृढता के साथ प्रतिवाद करते है, हिदुस्तान तब समृद्ध था तभी उसके यहा आध्यात्म भी अपनी अंतिम चोटी पर था।

शिवप्रसाद सिह उन निबधकारो से अलग है जो ललित निबध रचने बैठते है तो भाषा के अनावश्यक लालित्य मे भटक जाते हैं। भाषा लालित्य के भार से थके निबधो को अज्ञेयजी ने मौज मे 'भटक निबध' कहा था। शिवप्रसाद सिह के निबधो मे यद्यपि लालित्य की कमी नहीं है और अपनी पीढी के विशिष्ट गद्यशिल्पी के रूप मे ये सम्मानित भी लेकिन लालित्य मोह मे इनकी प्रतिभा भटकती नहीं और न तो निबधकार शिवप्रसाद सिह अपने पाठको को वाग्जाल मे उलझाते है। भारतेदुकाल के निबध अपने समय की समाज-दशा और सस्कृति की उच्छल अभिव्यक्ति है। शिवप्रसाद सिह के निबध अपने समय की ज्वलत सास्कृतिक समस्याओ पर बडी सहजता से आलोकपात कर मूल्यो की ढांही के प्रति लोक-मन को सचेत करते है।

('आज' वाराणसी, 20 अगस्त, '88 से साभार)

सलीके से किस्सा कहने की दुर्लभ कला

• *विजयदेव नारायण साही*

इधर अरसे से एक हवा ऐसी रही है कि गावो को लेकर कथा-रचना एक तरह का पिछडापन है, आधुनिकता से वंचित होना है। आधुनिकता का लक्ष्य जब लक्षणों की तरह गिनाया जाने लगे, तब यह जरूरी हो जाता है कि यह सवाल पूछा जाये कि आधुनिकता भी एक साहित्यिक रूढि तो नहीं होती जा रही है, जिसके फंदे से बाहर निकला जाये।

कुछ बरस पहले गाव बनाम महानगर का विवाद चला। यहा तक कहा गया कि गाव से ज्यादा आधुनिक कस्बे के बारे मे लिखना है, कस्बे से ज्यादा नगर के बारे मे, नगर से ज्यादा महानगर के--और शायद हिदुस्तानी महानगर से भी ज्यादा यूरोप या अमरीका के महानगर के।

यह बहस ज्यादातर कथा-साहित्य को लेकर चली। कविता में भी महानगर का एक झोका आया, लेकिन इस झोके ने उतना साफ कठघरा नही बनाया। कथा-साहित्य मे भी कहानी मे ही ज्यादा शोर मचा। जितनी तन्मयता लोगों ने कहानी लिखने और कहानियो के बारे मे बडी-बडी घोषणाए करने मे लगायी, उतनी उपन्यासो मे नही। पिछले बीस वर्षों पर निगाह डालने से उपन्यासो का रकबा काफी खाली-खाली-सा लगता है। जो कुछ उपन्यास है भी, वे ऐसे नही हैं जिन्हें केद्र मे रखकर आदोलन का शोर मचाया जा सके। उतना भी नही, जितना कुछ और पहले आंचलिक उपन्यासो को लेकर मचा था।

कहानी और उपन्यास की इस भिन्न गति को देखकर क्या नतीजे निकाले जा सकते हैं ? ऐसा नहीं है कि कहानियो की दुनिया मे उलट-फेर नहीं हुआ। आश्चर्य की बात यह है कि सिरे से बदला हुआ यथार्थ कहानियो मे ही व्यक्त होता रहा। इसमें उपन्यास के क्षेत्र में वैसी हलचल पैदा करने की क्षमता नहीं थी।

कहानी को लेकर तेज घोषणा-पत्र लिखे गये, या लेख लिखे गये, जिनका लहजा घोषणा पत्रो सरीखा था। नतीजे निकाले गये जैसे पूरा युग यथार्थ सिरे से बदल गया।

घोषणाओं का स्वर कुछ ऐसा था कि युगबोध संबंधी ये नतीजे अगर कहानियों पर लागू होते हैं, तो उपन्यासों पर भी। नयी कहानी तो चमत्कारी ढंग से स्थापित हुई, पर नया उपन्यास नहीं जन्मा।

लेखकों के द्वारा दिये गये युग-परिवर्तन संबंधी घोषणा-पत्रों से सिर्फ इतना नतीजा निकलता है । कुछ लेखकों को घोषणा-पत्रों की भाषा में बोलने की जरूरत महसूस हुई। आलोचक के लिए घोषणा-पत्र कच्चे माल की ही तरह हैं, युग-परिवर्तन के प्रामाणिक संकेत नहीं। कोई जरूरी नहीं है कि युग वैसा ही हो जैसा घोषणा पत्र में कहा गया है। या कृतिकार मानस का रिश्ता युग से उसी तरह जुडता हो जिस तरह बताया गया है।

कहानियो का इस तरह बहस के केंद्र में आ जाना जैसे साहित्यिक कृतित्व का पूरा दारोमदार--बल्कि युग की पूरी परिभाषा--नहीं पर निर्भर हो, कुछ उसी तरह असंतुलित लगता है जैसे एकांकियों की बाढ़ के साथ घोषित कर दिया जाये कि नाटक का कायाकल्प हो गया है, जबकि वास्तविक बडे नाटक न लिखे जाये। इस तरह के आदोलन मे एक क्षीणता, एक तरह का सतहीपन वर्तमान रहेगा, जो कभी-न-कभी खटकेगा। कहानियों के नाम पर तथाकथित आधुनिक कथादृष्टि की परिभाषा के साथ यह सवाल हमेशा बना रहेगा, कि यदि यह कथादृष्टि प्रामाणिक और अनिवार्य है तो उपन्यासो तक आती-आती क्यों सूख जाती है। या तो उपन्यास रचती नहीं, या रचती भी है तो कमजोर, खपाचियों से जोडे हुए, दिमाग पर हावी होने में असमर्थ।

शायद इसी तरह की उलझन से उकताकर डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहानी आदोलन के पूरे उभार पर यह कहा कि कहानी कलात्मक विधा है ही नहीं। मै इतनी दूर तक तो नही जा सकता, क्योंकि इतना कहते ही दिमाग मे बहुत से उदाहरण मडराने लगते हैं, लेकिन इतना तो जरूर लगता है कि कहीं-न-कहीं कथाकार होने का दावा करनेवाले के लिए, उपन्यास की कसौटी पर चढना जरूरी है। खास तौर से तब जब दावा लबे-चौडे इकलाब से जुडा हुआ हो। गंभीर आलोचना मे उपन्यास के मुकाबले मे कहानी का अध्याय निश्चय ही छोटा होगा।

अगर उपन्यास और कहानी की दुनियाए अलग-अलग हों, तो ज्यादा प्रामाणिक उपन्यास की ही दुनिया माननी होगी। इस दृष्टि से देखने पर कहानी की तेज रफ्तार उपन्यास पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाती बल्कि उपन्यास की मन्थर गति कहानी के तमाम कुहराम पर प्रश्नचिह्न लगाती दिखती है।

बहुत कुछ इसी प्रश्नचिह्न मन:स्थिति में मैने श्री शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' को पढा। काफी अरसा पहले श्री नरेश मेहता का उपन्यास 'यह पथ बंधु था' पढा था। उसकी याद आयी। 'वैतरणी' नाम से ही प्रेमचंद के 'गोदान' की याद भी आयी। पता नहीं वैतरणी नाम रखते समय भी शिवप्रसाद सिंह को गोदान

के प्रतीक की याद थी या नहीं। दोनों प्रतीकों में कितना साम्य है। उपन्यास पढ़ जाने के बाद इन दोनों उपन्यासों में प्रतीकों का रिश्ता भी दिखने लगा। प्रेमचंद का होरी भी वैतरणी में ऊभ-चूभ कर रहा है। लेकिन पूंछ शायद वैतरणी को पार कराने में मदद कर दे। श्री शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास में संस्कारों की गऊ न जाने कहां खो गयी है, शेष सिर्फ वैतरणी ही वैतरणी है जिसमें सब ऊभ-चूभ कर रहे हैं। इस वैतरणी को पार नहीं किया जा सकता, सिर्फ इससे भागकर जाया जा सकता है, गाजीपुर में डिग्री कॉलेज की अध्यापकी करने के लिए।

श्री नरेश मेहता के उपन्यास 'वह पथ बंधु था' की याद आयी, इसलिए कि उसमे भी वैतरणी की तलाश है। उसका नायक भी गांव की वैतरणी से भागता है, लगभग उसी ललक से जिस तरह विपिन भागता है, या यों कहिए कि पढाई और तकदीर के सहारे छूटकर जाता है, करैता ग्राम से। लेकिन श्री नरेश मेहता का नायक उपन्यास के बीच में ही निकलता है। नागपुर, फिर बनारस। लेकिन वैतरणी फिर भी पीछा नहीं छोडती। कथा चलती रहती है। एक के बाद दूसरी वैतरणी। स्वर्ग कहां है ? लेकिन 'यह पथ बंधु था' का वैतरणी बनाम स्वर्ग का नाटक इतना खरा नहीं है। उसमें अक्सर ऐसी जगह हैं जो न स्वर्ग हैं न वैतरणी, सिर्फ सपाट हैं। जैसे नाटक का एक दृश्य खत्म होने के बाद परदा देर तक गिरा रहे, फिर उठे और दूसरा दृश्य हो।

श्री शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास शुरू किया तो अंत तक पढता गया। उपन्यास काफी भारी-भरकम है, लगभग सात सौ पृष्ठों का। मगर बीच में सरसरी तौर पर सफहे पलटने की नौबत नहीं आयी। शुरू से आखिर तक एकतान प्रवाह खत्म करके आश्चर्य हुआ, क्योंकि ऐसा अनुभव इधर कम हुआ था। श्री अमृतलाल नागर के बडे-बड़े उपन्यासों मे, जिनका बड़ा नाम है, बीच-बीच मे बहुत-से पृष्ठ छोडने पडे थे। किसी उपन्यास की प्रशंसा में इस चीज का जिक्र करना कोई बहुत बडी या जरूरी बात नहीं है। लेकिन बिना उलझे या उलझाये सात सौ पृष्ठों तक सलीके से किस्सा कह सकना जहा इतना अलभ्य हो वहा यह सुथरापन भी मन को खुश करता है। प्रेमचंद के 'गोदान' पर आज तक लोग आरोप लगाते हैं कि उसके बहुत से हिस्से की बनावट कमजोर है। अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' तो पूरा ही न हो सका। 'नदी के द्वीप' में भी, अपनी तमाम दुर्लभ अनुभूतिशीलता के बावजूद, लगता है कि किस्सा खत्म कैसे हो, यह सवाल भारी सवाल बन गया है। मैं यह नही कहता कि 'बुनावट का सुथरापन' बहुत बड़ा गुण है, लेकिन है। इसलिए मुझे लगा कि मुझे उपन्यासकार के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। जैसे इबारत खुशखत लिखी देखकर एक तरह का कलात्मक सुख मिलता है।

लेकिन इबारत पढ जाने के बाद यह सवाल जरूर दिमाग में घूमने लगा—क्या गाजीपुर किस्से का अंत है ? अलग-अलग वैतरणी की परिभाषा की तलाश है, तो

इस उपन्यास का एक दूसरा खड होना चाहिए जहां विपिन गाजीपुर डिग्री कॉलेज में नौकरी शुरू करता है। फिर क्या गाजीपुर का डिग्री कॉलेज एक नयी वैतरणी या नये किस्म की अलग-अलग वैतरणियों की टकराहट नहीं होगा। उपन्यास का अंत इन शब्दों के साथ होता है :

"उधर पछिमी छोर पर पेडों की पांत मे खोया गाव का हाशिया, काजल की लकीर की तरह। बीच में ढलते सूरज की रोशनी में फैला है करैता का सिवान, कहीं हरियाली नहीं, कहीं जल नहीं, बिल्कुल वीरान, तेज बुखार में तपती उदास आंख की तरह।"

गाव का हाशिया और उस हाशिए के बाहर गाजीपुर की एक दूसरी दुनिया, जहां चार सौ रुपये माहवार की तनख्वाह है, इतिहास की अध्यापकी है, और देख-रेख के लिए गाव के एकमात्र सबके सगे, मस्तमौला, खुदाई खिदमतगार दयाल महाराज।

वैसे वैतरणी से गाजीपुर को अलग करने के लिए श्री शिवप्रसाद सिंह ने हाशिया भी खींच दिया, और चार सौ रुपये की नौकरी का थोड़ा झूठ भी बोला। क्योंकि सब जानते हैं कि गाजीपुर क्या किसी डिग्री कॉलेज में शुरू में चार सौ रुपये की नौकरी नहीं मिलती। मुझे झूठ पर एतराज नहीं है। हाशिए में किसी कुलबुलाती हुई वैतरणी पर एतराज है । मन मे सवाल अटका रह जाता है । अभी कहानी आधी हुई है। एक खड और होना चाहिए। फिर गाजीपुर से भागकर वाराणसी, एक खंड और। वाराणसी से दिल्ली...कहा तक वैतरणी का विस्तार है।

राही मासूम रज़ा के उपन्यास 'आधा गाव' की याद इस उपन्यास के साथ आना स्वाभाविक है। दोनो ही गाव के महाकाव्य की तरह लिखे गये हैं। गंगोली हो या करैता-- वही लोगों का व्यक्ति से ज्यादा रिश्ता होना-- जमीदार, हरवाह, काश्तकार, पट्टीदार, फौजदारिया, इमामबाडा या देवी थान, शादिया, बच्चो की पैदाइश, खेतो का झगडा या जला दिया जाना, जमींदारी का ट्टना, कुलीनो का पतन, राजनीति, छोटी जातियो का उठना, दारोगा, लूटपाट, लडकियो का जवान होना, भागना, नाजायज बच्चे पैदा करना, बलात्कार, तीज-त्योहार और इन सबके साथ पस्ती, गिरावट, उठने की बार-बार कोशिश करने के बावजूद भी एक तरह की लाजिमी पराजय और इन तमाम चलती हुई गतियों मे फसे हुए लोग, लोग अनगिनती लोग जिनके नाम भी उपन्यास पढते समय बार-बार भूल जाये, एक सपाट परदे पर तिलमिलाती हुई तसवीरे जिनमे तीसरा आयाम नही है, और यदि है तो वह तीसरा आयाम सबके लिए समान है दूर-दूर तक फैला हुआ सीवान तपती उदास आख की तरह।

फिर भी दोनों उपन्यासो मे फर्क है। राही मासूम रजा का उपन्यास एक गाव या गाव के सामाजिक अश के, गगोली के शीया-सैयदों के सामाजिक दस्तावेज की तरह लिखा गया है। राही मासूम रजा के सामने एक मुकदमा है, जिसे उन्हें साबित करना है। एक तसवीर पेश करना है। श्री शिवप्रसाद सिंह का उद्देश्य ज्यादा जटिल

है। उन्हें एक अन्वेषण यात्रा करनी है। वह अन्वेषण है वैतरणी का। करैता भी सामाजिक दस्तावेज है। लेकिन वह एक रूपक के आवरण में लिपटा हुआ है। श्री शिवप्रसाद सिंह की समस्या उन सभी उपन्यासकारों की समस्या है जो सामाजिक दस्तावेज के जरिए जीवन की परिभाषा तलाश करना चाहते हैं। एक तरह से इस समस्या का जन्म उपन्यास के साथ-साथ ही हुआ। क्या उपन्यास को सामाजिक दस्तावेज होना है या जिंदगी का रूपक ? और यदि इन दोनों लक्ष्यों में तनाव या टकराहट हो तो उपन्यास का क्या होगा ? इस तनाव ने उपन्यास के रूपविधान में बड़े-बडे प्रयोगों की नींव डाली। सामाजिक दस्तावेज को कई बार उपन्यास से निकाल बाहर किया गया। लेकिन वह घूम-फिरकर बारम्बार उपन्यास में उपस्थित हो जाता है।

चूंकि राही मासूम रजा का उद्देश्य सरल है इसलिए उनके उपन्यास का अंत उतना असंतोषजनक नहीं लगता। जिस तरह झूले झुलानेवाली बड़ी चरखी की अनगिनत कुर्सियों के ऊपर तरह-तरह के लोग ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर चक्कर काटते हैं, उसी तरह तमाम तसवीरें राही के उपन्यास में आधी पहचानी, आधी अनपहचानी आखों के सामने से गुजरती रहती हैं—फिर एक वक्त आता है जब उपन्यासकार चरखी का चक्कर बंद कर देता है, और कहता है—'इत्यादि, इत्यादि'। उपन्यास इसी 'इत्यादि, इत्यादि' पर खत्म हो जाता है। लोगों से घिरे हुए एक हकीम अली कबीर आखिरी सांस लेते हैं।'

कामिला चीख़-चीख कर रोने लगी,

ऐन उसी वक्त फद्दू आया और उसने फिस्सू मियां के कान में कहा,

'जल्दी से घर चलिए ! सैयदा के हां लडका भवा है।'

फुस्सू मिया लाश पर एक निगाह डालकर चुपके से बाहर आ गये !

किस्सा गगोली से शुरू होता है, गंगोली पर खत्म हो जाता है। और यह गंगोली ज्वार-भाटा से भरे हुए समुद्र की तरह, एक इकाई है जिसमें मौत और पैदाइश की लहरें उठती-समाती रहती हैं। मगर समुद्र खुद एक अव्यय की तरह कायम है। राही की कहानी का कोई तार्किक अंत नहीं है। वह कहीं भी खत्म हो सकती है, आगे भी चल सकती है, 'इत्यादि' की तरह। वह जिस अनंतता को कायम करना चाहते हैं, वह अनंतता गणित के अंकों का अनंतता है : 1,2,3... इत्यादि। यह अनंतता अर्थ की अनंतता नहीं है। इसीलिए उपन्यास के बाद यह नहीं लगता कि अभी आधी बात कही गयी है।

सामाजिक दस्तावेज पर रूपक आरोपित करना खतरे का काम है । यद्यपि हर महत्त्वाकांक्षी उपन्यास इस खतरे को उठाता है । 'अलग-अलग वैतरणी' का असंतोषप्रद अंत इस महत्त्वाकांक्षा के ही कारण होता है । छोटी-सी भूमिका में लेखक न कहा है :

"इस उपन्यास पर मैं कई बरसों से काम करता आ रहा हूं। कई बार काटा-पीटा

और रद्दोबदल किया है। जानता हूं यह अंतिम रूप भी मेरे मन के करैता की सही 'ठनक' को बांध नहीं पाया है।..."

यदि यही सृजनात्मक प्रेरणा इस उपन्यास की मूल भाषा है तो लेखक को 'आधा गांव' की तरह हाशिए के भीतर ही रहना चाहिए था। अर्थ के अन्वेषण का प्रयास नहीं करना चाहिए था। उसी भूमिका में इस बात की चिंता नहीं करनी चाहिए थी कि कहीं यह उपन्यास 'आंचलिक' उपन्यासों की पंक्ति में न डाल दिया जाये। शायद 'ठनक' बंध जाती, तो उपन्यास निश्चय ही आंचलिक होता। रेणु का 'मैला आंचल' में 'ठनक' नहीं तो क्या है, जो आंचलिकता उत्पन्न करती है ?

और फिर करैता, सिर्फ करैता कहां रह जाता है ? वह भी तो 'गांव' हो जाता है—एक रिश्ता। लोगों का एक जमाव जो पटवारी के कागजात की एक भौगोलिक सीमा में घेर दिया गया है ताकि जन्मे, मरे और खेती से पुरखों से, और बकौल खलील मिया के 'जहालत, गरीबी और तंगखयाली' की जमती हुई परतों मे डूबता-उतराता रहे।

यह सवाल बना रहता है कि कहानी करैता की है या करैता के माध्यम से मझगंवा, विराहिमपुर, जाठी, कठौता या इसी तरह के नामोवाले सभी गांवों की कहानी है ? तब इसमे 'ठनक' अकेले करैता की कैसे होगी ? उपन्यास के अत में जब जग्गन मिसिर कहते हैं

"कीनारामवाली कथा मे तो विपिन बाबू यह भी आता है कि उन्हे कनवां के लोगो ने शरबत पिलाया । आदर-सत्कार किया । और उन्होंने खुश होकर वरदान दिया था कि तुम्हारी बस्ती फूलती-फलती रहेगी । यानी कनवां आबाद, करैता बरबाद, यही न ?

हा, ऐसा ही कहते हैं लोग ।

तो कनवां की हालत तो करैता से अच्छी होनी चाहिए न ? आप कभी वहा गये हैं ? साल-भर यहां रहे पर बगल के गाव में तो गये न होंगे।

जाकर वहा देखिए। शायद तब आप करैता को गाली देना छोड़ दें। तब लगता है करैता को टकनेवाले हाशिए की स्याही फैलती जा रही है और उस हाशिए के पीछे जो ठनकता है, वह महज करैता नहीं है, और कुछ भी है।"

इसीलिए मैं श्री शिवप्रसाद सिंह के इस उपन्यास को आंचलिकता की पक्ति मे न रख, सामाजिक दस्तावेजो के साथ ही नत्थी करूंगा, बहुत ही खुशखत लिखी हुई दस्तावेज। सामाजिक दस्तावेज तो राही मासूम रज़ा का उपन्यास 'आधा गांव' भी है, लेकिन उसमें आंचलिकता के रंग कहीं-कहीं झलकते है। शुद्ध सामाजिक दस्तावेज दोनों में कोई नहीं है। 'आधा गांव' शुद्ध आंचलिक और शुद्ध सामाजिक दस्तावेज़ के बीच में स्थित है, जबकि 'अलग-अलग वैतरणी' शुद्ध सामाजिक दस्तावेज और जीवन के प्रतीकात्मक अर्थ के बीच स्थित है।

इस कशमकश में ही विपिन, जो कथा का केंद्र है, लुंज-पुंज हो गया है। करैता को एक इकाई या तत्त्व की तरह महसूस करने के कारण वह करैता से कटकर अलग हो गया है। उसका बाहरीपन, करैता के प्रति लेखक के तथा पाठक के बाहरीपन का प्रतीक है। उसके लिए करैता एक कठिन समस्या की तरह है जिसके साथ उसका एक ही रिश्ता बन सकता है कि वह उसे झुठलाने की कोशिश करे। यह रिश्ता अपने-आपमें एक दिमागी रिश्ता है। करैता से विपिन के जितने और संबंध हैं पैदायशी, खानदानी, या पुष्पी के साथ हलकी सिहरनवाले, उनकी भूमिका सिर्फ इतनी ही है कि दिमागी रिश्ते को थोड़े वक्त के लिए करैता से जोड़ दें। सिर्फ समस्या को इस तरह उपस्थित कर दें कि विपिन के लिए समस्या का साक्षात्कार करना अनिवार्य हो जाये। मगर उन रिश्तो मे इतना दम नहीं है कि विपिन को विचलित कर सकें, या भीतर का आदमी बना सकें।

जग्गन मिसिर कहते हैं कि विपिन उन थोड़े-से लोगो में से है जिनके पास चेहरा है। बाकी भीड़ बिना चेहरेवालो की है। विपिन के पास चेहरा सिर्फ इतना ही है कि वह पढ़ा-लिखा है, गाव को समस्या की तरह देखता है। वरना उसके जैसा बिना चेहरे का पात्र पूरे उपन्यास मे नहीं है। क्योकि विपिन व्यक्ति नहीं है, देखने का ढंग है।

विपिन जैसे पात्र को केंद्र में रखने का मतलब है, करैता को बौद्धिक रूप से देखे जानेवाले गाव की तरह प्रस्तुत करना। इस तरह के गाव के साथ एक ही सार्थक सबध कायम किया जा सकता है—उसे सुधारने की कोशिश। उपन्यासकार की यह दृष्टि अगर 'ठनक' बाधने के कर्तव्य से दूर चली जाये तो क्या आश्चर्य ? मगर, फिर विपिन सुधारने की कोशिश मे लगता क्यों नहीं, देखता ही क्यों रह जाता है ?

विपिन का दिमागी सहोदर शशिकात मास्टर है। वह सुधार के कठिन और ईमानदार परिश्रम में लगता है। लेकिन उसकी सक्रियता उसे करैता के भीतर का ही एक तत्त्व बना देती है । वह पूरी तसवीर का एक हिस्सा-भर बन जाता है। 'बिना चेहरेवाले' लोगों की भीड में से एक उसकी असफलता पूरे माहौल की असफलता है।

सुधारक के लिए जरूरी है कि वह संपूर्णता से सीधे न टकराए। उसके लिए सपूर्ण को टुकड़े-टुकडे मे बाटना जरूरी है, नहीं तो वह सुधार की शुरुआत कर ही नही सकता। और टुकडों में बांटने के साथ ही वह बाहर का नहीं रह जाता। पूरी दृश्य-छवि का अंश बन जाता है। शशिकांत मास्टर सामाजिक दस्तावेज़ का अंग है।

विपिन के माध्यम से उपन्यासकार उस सपूर्ण इकाई से टकराने की कोशिश करता है। इस भूमिका को मान लेने के बाद विपिन के लिए दो ही औपन्यासिक स्थितियां हो सकती थीं—वह या तो क्रांतिकारी जो जाता या पलायनवादी। वह पलायनवादी

ही होना स्वीकार करता है। या यों कहें कि बराबर पलायनवादी ही रहता है।

राही के उपन्यास में विपिन जैसा कोई पात्र नहीं है। यहां तक कि उपन्यास के भीतर का मासूम भी औरों की तरह भीड़ में खोया रहता है। इस कारण किसी तरह का उलझाव पैदा होने की गुंजाइश नहीं होती। गांव के भीतर की जिंदगी समस्या की तरह नहीं, बल्कि एक ममतापूर्ण प्रवाह की तरह सामने आती है। सवाल सब-कुछ को सोचकर, अपनी परिस्थिति को परिभाषित करने का नहीं है बल्कि अपने को उस प्रवाह में बेहिचक छोड़ देने का है, उसके साथ गड्डमड्ड हो जाने का है ताकि मासूम को कोई गगोली से उठाकर रायबरेली न ले जा पटके। लेकिन विपिन की समस्या मुख्यत' विचारक की समस्या है—इस कुलबुलाती वैतरणी को किस तरह अर्थ दिया जाये।

उपन्यासकार बहुत-कुछ विपिन से अभिन्न है। लेकिन पूरे उपन्यास की समस्या विपिन से एक कदम और आगे है। यह वैतरणी है क्या—कहां तक इसका पाट है, कहां उद्‌गम है ?

इस गहरे प्रश्न के सदर्भ में ही—उपन्यास के अंत का प्रश्न दिमाग में घूमता है। सीपिया नाले में ऐसा क्या है, कि कथा वहीं आकर खत्म कर दी जाये ?

विपिन के चेहरे में औरों से भिन्न सिर्फ इतना ही है कि वह पढा-लिखा है, शहर हो आया है, और अच्छी नौकरी पा सकता है। सिर्फ इतना ही क्यो ?

इसके प्रतिलोम-स्वरूप विपिन के बाहर जो करैता है, उसकी तसवीर भी इन्ही रेखाओं से बन जाती है। करैता जाहिल है, गरीब है, और करैता के बाहर भी कोई दुनिया है, यह नहीं जानता। वह वैतरणी इसी कारण है कि बाहर की दुनिया उससे इतनी भिन्न हो चुकी है कि उसके मुकाबले में करैता ने अपना अर्थ खो दिया है। और इसकी गरीबी की मार।

प्रेमचद की आरंभिक ग्राम-कथाओ मे ग्राम-जीवन की धुरी आर्थिक समस्याए थीं। आपस के नैतिक-अनैतिक सबंध परंपरा से कुछ-न-कुछ झकृत जरूर होते थे, लेकिन ये सारे सबध मूलत' सामाजिक ही थे। 'गोदान' में पहली बार उन्होने उस एक नये आयाम को स्पर्श किया जो मात्र आर्थिक या नैतिक नहीं है—एक गहरे अवचेतन स्तर पर सास्कृतिक है, आदिम विश्वासों का आयाम है। होरी की मंडराती हुई आकाक्षा आर्थिक और नैतिक मूल्यो का अतिक्रमण करती लिखती है।

सामाजिक दस्तावेज के रूप में श्री शिवप्रसाद सिह का उपन्यास आर्थिक विघटन और चुनाववाले जनतत्र के दौर मे नैतिक-सामाजिक परपराओ की झंकार को टूटता हुआ या नपुंसक दिखाता है। सास्कृतिक मानस तो जलते तवे पर पडी हुई पानी की बूद की तरह कभी का गायब हो चुका है। यहां तक कि देवी थान का मेला भी सामाजिक रिपोर्ट ही है। यह तसवीर कहां तक सही है इसके बारे में राय जाहिर

करना न मेरे लिए संभव है, न उचित ही। क्योंकि सही या गलत दो में से कुछ भी कहने पर मैं एक अतिरिक्त गवाही ही दे सकूंगा। और लेखक इतना तो हमेशा ही कह सकता है कि बात करैता की हो रही है। अगर सैयदराजा या चकिया या गंगापुर की हालत इससे भिन्न हो तो भी इस दस्तावेज़ का सत्य कैसे घट जाता है।

इतना जरूर कहा जा सकता है कि धारणाओं के जिस चौखटे में यह साफ-सुथरी तसवीर पेश की गयी है, वह सामान्य धारणाओं से कहीं खराश पैदा नहीं करती। इस अर्थ मे उपन्यास कहीं चौंकाता नहीं। और एक तटस्थ तसवीर का आभास देता है जिसके बारे मे सुन काफी रखा था, तफसील से देखने का मौका अब मिला है। सिवाय एक सरूप भगत और उसके गिरोह के जो न केवल मेरे लिए एक लगभग अपरिचित तसवीर की तरह ताजगी देता है बल्कि कल्पना और मानवीय सहानुभूति के घेरे को अप्रत्याशित विस्तार देता है। अगर इस बहुत सुथरेपन के साथ बुने हुए थान में से कुछ ताने-बाने अलग ही करने हों, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि सरूप भगत और दुलारी और उनके पूरे हजूम के निर्माण के लिए ही इस उपन्यास का मूल्य रहेगा।

पात्र बहुत है, फिर भी वे भरमार होने की उकताहट नहीं पैदा करते। इनमें से कुछ पर निगाह कुछ ज्यादा देर तक ठहरती है : दयाल पंडित, सरूप भगत, दुलारी, जग्गन मिसिर, कनिया और चंचल बदचलन सुगनी—न जाने कितने खुराफातों की जड। मगर इनमे से कोई इतना नहीं उभरता कि उस पर से करैता की धूल बिल्कुल झड जाये। और न शेष इतने ही दब गये हैं कि धूल और इन्सान में फर्क करना कठिन हो जाये। इस नक्काशीदार बुनावट पर ही ध्यान सबसे पहले जाता है।

अगर इस उपन्यास के ऊपर भावुकता की बेठन होती तो सवाल यह उठता कि गाव को लेकर लिखी हुई कथा कहां तक हमारे आधुनिक मन के साथ मेल खाती है। वैसे 'भावुकता' शब्द को लेकर कोई विश्लेषण करना खतरे से खाली नहीं है। एक तरह का सघन संबध तो दृष्टि और दृश्य-छवि के बीच हर कलाकृति में रहता है, जो किसी-न-किसी समय भावुकता की तरह लग सकता है। आज नहीं तो दस बरस बाद। लेकिन यहा मै भावुकता के सिर्फ दो उपकरणों को ध्यान में रखकर इस शब्द का प्रयोग कर रहा हूं : एक तो करुणावाली भावुकता, दूसरी आंचलिकता की रगीनीवाली भावुकता। गांवों को लेकर दो तरह से भावुक हुआ जा सकता है, या अब तक हुआ गया है। या तो 'अहा, ग्राम्य-जीवन भी क्या है' की शैली में आंचलिक छबीलापन इसी दृष्टि का एक विस्तृत रूप है। दूसरे 'उफ् कितने दुखी हैं लोग, 'कुछ करना चाहिए' की शैली में। यह दृष्टि कहीं-न-कहीं अपनी अपराध-भावना से बचने के लिए अंतरात्मा के कलंक धोने की मुद्रा का निर्माण भर करती है। क्योंकि 'कुछ करना चाहिए', निरंतर 'कुछ किया नहीं जा सकता' की दीवार से टकराता रहता है।

'अलग-अलग वैतरणी' को पढ़कर लगा कि जिस जमीन को चुक गया मानकर

चलने की हवा चल पडी थी, अभी भी उसमे निरंतर नयी उद्भावनाओं की गुंजाइश है। यों भी, हिंदुस्तान में लिखा गया उपन्यास कितने दिनों तक गावों को छोडकर मनुष्य को परिभाषित करने की कोशिश में नि:शरीर खडा रह सकता है ?

कभी विषय-वस्तु के आधार पर चलाया हुआ आदोलन कुछ ही दिनों मे सतही या यांत्रिक हो जाता है। नगरो और महानगरो में कथाकार को गहरे स्तर पर अनुप्राणित करने की क्षमता अभी तक नही पैदा हुई है, इतना पिछले दस वर्षों की कोशिशो के जो परिणाम निकले है उन्हे देखकर कहा जा सकता है। इस तरह के परिवर्तनों मे कहानी तभी तक चमकती है जब तक विषय-वस्तु नयी या अछूती हो। इतने नयेपन की आधुनिकता का मूल्य हर रोज छपनेवाले अखबार के ताजे समाचार से कुछ अधिक हो, इसके लिए विषय-वस्तु की नवीनता से अधिक भी कुछ होना चाहिए। उपन्यास या कहानी को महज अखबारी 'स्कूप' की शैली में कब तक चमत्कारी बनाया जा सकता है ?

उदाहरण के लिए, निर्मल वर्मा का उपन्यास 'वे दिन' का उल्लेख कर सकता हू। विषय-वस्तु की दृष्टि से, चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग मे स्थित, इस उपन्यास और करैता मे ठनकते शिवप्रसाद सिह के 'अलग-अलग वैतरणी' मे शब्दश जमीन-आसमान का अतर है। यदि प्राग और करैता ही आधुनिकता की कसौटी बन जाये, तो सिर्फ विषय-वस्तु का चुनाव ही करैता पर भारी पडेगा। लेकिन 'अलग-अलग वैतरणी' का प्रभाव ज्यादा सतोषप्रद अनुभव है। निर्मल वर्मा भी सामाजिक विघटन के बीच छटपटाती हुई मानवीयता, या मानवीयता पर जकडते हुए शिकजे की कथा कहते है। लेकिन कथा-प्रवाह के बीच हर पृष्ठ पर इतने होटल और इतनी बियर एवं अन्य किस्म की शराबे है कि यह महानगर कहानी की मदद नहीं करता। बीच-बीच मे करकता रहता है। यूरोप और अमरीका के बहुत उपन्यास पढने का अवसर मिला है। लेकिन इतना ज्यादा बियर कही पीने का मौका नहीं मिला। उकताहट पैदा होती है।

ऐसा क्यो हो जाता है ? हो सकता है कि इसके पीछे कथाकार की कमजोरी हो। लेकिन शायद जिस माहौल को कथाकार प्रस्तुत करना चाहता है, उसके ऊपरी लक्षणो मे उलझने का मोह भी एक कारण है। इसी तरह स्वर्गीय राजकमल चौधरी का उपन्यास 'मरी हुई मछली' का भी हाल है। राजकमल के अन्य लेखन की तरह यहा भी लगता है कि लेखक को जिदगी की अनुभूति तो बहुत बडी हुई, लेकिन वह उस अनुभूति को पचा नही सका। उपन्यास का तार बीच-बीच मे खूंटी से उतर जाता है, और एक तरह का प्रदर्शनवाद हावी हो जाता है।

यह नही है कि नयी विषय-वस्तु के इस आग्रह ने कलात्मक अनुभूति को आगे नही बढाया। किंतु वह परिपक्वता जो कलाकार की अकड नहीं, आत्म-विश्वास का आभास देती चलती है, अभी हाथ नहीं लगी है। जब उपन्यास को पढकर महसूस

हो कि हम कलाकृति नहीं, किसी बडे पुस्तकालय में उपलब्ध देश-विदेश के अखबार पढ रहे हैं, तब शका के साथ माथे की त्योरियो पर बल पड जाना स्वाभाविक ही हो जाता।

जरूरी नहीं है कि 'अलग-अलग वैतरणी' की प्रशंसा करने के लिए औरो की बुराई की ही जाये। लेकिन मै इस तुलना के साथ अपने भीतर की उस बेचैनी को जरूर ही व्यक्त करना चाहता हू जो पिछले दस वर्षो में विषय-वस्तु को बदलने की अधूरी सफलताओं से उत्पन्न होती है। और इन तमाम महानगरी छटपटाहटो के बीच करैता का करैत अपने पूरे तेवर से ठनकता है तो जरूरी हो जाता है कि हम अपनी धारणाओ, पूर्वग्रहो और प्रतिमानो पर फिर से नजर डालें। औपन्यासिक सृजनशीलता का अप्रतिहत, अबाधित स्रोत किस जमीन से फूटता हुआ दिखता है।

यो भी, यह मानना कि बीसवीं सदी की स्वाभाविक लय नगरों या महानगरों मे ध्वनित होती है, गाव किसी विशेष अर्थ में अठारवी या उसके पहले की किसी सदी के अवशेष है, एक तरह का ऐतिहासिक दृष्टिदोष है। बीसवी सदी को खंड-खड करके देखना अपने को एक दिमागी भवर मे डाल देना है। बीसवीं सदी के कमल कीचड़ से अलग नही किये जा सकते। अब इस दृष्टिभ्रम का अत होना चाहिए, क्योंकि यह यूरोप की उन्नीसवी सदी दिमागी विरासत मे उपजी हुई चीज है। करैता मैनहाटन स कम बीसवीं सदी की उपज नहीं है। इस तथ्य की पहचान औपन्यासिक सृजनशीलता के लिए चुनौती है।

कसौटी यही है कि विषय-वस्तु का चयन केवल पृष्ठभूमि के लिए ही होना चाहिए। यदि ऐसा लगने लगे कि कथा केवल विषय-वस्तु के लिए ही लिखी गयी, चाहे वह गाव हो या मैनहाटन, तो उपन्यास में एक उबानेवाला आग्रह पैदा हो जायेगा। इस शर्त के साथ, हमे यह स्वीकार करके चलना होगा कि आज के मानवीय महानाटक के लिए, और उसका साक्षात्कार करनेवाले लेखक के लिए करैता जैसे लाखो गावों को भूल जाना, या उसका कोई अनुभव ही न होना, एक बडा सृजनात्मक अभाव होगा। आज भी मनुष्य की परिभाषा करैता की उपेक्षा करके नहीं दी जा सकती। यदि दी जाने की कोशिश की जायेगी तो उसका शायद वही परिणाम होगा जो तडपते-छटपटाते राजकमल चौधरी का हुआ।

(आलोचना, अप्रैल-जून 1969 से साभार)

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्राम-जीवन की 'अलग-अलग वैतरणी'

• *डॉ. विवेकी राय*

दासतंत्र के 'गोदान' के बाद दो दशक गुजरे, किंतु गांव का मुक्तिमार्ग छेके पड़ी है आज भी दुस्तर समस्याओ की मनहूस वैतरणी, एक नहीं अनेक यानी 'अलग-अलग वैतरणी'। जिसे आधुनिक ग्राम-बोध की स्पिरिट मे सजोर-बटोर कर उपन्यस्त किया डॉक्टर शिवप्रसाद सिह ने और स्वाधीनता के बाद पहली बार ग्रामांचल अपनी समग्रता से साथ उभरा। एक देश-काल तथा समाज-समष्टि को समवेत आलेखन-दृष्टि में वस्तु और शिल्प की अद्‌भुत ताजगी मिली। पढ कर लगता है कि अब तक का समूचा औपन्यासिक ग्रामांकन नगर के परिप्रेक्ष्य मे हुआ तथा खेत-खलिहान और बन्नी-बोझ की असली बातें अब आयी है। गाव की नयी सचाई, उसका दु ख-दर्द ऊपर से छू भर जाने की नही, भीतर से उघाडने की कला बहुत नयी है।

प्रेमचद अपने उपन्यासो मे घूम-फिर कर नगर में आ जाते हैं, मगर 'अलग-अलग वैतरणी' की कथा करैता गांव के बाहर नहीं जाती है। प्रेमचद में नागरिक-ग्रामीणता थी और शायद वे गांव से उकता जाते थे। यहा लेखक रम गया है, उसी मे घुलमिल गया है, गाव की सारी कुरूपता को आदि से अत तक झेलने की साहसिकता उसमे है। तराशहीन सपूर्णता के साथ जिंदा ग्रामांचल, एक-एक घर, एक-एक आगन इस अठपहलू उपन्यास मे अपनी पूरी हुलिया और खानदानी बयानात के साथ उजागर है। नये गाव की नयी सस्वरता, कोने-कोने की टोह, हर हवेली, हर गली और हर बैठक का रेखान्यास, न कहीं सघन, न कहीं विरल, एक साफ तसवीर सामने आ जाती है। पूरी ग्राम कहानी आदि से अंत तक नपी-तुली, संतुलित है। लगभग दो दर्जन परिवारों की एक कहानी, सब मिलाकर एक गाव की कहानी, एक समय की कहानी, यह नयी उपन्यास कला है, जिसका निखार इस उपन्यास में देखते हैं। बाहर से बिखराव है और भीतर से एकसूत्रता। पूरे गाव की कहानी, सबकी कहानी समानांतर विकसित होती है परंतु सपाट कहीं नहीं। सस्पेंस बना रहता है और रहस्य कभी-कभी आगे चलकर खुलता है। इस पुरानी औपन्यासिक विधा का लेखक ने उपयोग किया है। कथा-भूमि से हटाकर देखने पर अनेक अध्याय पृथक् से, स्वतंत्र कथा से लगते

है। नये गाव की नयी प्रवृत्तियों के दस्तावेज, व्यक्ति, समाज और ग्राम-जीवन की टूटन के कीमती मसौदे पेश किये गये हैं। लोकभाषा की ओर ढलान इस कृति की निजी विशेषता है जिसके होते आचलिकता का भ्रम हो सकता है। परतु यहां करैता एक 'अंचल' नहीं आधुनिक भारत का एक प्रतिनिधि गांव है, अपनी पूरी यथार्थता के साथ।

नये गांव : नयी शक्लें

स्वराज्य होने और जमींदारी टूटने के पश्चात् गाव में 'नयी बिरादरी बनने और नये रिश्ते पनपने' के क्रम मे पचायती चुनाव के पैंतरे पृष्ठभूमि का काम करते है। पार्टी-बंदी होती है और नये उठते अपढ बदमाशो की पार्टी बनती है। इसी सदर्भ में 'अलग-अलग वैतरणी' के पन्ने खुलते है। एक ओर सुरजू सिह की पार्टी और दूसरी ओर मीरापुर के बाबुआन-खानदान की पार्टी। देखते-देखते गांव हरियासिरिया-जैसे बदमाशों का गाव बन जाता है। चुनाव मे स्वय को हरा कर जैपाल सिंह सुखदेव को इसलिए जिता देते है कि उनका प्रतिद्वद्वी सुरजू सिह चित्त हो जाये। यह चुनाव की तिरपट गोटी थी। गाव की टूटन का प्रथम चरण पंचायती-चुनाव सिद्ध हुआ। पुराने जमींदार नयी नीति अपनाते हैं। उनकी नीयत है, गाव की जनता के सामने माथा झुकाकर छिपे तौर से उनके भाग्य-विधाता बने रहेगे। गाव के गुंडे जुलूस निकालते है और नारा लगाते है--'गुडागर्दी नहीं चलेगी'। डॉक्टर सिह ने ऐसी अनेक स्वातत्र्योत्तर प्रवृतियों को बखूबी बाधा है। लोगों की एक ऐसी शक्ल उभरी है जिसमें लाज-डर नामभात्र का भी नहीं। देवी चौधरी खलील मियां की रेहन दबाकर भरे समाज के बीच कह देते है- "काहे का रुपया, काहे का खेत ?" बस, एक ही धुन है, लूटपाट कर जल्दी बडे आदमी हो जाये। गाव मे एक परिश्रमी भलेमानुस मास्टर आया तो न केवल उसकी खिल्ली उडायी गयी बल्कि उसे 'बशिनाख्त' भागने के लिए मजबूर कर दिया गया। निदा की क्या परवा ? ग्राम-सभापति कहता है--"जब देखो कि सारा गाव कटकटा कर तुम्हारी निदा करता है, तब जानो कि तुम बडे आदमी हो रहे हो।"

जमींदारी टूटने पर जमीदारो की अतिरिक्त आय के वैध स्रोत बंद हो गये। उधर शौक सस्कार वही रहे। पूर्ति के लिए वे अवैध आय की ओर थाने की दलाली, ब्लैक मार्केट, तस्कर व्यापार आदि की ओर झुके। जैपाल सिंह देवा-कांड मे थानेदार के भरोसे 500 रु० पर निशाना बांधते हैं। बुझारथ ट्रेन-डकैती में पकडा जाता है। जमीदार की जगह सभापति जैसे पदो पर आसीन लोग नये तरह के शोषक सिद्ध होते है। सुखदेव शोषित वर्ग का सभापति है पर सरूप भगत की हत्यावाले मामले मे थानेदार को चमारो की सूखी हड्डियों पर दांत गडाने की सलाह देता है। उपन्यास मे आजादी के बाद के गाव की यह ऐसी उभरती नयी शक्ल है जिसमे देवनाथ और विपिन जैसे स्वप्नशील युवक बेमेल होकर घुट-घुट मर जाये।

एक केंद्रीय कथा

करैता के दर्जनों किसान-परिवार की कहानियों के बिखरे कथा-जाल में क्या कोई मुख्य कथा-केंद्र है ? वास्तव में 'अलग-अलग वैतरणी' एक भूतपूर्व बाबुआन जमींदार-परिवार के टूटन की कहानी है, जिसका युवक वशधर गांव की असफल रिहायशी से ऊब कर शहर भाग जाता है। टूटन क्रमश: आती है। छावनी के बाबुआन जैपाल सिह और गाव के धनी जमींदार सुरजू सिंह मे पुश्तैनी शत्रुता है जिसके मूल मे इन परिवारो के एक युवक और एक युवती देवपाल और राजमती की प्रेमबलि है। यह शत्रुता नये युग के अनुरूप विकसित होती है। जैपाल सिंह परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल पैंतरे बदलते है और अपने बडप्पन को सभाले जा रहे है। परतु अपने उत्तराधिकारी बुझारथ के सबंध से डोमन चमार की बेटी सगुनी को एक दिन छावनी पर पाकर उन्हें ऐसा धक्का लगा कि उठ नही पाये। एक गौरवपूर्ण अध्याय समाप्त हो गया। आगे गिरावट, छल-छद्म, हीन मसूबे और अधी लागडाट चलती है जिसके कीचड मे समूचा गाव सराबोर है।

ऐसे ही मे शहर की पढ़ाई समाप्त कर करैता मे आया बुझारथ का छोटा भाई विपिन, एक फर्स्ट क्लास का स्कॉलर। उसका साथी देवनाथ भी डॉक्टरी पास कर गाव मे जमने की कोशिश कर रहा है। दोनो के मन मे गांव के प्रति स्नेह है। समय-समय पर विपिन मे नये खून की ताजगी दिखायी पडती है। एक दिन न्याय और कानून के नाम पर उसने थानेदार को डांट कर चुप कर दिया। अपने परिवार के विरुद्ध चुपके से मदद कर उसने पुष्पा का घरबार नीलाम पर चढने से बचा लिया। बचपन का प्रेमाकुर पनप कर लहक तो उठा, पर गाव की हवा उलटी पडी और अपने मूक-प्रेम को लेकर विपिन टूटने लगा। सीपिया नाले की घटना ने उसे एकदम उखाड दिया। पुष्पा को फसाने के चक्कर मे बुझारथ बुरी तरह घायल हुआ पर कुल की लाज ढकने के ख्याल से विपिन ने सारी स्थिति का बोझ अपने सिर ओढ लिया। परंतु इतना बोझ लेकर चलना कठिन है। उसका प्रेम लुट रहा है और वह असमर्थ है, अनकही प्रेम वेदना मे तड़प रहा है, आत्मग्लानि और आत्मदाह मे गल रहा है।

पूरे उपन्यास का यह मध्य 'अयोध्याकाड' वास्तव मे बहुत ही मर्मस्पर्शी है, जहा दो परिवारो की प्रतिष्ठा कसौटी पर चढी हुई है। लेखक ने बहुत ही गंभीरता के साथ कथा-भाग को सभाला है। चचिया चटपट पुष्पा का विवाह कर भारमुक्त हो जाती है पर रह जाती है बात चुभी विपिन के हृदय मे पटनहिया भाभी की कि "ऐसे भी कोई किसी का हाथ पकड कर छोडता है ? ऐसे ही मरद हैं आप ?" अपनी कायरता पर विपिन की अंतर्वेदना घनी हो जाती है। पुष्पा उसकी थी पर झूठी प्रतिष्ठा के पीछे उसने अपना खून कर डाला। उसका मन बैठ जाता है। वह सोचता है, अपनी जन्मभूमि को मृत केंचुल से निकालने की सारी तमन्ना एक-एक करके खत्म होती गयी। रही-सही कसर पूरी हो गयी, देवनाथ के कस्बे मे सरक जाने से। उसने

गहरी खीझ मे कहा—"मारो साले गाव को गोली!" और वह शहर की ओर भाग खड़ा हुआ । अचानक एक खुले रहस्य की तरह सामने आ गयी कनिया । मगर उनके प्रेम में ऐसी सामर्थ्य कहां कि रोक सके ? हा, पढ़नेवाला जरूर चकित होता है कि कहीं मिसिर-मिसिराइन की कहानी की पुनरावृत्ति का ग्रह तो नहीं कटा ?

दो दर्जन टटकी उपकथाएं

इस एक केंद्रीय कथा के चारो ओर बहुत कुशलता के साथ लगभग दो दर्जन उपकथाएं बुनी गयी है जो उसकी पृष्ठभूमि पर काम करती हैं, उसे आगे बढाती हैं, प्रभावित करती है या पुष्ट करती है। इन उपकथाओ के सृजन मे ही उपन्यासकार की समूची कला लगी हुई है। 'आधा गाव' नही इनके बीच में एक पूरा गाव बहुत ही सफाई के साथ उभरता है । जितने प्रकार के व्यक्ति और व्यक्तित्व मिल कर एक गांव होता है लेखक ने किसी को छोडा नहीं है । गाव के एक-एक अग को उचित साज-सवार मिली है, न किसी को कम न किसी को अधिक। यह कथात्मक सयम और संतुलन विस्मयकारक है। बहुत अधिक उखाड-पछाड करता दीखनेवाला लेखक वास्तव में सर्वत्र 'सम' पर होता है । एक गाव की उसकी परिकल्पना बहुत सुविचारित एवं सुनियोजित है तथा करैता एक प्रतिनिधि गाव है। गाव है तो वहां बाबुआन जमींदार की एक छावनी है, जमीदार हैं, उसके लग्गू-भग्गू हैं। उनका बनवाया मदिर है तो उसके पुजारी गोगई महाराज है । सुखदेवराम के प्रभाव से ये कांग्रेसी हो जाते है। वास्तव मे गाव के ये दोनों गवार अधचेहरे गाधीवादी हैं। हरखू सरदार-जैसे बडे दरबार का सेवक और ढरकी-जैसा व्यक्तित्व है। झब्बू लाल उपधिया, एक लोभी ब्राह्मण। एक-एक परिवार की पूरी कहानी लेखक रखता चलता है। विशेषता है कि वह ऐसे स्थान से और ऐसे ढग स उठता है कि पढनेवाला कभी बोर नही होता है ।

वह सब तरह के किसान-परिवार को लेता है। बंसी काका का परिवार, मोटे लोग, मोटी बुद्धि। कल्पू-जैसा कन्या राशि नामर्द इस परिवार को ले डूबता है। धरमू सिह बडे जमीदार का एक सीरवाह, बाद मे उपेक्षित और पुष्पा तो इस परिवार में नाहक जन्मी । टीमल सिंह एक किसान, बेटा हरिया आवारा हो गया। गांव में फेलियर पतलून पहन कर घूमता है। साथी हैं सीरिया, छबिलवा । इन गंवार-गुडो को हाकनेवाले गाव के पुराने बाशिंदे धनी किसान सुरजू सिह, जो भीरपुर के छावनीवाले बाबुआन जमींदारो के प्रतिद्वंद्वी हैं, एक गाव है तो ये सब लोग हैं। ये मूर्तिभजक लोग हैं। शरीफ लोग भी गाव मे हैं । 'मैला आंचल' की तरह शत-प्रतिशत लफंगे-बहिकट इस गाव में नहीं है। खलील गांव की नयी हवा से बहुत दूर, पुराने खयालात का शरीफ आदमी, जगन मिसिर पहलवान, नेक इसान । जमीन लूटपाट कर धनी हो जानेवालो के प्रतिनिधि देवी चौधरी । बेटा जगेसर गाव के एक महत्त्वपूर्ण स्थान को भरता है। मन का हीन, तन का तगडा । शहर मे सिपाहीगिरी करते गांव मे जाकर रोब झाड़ता

है । अद्‌भुत अस्पर्शित चरित्र दयाल पंडित का । घर एक गैया, एक मैया । सारे गांव के पवनी-पठवनिया, एक 'भउग' और गांव के आवश्यक अंग । गांव के अग चमटोल की कहानी, झिनकुआ एक हलवाह, घुरबिनवा एक चरवाह, सुरूप भगत एक नेकदिल भक्त हरिजन सरदार। अन्य छोटे लोग, जो गांव को एक बडी शक्ल देते है, बीसू धोबी, लोकगीत की धुन में जीनेवाला उसका बेटा सुरजितवा, परंपरा को निबाहते जाता है। गाव का स्कूल, उसकी भी रोचक कहानी, नये-पुराने का संघर्ष, एक अस्पताल, झब्बूलाल उपधिया के डॉक्टर बेटे देवनाथ के पलायन की कहानी, कोने-कोने की थाह लेखक ने ली और सब मिलाकर गांव की जो एक शक्ल खडी की सो चेहरे-मोहरे से बहुत सुपरिचित लगने के साथ अपनी समस्त दुर्बलताओं और समस्याओ मे सत्य है ।

गये वक्त का ताजिया

'फसलमेट पाल्टी', ललकी गाउटी की संस्कृति, समलबाई का गुदना और बाबू के केवडार के रोमासवाले गाव करैता की अविस्मरणीय तसवीरें, देवी धाम का मेला, चमारो और बाबुओं की लडाई, एक लडाई स्वराज्य के पहले की, जिसकी याद रह गयी और एक स्वराज के बाद की, देवपाल और सुब्बा नट के मल्ल युद्ध का खूखार दृश्य, गुजैया से लेकर तलैया मे डुबंती-छुऔवल खेल तक जैसे अगणित दुर्लभ ग्राम-चित्रों की अवतारणा, सर्वत्र एक भावुक यथार्थ-दृष्टि से लेखक ने वह सब देखा है जो प्राय' अदेखा रह जाता है । हरिया की मूर्ख लडाकू औरत को वह देखता है, बीचोबीच आंगन में पसर कर नगे पैरो को फैलाकर साडी खींच कर सीती रहती थी और मुट्ठी भर भात के लिए लडाई करते लडको को फिटकिटा कर गगा के दहाने भेजा करती। इसमे एक पूरे परिवेश का बिब अत्यत घना, सांकेतिक, प्रभावशाली और स्पष्ट रूप मे उभरा है। पात्र स्वय तो बोलते ही है पर नैरेशन में नये शिल्प का कमाल वहा दिखायी पडता है जहा पात्रों के अंतर प्रदेश की हलचलो के चित्र उन्ही की भाषा मे, उनकी विचार-तरगो को अपने मानस मे पचा कर लेखक स्थान-स्थान पर देता चलता है। लेखक और पात्र की, यह मान सगत अद्वैतता इस उपन्यास की एक मूल्यवान उपलब्धि है। अगणित बिबो मे गाव की मूर्खता और गरीबी को लेखक ने जो उभारा है सो एक ओर मनोरजक है और दूसरी ओर बहुत क्लेशकर। रह-रहकर सवाल उठता है कि उबारने का मार्ग क्या है ? लेखक गाव के प्राइमरी स्कूल को पेश करता है। उसकी और अधोगति, दकियानूस, बुढमलस भरा हेडमास्टर, अनैतिक माहौल, नर-बानर हांके जा रहे है, पूरा अधेरखाता, एक अच्छा आदर्शवादी अध्यापक शशिकात आता है तो सबको अडस पडने लगता है, हेडमास्टर को, गांव के सरगना लोगों को और वह भी टूटने लगता है। हेडमास्टर शशिकात को झिडकता है कि आप अब पूजा-पाठ नही करते तो बागवानी और फूल लगाने के चक्कर में क्यो पडते हैं ?

यह है रुचि ! गाव की पार्टी सिरिया की पिटाई कांड में शशिकांत को गवाह बनाने में असफल होने पर नाराज होती है और एक दिन जब वह सबका वेतन लेकर लौट रहा है, शाम के अंधेरे मे गाव के गोंडे दो व्यक्ति उसकी आंखों में बालू झोंककर और आहत कर 290 रु. छीन कर चपत हो जाते हैं। वह बेचारा रातोरात भगता है, बेशिनाख्त।

उपन्यास में गांव के जिस वातावरण को लेखक ने न्यस्त किया है, उसकी एक विशेषता है--वह अच्छे लोगो को धकिया के फेक देता है । यह उसी का प्रेसर है कि खलील अपने को 'एक हारा हुआ इसान' कहता है। आजादी के बाद बेटा पाकिस्तान चला गया। यहा वह बदलते परिवेश में अपने को बदल न सका और शराफत, अखलाक और नेकनीयती के नाम पर रोता है विपिन से । कहता है--"यह एक नये किस्म की आंधी है बब्बन बेटा, जिसमे गर्द नही, गर्मी होती है।" लगता है, आधुनिकता गांव मे क्रूर अधता लिये सारी सिधाई-सरलता को छाप कर बैठ गयी है। खलील के शब्दों मे नया अहसास है। लेखक ठीक ही कहता है वे 'गये वक्त का ताजिया' है। गांव छोडकर जा रहा है। मुलाकात हो जाती है विपिन से। कहता है--"बेहूदा किस्म की हवा चल रही है।" भीतर की सारी ऊब और कटुता इस एक सक्षिप्त वाक्य में छिपी है। उपन्यास मे झलक भर आवे वावे खलील को लेखक ने विशेष ढग से अंकित किया है । उसका गाव से पलायन इन्सानियत और शराफत का पलायन है।

अच्छों की कतार : वैतरणी विस्तार

करैता मे अच्छे लोगो की एक कतार है--मास्टर शशिकात, खलील, विपिन, देवनाथ, सरूप भगत, पटनहिया भाभी और जगन मिसिर। इन्हे देखकर लगता है कि गाव अभी प्राणहीन नही है । पर एक-एक कर सभी चले जाते है। शेष बच जाते है जगन मिसिर। एक खरे व्यक्तित्ववाला पहलवान, जिसने अनाथ-जैसी स्थिति मे जन्म ग्रहण किया और दैव योग से जन्म भर निरातान की मन स्थिति और नियति से लडना पडा। उनकी विधवा भाभी ने किस प्रकार उन्हे 'पराया' होने से रोक लिया, इस घटना में ग्रामीण गृहस्थ-जीवन के एक नये आयाम का उद्घाटन होता है । मिसिराइन बाहर से विवाह की बात चलाती है पर भीतर विरोध चलता है, सब बहुत ही यथार्थ, भावात्मक, मौलिक एव मनोवैज्ञानिक है। लेखक एक रात के उनके रोमाचक सहवास का वर्णन करता है। बात आगे बढती है पर विवाह की बात उनके सिर का बोझ बनी रहती है, वैतरणी पार कराने और पितरो को पानी देनेवाले वैध उत्तराधिकारी की कचोट सालती रहती है और अपना जीवन एक 'उलटी तसवीर' की तरह भासता रहता है। फिर धीरे-धीरे समझौता कर लेते हैं अपने अंतर्विरोधो से। मुक्त मिसिरजी में सच्चे ग्रामीण जन की निर्भीकता मिलती है । हरिया और जगेसर-जैसे लोगो की हेकडी दूर करने मे उनका व्यक्तित्व, उनका ब्राह्मणत्व दमक उठता है। गाव के बिखराव

के प्रति हार्दिक तडपन उनमे मिलती है । एक जगन मिसिर को गांव के प्रति आशान्वित छोड कर लेखक ने पूरे उपन्यास को आशावादी बने रहने दिया है।

सवाल वैतरणी का जगन मिसिर के मन में ही पैदा होता है --"वैतरणी पार कौन करायेगा ?" और हारकर उत्तर भी वही देते हैं, "कौन किसको पार कराता है वैतरणी ?" मिसिर का भावी जीवन (बुढापा) एक भारी वैतरणी बना सामने पडा है। यहा सचमुच सबकी अलग-अलग वैतरणिया हैं। एक कुसंग की वैतरणी की ओर लेखक इशारा कराता है जिसमे से निकला गोपाल मगरमच्छ से भरी दरिया मे जा गिरता है। उच्च वर्ग के मनचले लोगो की घिनौनी वैतरणी है चमटोल। डोमन चमार की लडकी सगुनी के साथ सरेआम जब सुरजू सिह पकडे गये तो समूचे गांव का सिर झुक गया। बडी बीहड और दुस्तर है यह 'काम' की वैतरणी। देवपाल और राजमती में तो प्रेम था परतु शोभनाथ और सोनवा मे यह प्रेम कहा गया ? ठीक मौके पर एक सवाल लेखक सरूप भगत के मुह से उठवाता है। "आज तक किसी रजपूत-बाभन की लडकी के साथ चमार-दुसाध का प्रेम काहे नही हुआ ?" ऐसे अवसर पर अव्यक्त रहकर भी प्रश्न समाज की बनावट का और उसकी आर्थिक विषमता का, शोषण और सामाजिक अत्याचार का उठता है। लेखक स्वय इस नये किस्म की वैतरणी की ओर 'तटचर्चा' मे सकेत करता है। "जब शिवत्व तिरस्कृत होता है, व्यक्ति के हक छीने जाते है, सत्य और न्याय अवहेलित होते है तब जन-जन के आसुओ की धारा वैतरणी में बदल जाती है, नरक की नदी बन जाती है।"

लेखक ने करैता के नरक मे पटनहिया भाभी के आसुओ की नदी को भीगे मन से देखा है। उसने गाव मे छिनते उसके नैतिक हक को देखा है। अपने नामर्द पति कल्पू से गहरी अतृप्ति पाकर उसे हक था कि वह विपिन से उपन्यास माग कर पढे, शशिकात को अग्रेजी मे मदद के लिए बुलाये अथवा डॉक्टर देवनाथ से अपने पति के इलाज के सिलसिले मे बात करे। लेकिन क्या समाज उसके इस हक को मान्यता देने के लिए तैयार है ? इस अवसर पर गाव के अच्छे लोग चाहे वह शशिकात हो, चाहे विपिन या चाहे देवनाथ सभी परपरागत विधि-निषेध और सडी नैतिकता के कडे पहरे मे विवश भीरु और उसके प्रति निर्दय हैं। पटनहिया भाभी के विवाह की कहानी नारी पर होनेवाले क्रूर अत्याचार की कहानी है। यह बाल-विवाह है और सर्वथा बेमेल। मगर गाव मे ऐसे ही होता है। अभिभावक सोचते है --"शादी हो गयी अब लडका चाहे पास हो या फेल।" उधर कल्पू का एक स्तर पर अवरुद्ध काम-विकास उसे क्लीव का पुरुष बना कर मानसिक रोगी से शारीरिक रोगी की हालत मे पहुंचाते मार डालता है। पटनहिया भाभी के सुहागरात की चर्चा बहुत दर्दनाक है। उसकी अतृप्त इच्छा, उसकी मूक वेदना, उसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाए, उसके हसोड स्वभाव की चर्चा, होली मे लडको को पकड कर नगा करने की उसकी बात, सब एक गूढ़ मार्मिक वेदना से पाठको के मन को भर देती हैं।

न केवल पटनहिया भाभी में अपितु शेष दो प्रमुख नारी-पात्रों कनिया और पुष्पा में इसी अतृप्ति और मूक वेदना को लेखक ने उभारा है। तराशहीन सहजता और गाव का अप्रगल्भ व्यक्तित्व सबमे है। इन तीनो का तीन कोण से संबंध विपिन से टकराता है। तीनो बार विपिन पलायित होता है। उसका यह पलायन सहज ग्राम-बोध से भरा है। कुछ और होता तो हम लेखक पर दोषारोपण करते। एक खटक तब भी रह जाती है। कनिया के जिस प्रशात, गभीर, विश्वास और उज्ज्वल व्यक्तित्व को लेखक उभारता है, वह अत में तीन जलते सवाल उठाकर पाठको को सशयालु बना देता है। विपिन के विवाह की चर्चा पर उनकी चुप्पी और अतत्परता क्यों ? पुष्पा की ओर प्रेम जान कर भी उनकी ओर से विपिन को बढावा क्यो नही ? और अत मे, नौकरी पर जाने के अवसर पर वैसा गूढ एव जटिल रंग क्यो ?

गांव की आत्मा की खोज

'अलग-अलग वैतरणी' की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—भाषा-सबधी। हिंदी के साहित्यकार इधर लोक-सस्कृति और लोक-भाषा की ओर झुके है। श्री भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' और श्री उपेद्रनाथ 'अश्क' के एकाकी नाटक 'किसकी बात' मे अवधी की माधुरी का बिखरा वैभव देख चुके है। डॉक्टर राही के उपन्यास 'आधा गाव' की भाषा भोजपुरी उर्दू ही मुख्यत है। अपने घर की भाषा अब तक तिरस्कृत रही है। स्वतत्रता के बाद आधुनिक नगर-बोध से 'अनुप्राणित' उपन्यासों में न केवल अग्रेजी की शब्दावली बल्कि वाक्य के वाक्य-अग्रेजी प्रयोग देख चुके है। उसमें आत्मविस्तार की भगिमा रही। आत्मोपलब्धि उसे देखते एक झूठा नारा प्रतीत होती है। जहा भाषा का स्वाभाविक राग, नही वहा यह उपलब्धि कैसे संभव होगी ? डॉक्टर सिह मे इस 'राग' की स्वाभाविक पकड है। उन्होने किसान, बनिहार, हलवाह, चमाइन और चमटोल के भाषागत प्राणतत्त्व को छीन लिया है। गाव के गुडो की भाषा, चाटुकार और टुकडेखोरों की भाषा, कास्टेबिल और हेड कास्टेबिल की भाषा के फर्क को उन्होने समझा है। लेखक ने सधे हाथो फडकती-रपटती हुई टटकी सास की विधि नयी भाषा को पेश किया है। वह बैठक बहुत जानदार है। उपन्यास मे खडीबोली को सुघड भोजपुरिया मोड दिया गया है। उसे बनारसीपन की चाशनी मे ऐसा ढाला गया है कि मन पर उसकी मिठास बैठती जाती है। इस ढलान की दिशा स्वाभाविक है। प्रेमचंद में यह दबे-दबे रूप में थी। उन्होंने खडीबोली का लोकभाषाकरण किया था और यहां लोकभाषा का खडीबोलीकरण किया गया है, जिसे इस रूप में देखते हैं-"ई गाव ही अइसा है।" लेखक ने 'लमछर', 'निछदम', 'पोरसा', 'ठहर' जैसे सैकड़ों शब्दो का, 'लीहो-लीहो', 'ओही-ओही' जैसी विशेष शब्दावली का 'फल्लड मे पढना' 'भक्खमर में जाय' और 'हिक्काफटना' जैसे अगणित मुहावरो का लोक-भाषा के तल से बीन कर उद्धार किया है। ये शब्द हमारी भाषा की बुनावट में स्वाभाविक ताने-बाने से

बने हैं; परंतु कामा में बंद कर लिखने के कारण ऐसा लगता है कि अलग से बखिया चल गयी और पैबंद का भ्रम होता है।

गांव की आत्मा के खोज की सही दिशा, पग-पग पर भाषा में मिलती है। गांव के गंध की पहचान के साथ आभासित है। 'असाढ की जिदा मटिही सुबास' वह चीन्हता है। 'नागरमोथा के बादामी फूलो की गंध' पिथरी माटी से पुती दीवालों की सोंधा महक और खलिहान की खुरखुरी अनाजिया बास से उपन्यास बासा गया है। लेखक को शिकायत है कि लोगो मे सुगंध-चेतना नहीं बची। गध की अनुभूति के साथ चटक चित्रों को वह ज्यों का त्यों उतार देता है। "सिवान-जैसे रंगीन कलाबत्तू का ओढ़ना है जिसे सीने पर फरफराती धरती गुमसुम लेटी किसी की आतुर बाट जोह रही है।" उसके गांव का एक जवान है जिसकी "जांघो पर छींट की जांघिया ऐसी फब रही थी जैसे केले के पेड से तितलियां लिपट गयी हों।" उपमाओं में अद्भुत ताजगी के साथ लेखक की निजी भाषा, इस भाषा को लेकर उपन्यास मे वह जगह-ब-जगह विशेषकर परिच्छेदो के प्रारभ मे व्यक्तिनिष्ठ ललित निबध लेखक के हाशिए पर आ जाता है। उसमें एक आतुरता झलकती है, जैसे लोगो की आखों मे उंगली डालकर दिखा रहा है—"अरे, देखो, यह ऐसा है अपना गांव।"

चमटोल : एक प्रामाणिक स्वर

करैता गाव के दक्खिन ओर चमटोल है। यही ग्राम-सस्कृति है। प्राय गाव के दक्षिण ओर यह ग्राम-जीवन की महत्त्वपूर्ण इकाई होती है। गाव और चमटोल के बीच गडही भी एक सामान्य चित्र है-एक गांव मे ये दो गांव, एक मे बाबू दूसरे में बनिहार। उपन्यास के माध्यम से पहली बार इतनी स्पष्टता के साथ दोनो का अलगाव सामने आया है। लेखक राजनीति का स्पर्श कही-कहीं करता है, परंतु तथ्य खुलते चलते है और ऐसी स्थिति मे वे और प्रभावशाली होते हैं। बाबुओं और चमारों की लडाई में जब शत्रुता भूलकर छनभर में बाबुआन एकजुट हो जाते है तो यह बात अविदित नही रह जाती कि सुविधा प्राप्त शोषक वर्ग आपस मे भले लडें, परंतु शोषितों के लिए सब एक हैं। झिनकुआ, घुरबिनवा और जगजितवा की इस चमटोल मे बाहर से तो खूब मनसायन है परतु क्या वास्तव मे वह वैसी ही है ? चमटोल में घुसते ही मिलती है धनेसरी बुढ़िया, अनेक कर्म-कुकर्म में माहिर, चमटोल की एक सीमा, सारे गांव की रिगौनी, फिर चमाइनों के सस्ते रोमास, विचित्र कावकिच, नयी-नयी गालियां और नग्गूनता, सर्वथा एक नयी दुनिया। बन्नी मांगने पर जहां पिटाई होती है और कसाईखाने के मूक पशु की तरह प्राणी पडे सब सहते है।

यह चमटोल साल में एक महीना चैत मे जगती है। फिर ग्यारह महीने तक बुझी रहती है। दूर-दूर से आये परिव्राजक बनिहारों की संस्कृति के उपन्यास में अस्पर्शित चित्र उतरे है। सगुनी एक चलता पुरजा, चमाइन बिटिया और दुलरिया एक

हंसोड लडकी, जैसे एकदम पटाखा। लेकिन इस सारी हसी-खुशी के नीचे कितना भयानक दर्द दबा है ? हमारी सडी अर्थव्यवस्था का सारा गलीज जैसे इस चमटोल के रूप में पुंजीभूत है। चमारिन के साथ रजपूत के पकड़े जाने की घटनाओं में गरीबी वीभत्स रूप में सामने आती है। सुरजू सिंह को सगुनी का साथ सरेआम गिरफ्तार कराकर लेखक उच्च कहलानेवाले समाज के मुंह पर थूकता है। बार-बार सवाल उठता है कि क्या फर्क पड़ा स्वराज्य से ? चमारों की सामूहिक पिटाई जैसे तब होती थी वैसे ही अब भी होती है। बात कुछ आगे अब बढ़ती जरूर है पर कोरी बात और भाषण से क्या होगा ? सगुनी और सुरजू सिंह का अंतर क्या, जाति का अंतर है ? यह कितनी झूठी बात है ? यह आर्थिक विषमता का नरक है। इसीलिए सरूप भगत गाव की रहाइसि को ही विपत्ति का मूल मानते हैं। कहते हैं—"घोंसला बनाओगे तो गिद्ध कौओं की नजर लगेगी ही।" वास्तव में उस अतिहीन रूप चमटोल के आगे बाबुओं का करैता गिद्ध कौओ की जमात की तरह लगता है। उपन्यास में तटस्थ और सही दृष्टिकोण ये यह विसगति प्रस्तुत की गयी है। लेखक ने गरीबी के अधकार को परखा है।

फिर गांव का क्या होगा ?

लेखक ने उपन्यास को विशाल भोजपुरी-संस्कृति का जीवत आईना बना दिया है। करैता दो हजार की आबादीवाला एक ऐसा गांव है जैसे भारत के गाव होते है। वह अत्यत ही सुपरिचित लगता है। दखिनपट्टी में सुरजू सिह उत्तरपट्टी मे बुझारथ-जैसे 'एक नाद दो भैसे'। दखिन के कोने पर महावीरजी का मदिर जहा दुखी और निराश लोग जाकर मन बहलाते हैं, हर तरह के लोग-बाग। गांव कल्पू को नामर्द बनाने मे योग देता है तो हरिया को एक फ्रस्टेटेड युवक। उसे कहीं रिकगनिशन नहीं मिलता है। यह देवी चौधरी के गवार सिपाही बेटे जगेसर का गांव कितना सुपरिचित है। वह एक घमडी नौकरिहा और बन्नू कमासुत, हरमुठ नैतिकता का प्रतीक, बायस्कोपवाले का पैसा लूट कर ऊपर से धौंस जमाता है—"अभी लूटनेवाले तुमने देखे कहां ?" यानी एक से एक जीव, हर प्रकार के जतु, अपनी भौतिक विशेषताओ के साथ। सीरिया 'जेबा से' लगा कर बोलता है। हरखू सरदार बात-बात मे 'महावीर सामी की कसम' ठोकते हैं। जगेसर की आदत है--"सट से खींच लूगा जीभ राखी लगाकर।" और बुझारथ की सगुन तकिया है, 'भगवत हो, भगवत हो।' रूप-रग, चाल-ढाल और बोल-बानी में एक जीता-जागता गाव।

जहा अच्छा पहनने-ओढने पर व्यंग्य-बाणो का निशाना बनना पड़ता है -"ई सवख ? महफिल लगाने की तैयारी है का ?" जहा के लोग है कि "गमछे की झोली मे भरे हुए ज्वार के लावे का बड़ा-सा फका मुह मे डालकर चल देते हैं।" मिसिर, विपिन, देवनाथ और शशिकांत संयोग से एक दिन मिलते है तो एक भयकर सवाल

उठता है कि दस-बारह साल से लेकर अठारह-बीस तक के गंवई-नवयुवकों के चेहरों पर मकडी के जाले इतने घने क्यों हो रहे हैं ? इसकी और इससे सटी समस्याओं की तनकीह लेखक ने बहुत ही मुस्तैदी से की है। नये परिवेश मे, नये बदलते मूल्यों के बीच गांव में जनमते एक नये किस्म के खुदगर्ज गाव को वह बखूबी पहचान रहा है। उसमें एक तीखा अहसास है कि पुराने सडे मूल्य गाव की जिंदगी को सडा रहे है। जिनके चलते गांव के पानीदार युवक 'जाब लगे बैल की तरह हाक रहे हैं' और नहीरी 'खौलते कडाहे' के आगे खडी है। गांव की हवेली जैसे एक खुली हवालात है जिसमें पटनहिया जैसी करोडो नारियां सीझ रही हैं। यदि शशिकांत जैसे वहां कोई अंग्रेजी की मदद करते पहुंचता है तो एक हौआ खडा हो जाता है, भूकंप आ जाता है। बडे-बूढो की नैतिक पहरेदारी की आवाज कडकती है– "जागते रहो!" फिर सास लेना दूभर। यह नैतिकता क्या है ? मानो गाव की नाक पर का एक फोड़ा।

इन सबको लेकर गाव बुरी तरह टूट रहा है। वह भले लोगो के रहने लायक नहीं रह गया। सब अच्छे लोग उसे छोडकर चले जा रहे है। यही मुख्य स्वर है प्रस्तुत उपन्यास का। सबका साराश निचोडकर जगन मिसिर कहते हैं–"सास चली गयी।" गोगई महाराज रोते हैं– "अंग्रेजी जमाने से भी ज्यादे विपत बढ गयी।" सुखदेव राम सभापति को शिकायत है "लडाई-झगडे खूब होते हैं, मगर सभापति को कोई साला नही पूछता।" मास्टर शशिकांत को स्कूली बच्चो की मुखमुद्रा सालती है, "उन्हें डांटो तब भी और हसाओ तब भी चेहरे मे कोई फर्क नहीं पड़ता।" विचित्र मुर्दनी है। अद्‌भुत टूटन है, तिस पर भी भले लोग गांव छोड-छोड कर चले जा रहे हैं। मन पर एक आतक-सा छा जाता है। वह कोई गहरी कचोट है कि जगन मिसिर कहते हैं- "यहा रहते है वे जो यहा रहना नही चाहते, पर कहीं जा नहीं सकते। यहा से जाते अब वे है जो यहा रहना चाहते है, पर रह नही सकते।" जाते-जाते विपिन एक जलता सवाल छोड जाता है– "फिर गाव का क्या होगा ?" प्रश्न गभीर और अनुत्तरित है तथा हमारे समूचे अस्तित्व के आगे उपन्यासकार उसे खडा कर देता है।

सांप्रदायिकता का आर्थिक परिप्रेक्ष्य और अलग-अलग वैतरणी

• डॉ. कुंवरपाल सिंह

अलग-अलग वैतरणी से गुजरना उस बदलाव से गुजरना है जो स्वतत्रता के पश्चात् बडी तीव्रता के साथ घटित हो रहा था। उच्चतर और महत्तर जीवन-मूल्यों के जो मानक राष्ट्रीय आदोलन के दौर मे जनता ने अपने बलिदानो और सघर्षों से स्थापित किये थे तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध जूझते हुए धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि के भेदों से ऊपर उठकर जिस प्रकार सास्कृतिक एकता का परिचय दिया था—वह गौरवशाली परंपरा स्वातत्र्योत्तर काल मे छिन्न-भिन्न हो गयी। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन की विसगतिया और विकृतिया खुलकर सामने आने लगीं। व्यक्ति के सघर्ष और उसके सोच का दायरा सिमटने लगा। 'अलग-अलग वैतरणी' हमे परिवर्तन की इस असहज तथा दुखद प्रक्रिया का एक प्रामाणिक तथा आत्मीय परिचय देता है तथा उसकी गहरी पहचान कराता है। परिचय और पहचान का संकेत जग्गन मिसिर के इस वक्तव्य से इस प्रकार मिलता है ·

"अचभा ई देखकर होता है सुखदेवरामजी कि जिन पर उस वक्त जुल्म होता था वे ही आज जालिम बन गये हैं। छुटभइये लोग दो पैसे के आदमी हो गये, तो आखें उलग गयीं। आज जुल्म कौन करता है गावों मे, वही छुटभइये लोग जो पहले जमींदारी के बूटों से रौदे जा रहे थे। अब छुटभइये गोल बनाकर अपने से कमजोरो, गरीबो को सताते है। लूटते हैं। आप ही बताइए न खलील मियां की जमीन किसने छीनी। जमींदार ने ! धनसेरी का खस्सी कौन खा गया जमीदार ! झनकू चमार को गाव निकाला किसने दिया। जमींदार ने ! गाव की बहू-बेटियो से भद्दी-भद्दी बातें जमींदार कर रहा है ! बेचारे शशिकांत मास्टर की आंख में बालू डालकर उनका रुपया जमींदार ने छीना। लोगों की खड़ी फसल जमींदार काटता है। बोलिए, यह सब कौन करता है। वही छुटभइये लोग जो कभी गरीब थे, सताए हुए थे। और आज चूंकि उनके ऊपर कोई अंकुश नहीं है, इसलिए

वे जो भी करें, कोई पूछनेवाला नहीं है। जमींदार था तो एक खोल थी। जो कुछ होता था उसकी खोल के साथ नत्थी कर दिया जाता था। इसलिए उस वक्त में लडाई बडी साफ थी। अब किससे लडें। अपने ही भीतर के लोग खोल ओढकर डाकू-लुटेरे और जालिम बन बैठे हैं।"[1]

अलग-अलग वैतरणी का फलक बहुत व्यापक है और लेखक ने आजादी के बाद बदलते हुए गाव की एक समग्र और प्रामाणिक तस्वीर प्रस्तुत करने की कोशिश की है। एक लेख मे अलग-अलग वैतरणी के प्रत्येक पहलू पर चर्चा करना संभव नहीं है। अतः प्रस्तुत लेख मे मैने साप्रदायिकता की समस्या के उस बिंदु पर अपना ध्यान केद्रित किया है जो स्वतत्रता के पश्चात् उत्तरोत्तर गंभीर होती चली गयी और आज हमारे सामने भयावह रूप मे उपस्थित है।

सांप्रदायिकता एक ऐसी सामाजिक प्रवृत्ति है (फिनोमनन) जो धर्म की आड मे भ्रष्टाचार के आधार पर फलती-फूलती है तथा क्रूरता, अमानवीयता, नृशंसता के नये-नये मानक स्थापित करती है। सांप्रदायिक राजनीति का व्यवसाय करनेवाले ठेकेदार उसे ऐसे जटिल, विचित्र और मोहक तर्कों के व्यूह से सुरक्षित करते हैं कि एक सामान्य व्यक्ति की समझ मे न उसका आदि आता है और न अत और न ही उसके कारनामों की कार्यविधि। उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय आदोलन के दौर की साप्रदायिक राजनीति का जो स्वरूप था वह स्वातत्र्योत्तर काल में बदलता चला गया, वह अधिक सूक्ष्म और जटिल होता गया। साप्रदायिकता के मूल उत्स की चर्चा करते हुए प्रो विपिनचद्र ने एक स्थान पर लिखा है कि "साप्रदायिकता आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी सामाजिक वर्गों तथा राजनीतिक शक्तियो के हथियार के रूप मे विकसित हुई।"[2]

अत स्पष्ट है कि सांप्रदायिकता ने राष्ट्रीय आदोलन के दौर में उन शक्तियों का साथ दिया, साम्राज्यवाद समर्थक और राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर किया तथा देश का विभाजन कराया। आज भी साप्रदायिक राजनीति राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा बनी हुई है, सारे देश मे अशांति-द्वेष तथा घृणा का वातावरण बनाये हुए है। अत यह आवश्यक है कि सांप्रदायिकता की विचारधारा को समझा जाये तथा उसकी कार्य-प्रणाली का पर्दाफाश किया जाये। सांप्रदायिकता हमेशा वास्तविकता पर पर्दा डालती है और जनता अशिक्षित और अभाव मे डूबी हुई जनता की भावनाओ का शोषण करती है। विपिनचद्र लिखते है "सांप्रदायिकता ने प्राय शोषक और शोषित के बीच उत्पन्न सामाजिक तथा वर्गीय तनावों की या तो विकृत अथवा गलत व्याख्या की है।"[3]

"साप्रदायिक प्रचार के दबाव के तहत, जनता शोषण-उत्पीडन, अपने कष्टो के वास्तविक कारण का पता लगाने में असमर्थ रहती है तथा उनकी उत्पत्ति की कल्पना एक मिथ्या सांप्रदायिक स्रोत मे करने लगती है।"[4]

सांप्रदायिकता का सामाजिक आधार मध्यवर्ग है। सांप्रदायिकता उसी की आकांक्षाओं और हितों की अभिव्यक्ति है। विपिनचंद्र इसके इतिहास की ओर इंगित करते हुए लिखते हैं :

"औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था मे उत्पन्न संकट ने मध्यवर्ग के बीच सतत रूप से दो प्रकार की परस्पर विरोधी विचारधाराओ तथा राजनीतिक प्रवृत्तियों को जन्म दिया। जब साम्राज्यवाद विरोधी क्रांति और सामाजिक परिवर्तन निकट दिखायी देता था तो मध्यवर्ग बड़े उत्साह के साथ राष्ट्रीय आंदोलन तथा लोकप्रिय आंदोलनों मे हिस्सेदारी करता था। तब वह सहजता से सारे समाज-पूंजीपतियों से किसान और मजदूर वर्ग तक की मांगो की वकालत का समर्थन करता था। व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाएं व्यापक सामाजिक आवेग मे दब जाती थीं। किंतु जब क्रांतिकारी परिदृश्य धुंधला पडने लगता था तो साम्राज्यवाद विरोधी सघर्ष ढीला पडने लगता था तथा म‹‹ वर्ग के बहुत से लोग अपनी व्यक्तिगत समस्याओ के समाधान के फौरी हल खोजने मे लग जाते थे, वे उस राजनीति की ओर मुड जाते थे जो सांप्रदायिकता अथवा उसी तरह की विचारधाराओं पर आधारित होती थी। अत सामाजिक कारणत्व के आधार पर ही मध्य वर्ग का एक बहुत बडा हिस्सा देश के अनेक हिस्सो मे साम्राज्यवाद-विरोध तथा साप्रदायिक अथवा उसी तरह की राजनीति के बीच झूलता रहा। प्रथम स्थिति में, उनके अपने सामाजिक हित व्यापक सामाजिक हितों के साथ घुलमिल जाते थे तथा उनकी राजनीति व्यापक साम्राज्यवाद-विरोधी सघर्ष का हिस्सा होती थी। दूसरी स्थिति में वे एक संकीर्ण वर्ग-हित के रूप मे कार्य करते थे तथा सामाजिक-राजनीतिक यथास्थितिवाद को स्वीकार करते थे तथा वस्तुगत रूप से उपनिवेशवाद की सेवा करते थे।"[5]

उक्त वक्तव्य के आलोक में देखा जाये तो स्वातंत्र्योत्तर काल में साम्राज्यवाद विरोध का परिदृश्य गायब होने पर तथा कांग्रेस की ढुलमुल तथा जनविरोधी नीतियो के द्वारा जो आर्थिक राजनीतिक वातावरण बना, उसमें सांप्रदायिक शक्तियों को पनपने का पर्याप्त अवसर मिला।

इस देश में सास्कृतिक सामंजस्य की एक लबी परपरा रही है। साम्राज्यवादी-युग से पूर्व साप्रदायिकता जैसी दुष्प्रवृत्ति से लोगों का परिचय नहीं हुआ था। पारस्परिक सद्भाव सामाजिक सगठन का मूलाधार था। किंतु जब देश विभाजन की त्रासदी घटित हुई और सांप्रदायिकता की राजनीति ने जो नंगा नाच किया उससे सास्कृतिक एकता की बाते हास्यास्पद होने लगीं। लोगों की आस्थाओं और विश्वासो की जडें हिलने लगीं, जहर-भरी उन हवाओं ने मनुष्यता की सारी ताजगी सोख ली। कितु उस समय भी ऐसे लोग थे जिनकी आस्था और विश्वास हैवानियत के उस अंधकारच्छन्न वातावरण में भी अडिग थी। खलील मियां के बेटे ने जब उन्हे पाकिस्तान बुलाने के लिए लिखा तो वे कहते हैं

"हर बार लिखता कि अब्बा वहां काफिरो के बीच क्यों पडे हो ! अभी मौका है चले आओ। उसने दो-चार लोगों के नाम भी लिखे कि उनसे मिलकर बातचीत कर लो। वे लोग तुम्हारे पाकिस्तान आने का बंदोबस्त कर देगे। मैंने लिख दिया कि बेटे तुम्हारे पाकिस्तान पर मैं लानत भेजता हूं। साले तू दोगला है। काफिरों के बीच अपना दर्जनों पुश्त गल गया। आज तक खुदा गवाह है कि बेटे मैंने कभी हिंदू और मुसलमान मे फर्क नहीं किया। मैंने कभी नहीं चाहा की हम दीवाली के दीये न जलाये। तुमने देखा ही है कि होली के दिन मेरे सहन में जाजिम बिछ जाती और क्या छोटा क्या बड़ा सब इकट्ठे होते। फाग गानेवाली होली पहले यहा छावनी पर जमती थी फिर यहां से उठकर लोग सीधे मेरे दरवाजे पर आते। मैं अहीरों को बुलवाकर पहले से कंडाल भर ठंडाई बनवाये रहता। लोग खूब छानते और खूब गाते। मेरे घर में होली के दिन पूडियों और सिवइयों की टाल लग जाती। सारी ठकुराइन पुराने रिवाज को निभाती रहीं। ईद के मौके पर लोग हमारे यहां मुबारकबाद देने आते। बुढउ मलिकार खुद पिछली बार आये थे। आज तक खलील मियां की बहू-बेटी को या उनके किसी पुश्त मे खानदान की किसी लडकी को कभी हिंदुओ ने अपनी बेटी-बहू से अलग नहीं माना। तो बेटा ! तुम्हीं बताओ कि मैं कैसे मान लूं कि मैं काफिरों के बीच हूं या दुश्मनों के बीच हू।"[6]

साम्प्रदायिकता की समस्या को बनाये रखने मे इतिहास की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सांप्रदायिक राजनीति का व्यवसाय करनेवाले लोग सदैव ही इतिहास की गलत व्याख्या करते हैं। हिंदू और मुसलिम दोनो ही प्रकार की सांप्रदायिक ताकते इतिहास की ऐसी भ्रष्ट व्याख्या करती है जो उनके हितो को सुरक्षा प्रदान करें। वे विवेक और तर्क को स्वीकार नहीं कर पाती है। इस इतिहास पर अपने आत्मविश्वास और विवेक के द्वारा टिप्पणी करते हुए खलील मियां कहते है ·

"मुसलमान सब बाहर से ही नहीं आये हैं। लेकिन मुसलमान धर्म तो बाहर से आया ही। और जो उसको लेकर आये, वे हमलावर तो थे ही। कोई हमलावर किसी का वतन छीने, उस पर कब्जा करे, उसके मंदिरों को तोडे, उसकी लडकियो को जबरदस्ती छीने, तो क्या वह कौम उसे देवता मानकर उसके पैर चूमेगी। उस कौम के बदन मे ताकत न थी कि वह हमलावर को पीछे धकेल दे, मगर उसकी तहजीब और रूह में वह ताकत जरूर थी कि वह हमलावर से कभी हार न माने। हिंदुओ ने कभी भी मुसलमानों को अपने से बेहतर इन्सान नहीं माना। तो क्या यह उनकी तगदिली कही जायेगी। और मैं सोचता हू कि यह उनकी ताकत थी जो उसको संभालने में मददगार साबित हुई।"[7]

यहां यह उल्लेखनीय है कि यह देश अपने सांस्कृतिक सामंजस्य के बूते पर ही विभाजन की त्रासदी को भी झेल गया। और हिंदुस्तान में मुसलमानों का

निश्चित रूप से एक वर्ग ऐसा था जो मनुष्यता के श्रेष्ठतर मूल्यों में अपनी आस्था को सुरक्षित रख सका। लेकिन जिस वर्ग ने उस अधकार में भी अपने विश्वासों और आस्थाओं को हिलने नहीं दिया। आजादी के बाद साप्रदायिकता ने ऐसा रूप ग्रहण किया जिससे सांस्कृतिक एकता और सामंजस्य की प्रक्रिया कमजोर होने लगी तथा उसने राजनीतिक प्रतिक्रियावाद को जन्म दिया। यह वस्तुत: गलत आर्थिक नीतियो का परिणाम था जिसने राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी शक्तियों को बल प्रदान किया। उसी प्रक्रिया की ओर संकेत करते हुए खलील मिया कहते हैं--"मै इसी वजह से पाकिस्तान नही गया। उस बीच खेती-बारी की भी कोई खराब हालत नहीं थी, मगर पता नही क्या बात थी कि खेती-बारी की पैदावारों से काम चल न पाता था, चीजो का दाम बढा था। मगर उतना नहीं कि हालत खस्ता हो जाये। कुछ समझ में न आने पर भी हालत खराब होती गयी। जमीदारी उन्मूलन से मेरे ऊपर कोई सीधा असर नहीं पडा...जुबैदा की बड़ी बहन सकीना की शादी आ गयी। जवान लडकी को देखकर कलेजा मुंह को आता था। आसपास कोई अच्छा रिश्ता बैठ न पाया। नयी बाजार में शादी तय की। रुपयों की सख्त जरूरत थी। रुपये देने को कोई तैयार नहीं। देवी चौधरी का खानदान मेरी हलवाई चरवाही करता रहा। अहीरों ने बड़ी मदद की है अपनी। देवी चौधरी का लडका जगेसर पुलिस मे है, खूब आमदनी है। उसके पास रुपये थे। उन्होने सौ रुपये बीघे पर खेत रहन रखने की रजामदी जाहिर की। तुम्हे सुनकर ताज्जुब होगा बेटे कि बीस बीघे खेत रहन रखकर मैने सकीना की शादी की। सोचा, चलो अभी बीस बीघे खेत है।...उसी वक्त दलसुखलाल पटवारी की जगह एक नया लेखपाल आया रामकरन। सुना कि वह उनकी जात-बिरादरी का था। जो हो पहले के पटवारी घूसखोर थे, जमीदार के पिट्ठू थे, मगर डकैत नहीं थे। इस लेखपाल ससुरे ने बीस बिगहेवाले रकबे पर भी देवी चौधरी का कब्जा दिखाया। यही नही बेटे, उसने पीछे के बीस साल के कब्जे का इंतखाब भी दे दिया।"[8]

बेईमानी और भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति बडी सूक्ष्मता के साथ सांप्रदायिक मानसिकता का निर्माण करती है। यह बडी क्रूर और अमानवीय प्रक्रिया है। यह मानवीय मूल्यो के दृढ़ से दृढ़तर आस्था को भी हिला देती है। आजादी के बाद यही प्रक्रिया विशेष रूप से घटित हुई जिसने खलील मिया जैसे सच्चे देशभक्त लोगों को भी नहीं बक्शा। देवी चौधरी खलील मियां की जमीन हडपने के लिए झूठी शपथ खा जाते हैं और तब लगने लगता है कि धर्म का एक रूप कितना पाखडी और भ्रष्टाचार को सुरक्षा कचव प्रदान करता है।

"देवी चौधरी ने अपने पोते के सिर पर हाथ रखकर कसम खा ली। शिवजी की पिडी उठाते वक्त भी वह जरा कांपा नहीं। मैं सब कुछ हार गया। मैंने इन्सान

की अंदरूनी अच्छाई में ईमान लाकर सब कुछ गवा दिया।"[9]

जब भी कभी इस प्रकार के अन्याय और भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठती है तो उसे सांप्रदायिक मोड देने की कोशिश की जाती है। जब गांव में खलील मिया के साथ किये गये अन्याय की लोग चर्चा करते हैं तो जगेस्सर जो कि पुलिस में कॉन्सटेबिल है कहता है :

"एकदम मुर्दा हैं ये लोग। खलील मियां का खेत ले लिया तो क्या हो गया। उस दिन अभी शोभारामजी बता रहे थे कि जाटों ने तो मुसलमानियों को पकड-पकडकर गढमुक्तेश्वर में चकरी पर बैठा-बैठा कर ब्याह कर लिया। काहे नहीं कोई हिंदू बोली दिया उहां मुसलमानो के पक्ष में। तब तो सब मियां चिल्ला रहे थे कि पाकिस्तान लेगे। अब तो सालो ने ले लिया न पाकिस्तान। जाओ उहा। यहा का पडे हो भाई। राम दै ऐसा काम किसी और इलाके में हुआ होता लो लोग जय-जयकार मचा देते। मगर ई गांव है बीरबावनपुर। जिसे देखो वही रट लगाये है कि बेचारे खलील मियां के साथ अनियाव हो गया। अरे हो गया अनियाव तो हो गया। तुम्हारे मे हिम्मत है तो रोक दो।"[10]

साप्रदायिकता की सवृत्ति महज एक प्रतिक्रियावादी राजनीतिक विचारधारा नहीं है अपितु एक ऐसी सामाजिक दुष्प्रवृत्ति भी है जो भ्रष्टाचार को प्रश्रय भी देती है। इसकी प्रक्रिया बडी अमानवीय और क्रूरतापूर्ण होती है। खलील मियां जैसे लोग जोकि देश विभाजन के समय भी देशभक्ति और धर्मनिरपेक्षता जैसे महत्तर जीवन-मूल्यों को बडे जतन से सजोये रख सके वही लोग स्वातत्र्योत्तर काल की इस सूक्ष्म, जटिल, अमानुषिक और क्रूरतापूर्ण साप्रदायिक प्रवृत्ति के सम्मुख इन मूल्यो के प्रति अपनी निष्ठा को बचाये न रख सके। आज जिस प्रकार सारे देश मे साप्रदायिकता का विष व्याप्त है, यह वस्तुत उसी प्रक्रिया का परिणाम है।

भ्रष्टाचार का सह-सबध केवल हिंदू-मुसलिम साप्रदायिकता के स्तर पर ही नहीं है बल्कि समाज के अनेक स्तरो पर है। भ्रष्टाचार से सफलता प्राप्त करने के लिए यदि जातिवाद के नारे की आवश्यकता होगी तो यह प्रवृत्ति हमे वहा भी उसी रूप मे दिखायी पडती है। वह किसी भी प्रकार के सकीर्णतावाद का उपयोग कर सकती है। जगेस्सर की टिप्पणी इस सदर्भ में हमारी आखें खोल देती है

"तुम देहाती लोग निरे घोचू होते हो। किसी ओहदेदार को पब्लिक क्या प्रेम से पूजती है। अरे चाहते हो कि कोई पूछे, कुर्सी जमे तो तिकडम करो। अब एक आदमी को एक से लड़ाने से कुछ नही होता। ऐसी जुगुति बैठाओ कि गोल से गोल लडे। मारपीट हो। चंदा बहेरी लगे। अब अकेले की आन पर जान लडानेवाले कम दीखते हैं। बाकी पार्टी या गोल की आन पर बारी-बारी से जान देने को एक तैयार रहते हैं। है कि नहीं। अकेले-अकेले की लड़ाई में किसी एक के पास से चार-पांच सौ निकलना मुश्किल होता है। बाकी दो गोलों मे ठन जाये

तो देखते-देखते हजार रुपये का चंदा उतर जाता है।"[11]

गोलबंदी की यह राजनीति हमें उस समय अपने भयावह रूप में दिखायी पड़ती है, जब सुरजूसिंह को सुगनी के साथ पकड लिया जाता है और चमार आस-पास के गावों से बटोर करके बरबस सुगनी को सुरजूसिंह के घर बिठाने के लिए संघर्ष करते हैं। उस स्थिति में हरखू सरदार के समझाने पर सुरजूसिह बुझारथ सिह से भी सहयोग मांगने के लिए तैयार हो जाता है जबकि दोनों परिवारों मे पुश्तैनी दुश्मनी है। हरखू सरदार कहता है ·

"बुझारथ भी जैपाल सिह का ही बेटा है। सुरजू बेटा, तुम बुझारथ के पास चलो। बस, इतना कह दो बुझारथ भाई अब हमारी इज्जत तुम्हारी इज्जत है। मुझे पूरा भरोसा है कि बुझारथ नाही नहीं करेगे। उत्तर पट्टी और दक्षिण पट्टी के ठाकुर यदि मिल जायें तो चमारों की हिम्मत नहीं है कि वे छबरे पर कदम रखें।"[12]

यह गोलबंदी की राजनीति न केवल भ्रष्टाचार से संबद्ध है बल्कि इस समूची व्यवस्था के प्रति गहरे अविश्वास से उत्पन्न और उसके समक्ष एक प्रश्नचिह्न भी है। जग्गन मिसिर कहते हैं–"बात ई है दरोगा जी जब मामला आदमी-आदमी के बीच से उठकर कौम से जुड जाता है तो ऐसा ही होता है। एक आदमी गलती करता है, उसको सजा देने के लिए जब एक कौम उठती है तो दूसरी कौम उसे अपनी इज्जत पर खतरा मानकर उसका जवाब देने चलती है। बस, कहां की बात कहा पहुच जाती है। कौमी जोश और उमग में लोग यह भी भूल जाते है कि गलती किसकी थी और नियाब क्या हो।"[13]

कांग्रेसी राजनीति की शैली में इस सकीर्ण राजनीति के विरुद्ध सघर्ष की इच्छा के बजाय इसे सहयोग देने का रुझान ही रहा है। कांग्रेसी राजनीति के खोल के अदर ही अदर साप्रदायिकता, जातिवाद और भ्रष्टाचार की राजनीति निर्बाध रूप से फलती-फूलती रही है। इस सदर्भ मे कांग्रेसी राजनीति के प्रेक्टिशनर सुखदेव रामजी का कथन दृष्टव्य है ·

"अब साला ई नया राज है कि कुछ न करो तो बदू बनो, करो तो बदू बनो। गले गला फाडकर चिल्लाते हैं कि अंधेर हो रही है। अपने ही लोग अपने को लूट रहे है। जिसे देखो वही गांधी टोपी पर कूडा फेंक रहा है। अरे सालो, इसी टोपी का असर है कि थाना, पुलिस, नेता, अफसर सभी को समझा-बुझाकर काम करा लेता हू। वरना कहीं न तो स्कूल की इमारत पर छत पड़ती, न चमारो के लिए कुआं बनता, न गांव की गलियो में नाबदान बनते। किसका-किसका काम नहीं सलटाया। किसकी गवाही नहीं की। जब भी कचहरी-फौजदारी हुई, पब्लिक के साथ खडा रहा। पर उसका कुछ नहीं। खरच-बरच के लिए जो बीस-पचीस लिया उसकी खोज सभी साले करते हैं।"[14]

स्वतंत्रता के पश्चात् राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक स्तर पर जो

भी परिवर्तन हो रहे थे और यह स्पष्ट ही है कि ये परिवर्तन नकारात्मक ही थे, उनको पकड़ने और उनके कलात्मक सृजन में अलग-अलग वैतरणी को पर्याप्त सफलता मिली है। हर दिशा में अंधकार है, सुधार की इच्छा रखनेवाले और अपनी व्यक्तिगत सीमा मे उसके लिए संघर्ष करनेवाले पात्र इस अंधकार से लड़ने में कामयाब नहीं हो पाते और वे मैदान छोड़कर भाग रहे हैं। यह इस परिवर्तन की विभीषिका है, जो उग्र होती चली जा रही है।

संदर्भ

1 अलग-अलग वैतरणी, पृ. 632
2 विपिनचद्र (स.) इडियाज स्ट्रगल फॉर इडिपेडेस, पृ 407
3 वही, पृ 405
4. सी जी शाह, उद्धृत द्वारा विपिनचद्र, इडियाज स्ट्रगल फॉर इडिपेडेस, पृ 405
5 वही, पृ 404
6 अलग-अलग वैतरणी, पृ 273
7 वही, पृ 274
8 वही, पृ 276
9 वही, पृ 279
10 वही, पृ 338
11 वही, पृ 349
12 वही, पृ 611
13 वही, पृ 629
14 वही, पृ 347-48

अलग-अलग वैतरणी : अस्तित्ववाद की नींव पर

• डॉ. भीमसेन निर्मल

डॉ शिवप्रसाद सिह कृत 'अलग-अलग वैतरणी' भारतीय ग्रामीण जीवन का जीवंत चित्र प्रस्तुत करती है। यह चित्र शहरीकरण की प्रक्रिया की जड को ग्रामीण जीवन की विसंगति में दिखाता है। उपन्यासकार ने अपने अस्तित्व में समाहित इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास किया कि आज का भारतीय गांव 'नाचिगगी' क्यों है ? इतना दरिद्र क्यो है ? क्या कोई युद्ध, अकाल, विप्लव, सूखा या बाढ ?... उन्होंने एक गाव को चुना है–करैता–गाजियापुर जिले का एक गांव। किसी एक परिवार की कथा गाव का जीवन नहीं बन सकती। अत· गांव के हर वर्ग और हर वर्ग के लोगो के जीवन मे प्रवेश किया उनकी आशा बनकर, तो सुनायी दी वैतरणी की ध्वनि–एक-एक का जीवन बहती वैतरणी बना है। इसे पार किये बिना उसे मुक्ति नहीं है और गाव की भी भलाई नहीं है। केवल आर्थिक विषमता ही नहीं, बल्कि निरक्षरता, अज्ञान, धार्मिक कट्टरता, मूल्यहीनता, दिशाहीनता, भटकाव–उनकी वैतरणी को और भी गहराती है। ठाकुर, ब्राह्मण, यादव, चमार, पठान–व्यक्ति किसी भी वर्ग का क्यों न हो, जमींदार, उपाधिया, शिक्षक, किसान, हलवाहक, बनिहार, चाटकर, चमरोल–किसी भी वर्ग का क्यों न हो, परिवर्तन के प्रति सचेत है। व्यर्थता, निरर्थकता, वेदना, अलगाव अकेलेपन, बेगानेपर की टीस सभी ने भोगी है। कुछ लोगो ने इसे नियति का खेल माना है, तो कुछ इससे टकराकर, टूटकर, हारकर चले गये। बहुत कम ऐसे लोग हैं, जिन्होंने इस टकराहट मे भी अपने अस्तित्व की सार्थकता का और धरती के प्रति दायित्व का अनुभव किया है। जग्गन मिसिर और कनिया ऐसे ही लोग हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति और जमींदारी उन्मूलन करैता के परिवर्तन का मूल है। यह आरभ ही त्रासदायक है, क्योंकि देश विभाजन के प्रभाव ने धार्मिक संतुलन को बिगाड दिया। खलील मियां का बडा बेटा बदरुल पाकिस्तान चला गया। पर मियां करैता को छोड न सके। जमींदारी के उन्मूलन से लोगों को राहत तो मिली पर सत्ता का अहंकार नहीं टूटा। एक व्यवस्था के टूटने से हुई रिक्थ में धूल

जमने-सा। सत्ता के लिए होड शुरू हुई। जमींदारी के दौरान रौंदे गये लोग ही जुलम ढाने लगे। सामंतवादी व्यवस्था की जुल्म तो वेश बदलकर आयी पर सामंतवादी व्यवस्था की उदारता तो गयी। "स्वतंत्रता विवेकहीन व्यक्तियों के हाथ दुधारी तलवार बन गयी जो दूसरों पर कम वार करती है अपने पर ज्यादा।"[1] एक तरफ समृद्धि बढती गयी तो दूसरी तरफ गरीबी। शिक्षा का उद्देश्य मात्र नौकरी पाना और पैसा कमाना रह गया है। संयम, आत्मानुशासन आदि व्यक्ति की कमजोरियां मानी जाने लगीं। पुरानी पीढी और नयी पीढी का अंतर स्पष्ट होने लगा। पुरानी पीढ़ी धार्मिक तथा भौतिक मूल्यों पर आस्था को छोड नहीं सकती, नयी पीढी आस्थायुक्त नहीं हो सकती। पर दोनो की आस्था और अनास्था भी दृढ़ नहीं है, दोनो में दरारें हैं। इसलिए मिथ्याचरण और आवरण हर व्यक्ति का अंग बन गया। ऐसे अनेक आवरण है, जिन्हे हम शराफत, बडप्पन, उदारता के स्नेह से चिकनाते, सवारते रहते हैं—आदमी अपने भीतरी 'मैं' को पिघलाकर सबके ऊपर उढ़ा देने में थोड़ी खुशी और सतोष का अनुभव करता है, पर जब दूसरे लोग पास नही होते, बाहरी व्यक्ति की आंच कम होती जाती है तो वह 'मै' इतना सिमट जाता है कि उसे अपनी वदान्यता पर खीझ-सी होने लगती है।"[2] ऊपर से शालीन दीखनेवाले आवरणों के भीतर कहीं अनजाने में दरारे पड जाती है। विपिन और देवनाथ के व्यक्तित्व मे ये दरारे स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

मूल्यों की गिरावट

युगीन नैतिक मूल्यों की गिरावट बुझारथ एव सुरजूसिह के अवैध संबधो के माध्यम से स्पष्ट होती है। चमार, डोमन की बेटी सगुनी सुरजूसिह की मजदूरिन है। उसके लिए शृंगार का सामान कभी बुझारथ मगाता है तो कभी सुरजूसिंह। सुरजूसिह को सगुनी के साथ रंगे हाथ पकडकर चमार लोग आंदोलन खडा करते है। गाववालों का खाली समय अनैतिक सबंधों की चर्चा मे ही गुजरता है। इस सारे नैतिक पतन के लिए जग्गन मिसिर संक्रमण काल के मानव की साहसहीनता और स्वय अपने प्रति बढती दायित्वहीनता को कारण मानता है। शशिकात इस स्थिति को अवमूल्यन कहता है। वह कहता है - "पहले शोषण था, अत्याचार था, गरीबी और जहालत थी। पर दिमाग मे कुछ ऐसा भी था जो इसान को सीमा लाघने से रोकता था। अब वह अंकुश नहीं रहा—न ईश्वर का डर, न इज्जत और न प्रतिष्ठा के जाने का खतरा। न जमींदार का डर है, न समाज का"[3]...इसान है कि पहले से तंग हो गया, दिमाग से, मन से, तन से और कर्म से सर्वत्र दमघोट सन्नाटा मिलेगा...टूटे-हारे लोग क्षणिक बहलाव के लिए अनैतिक, अमानवीय सबधों से अपने को हनन करते हुए, इससे अनभिज्ञ रह आनद ले रहे हैं। आदमी का जीवन मर्यादाच्युत, गरिमाहीन बनता जा रहा है। संयम और आत्मानुशासन

का अभाव चारित्रिक पतन के रूप में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

गांव का वातावरण इतना दूषित हो गया है कि वहां शिवत्व तिरस्कृत हुआ है। सत्य और न्याय अवहेलित हुए हैं। तहजीब और शराफत को जीवन-भर सबसे बडे मूल्य माननेवाले खलील मियां की सारी संपत्ति छीन ली गयी है। सारा गांव जानता है कि धोखा किसने दिया पर जग्गन मिसिर को छोड़कर कोई इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठाता। दूसरों के प्रति इस उदासीनता को लक्ष्य करते हुए जग्गन मिसिर कहते हैं कि "आदमी का मन बदल गया है। कुछ ऐसा निर्मोही स्वभाव होता जा रहा है कि अपने अलावा कोई किसी के बारे में कुछ सोचता ही नहीं। यहां तक कि खून के रिश्ते भी झूठे होते जा रहे हैं।"[4]

टूटन

इस उपन्यास मे सबधों का टूटन व्यक्ति, समाज और ग्राम जीवन के स्तर पर आका गया है। जग्गन मिसिर, कनिया और दयाल महराज को छोडकर उपन्यास के सभी मुख्य और गौण पात्र टूटे हुए है। करैता में जीवन एक वैतरणी बन गया है, जिसे पार करना दुष्कर कार्य है, उससे भागना सरल। जो भी इसे पार करने के लिए टकराया, टूटन और दर्द ही उनके हाथ आये। व्यक्ति के स्तर पर विपिन, देवनाथ, शशिकांत अपने इस प्रयत्न मे टूट जाते हैं। वे तीन अपने में कुछ विश्वास और चेतना की शक्ति लेकर अपने गाव और समाज के प्रति दायित्व-बोध से प्रेरित होकर गांव आये है। विपिन की तुलना मे देवनाथ और शशिकांत अधिक सक्रिय भी है।

विपिन खानदानी इज्जत, झूठी प्रतिष्ठा के लिए आत्मा का हनन करता है। वह क्या चाहता है, इसका स्पष्ट चित्र उसके सामने नहीं है। उसका मन कहता है–"तुमसे कुछ नहीं हो पायेगा। तुम अपने ही बनाये जाल में उलझी मकडी की तरह छटपटाते रहोगे और चारो तरफ से कटकर उसी में कैद होकर मिथ्या शांति पाने का नाटक करते रहोगे। यही तुम्हारी नियति है।"[5] विपिन में दुविधा है, उसका मन सशयग्रस्त है। वह जानता है कि पुष्पा निर्दोष है, पर उसे अपना नहीं सकता। देवनाथ की तरह परिस्थितियों के कारण नहीं वरन् अपने स्वभाव के कारण विपिन टूटता है। गाव से निकल जाने के लिए छटपटाता है।

शशिकात को अपने आदर्शवादिता की घोर पराजय देखनी पडती है। करैता गाव उसे अपनाता नहीं। उसका आदर करनेवाले विपिन, देवनाथ और मिसिर भी उसकी मदद नहीं कर पाते। करैता के लिए वह अजनबी ही है। भरसक मिल-जुलकर रहने का प्रयास करने पर भी, वह गांव का आदमी नहीं बन पाता। स्कूल के हैडमास्टर और सुरजूसिंह के जाल मे फंसकर, विवश होकर उसे गांव छोड़ना पड़ता है।

कल्पू की पत्नी पटहनिया भाभी को जिंदगी में कुछ नहीं मिला। पति के क्लीव होने से उसे व्यंग्य और निंदाएं सुननी पड़ती हैं, जिससे वह दु:खी थी। पर वह बेचारी नहीं थी। हर एक को वह छोटी और फालतू लगती है। वह किसी की कृपा नहीं चाहती। पति की मृत्यु के बाद उसे करैता छोडकर भाई के साथ शहर जाना पडता है क्योंकि उसे लगता है कि करैता गांव सब तरफ से उसके अस्तित्व को काटने को उद्यत है।

ग्रामीण जीवन मे भी सबध दिन-ब-दिन खोखले और निरर्थक बनते जा रहे हैं। पिता-पुत्र, भाभी-देवर, पति-पत्नी, मालिक और मजदूर के संबंध तनावपूर्ण बनते जा रहे हैं।

अलगाव : अकेलापन

आधुनिक युग का व्यक्ति अहं के प्रति अत्यधिक सचेत होता जा रहा है। परिणामत: जीवन दु:ख और पीड़ा से युक्त होता जा रहा है। जग्गन मिसिर तो इसका अनुभव करता है। 'खुद' की भावना को भूल जाने से जीवन मे शांति, संतोष आयेगे। लेकिन 'खुद' को भूल जाना कोई सरल काम भी नहीं। वह अपने आप में बडी बात होते हुए भी, स्वीकार्य नहीं हो सकती। खलील मियां जैसे बुजुर्ग इस मार्ग पर जा सकते हैं। पर नयी पीढ़ी के लोग नहीं। 'खुद' के बोध को त्रासदायक मानते हुए भी उसे भुलाया न जा सकना भी एक विवशता है। खेद से इंकार किया जा सकता है। पर भुलाया नहीं जा सकता। अहं के प्रति सचेत व्यक्ति भीड में स्वयं को अकेला पाता है। वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या वह अलगाव ही है। उपन्यास के सभी पात्र इस अलगाव को पाटने में प्रयत्नशील हैं। मनुष्य के भीतरी-बाहरी अस्तित्व का, दैनदिन जीवन का, अतर्क्य परिस्थितियों का और तर्कपूर्ण बुद्धि का अलगाव जब दूर नहीं होता तो मनुष्य अपने जीवन मे समरसता नहीं पा सकता। वह हार जाता है। विपिन, शशिकांत इस अलगाव को पाटने में हार जाते हैं। डॉ. रामदरश मिश्र के अनुसार इस उपन्यास में चारों ओर बिखरे हुए आहत जीवन, मूल्य, सामाजिक सबंध, विवेक-चेतना, यहां से वहां तक एक अकेलापन विद्यमान है।[6]

आधुनिक युग की विसंगति यह है कि भाड से अलग व्यक्ति अकेला है। फिर भी उसके पास अपना एक चेहरा है। यही बहुत है। चेहरा अच्छा हो या बुरा, इससे कुछ बनता बिगडता नहीं, भीड़ के अन्याय से जूझते रहनेवाले कम, भोगनेवाले अधिक है। भारतीय गांवो में सर्वत्र वर्तमान स्थिति यही है। अस्मिता के प्रति सचेत व्यक्ति में तिरस्कृत शिवत्व के पक्ष मे लड़ने के साहस का अभाव है। केवल जग्गन मिसिर ही ऐसा व्यक्ति है जिसके पास अपना एक चेहरा भी है, और दायित्वयुक्त मर्यादित आचरण भी। असगति का प्रसाद अस्तित्वबोध की उर्वर भूमि प्रस्तुत करता

है। इस बृहद्काय उपन्यास में ग्राम जीवन के सामाजिक, राजनैतिक और सास्कृतिक पक्षों का चित्रण इस तरह अंकित है कि इसमें आधुनिक मानवीय संकट का बोध उजागर होता है। सांप्रदायिकता, जातीयता, अज्ञान, पारिवारिक शत्रुता, अहं-काम-विकृति, व्यक्ति पूजा अलग-अलग वैतरणी बन कर जन-जीवन को पल्लवित करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।[7]

अस्तित्ववाद का उद्देश्य समस्याओं का कोई मिटा-मिटाया समाधान प्रस्तुत करना नहीं है, बल्कि प्रश्नों को इस तरह उठाना है कि मानव मन मे अपनी उग्रता का रूप ग्रहण करे, उसे पूर्णत समेट ले और इनसे टकराने की अपनी नियति के प्रति आदमी ज्यादा संवेदनात्मक ढंग से जागरूक हो सके। इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन की समस्या का समाधान देने की अपेक्षा उस स्थिति के प्रति संवेदना लगाने का प्रयत्न हुआ है।

ध्वंस, पतन और विघटन के युग में अपनी जिंदगी को व्यक्ति किस प्रकार सार्थक बना सके ? आधुनिक बोध से युक्त इस प्रश्न का समाधान अपने-अपने ढंग से ही देना होगा। आरोपित समाधान सार्थक नहीं बन सकता। जग्गन मिसिर का यह कथन कि "वैतरणी पार करवानेवाला कोई नहीं, खुद ही करना है।" अस्तित्ववाद की इस मान्यता की ओर संकेत करता है कि "हर व्यक्ति को अपना 'क्रूस' स्वय ही ढोना होगा।"

इस उपन्यास में अभिव्यक्ति जीवन स्थितियां इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि अस्तित्वबोध मात्र शहरी जीवन से संबद्ध और विजातीय नहीं, प्रत्युत बढते अलगाव, अकेलापन, निरर्थकताबोध, विसंगति आदि पर निर्भर करता है। ग्रामीण सभ्यता मे भी ये अनुभूतिया अनिवार्य बनती जा रही हैं। इसी का जागता चित्र प्रस्तुत करता है 'अलग-अलग वैतरणी'।

संदर्भ

1 अलग-अलग वैतरणी, पृ 322
2. वही
3. वही
4. वही, पृ. 485
5. वही, पृ 395
6. आज का हिंदी साहित्य : सवेदना और दृष्टि, डॉ. रामदरश मिश्र, पृ. 129
7. हिंदी उपन्यासो का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन, डॉ. गिरिधरप्रसाद शर्मा, पृ 235

हिंदी उपन्यास का नया मार्ग-चिह्न : अलग-अलग वैतरणी

—जितेंद्रनाथ पाठक

'अलग-अलग वैतरणी' गोदान के बाद ग्रामांचल का सर्वाधिक सशक्त औपन्यासिक आलेखन है । लिखे जाने को रेणु ने 'मैला आंचल' मे पूर्णियां के अंचल मेरीगंज के आचलिक चित्रण के माध्यम से स्वतत्रता प्राप्ति के बाद की विसंगतियो का चित्रण किया है, विश्वभरनाथ उपाध्याय ने 'रीछ' जैसे महाकाव्य उपन्यास में दक्षिणपंथी साम्यवाद के आधार पर इटावा के चादसी तथा उसके आसपास के गांवों तथा आगरा नगर की कथा को दुबारा स्वातंत्र्योत्तर विघटनशीलता, खोखलेपन और नयी दिशाओं के उद्‌घाटन का आधार बनाकर प्रस्तुत किया है, राही मासूम रजा ने अपने चर्चित उपन्यास 'आधा गांव' में गंगोली के शिया मुसलमानो की स्वतत्रता प्राप्ति के बाद पाकिस्तान-हिंदुस्तान से जूझती चेतना तथा टूटती जिंदगी के अन्य मुद्दो को उपन्यास में एक यथार्थवादी स्वर दिया है । किंतु 'अलग-अलग वैतरणी' बहुत नजदीक से सर्वथा अनारोपित ढंग से जैसा है, उसमें से ही स्वातंत्र्योत्तर तमाम विघटनों तथा संगठित होती नवीन वैतरणियों का महाकाव्योचित चित्रण प्रस्तुत करता है ।

नायक कौन ?

'गोदान' का नायक होरी है, कितु 'अलग-अलग वैतरणी' के नायक का ठीक इसी तरह नाम लेना आसान नहीं है । उसका नायक समूचा करैता गाव ही है । होने को कोई एक नायक हो सकता था, लेकिन तब उपन्यास अपने समसामयिक संदर्भ का यथातथ्यभूलक चित्र न दे पाता । आजादी के पहले राजा-रईस, जमींदार-तालुकेदार आदि की इकाइया थीं। अपनी तमाम गरीबी और जहालत के बीच भी आस्थाओं का धनी होरी और सत्याग्रहो का धनी तथा लगन का पक्का सूरदास भी सभव था, लेकिन जब राजा-रईस जमींदार-तालुकेदार विघटित हो गये हों, आस्था के धनी गांव की टुच्ची राजनीति के मुहरे हो गये हों और सत्याग्रही जनसेवक ग्राम

सभापति से लेकर विधायक तक बनकर अपने सत्याग्रह का मूल्य चुकाने लगे हों जब सारी श्रेष्ठताएं प्रजातांत्रिक चुनावों में दिशाभ्रष्ट हो गयी हों, तब करैता जैसे मामूली गांव में किसी महान् नायक की खोज गहरी रोमानियत की देन हो सकती है, हिंदुस्तान के लाखों-लाखों गांवों के प्रतिनिधित्व की खोज से युक्त यथार्थ की पहचान नहीं बन सकती ।

'गोदान' और 'अलग-अलग वैतरणी'

किसी भी ऐसे उपन्यास की जो समसामयिक वास्तविकता की ऐतिहासिक पकड़ को उसकी समग्रता में देने का महत्त्वाकांक्षी हो, उसे न केवल तलीय वास्तविकता की आनुभूतिक पकड़ से मुक्त होना चाहिए, वरन् वर्तमान के टूटते मूल्यों, बिखरती रूढ़ियों के पीछे वहा तक जाये, जहां पर उनकी मूल्यवत्ता थी । वर्तमान में उस अंतर्विरोध को उद्घाटित करे, जिसके चलते उसकी मूल्यवत्ता चुक रही हो और भविष्य में आगे वहा तक जाये, जहां तक उसमे से नयी सभावना अथवा अनिवार्य परिणतियों के आकार ग्रहण करने का सकेत स्पष्ट हो रहा हो; जो सामाजिक विकास का ऐतिहासिक बोध है, वही औपन्यासिक शिल्प के क्षेत्र में गतिशील वास्तविकता का चित्रण बन जाता है। जो लोग तॉल्सतॉय के 'युद्ध और शाति' के विराट जीवन-चित्रण को देखकर उसके महाकाव्योचित होने की घोषणा करते हैं, वे मध्यकालीन विराटता के उसी व्यामोह से युक्त है, जो उस युग का और महाकाव्यों का भी एक प्रमुख उपलक्षण था। जो लोग 'गोदान' या 'अलग-अलग वैतरणी' को महाकाव्योचित कहना चाहते है, तो इन उपन्यासों मे जीवन को-उसकी लाक्षणिक सपूर्णता मे देख कर ही।

'गोदान' और 'अलग-अलग वैतरणी' इतने में तो समान स्तर पर हैं कि वे दोनों अपने-अपने समकालीन गाव के सर्वाधिक प्रामाणिक आलेख हैं। लेकिन इतने में भिन्न है कि जब 'गोदान' नगर-जीवन के चित्रण के व्यामोह में बहुत कुछ अनधिकृत रूप से पडता है, तो 'अलग-अलग वैतरणी' का कथाकार करैता गाव की ही समग्रता को उभारने मे अपनी पूरी शक्ति लगा देता है । इसीलिए जब गोदान अपनी वस्तुगत समग्रता की आश्चर्यजनक सफलताओं के साथ कलात्मक विफलताओं का सिलसिला-सा प्रस्तुत करता है, तो 'अलग-अलग वैतरणी' एक अनुभवी और सावधान कथाकार की शिल्प-योजना के कारण पूरी कथा को उसके पूरे प्रवाह में, किसी अंश में बगैर कमजोर पडे, कह जाता है। हर कोण से वह करैता और उसके माध्यम से गांव के एक अदेखे बिंदु को उठाता है अथवा देखे बिंदुओं की परिधि के अछूते या अधूरे प्रसार को पूरा करता है । इस प्रकार यह यदि टूटते केंद्रों की गाथा है तो नये केंद्रों के चतुर्दिक् निर्मित होती हुई नयी परिधियों की कथा भी है । 'गोदान' ने भारतीय किसान की पीड़ा को चौथे दशक के परिवेश में अंकित करने का प्रयास किया था। तब किसान के जीवन के मुख्य शोषक घटक थे : जमींदार, महाजन, पुरोहित

सरकारी कर्मचारी जैसे पटवारी, पुलिस आदि । जमींदार रायसाहब, पुरोहित-महाजन दातादीन, पटवारी नोखेराम, महाजन मंगरूसाह आदि एक पर एक किसान की न कुछ सी जिंदगी का तब तक दोहन करते चले जाते हैं, जब तक कि वह मजदूर बनकर तपती दोपहरी में गिरकर समाप्त नहीं हो जाता । 'गोदान' का ऐतिहासिक संकेत उभरता है, गोबर के रूप मे । वह अपनी विफलताओ के बावजूद होरी की तरह जमींदार के तलवे सहलाने का पक्षपाती नहीं है । 'अलग-अलग वैतरणी' में यह सब कुछ बहुत अधिक परिवर्तित हो गया है ।

ज़मींदारी उन्मूलन तथा बिखराव

कम-से-कम सौ वर्ष के लिए भारत मे जमीदारी ऐसी प्रथा थी, जिसने गाव के समूचे ढांचे को अपने ढंग से गठित किया था । उन्मूलन के बाद एक बार गांव का पुराना ढाचा बिखर गया । उसका स्थान लेने के लिए कोई नया ढांचा आया नहीं । इसलिए प्रत्येक समाज सुधारक के लिए एक थका देनेवाला बिखराव गांव मे आया । पुरोहित का केंद्र भी कमोवेश टूटा, लेकिन इन सबका स्थान ले लिया एक फरेबी नेतागिरी और पुलिस तत्र ने । 'अलग-अलग वैतरणी' मे स्पष्टतः यह फरेबी नेतागिरी जैपाल सिंह, सुरजूसिह, सुखदेवराम और इनके पक्षधरो से संगठित होती है । जैपालसिंह भूतपूर्व ज़मींदार हैं और सुरजूसिह जैपालसिह को नीचा दिखाने की चेष्टा मे निरतर प्रयत्नशील एक दुश्चरित्र गुटबाज है । जैपालसिंह में फिर भी खानदानी शील की एक संभ्रमयुक्त ऊचाई है, लेकिन सुरजू उनकी तुलना में कही खडा ही नहीं हो पाता । सुखदेवराम आजादी की लडाई के दिनों में गोगई महाराज के साथ गांधीजी की जय का नारा लगानेवाले हैं । आजादी के बाद उन्होंने बहुत चाहा कि किसी ऊची कुर्सी का टिकिट मिले लेकिन किसी प्रकार उन्हें ग्राम सभापति का आसन ही सुलभ हो सका । इस आसन का उपयोग वे कही परमेसर की ज्यादती के समर्थन में करते है, कही जैपालसिंह के साथ देवा के डकैती और हत्या के रुपयों को हजम करने मे करते हैं । सरूप की हत्या के बाद मिसिर का उपयोग सुरजूसिंह और सीरी के विरुद्ध कुछ न कर पाने पर दारोगा को चमारों से ही कुछ दिलाने की चेष्टा करते है । सुरजूसिह के मोल में हैं हरिया, सिरिया छबिलवा । हरिया तो अपनी तमाम दुर्वृत्तियों के बीच एक टूटती जिंदगी की व्यथा लेकर अवतरित होता है । लेकिन सिरिया और छबिलवा दुर्वृत्ति एवं दुष्टता को बराबर गोलबाजी का रूप देने में एकजुट रहते हैं। कल्पू, गोपाल आदि युवकों के एक ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो कुसंग और कुटेवों के कारण स्वयं को नष्ट कर देते हैं । शशिकांत उन विरल नवयुवकों में से एक हैं, जो अपने विभाग द्वारा दंडनीय समझे जानेवाले लोगों को भेजने योग्य वर्जित क्षेत्र करैता को एक प्रबल आशावाद, सृजनशील कार्य प्रणाली, आदर्शों और प्रेरणाओं से युक्त होकर संभावनाओं की दिशा में आगे बढाता है, लेकिन गांव के सुरजूसिंह

जैसे गुर्गे उसे मुकदमे की गवाही के लिए खींचना चाहते हैं; पटनहिया भाभी को पढ़ाने जाने पर चरित्र दोष लगाकर हंसते खिलखिलाते हैं; उसके प्रधानाध्यापक चरित्र-भ्रष्ट मुंशी जवाहरलाल उसका मजाक बनाते हैं. उसके अशुभ चिंतन में बराबर लगे रहते हैं ।और सुरजूसिंह तथा सिरीसिंह से भिलकर तनख्वाह लेकर लौटते समय उसे पिटवाने और रुपया छिनवाने मे सफल हो जाते हैं । नतीजा यह होता है कि उसे भी गांव छोड देना पडता है । देवनाथ डॉक्टर होकर लौटा है । विपिन की राय से वह करैता में ही प्रेक्टिस आरंभ करता है, लेकिन पिता झब्बू उपधिया की अर्धार्जनी प्रवृत्ति और गांव की मुफ्त दवाखोरी के कारण उसे भी गांव छोडकर जमानिया जाना पडता है । विपिन स्वर्गीय ज़मींदार जैपालसिंह का छोटा लड़का है । बड़े भाई बुझारथसिह रेलवे के सामानों की चोरी कराते हैं, गांव की लड़कियों--वे चाहे चमारिन हों या स्वजातीय--को लुक-छिपकर बेइज्जत करना चाहते हैं और भी अन्यान्य दुर्व्यसनों मे लगे रहते हैं। भाभी कनिया सभ्रात कुल की सहिष्णु नारी हैं, जो पति से उपेक्षित रहने के बाद भी जैपालसिंह की कुलश्री बनकर सभी झझावातों को सहती रहती हैं । बंशीसिह और धरमूसिंह, जैपालसिंह के कारिंदा रह चुके हैं। बंशीसिंह कृपणता, परिश्रम, बेईमानी से काफी जमीन-जायजाद बना लेते हैं । धरमूसिंह ऐसा नही कर पाते, इसलिए बेइज्जत होते-होते बचते हैं । खलीलमियां जैपालसिंह के दोस्तो मे हैं, जिनका हलवाहा देवीसिह और उसका लड़का जगेसर--होरी की स्थानीय देवी और गोबर की नयी पीढी जगेसर--खलीलमियां के तीस बीघे खेत दबाकर बड़ा आदमी बन जाता है । और खलीलमियां को गांव छोडकर चले जाना पड़ता है । पटनहिया भाभी विवाहित होकर 'पुरुष क्या है', यह तक नहीं जान पातीं और देवनाथ और विपिन के निकट जाकर भी उनसे उपयुक्त सहानुभूति के अभाव मे पढ़ना चाहकर भी नही पढ पातीं । शशिकात से पढती हैं, लेकिन अपवादों के भय से वह भी हट जाता है । डॉक्टर देवनाथ से उसके संबंध को लेकर इतना अपवाद फैलता है कि वह पुंसत्वहीन पति की मृत्यु के बाद ही पटना चली जाती है । सरूप देवीचक का चमार है, जो जमीदारी के चौतरफा अत्याचारो से तंग आकर चलते-फिरते श्रमिक का रूप धारण कर लेता है । जब भी जरूरत पडती है, वह अन्याय का मुकाबला करता है, शोषणग्रस्त फिनकू को थनेसरी से मिलकर आधार प्रदान करता है । लेकिन वह सरूप भी सिरिया की लाठी का शिकार हो जाता है। यहा तक की बीसू धोबी का लडका सुरजितवा भी गांव में धुलाई का उचित पारिश्रमिक न पाकर बाजार पकड लेता है । अंत मे करैता में शेष बचनेवालों में हैं : बुझारथ सिंह और सुरजूसिंह जैसे लोग; सिरिया छबिलवा जैसे युवक; फिनकू और धनेसरी जैसे असमर्थ लोग; झब्बू उपधिया, हरखू सरदार जैसे वृद्ध; कनियां जैसी स्त्रियां, जो किसी जैपालसिंह की शपथ से बंधी हैं और जग्गन मिसिर जैसे शरीर और मन के मजबूत इक्के-दुक्के लोग जो घर के अकेले हैं और चाहकर भी कहीं जा नहीं सकते। तो कुल मिलाकर, जब हम

'अलग-अलग वैतरणी' के अंतराल में बैठते हैं तो पता चलता है कि गांव की मिट्टी वंध्या नहीं है । वह अन्न ही नहीं प्रतिभाएं भी पैदा करती है; अन्याय से जूझते रहनेवाले जीवट के लोगों को भी जानती है, सत्य की प्रतिष्ठा के लिए अपना-पराया छोड़कर मरने-मिटने वालों को भी पैदा करती है । लेकिन स्वतंत्रता के बाद गांवों की जो वैतरणियां बिलबिलाने लगी हैं, वह किसी प्रतिभा और प्रगतिशील व्यक्ति को टिकने नहीं देतीं ।

जाति-विशिष्ट आधुनिकता

यहीं पर एक बहुचर्चित सवाल पैदा हो जाता है कि क्या आधुनिकता 'अलग-अलग वैतरणी' के करैता का उपजीव्य नही है ? दूसरे शब्दो में, क्या आधुनिकता से गांव सर्वथा कटे हुए हैं ? इस सबंध में मेरे दो निवेदन हैं । पहला तो यह कि आधुनिकता एक परिप्रेक्ष्य है और इस रूप में यह यथार्थ पर निर्मम होकर दृष्टिपात करने की शक्ति देती है । दूसरा यह कि आधुनिकता एक प्रक्रिया है, जिसमें हम बिल्कुल आज की सभ्यता की लहरों को समाज के भीतर-बाहर टटोलते हुए उपन्यासकार को पाते हैं । भय, त्रास, अजनबीपन, अकेलापन, व्यर्थता-बोध, निरुद्देश्यता, अनास्था, घुटन, पलायन-विक्षोभ, ये तमाम भाव-स्थितिया आधुनिकता की अनिवार्य मानसिक परिणतियां है । इतना तो माना जा सकता है कि गांव से अधिक कस्बे मे, कस्बे से अधिक नगर मे, नगर से अधिक महानगर मे इस प्रकार की भाव-स्थितियां या भाव-बोध उत्तरोत्तर अधिक दबाव डालते हैं, लेकिन यह मान लेना कि गांव आज की आधुनिकता से एकदम कटे हुए हैं; यह कि बीसवीं सदी केवल नगरों की ही सदी है, एक भयानक दृष्टिकोण का सूचक होगा। आधुनिकता यदि इस रूप में स्वीकृत हुई तो वह रूढ़ि बन जायेगी, जब कि रूढिमुक्तता का ही नाम आधुनिकता है । एक पर एक, हर प्रगतिशील, अच्छा और संभावनावान व्यक्ति, अतत गाव मे घुटन, संत्रास, अनास्था, अजनबीपन, निरुद्देश्यता, व्यर्थता-बोध की ही अनुभूति करते-करते क्या गाव नहीं छोडता ? शशिकांत मास्टर वैसे तो बच गया है, लेकिन उसका प्रतिकूल परिस्थितियो मे कार्य करना और सुनसान रास्ते में पीटे जाने और रुपया छीने जाने के गम में, अंधेरे मे बेपहचान और बेशिनाख्त गाव छोड देना, क्या संत्रास की स्थिति नहीं है (वह गांव ही नहीं, नौकरी भी छोड देता है) ? जग्गन मिसिर को बार-बार पुलिस अपने चंगुल में फंसाना चाहती है, क्या यह ईमानदार व्यक्ति के लिए संत्रास की स्थिति नहीं है ? विपिन अपनी ही चहेती के साथ भाई के व्यभिचार की जघन्य कोशिश कर संपूर्ण जहर पीकर, भाई के स्वयं उनकी भाग-दौड में लगी चोट को अपने ऊपर ओढ़ लेना, इस अनकिये अपराध के लिए बहन की लाठी सहना, रेलवे के सामानों की चोरी के प्रसग में पकडे गये भाई को छुडाने के लिए दारोगा को लताड़ बतानेवाले विपिन का उस दारोगा के सामने गिडगिडाना, जिस पुरुष को वह अपने से अलग न करने

का वायदा कर चुका है, उसे लोकापवाद–भय से दूसरे की परिणीता होते देखना, क्या खुद-ब-खुद झूठे पड़ते जाने की स्थिति का सूचक नहीं है ? गोदान में ज़मींदार ने दोहन किया था किसान का और गाव छोडने के लिए विवश हुआ था : गोबर; लेकिन यहां खलील मिया ही गांव छोड़ने के लिए विवश होते हैं, उनका अधिकांश खेत हडपनेवाला देवी अहीर नहीं ! यह क्या सत्रास की स्थिति नहीं है ? सिरिया, छबिलवा, हरिया, हिप्पी, बीटनिक तो शर्तियां नहीं हैं, लेकिन क्या यह मूल्यों के विघटन के ही अंतराल से जनमी और पनपी अवाछित स्थितिया नहीं हैं ? एम.ए उत्तीर्ण विपिन के सामने तब तक क्या कोई उद्देश्य स्पष्ट रहता है, जब तक कि वह देवनाथ के हाथ प्राध्यापक की नौकरी के लिए प्रेरित नहीं किया जाता है, और तब भी क्या यह कोई उद्देश्य बन पाता है ? शशिकांत, विपिन, देवनाथ, सब कम-से-कम इस अर्थ में समान थे कि वे गांव की सेवा का स्पष्ट या अस्पष्ट उद्देश्य रखते थे, लेकिन संत्रास, व्यर्थताबोध, अजनबीपन, घुटन, अनास्था की एक सीमा पर पहुंचकर गाव छोड देने के रूप मे सबकी नियति क्या एक ही नहीं है ? और आज के आधुनिक कहे जाने वाले मनुष्य की भीतरी स्थिति और केद्रिय नियति क्या यही नहीं है ? गावों मे जो आधुनिकता आयी है, उसे यदि महानगरों की आधुनिकता से हू-ब-हू मिलते होने की माग की गयी तो कठिनाई बहुत बढ जायेगी । गांवों की आधुनिकता अपने स्वरूप और विशेषताओ मे, भारतीय संदर्भों मे ही खडी होगी, इसलिए जाति-विशिष्ट होगी। उसके दबाव के माप के लिए हू-ब-हू उसी बैरोमीटर का उपयोग नहीं होना चाहिए, जिसका उपयोग नगरीय आधुनिकता को मापने मे किया जाता है।

विसगतियां और अंतर्विरोध

'अलग-अलग वैतरणी' दुनिया के किसी भी महत्त्वपूर्ण उपन्यास की तरह वास्तविकता का जो स्वभावत गतिशील होती है—एक शक्तिशाली आलेखन करता है । स्वातंत्र्योत्तर भारत के सामाजिक, यौन, आर्थिक राजनीतिक, सभी विसंगतियों का वह शक्तिशाली चित्रण करता है। सामाजिक विसगति जमींदार और गैर–जमींदार जनता के संबंधो के बीच में भी थी, लेकिन उससे बडी विसंगति जमींदारी उन्मूलन के बाद, जमींदारी-रहित बडे जमीनवालों और खेतिहर मजदूरो की विषमता की रही है। इस दौर में हलवाहे हवेलियों वाले हो गये हैं और हवेलियों वाले भिखमगे। खलील मियां और देवी अहीर के बीच की विषमता सामाजिक और धार्मिक दोनों प्रकार की विषमता है । सुगनी या दुलारी, बुझारथसिंह, सुरजूसिह, अथवा सिरीसिह, सबको चाहिए, लेकिन इन्हीं के भाई–बिरादर फिनकू और घुरबिनवा को ठोक दे सकते हैं और सरूप को लाठियों से समाप्त कर सकते हैं । अपनी ही लडकी सरीखी पुष्पा से व्यभिचार की साजिश तो बुझारथसिंह कर सकते हैं, लेकिन उसके बाप पर चार सौ रुपये के लिए नीलामी ठोकने में रत्ती भर नहीं हिचकिचा सकते। विपिन का विवाह पुष्पा से न हो

सका, इसके पीछे कहीं न कहीं आर्थिक एवं सामाजिक विषमता का निश्चित रूप से कारणभूत है। भला कारिंदा धरमूसिंह और उनकी पत्नी चचिया कैसे सरकार के लड़के विपिन से पुष्पा के विवाह का प्रस्ताव कर सकते थे ? यौन विषमता, पटनहिया भाभी और कल्पनाथ की शारीरिक विषमता, मिसिराइन और मिसिर के पति-पत्नीवत सबंधो को सामाजिक अपवाद भय से मिसिराइन द्वारा छिपाये रखने और मिसिर द्वारा प्रकट करने, किंतु मिसिराइन की ही चलने से उपजी विषमता, पटनहिया भाभी को लेकर विपिन और डॉक्टर देवनाथ की घट-बढ़ 'आगे बढने' की कोशिश से प्रकट होनेवाली विषमता, पटनहिया भाभी का छोटे बच्चों को नगा करने और एक विशेष अग पर दृष्टिपात मे रुचि रखने में प्रकट होनेवाली अभुक्त वासनाजन्य मानसिक अस्त-व्यस्तता, ये सब कुछ वैसे चित्र है। आर्थिक विसंगतियो का सबसे जीवंत रूप वहा प्रकट होता है, जब फिनकू को बशीसिंह मजदूरी के प्रश्न पर पीटते हैं और घुरबिनवा को भगा देते है । घटना छोटी है लेकिन उसका संदर्भ बडा है । सरूप की घूमते-फिरते कटिया बिनिया करना, बुढिया धनेसरी का क्रमश· जवानी मे मजदूरी, फिर बच्चा पैदा कराने का काम करते हुए बकरी के बच्चो को पालना और परमुखापेक्षिता को बराबर चुनौती देना, बुझारथसिह के दरवाजे बढई का पेट की दुहाई देना, सभी श्रम सबध और श्रम सदर्भ की प्रासगिक और स्वाभाविक बाते है। आर्थिक विषमता कर सुदर चित्रण कवि इन वाक्यो मे करता है, 'इस तलैया के दक्खिनी कगार पर करैता की चमरौटी आबाद है । गाव के बडे लोगों से नान्ह लोगों को अलग करती हुई यह तलैया मुझे इसी कारण कभी स्वाभाविक नहीं लगती । शूद्र, चाडाल, चिडोमार, कसाई, खर्बट गाव के बाहर रहेगे--यह व्यवस्था जिस किसी ने जब भी दी हो, उस समय तलैया नहीं रही होगी । मुझे यह इत्मीनान नहीं होता कि इस व्यवस्था के पहले यहा तलैया थी और इसके उत्तर तरफ सवर्ण और दक्षिण तरफ शूद्र बसा दिये गये। यह खाईनुमा तलैया जरूर बाद में बनी, क्योकि गांववालो को लगातार डर रहा होगा कि चमरौटी की आबादी समतल सीमा को चीरकर किसी दिन उनसे सट न जाये। पूर्वी भींटा ऊचे छबरे की तरह गाव को चमरौटी से जोडता है । दोनो बस्तियों का दूर दूर रहना जरूरी है, क्योंकि व्यवस्था है। इसलिए तलैया है। किंतु दोनों के मिले बिना एक-दूसरे का काम नही चलेगा । इसलिए ऊचा भीटा हैं, पोढ रास्ता है। यह दोनो को जोडता है ।

राजनीतिक विसगतियो का रूप उपन्यास मे ग्राम पचायतों के चुनाव मे उभरता है। कांग्रेसी कुर्सीपरस्ती की एक झलक तो सुखदेवरामजी की कोशिशों में दिखलाई पडती है । भूतपूर्व जमींदार जैपालसिह की समय के अनुसार बदलनेवाली पैंतरेबाजी का रूप उनके लडके बुझारथसिंह, सुरजूसिह और सुखदेवराम के त्रिकोणात्मक संघर्ष में दिखलाई पडता है, जिसमें जैपालसिंह सुरजूसिह को हराने के लिए सुखदेवरामजी की मदद करते हैं--इसलिए कि सुरजूसिह तो हार ही जाये। सुखदेवरामजी के होने के बाद भी उनकी ही चलती रहे । अफीम कोठी के मजदूरों के नेता ...गम जी

का अच्छा मेहनताना लेकर चमारो की पंचायत में भाग लेने में सर्वहारा राजनीति का खोखलापन प्रकट होता है । टुच्ची राजनीति का हंगामी रूप सिरिया–छबीलवा–हरिया का दस लडकों को लेकर जुलूस निकालने और नारेबाजी में दिखलाई पडता है। मिसिर ठीक कहते हैं · 'आजकल साले नारे भी खूब निकले हैं—गुंडा, गुंडागर्दी के खिलाफ; बद्दमाश, बदमाशी के खिलाफ, चोरी, चोरी के खिलाफ और जुल्मी, जुलुम के खिलाफ गला फाड–फाड कर चिल्लाते हैं ।' बात चाहे जिस संदर्भ में कही गयी हो, यह अपनी साकेतिकता में समग्र भारतीय राजनीतिक जीवन के एक रूप की झलक दे देती है । 'अलग–अलग वैतरणी' मे शिक्षा की समस्याओं को यों तो प्राइमरी शिक्षा के ही सदर्भ में उठाया गया है, लेकिन इसमे सभी स्तरों की शिक्षा और उससे संबद्ध अत्यत बुनियादी समस्याओं को जिस प्रकार विश्लेषित किया गया है, वह उपन्यासकार की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है । विपिन के शब्दो में 'सवाल खाली कल्पू या हरिया, सिरिया छबिलवा का नहीं है मिसिरजी, सवाल तो पूरे वातावरण का है।' और वातावरण की विसगतियो का कारण बताता है मास्टर शशिकांत · 'पहले शोषण था, अत्याचार था, गरीबी और जहालत थी, पर दिमाग में ऐसा कुछ था जो इसान को सीमा लांघने से रोकता था। अब वह अंकुश न रहा। न ईश्वर का डर है, न इज्ज़त और न प्रतिष्ठा जाने का खतरा है, न जमींदार का ड़र है, न समाज का। अब आदमी सचमुच में स्वतत्र है।' + + + इंसान है कि पहले से भी तग हो गया है—दिमाग से, मन से, तन से और कर्म से । जिधर देखिए आपको दमघोट सन्नाटा मिलेगा। + + + ऐसी स्थिति मे टूटे–हारे लोगो को क्षणिक मनबहलाव के लिए कुछ चाहिए। बीमार आदमी को सहज सामान्य खाना अच्छा नहीं लगता । उसे चटपटी चीजे चाहिए। यही हाल नये लोगो का भी समझिए। अनैतिक मानवीय सबंधों से इन्हें इसी तरह की तुष्टि मिलती है, जैसे कुत्ता सूखी हड्डी को चिचोरता है । यह तो विसंगति का कारण और निराकरण था । शिक्षक यदि अपने वास्तविक आदर्शों के प्रति संकल्पित हों तो सिरिया, हरिया और छबिलवा की बाढ रुक सकती है—यह मास्टर शशिकात की शिक्षण शैली से दिखलाई पडता है। मुशी जवाहिरलाल सरीखे अध्यापक छात्रों के साथ जो कुछ करते है, उसका भी यथार्थ और लोमहर्षक वर्णन 'अलग-अलग वैतरणी' मे हुआ है।

गाव छोड़ते चेहरे

'अलग-अलग वैतरणी' की सबसे बड़ी सफलता उसमें प्राणवान चरित्रों की प्रतिष्ठा है । प्राणवान चरित्रों का मतलब प्रेमचदीय शैली के सूरदास और प्रेमशंकर जैसे पात्रो को सृष्टि नहीं है, बल्कि समसामयिक वास्तविकता से तदाकार जीवंत पात्रों की सृष्टि है । विपिन, मिसिर, खलील, कुछ अत्यत प्राणवान पुरुष चरित्र–सृष्टियां हैं । वैसे जैपाल, बुझारथ, दयाल पंडित, सुरजू आदि भी अपनी प्रासंगिकता में पूर्ण है। नारी पात्रों में कनिया और पटनहिया भाभी की रचना भी यथार्थ के जीवाणुओ

से ही हुई है। कुल मिलाकर यदि अकेले अकेले चेहरों को छोड़ दिया जाये तो चमरौटी चित्रण करैता के करैत की ठनक को संपूर्णता देता है। जहां फिनकू, घुरबिनवा में शोषण की पीड़ा छटपटाती है; वहां धनेसरी, रामकिसुन, सूरजभान और सरूप भगत में शोषित का स्वावलबन एवं तेज कौधता है। एक बीता युग है, तो एक आनेवाला युग। सुखदेवराम और सुरजूसिंह जैसे नेता जहां सवर्णों को छलावे में डाल रहे हैं, वहा लच्छीरामजी जैसे लोग अवर्णों को। चरित्रों की योजना अपने आप में सामाजिक सदर्भ के विशिष्ट अनुषंगों की योजना है। तथाकथित आधुनिकता, जिसमे व्यक्ति का आधुनिकताबोध उसे अजीबोगरीब स्थितियो के बीच चित्रित करता है, ग्रामीण आधुनिकता का उपजीव्य नहीं है। वहां भी व्यक्ति व्यक्ति है, लेकिन उसकी सामाजिकता सर्वत्र अक्षुण्ण है। वहा की स्थिति बडी साफ है, दर्दनाक है और आधुनिकता के जाति विशिष्ट रूप का ख्यापक भी। जग्गन मिसिर की उक्ति है : 'इतना बडा गाव है + + + बिना चेहरेवालों की भीड में चेहरेवाले बहुत कम हैं। चेहरा अच्छा है या बुरा, इससे कुछ होता जाता नहीं। चेहरा हो, यही बहुत है। और जिनके पास चेहरे हैं, वे गांव छोडकर चले जा रहे है। यही दुख की बात है।' जहां तक मैं समझता हू कि चेहरेवाला पात्र सिर्फ 'इंडिविजुएलिटी' से युक्तता का ही बोधक न होकर, उससे कुछ आगे का भी बोधक है। निश्चय ही वह उस तमाम आशावादिता का प्रतीक है, जिसके चलते गाव कुछ का कुछ हो सकता है। बेचेहरेवाले टाइप होकर भी उससे कुछ आगे हैं अर्थात् गाव की विघटनशीलता मे जो या तो योग दें रहे है या योग देना चाहने पर भी कुछ नहीं कर पाते।

आंचलिकता का सवाल

'अलग-अलग वैतरणी' का एक प्रासंगिक प्रश्न है कि यह कहां तक आंचलिक है ? आचलिकता का प्रश्न पहली बार रेणु के 'मैला आंचल' के साथ शुरू हुआ। रेणु ने उसमे स्पष्ट कहा था यह है 'मैला आचल', एक आचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया। 'अलग-अलग वैतरणी' का कथानक किसी हद तक करैता गांव हो सकता है लेकिन चित्रण की शैली निश्चयात्मक रूप से आंचलिक नहीं है। उपन्यासकार का यह निवेदन है कि 'पढते समय उपन्यास आंचलिक लगे तो लगे, आपकी दृष्टि आचलिक न हो।' आचलिक लगना एक बात है, होना दूसरी। भाषा में भोजपुरी छौक होना और कुछ स्थान विशेष की विशेषताएं होना और बात है और किसी उपन्यास का शुद्ध आचलिक होना और बात।

भोक्तृत्व से निकली वैचारिकता

यह उपन्यास विचारो की दृष्टि से समृद्ध है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें प्रेमचंद के 'गोदान' की तरह किसी मेहता की सृष्टि हुई है। इसमे जो कुछ

विचार-सामग्री है, वह अधिकांश मे मास्टर शशिकांत, विपिन और जग्गन मिसिर की उक्तियों के रूप में है। लेकिन यह पात्र भी न तो उस वातावरण पर थोपे हुए हैं, न ही घटना-निरपेक्ष रूप से सामने आते हैं। जितनी कुछ दृष्टि या दृष्टिकोण जैसी चीज इस उपन्यास में फूटी है, वह भोक्तृत्व के भीतर से प्रकट हुई है, इसीलिए वह बेहद सच और छूनेवाली है। ज्यादातर विचारों के विपिन, शशिकांत और जग्गन मिसिर के माध्यम से आने का कारण यह है कि यह तीन ही ऐसे संवेदनशील पटल हैं जो गांव की समस्याओ और तज्जन्य वेदनाओं के भोक्ता और प्रतिध्वनन करने वाले हैं। जग्गन मिसिर और शशिकांत इसमें भी ज्यादे कुछ यथार्थवादी हैं—शायद इसलिए कि इन्हें सब कुछ सहना पड़ा है। जग्गन मिसिर का पक्का खयाल है कि 'चाहे लोग कितने भी आधुनिक हो जाये, धरती से सबध नहीं तोड़ा जा सकता और टूटेगा तो सारी मुसीबतें आयेगी और झख मारकर उधर लौटना होगा।' बात दो टूक है और पूरी समस्या का समाधान इन कतिपय शब्दो मे निहित है। किंतु गांव की टुच्ची राजनीति ऐसा होने नहीं देती और बहुतों को मिट्टी से संबंध तोड़ कर चले जाना पड़ता है। प्रश्न यह है कि वे क्यो नाता तोड कर जाते है? इस अंतर्वेदना को मिसिर के शब्दों में सुने। विपिन के नौकरी के लिए गाव दौड़कर जाते वक्त मिसिर जी कहते हैं 'आप जा रहे हैं विपिन बाबू? जाइए। कोई आपको उसके लिए दोष भी नही देगा। सभी जाते हैं। हमारे गावो में आजकल इकतरफा रास्ता खुला है। निर्यात। सिर्फ निर्यात। जो भी अच्छा है, काम का है, वह यहां से चला जाता है। अच्छा अनाज, दूध, घी, सब्जी जाती है। अच्छे मोटे-ताजे जानवर, गाय-बैल, भेड, बकरे जाते है। कई-कई आदमी जिनके बदन में ताकत है, देह में बल है, खींच लिये जाते है पलटन मे। पुलिस में। मलेटरी में। मिल में। फिर वैसे लोग जिनके पास अकल है, पढे-लिखे हैं, यहा कैसे रह जायेंगे? वे जायेंगे ही। जाना ही होगा। यहा रहते वे है जो यहा रहना नहीं चाहते, पर कहीं जा नहीं सकते। यहां से जाते वे है, जो यहा रहना चाहते है, पर रह नहीं पाते।'

विस्तृत गहनता और अन्विति

'अलग-अलग वैतरणी' मे एक सुगठित शिल्प है। सावधान और सिद्ध कथाकार ने करैता के करैत की ठनक को बहुत गहरे जाकर पकड़ा है। प्रतीकों का यह माध्यम, पुष्पा के प्रसंग मे रानी चंदा, डोम और राजा के रानी को जुए में हार जाने की लोककथाएं समानांतर कथाओ की उस शृंखला को संजोती हैं, जो सवेदना को घनीभूत करने मे बेजोड हैं। संत शिवनारायण और बीसू धोबी के लडके सुरजितवा के सुबह शाम के गाये गये गीतों के द्वारा उत्पन्न पीडा की अनुगूज, मिट्टी नीम के मोजर, चैत की फसल आदि की गंधों की पकड बीती कथाओं के लिए फ्लैश-बैक

की टेकनीक तथा इसी प्रकार की अनेक टेकनीकें 'अलग-अलग वैतरणी' के लगभग 700 पृष्ठों में विस्तृत, गहनता और अन्विति के तीन आयाम एक साथ दे देते हैं । शिवप्रसादसिंह के यों तो चार-चार कथा-संग्रह निकल चुके हैं, लेकिन उपन्यास की दृष्टि से यह उनका पहला उपन्यास है । पहले उपन्यास में ही औपचारिक सृष्टि के क्षेत्र में पैदा हुई निद्रा को आपने तोड कर जिस विलक्षण सर्जनात्मकता का परिचय दिया है, वह भविष्य के एक श्रेष्ठ उपन्यासकार की प्रतीक्षा के लिए हमें उद्यत कर देता है ।

(लहर, अक्टूबर '68 से साभार)

'सेतु' की गोष्ठी में : अलग-अलग वैतरणी

• *सुबोध शास्त्री*

वाराणसी की प्रमुख साहित्यिक सस्था 'सेतु' की एक गोष्ठी 23 अप्रैल, 1968 को सायंकाल आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की अध्यक्षता में तुलसी पुस्तकालय में आयोजित की गयी। गोष्ठी में प्रसिद्ध कथाकार शिवप्रसाद सिंह के नवीनतम उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' पर विजयदेव नारायण साही और डॉ बच्चन सिंह ने समीक्षा-निबंध प्रस्तुत किये।

विजयदेव नारायण साही ने अपने निबध में बताया कि शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास मैने शुरू किया तो अत तक पढता गया। बीच मे सरसरी तौर पर सफहे पलटने की नौबत नहीं आयी। शुरू से अंत तक एकतान प्रवाह। खत्म करके आश्चर्य हुआ। ऐसा अनुभव इधर कम हुआ था। बिना उलझे या उलझाये लगभग सात सौ पृष्ठो तक सलीके से किस्सा कह सकना, जहां इतना अलभ्य हो वहां इस उपन्यास का सुथरापन भी मन को खुश करता है। बुनावट का सुथरापन बहुत बडा गुण है- मै यह नही कहता, लेकिन है। इसीलिए लगा कि मुझे उपन्यासकार के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। गोदान, शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप, मैला आचल, वे दिन, यह पथ बधु था, आधा गांव, मरी हुई मछली और अमृतलाल नागर के नामधारी उपन्यासो से तुलना करते हुए साहीजी ने 'अलग-अलग वैतरणी' को श्रेष्ठतम साबित करने की कोशिश की। उन्होने कहा कि इधर अरसे से एक हवा ऐसी रही है कि गांवो को लेकर कथा-रचना एक तरह का पिछडापन है। आधुनिकता से वचित होना है। आधुनिकता का लक्ष्य अब लक्षणो की तरह गिनाया जाने लगे तब यह सवाल पूछना जरूरी हो जाता है कि आधुनिकता भी एक साहित्यिक रूढ़ि तो नहीं होती जा रही है जिसके फंदे से बाहर निकला जाये। कुछ बरस पहले गाव बनाम महानगर का विवाद चला। यहां तक कहा गया कि गाव से ज्यादा आधुनिक कस्बे के बारे मे लिखना है, कस्बे से ज्यादा नगर के बारे मे, नगर से ज्यादा महानगर के—और शायद हिंदुस्तानी महानगर से भी ज्यादा यूरोप या अमेरिका के महानगर के। जबकि जितनी तन्मयता लोगों ने कहानी लिखने और

कहानियों के बारे में बडी-बड़ी घोषणाएं करने में लगायी उतनी उपन्यासों में नहीं। पिछले बीस वर्षों पर निगाह डालने से उपन्यासों का रकवा काफी खाली-खाली-सा लगता है। जो कुछ उपन्यास हैं भी वे ऐसे नहीं हैं जिन्हें केंद्र में रखकर आंदोलन का शोर मचाया जा सके। मैं अपने भीतर की इस बेचैनी को जरूर ही व्यक्त करना चाहता हूं जो पिछले दस वर्षों में विषय-वस्तु को बदलने की अधूरी सफलताओं से उत्पन्न होती है। तथा महानगरी छटपटाहटों के बीच 'करैता' 'अलग-अलग वैतरणी' का करैत जब अपने पूरे तेवर के साथ ठनकता है तो जरूरी हो जाता है कि हम अपनी धारणाओं, पूर्वग्रहों और प्रतिमानों पर फिर से नजर डाले औपन्यासिक सृजनशीलता का अप्रतिहत, अबाधित स्रोत किस जमीन से फूटता हुआ दिखता है ? यों भी यह मानना कि बीसवीं सदी की स्वाभाविक लय नगरो या महानगरों में ध्वनित होती है, गाव किसी विशेष अर्थ मे अठारहवीं या उसके पहले की किसी सदी के अवशेष हैं--एक तरह का ऐतिहासिक दृष्टि दोष है। 20वीं सदी को खड-खड करके देखना अपने को एक दिमागी भवर में डाल देना है। बीसवीं सदी के कमल कीचड से अलग नहीं किये जा सकते।--अब इस दृष्टि-भ्रम का अत होना ही चाहिए, क्योकि यह यूरोप की उन्नीसवी सदी की दिमागी विरासत से उपजी हुई चीज है। 'करैता' 'मैनहाटन' से कम बीसवीं सदी की उपज नही है। इस तथ्य की पहचान औपन्यासिक सृजनशीलता के लिए चुनौती है। आज भी मनुष्य की परिभाषा 'करैता' की उपेक्षा करके नहीं दी जा सकती।. शिवप्रसाद सिह का उद्देश्य जटिल है। उन्हें एक अन्वेषण यात्रा करनी है। वह अन्वेषण है वैतरणी का। शिवप्रसादजी की समस्या उन सभी उपन्यासकारों की समस्या है जो सामाजिक दस्तावेज के जरिए जीवन की परिभाषा तलाश करना चाहते है।

डॉ बच्चन सिह ने अपने निबध के माध्यम से कहा कि मेरा ख्याल है कि रूमानियत आचलिकता की अनिवार्य शर्त है। प्रसन्नता की बात है कि अपने पहले उपन्यास मे शिवप्रसाद सिह ने रूमानियत को तलाक देकर यथार्थवादिता से अपना रिश्ता जोडा है। इसलिए 'अलग-अलग वैतरणी' के आचलिक होने का कोई सवाल ही नहीं उठता। आचलिकता के स्थान पर इसे नये यथार्थ यानी आधुनिकता से सदर्भित किया गया है। ग्रामांचल की कथा को आधुनिकता के संदर्भ में चित्रित करना खतरे का काम है लेकिन शिवप्रसाद सिह ने इस उपन्यास द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ग्रामांचल की कथाओं में भी उसकी संभावनाएं हैं। सच पूछा जाये तो इस उपन्यास का केद्रवर्ती बिंदु यही आधुनिकता है। इसी बिंदु से लेखक की रचना-प्रक्रिया, परंपरागत नैरतर्य, बोध, शिल्प, परिणति आदि को देखा जा सकता है।

लेखक की रचना-प्रक्रिया मे जाने-अनजाने 'गोदान' का योग मानना ही पडेगा। गोदान मे जमींदारो, पुलिस, पुरोहित, पटवारी, सूदखोर, महाजन आदि

की चक्की में पिसते हुए किसान के टूटे हुए जीवन की मर्मस्पर्शी कहानी है। 'अलग-अलग वैतरणी' मे जमींदारी-उन्मूलन के बाद का गांव चित्रित किया गया है जो अपनी मुक्ति और राजनीतिक चेतना के बावजूद टूट जाता है। इसमें एक वर्ग नहीं टूटता, सभी वर्ग टूटते हैं। समूचा गाव भिन्न-भिन्न इकाइयों में भहराकर टूट जाता है। हर-एक की अलग-अलग वैतरणी है, हर-एक की उसके पार जाने की आकांक्षा है। यह टूटने की विवशता, अलगाव की लाचारी, घुटन की बेबसी ही उपन्यास है। 'अलग-अलग वैतरणी' मे गांव को समग्रत: उसके अनेकानेक आयामों में, अंकित किया गया है। इसमें न तो नायक है न नायिका। गांव ही यह दोनो हैं। और इसके मूल में वस्तु का आग्रह है जो अपना रूप स्वयं निर्मित करती है।

शिवप्रसाद सिह शिल्प के प्रति पहले से ही सजग रहे हैं। इस उपन्यास के लिए उन्होंने नवीन शिल्प अन्वेषित किया है। उनके इस नवीन शिल्प को 'ट्रेलर शिल्प' का नाम दिया जा सकता है। इस ट्रेलर मे केवल गांव की कथाएं ही नहीं उभरतीं बल्कि गाव की मिट्टी की गध भी आती है, मेला-ठेला की रौनक, त्यौहारों के रगीन और बदरंग चेहरे भी उभरते है। उपन्यास मे चित्रित आधुनिकता को चित्रित करने के लिए प्रतीको का प्रयोग किया गया है। अनेक नये प्रतीक हैं जो कथा को अर्थवान बनाने के साथ-साथ उसे दिशा-निर्देश भी देते हैं। इधर लिखे गये उपन्यासो मे 'अलग-अलग वैतरणी' का अपना अलग स्थान है। गाव को आधुनिकता के सदर्भ में उसकी संपूर्णता और विसगतियो में पहली बार चित्रित किया गया है।

इन दोनों निबधों के पढे जाने के बाद 'अलग-अलग वैतरणी' पर विचार-विमर्श का क्रम प्रारभ हुआ। सबसे पहले डॉ ब्रजविलास श्रीवास्तव ने कहा कि शिवप्रसाद सिह के इस सशक्त उपन्यास को पढकर वास्तव में मुझे बडी प्रसन्नता हुई। आधुनिकता के प्रश्न को लेकर इस उपन्यास पर विचार नहीं किया जा सकता। आधुनिकीकरण का आशय प्राय: नगरीकरण से लिया जाता है। इस उपन्यास मे पात्र प्रधान नही है, इसमे व्यक्तित्व का चित्रण प्रधान है। व्यक्तित्वों के माध्यम से ही गांव के व्यक्तित्व को सशक्त ढग से चित्रित किया गया है और इसके लिए बडी सफल 'फ्लैश बैक' शैली अपनायी गयी है। प्रेमचद के बाद पहली बार गांव का इतना समर्थ चित्रण 'अलग-अलग वैतरणी' में प्रस्तुत है। एक दृष्टि से इस उपन्यास की उपलब्धि ही इसकी सीमा है।

डॉ श्याम तिवारी ने कहा कि उपन्यास में व्यक्तित्वों का बिखराव है लेकिन यह व्यक्तित्वो का अलबम-भर नहीं है। 'अलग-अलग वैतरणी' के सारे पात्र एक ही समस्या से जूझते हुए भी अभिन्न है। उपन्यास को पढते हुए लगता है कि हम अपनी ही कथा पढ रहे हैं।

विजयदेव नारायण साही के विचार से सहमति प्रकट करते हुए कृष्णन ने कहा कि 'अलग-अलग वैतरणी' की अलग-अलग स्थितियां चुनौती देती हैं और उनके जवाब का ढंग ही आधुनिकता हो सकती है। इस उपन्यास को मैंने अस्वस्थता के बावजूद बडे सहज ढंग से, केवल चंद घटों में, पढा है। अपने आप मे, मेरी दृष्टि से, यह इस उपन्यास की बडी सफलता है—'अलग-अलग वैतरणी' के कई चरित्र मन पर सहज ही अपना स्थायी प्रभाव बनाने मे समर्थ हैं। जबर्दस्त प्रभाव मेरे मन पर 'कनिया' का है। कनिया वास्तव मे एक 'राष्ट्रीय चरित्र' है।—और इस दृष्टि से वह एक दस्तावेज है।

डॉ विजयशंकर मल्ल बोले कि शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास में कथा-रस बराबर बना हुआ है और पढते-पढते जैसा कि प्राय होता है, ऊब नहीं होती। मैं इसे अभी तक पूरा नहीं पढ सका तो अपनी व्यक्तिगत कठिनाइयो के कारण ही। वैसे जितना मैने पढ़ा है—इस उपन्यास ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। भाषा और शिल्प के मामले मे अलग-अलग वैतरणी अप्रितम है—यह मै अपने अब तक के पढे हुए के आधार पर कहना चाहूगा। तथाकथित आचलिक उपन्यासों की तरह शिवप्रसाद सिह के इस उपन्यास की भाषा आयासित नही है।

जितेद्रनाथ पाठक ने कहा कि आधुनिकता की ग्रामीण धडकने 'अलग-अलग वैतरणी' में बडे समर्थ ढग से मुखर है। इस उपन्यास के प्राय सभी पात्र (बुझारथ, कनिया, सरूप, सिरिया आदि) न तो समय के आगे हैं और न पीछे। ये सभी आज के देहात में खडे हैं और सहज ही पहचाने जा सकते हैं। अपने समय की वास्तविकता के अनेक रूपो को यह उपन्यास प्रस्तुत करता है। समूचे उपन्यास मे प्रतीकात्मक उपस्थापन का गभीर और सशक्त प्रयास दिखायी पडता है और यह प्रतीकात्मकता एक बडे संदर्भ से जोडती है। भाषा और शिल्प तो इस उपन्यास के बेजोड है। 'गोदान' का उल्लेख इस उपन्यास के सदर्भ में स्वाभाविक है क्योंकि 'गोदान' जहा समाप्त होता है 'अलग-अलग वैतरणी' वही से शुरू होता है।

अध्यक्ष पद से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा कि आधुनिक होने का अर्थ ही ऐतिहासिक दृष्टि का होना है। सफल उपन्यास—चाहे किसी भी युग के परिप्रेक्ष्य को आधार बनाकर उसकी रचना की गयी हो—'आधुनिकता' को छोडकर या उससे अलग होकर नही लिखा जा सकता । उपन्यास बार-बार जगत् को जोडने का प्रयत्न करते है, इसीलिए मै उपन्यास को एक इकाई के रूप में देखता हू।

'अलग-अलग वैतरणी' को मैंने बडे रस के साथ पढा है। अलगाव की अतर्धारा जो जीवन में व्याप्त है, आधुनिक दृष्टि को लेकर रचे गये इस उपन्यास मे अन्विति हुई है। कहा जा सकता है कि 'अलग-अलग वैतरणी' मे बिखराव है लेकिन यह बिखराव एक गुण है. इस उपन्यास का समर्थ शैली-शिल्प है। शिवप्रसाद

के इस सशक्त उपन्यास मे युग की वाणी मुखर है। 'करैता' गाव का चित्र आज के प्रतिनिधि गांव का चित्र है। पूरे उपन्यास में अनेकानेक जीवंत चित्र हैं और सब मिलाकर वे एक प्रवाह उत्पन्न करते हैं। शिवप्रसाद ने इस उपन्यास में बड़े समर्थ चरित्रो का संयोजन किया है। कुछ पात्र तो इतने सजीव हैं कि मुझे वे काफी समय तक याद रहेंगे। विशेष रूप से 'पटनहिया भाभी'। मेरी दृष्टि में वह इस उपन्यास का सशक्ततम चरित्र है। इस उपन्यास की भाषा मे भी अद्‌भुत रूप-निर्माण की क्षमता है और वह नवीन संदर्भ भी प्रस्तुत करती है। केंद्रों का विघटन और गतिशील परिधियों का विस्तार—ये इस उपन्यास की अपनी विशेषताएं हैं। उपन्यास मे इनका सफल निर्वाह एक बडी बात होती है और मैं इसे एक अच्छी चीज मानता हू। अवश्य ही यह 'विस्तार' और 'विघटन' शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास में पहली बार उपस्थित हुआ है।

अत मे गोष्ठी-सयोजक पद्‌मधर त्रिपाठी के धन्यवाद-ज्ञापन के साथ गोष्ठी का समापन हुआ।

कथाकार शिवप्रसाद सिंह की कथासृष्टि : परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व

• डॉ. रामकली सराफ

द्व दो विरोधी तत्त्वों मे होता है। हमें देखना होगा कि क्या परंपरा और आधुनिकता ा द्वद्व दो विरोधी तत्त्वों के बीच है ? एक अर्थ मे ये विरोधी भी है, दूसरे अर्थ इसे हम गतिमानता की अनिवार्यता के रूप मे देख सकते हैं। यदि हम परपरा ी गति को आधुनिकता के रूप मे देखेगे तो यह उसकी विकासमानता है। समाज ोरंतर गतिशील है। एक विशिष्ट सामाजिक स्थिति की देन ही परपराए हैं, जो ामाजिक, सांस्कृतिक जीवन का नियमन करती है, सामाजिक व्यवस्था बनाये खने में सहायक होती हैं। पर मनुष्यता के विकास की ऐसी स्थिति जो परपरा, ल्यो-मान्यताओ के बीच अट नहीं पा रही है तो द्वद्व की स्थिति उत्पन्न होती । जब परंपराए, मूल्य-मान्यताए हमारी गति को रोकने लगती है, अवरोध पैदा रने लगती हैं, तो द्वद्व पैदा होता है। जब हम कहते है कि कोई चीज संपूर्णता ग्राह्य अथवा अग्राह्य नहीं है तो यह बात परपरा के प्रति लागू होती है तो यही ात आधुनिकता के प्रति भी। जाहिर है कि जब कोई परपरा समाज मे अस्तित्व ोती है, तब समाज का अंग होती है। पर समाज की गति ऐसे तमाम मूल्य-मान्यताओ ो नकारती भी है, जब ये मूल्य रूढ होकर अपना महत्त्व खो देते है।

निश्चित तौर पर परपराओं के जन्म और मृत्यु का इतिहास है। उसी मे रपरा और आधुनिकता का द्वंद्व भी दिखायी देता है। पर दोनों को ही नकारा हीं जा सकता। देखना होगा कि जो नयी चीज जन्म ले रही है वह कहीं शून्य े नहीं टपकती, वह एक निश्चित सामाजिक संरचना में अस्तित्व लेती है। फिर रपरा के बीच से ही नयी मूल्य मान्यताएं भी पैदा होती है। जब हम परपरा और ाधुनिकता के द्वंद्व की बात करते हैं तो आधुनिक औद्योगिक समाज के बनने े पहले के मूल्य-मान्यताएं और फिर अग्रेजी जाति के सपर्क में आने, नयी शिक्षा-दीक्षा से जन्मीं, नयी मूल्य-मान्यताएं, इन दोनों में तालमेल है या

विरोध है, इसे देखने की कोशिश करते है। जाहिर है कि जहां विरोध होगा, वहां द्वंद्व होगा। यह भी साफ है कि हमारे यहा पश्चिमी यूरोपीय देशों क़ी तरह सामंती दुनिया से निकलकर मुकम्मल औद्योगिक दुनिया की रचना नहीं हो पायी। इसलिए सामाजिक मूल्यों के खोखलेपन के विरुद्ध भले ही तर्क है पर परंपरित सामाजिक मूल्यों का अस्तित्व भी मौजूद है, साथ ही औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया की तीव्रता के साथ द्वंद्व और संघर्ष की प्रक्रिया में भी तेजी आयी, नये और पुराने मूल्यों का संघर्ष तीव्र हो गया। जो स्पष्ट रूप से भारतीय सामाजिक आर्थिक संरचना से जुडा सवाल है। चूकि आजादी मिलने के बाद भी भारतीय सामाजिक आर्थिक स्थितियों में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं घटित हुआ। जाहिर है कि औद्योगिक पूजीवाद के साथ ही सामंती अर्द्धसामती मूल्यो का वर्चस्व बना रहा, जिसका प्रतिबिंब हमारे समसामयिक जीवन मे देखने को मिलता है।

कथाकार डॉ शिवप्रसाद सिह जब रचना-कर्म मे जुटते हैं तो भारतीय सामाजिक संरचना के मूल आधार जो गाव है, उससे सबद्ध हो अपना पहला उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' लिखते हैं। जहा स्वातत्र्योत्तर ग्रामीण परिवश में सामंती ढाचा जीर्ण-शीर्ण हो टूटता है, मूल्य-मान्यताओ मे विकृतियां आती हैं, उन्हे स्वयं कथाकार ने देखा-भोगा भी है। साथ ही गांव में शिक्षा-दीक्षा, पूजीवादी संस्कृति का प्रवेश होता है। शहर के सपर्क मे आने के कारण गांव के जीवन में नयी हलचल मे परिवर्तन आता है। टूटते-बिखरते गाव की सामूहिक सस्कृति का ह्रास होता है। पुरानी मूल्य-मान्यताएं टूटती है, नये मूल्य बन नही पाते। स्वस्थ मूल्यो के निर्मित न हो पाने की स्थितियो, विकृत परिवेश और सामाजिक परिदृश्य मे आये बदलाव को रचनाकार उसकी गतिशीलता मे पूंरी जीवतता के साथ पकडने की कोशिश करता है। युगीन यथार्थ के तीखे तेवर इस उपन्यास मे विद्यमान है। आजादी मिलने के बाद उत्तरोत्तर बढती टूटन, उखड़न, चटकन का बारीक चित्र है। एक ओर पढे-लिखे शहर से गाव आये विपिन, देवनाथ और शशिकात जैसा मास्टर है, जग्गन मिसिर, खलील मिया और दयाल पडित जैसे पुरुष चरित्र हैं तो कनिया, पुष्पी और पटनहिया भाभी जैसे नारी चरित्र हैं जो सामती उत्पीड़न और शोषण के शिकार है। जिनमें परिस्थितिजन्य गहरा दर्द, टूटन, वेदना है, पर अपनी स्थितियो के साथ सघर्ष नहीं कर पाती, क्योंकि पूरे समाज के साथ वे भी दलदल में फंसी हुई है, उनकी मुक्ति भी समाज की मुक्ति के साथ सभव है। पुरुष पात्र भी, परंपरा के साथ सघर्ष कर नये मार्ग का चयन नहीं कर पाते तो वे आंतरिक द्वद्व, टूटन और विक्षोभ के शिकार होते हैं। क्योंकि उनके जीवन की घटनाए तो बार-बार बता रही हैं कि परंपरित मूल्य-मान्यताए कितनी खोखली हो गयी हैं। वे मूल्य जो पहले समाज का नियमन किये हुए थे, सबको एक सूत्र में बाधे हुए थे, सब में एकता और भाईचारा था, आज वैसा नही रह गया है। पूंजीवादी

मूल्यों के प्रवेश ने ग्राम-व्यवस्था में हलचल पैदा कर दी है। ऐसे में नये रास्ते की तलाश है पर रास्ता न खोज पाने की छटपटाहट, व्यग्रता और बेचैनी भी है। ठाकुर जैपालसिंह टूटते सामंती संस्कारों, मूल्यों और धारणाओं के प्रतीक हैं। जिनमें सामंती गरिमा के स्थान पर झूठा अहम्, ऐंठन रह जाती है। उनका ह्रासोन्मुखी सामंती चरित्र ग्राम पंचायत के चुनाव मे जिस तरह उभरकर आता है, वह उनके चालाक, धूर्त चरित्र का पर्दाफाश करता है। वे एक तीर से दो निशाने साधते हैं। जो पूरे देश के पैमाने पर जनतंत्रीय चुनाव-पद्धति के खोखलेपन को उजागर कर देता है। वे स्वय हारकर सुखदेवराम को जिताते हैं, एक ओर पुराने दुश्मन को मात देते हैं, वहीं वे स्वयं विजयी भी हैं। क्योंकि सुखदेव राम अपने वर्ग के हितों का सरक्षक न बनकर जैपालसिंह जैसे लोगों के इशारे पर ही कार्य करता है।

इस प्रकार पूरे उपन्यास मे नये-पुराने मूल्यो के टूटन और नये मूल्यो के निर्माण के सघर्ष मे एक अजीब-सी सम्मिश्रण की स्थिति पैदा हो जाती है। सामती और पूजीवादी मूल्यों के घालमेल से जन्मी विकृत घिनौनी स्थिति के प्रति कहीं रचनाकार के भीतर गहरी पीडा भी है—"जमींदार था तो एक खोल थी, जो कुछ होता था, उसकी खोल के साथ नत्थी कर दिया जाता था। इसलिए उस वक्त लडाई साफ थी, अब किससे लडे ? अपने ही भीतर के लोग खोल ओढकर डाकू, लुटेरे और जालिम बन बैठे हैं।" इससे सामती समाज की नैतिकता तो धराशायी हुई, उनकी विकृतिया और भयावह रूप ले लेती हैं और दूसरी ओर पूंजीवाद की विकृतियां जो गाव मे अनैतिकता, अलगाव, फूट, भ्रष्टाचार के घिनौने, गंदे रूप को उपस्थिति करती है। पर इस उपन्यास मे ही कनिया और जग्गन मिसिर जैसे सवेदनशील व्यक्ति भी है जो गाव की इस नारकीय वैतरणी के भीतर रहकर इस विश्वास के साथ खडे हैं कि ग्रामीण स्थितियो के भीतर से ही इस टूटन और बिखराव का रास्ता तलाशा जा सकता है। जहा मानवीय आस्था-भाव का स्वर प्रबल है।

दरअसल कनिया और जग्गन मिसिर जैसे लोगो की जीवनेच्छा में ही परंपराओं का टूटना और बनना निहित है, जिसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों मे कहें तो 'जीवन की जिजीविषा' संसक्ति के बीच परपराओ का टूटना और बनना। यह आज नयी बात नहीं है, जब से मनुष्य समाज की संरचना हुई ये चीजे विद्यमान है। यदि टूटती मान्यताओ के साथ नये का सामंजस्य नहीं बैठता या इन ह्रासशील परपराओ का स्थानापन्न किसी सुचिंतित दिशा मे नहीं हो पाता तो इन दोनो को जोडनेवाली प्रवृत्ति ज्यादा सच है। पारंपरिक मूल्यों के मापदड की जगह व्यक्ति या व्यक्ति-समूहो के बीच के जीवनमान उनकी आकांक्षा ज्यादा निर्णायक रूप ले लेती है। यही जग्गन मिसिर के साथ होता है।

गांव में सुधार की चाहत लेकर आये बुद्धिजीवी वर्ग के विपिन, देवनाथ, शशिकात जैसे लोगों को विवश होकर जिस तरह गांव छोडना पडता है, उसमें एक ओर रचनाकार का परिवर्तन की किसी सुसगत दिशा के साथ न जुट पाना है तो वहीं उनकी तटस्थ निस्सग दृष्टि का होना एक अलगाव बोध का भी होना है। एक तरह का आत्म-परायापन (Self-Cosliation) उनके भीतर घर कर जाता है। 'आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद' जैसी आलोचनात्मक पुस्तक के रचयिता शिवप्रसादजी अलगाव बोध से घिरे से लगते है। जैसे कि आज तमाम बुद्धिजीवियो की नियति बन गयी है। परंपरित सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं को न तो अपना बनाकर जी पा रहे है क्योकि इनके बने रहने के तर्कों की निस्सारता का एहसास इन्हे भली-भाति हो गया है। एक नयी जीवन-पद्धति जिसे ये जीना चाहते है, उसे भी नही जी पाते। क्योकि नयी जीवन-पद्धति के लिए जिस सघर्षशीलता की आवश्यकता है उन्हे अनेक सामाजिक तर्कों के चलते यह मध्यमवर्गीय पेटी बुर्जुआ वर्ग अपने भीतर पैदा नही कर पाता। व्यक्तिगत स्तर पर परपराओ से संघर्ष की बात करता है, पर उसके समानातर किसी नयी परपरा से स्वय को जोड नहीं पाता, यह अलगाव उसकी नियति बन जाती है; कही इसके मूल में सामाजिक सास्कृतिक अतर्विरोध है जैसे युगीन इतिहास की चेतना इन पात्रों को आक्रात कर लेती है। यद्यपि अलगाव में पड जाना यह भी एक आधुनिक स्थिति है, भले ही इसे हम आधुनिक मूल्य न कहे पर स्थिति तो है।

यह नैरतर्य 'गली आगे मुडती है' उपन्यास में भी मिलता है। यद्यपि इस उपन्यास मे टूटन और बिखराव मे तेजी तो आयी है। टूटते जर्जरित होते मूल्यों की तीव्र पहचान इसमे मिलती है जो आदोलन का रूप अख्तियार करती दिखायी देती है। जिसके कारण रूप मे समय का अतराल विद्यमान है दूसरे बनारस शहर है, गाव नहीं। यद्यपि आधुनिक औद्योगिक दुनिया की दृष्टि से बनारस को एक बडा गांव कह सकते हैं। क्योकि महानगरों की जो संस्कृति है, उससे भिन्न काशी मे ग्रामीण और नगरीय सस्कृति ही नहीं पूरे देश की संस्कृति का अद्भुत सम्मिश्रण दिखायी देता है। अभी यहा का रहन-सहन जीवन-पद्धतिया परपरित मूल्य-मान्यताओ पर निर्भर दिखायी देती हैं। यहा गुजराती, बंगाली, भोजपुरी आदि संस्कृतियों का अद्भुत सगम है। फिर भी काशी की आंतरिक जिंदगी की हलचल उसकी छटपटाहट की जीवंत अभिव्यक्ति हुई है। पर कथाकार की दृष्टि अपने पहले उपन्यास मे परिवेशगत सचाई को जिस व्यापकता और गहराई से पकडती है, यद्यपि उतनी प्रामाणिक अभिव्यक्ति यहां नहीं मिलती फिर भी काशी की संस्कृति के अनुरूप आदर्शों की लिजलिजाहट और टूटन उसे बनाये रखने की संसक्ति और तोड देने की, झटक देने की निर्ममता दोनों का बारीक संगुम्फन मिलता है।

गांव से शहर आये छात्र रामानद की प्रतिभा का समुचित मूल्याकन नहीं

हो पाता। फलत: वह टूटन-घुटन का शिकार होता है। उसकी सस्कारित व्यक्ति-चेतना झकझोर उठती है, वह अपने जनेऊ को तोड डालता है। परंपरित मूल्य, नैतिकता, आदर्श कितने खोखले हो गये हैं, उसके जीवन की घटनाए बार-बार इसका संकेत देती हैं। नये रास्ते की तलाश में वह भटकता है पर न खोज पाने की छटपटाहट और द्वंद्व भी है। जो आश्चर्यजनक ढंग से उसे 'विपिन' के निकट ला खड़ा करती है। जो विपिन से आगे बढकर परिस्थितियों का भोक्ता तो बनता है पर सारा सघर्ष जैसे किरण और जयती के दुतरफा प्रेम तक सिमट कर रह जाता है। दृष्टिगत सजगता के अभाव मे वह किसी निर्णायक सूत्र को नहीं पकड़ पाता वरन् असफल प्रेमी बना वह जीवन से पलायन कर जाता है। इस प्रकार की समानता और कुछ नही है, वह लेखक है जो कहीं टूटता, हारता अलग-थलग पड जाता है, यहां तक कि छात्र-आदोलन जिसे रचनाकार ने पूरे नगर में व्याप्त युवा-आक्रोश, उनके असतोष के साथ जोड़कर देखा है, वह भी कोई सार्थक दिशा नही ले पाता। फिर भी वह आक्रोश जो छात्रो के भीतर था वह बदलाव की प्रकृति से तो जुटा हुआ था। उनका आक्रोश कही बुजुर्ग पीढी के प्रति, कहीं थोथी नैतिकता के प्रति तो कभी अपने आपसे अपने भीतर बैठे रूढ संस्कारो से लडने में दिखायी देता है।

दरअसल आंदोलन तो तोड-फोड की प्रकृति से जुडा ही होता है। आदोलन की गर्माहट रूढ़ तत्त्वो को तोडेगी। वह पारपरिक जकडन को झकझोर डालती है। परपराओ से भी चुनौती मिलती है। यहा 'अग्रेजी हटाओ आदोलन' सत्ता की अभिमान्यताओ के लिए चुनौती बनता है। यह आंदोलन कुल मिलाकर सत्ता का विरोध था। भाषा, साहित्य, संस्कृति, व्यवस्था मे जो कुछ सडा व गला है उन सबका विरोध था। अग्रेजी इस देश की भाषा को रोकती है। यह औपनिवेशिक गुलामी का अवशेष है। इस प्रकार के आदोलन सीधे सामाजिक-राजनैतिक सवालो से जुडे होते है, जहा व्यापक सामाजिक परिवर्तन की चाहत होती है। पर इसके लिए सही नेतृत्त्व, लबी तैयारी और सघर्ष की आवश्यकता होती है। जहा मुख्य शक्ति की पहचान करनी होती है और वह शक्ति राजनैतिक है जो इन समस्याओं सवालो का समाधान दे सकती है। जिसकी सही पहचान के अभाव मे आंदोलन बिखर जाता है जैसा कि किसी भी आंदोलन के साथ प्रारंभिक अवस्था मे होता है। लेकिन उसे पुनर्संगठित करनेवाली ताकतो को रचनाकार मजबूती के साथ खडा नहीं कर पाता। बस, उपरले स्तर पर लेखक यही महसूस करता है कि नेतृत्त्वकर्ता वर्ग की स्वार्थपरस्ती, समझौतापरस्ती ही इस बिखराव के लिए जिम्मेदार है। पर इससे आगे बढकर सोचने की भी आवश्यकता थी। सुबोध भट्टाचार्य इस पर टिप्पणी करते हैं पर उनके कथन से अतीत चिंतन, पलायन, कुछ न कर सकने की बेबसी ही व्यक्त होती है। हां, जग्गन मिसिर की तरह 'हरिमंगल' जैसा पात्र भी है जो

सचाई के साथ लडता दिखायी देता है। लेखक ने नारी की स्थिति, प्रेम, शोषण आदि को लेकर सवाल खडे किये हैं। सामती जकड़न को चुनौती देते हुए भी इनकी नायिकाएं जयंती और किरण कोई प्रगतिशील कदम नहीं उठातीं वरन् धर्म, परपरा, मर्यादा उनके पांव की बेडी बन जाते है। हा, आरती जरूर विरोध में खड़ी होती है पर जिस व्यक्ति के साथ वह जुडती है उसका चरित्र कहीं उसकी 'ट्रेजेडी' को बढाता है।

इस प्रकार दोनों उपन्यास पुराने और नये के द्वद्व में से किसी का चुनाव न कर पाना पुराने का पुरानेपन के कारण और नयेपन की विकृति या उसके साथ समायोजन की अक्षमता के कारण टूटन, बिखराव के साथ ही अलगाव की आधुनिक स्थिति को सकेतित करता है। इसी परपरा और आधुनिकता के अतर्विरोध तनाव, द्वद्व का वर्तमान इतिहास से अलग मध्ययुग के व्यापक ऐतिहासिक परिदृश्य में देखने की कोशिश 'नीला चाद' मे मिलती है। यहा भी काशी है पर मध्यकाल की काशी, जो विदेशी आक्रांताओं से पहले थी यानी 1060 ई. की काशी। जहां 'गली आगे मुडती है' मे वर्तमान 1967 ई के आसपास के काशी की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सास्कृतिक स्थितियों का ब्योरा है वहीं 'नीला चाद' में रचनाकार अतीत की ओर उन्मुख होकर मध्ययुगीन काशी के प्रामाणिक वृत्तो को उपस्थित करने की कोशिश करता है। यही प्रश्न खडा होता है कि जब कोई रचनाकार अतीत की ओर मुडता है तो क्या अतीत की ओर उसका युग भी जाता है ? स्वाभाविक है कि रचनाकार जिस युग मे जी रहा है, जब वह अतीत मे जायेगा तो अपनी दृष्टि के साथ क्योंकि वह तो वर्तमान मे जी रहा है, अतीत तो नष्ट हो चुका है, अतीत के होने गुजरने का यथार्थ तो होता नही। वर्तमान के द्वंद्व को अतीत के साथ जोडने की कोशिश होती है।

वस्तुत जो ऐतिहासिक उपन्यास होते है, वहां सारा इतिहास रचनाकार की कल्पनाशक्ति द्वारा पुनर्सृजित होता है, लेकिन वह कल्पनाशक्ति वर्तमान से ऊर्जा ग्रहण करती है। इसलिए ऐतिहासिक उपन्यासों को वर्तमान के द्वद्व से नहीं बचाया जा सकता जो स्वाभाविक भी है। व्यापक रूप से भारतीय जीवन का जो द्वद्व है उससे अलग-थलग होकर रचना नहीं आ सकती। द्वद्व की प्रामाणिकता ही रचनाशीलता को शक्ति देती है ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास की फोटोग्राफी नहीं है, उसका पुनर्सृजन है। जिसमे अतीत और वर्तमान के नैरतर्य को दिखाने की लेखकीय दृष्टि होती है। यह अलग बात है कि जिस वस्तुगत संदर्भ का गुंफन रचनाकार कलात्मक सयोजन के साथ कर रहा है, उसकी गहराई में उतरकर वह उसे कितना प्रामाणिक रूप दे पा रहा है अथवा ऊपर-ऊपर कल्पना-जाल बुन रहा है ? चरित्र जो कल्पित किये गये हैं, वे जिस वस्तु-संसार को रच रहे है वे कितने प्रामाणिक है। 'नीला चांद' में रचनाकार अतीत की गहराई में उतरते

हुए भी कहीं-न-कहीं वर्तमान का पीडा और संघर्ष से जुडा है। विद्रोह की अग्नि 'धगद् धगद् ज्वलम्' के तांडव से अशिव और अमानवीय मूल्यो को ध्वस्त कर देना चाहती है। दरअसल परंपरा एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। इसकी गतिमानता और रूढ होना दोनो का द्वंद्व इतिहास-बोध से सबद्ध है। ऐतिहासिक उपन्यासों मे 'नीला चांद' को कुछ आलोचकों ने 'नया मोड' कहा। कुछ ने रोमाटिक ऐतिहासिक उपन्यासो के क्रम में रखकर सवाल खडा किया। यद्यपि ये सवाल उठने स्वाभाविक हैं क्योंकि ऐतिहासिक उपन्यास लेखक की नयी परंपरा तो नहीं है। इसकी एक सुदृढ परंपरा रही है। बंगला में भी राखालचंद्र बद्योपध्याय के ऐतिहासिक उपन्यासों का अपना महत्त्व है। बुंदेलखड के सांस्कृतिक जीवन-प्रवाह का बेजोड चित्रण वृंदावनलाल के उपन्यासों मे मिलता है। अपने चरित्रो को जिस ताकत के साथ वर्माजी ने खडा किया है वह अविस्मरणीय है। उस पद्धति और प्रक्रिया में तो यह उपन्यास नहीं दिखायी देता पर रोमानी आदर्श तो वृदावनलाल वर्मा के उपन्यासों में भी मिलता है जिसका एक आकर्षण होता है जिससे हर रचनाकार को जुडना पडता है। फिर भी ऐतिहासिक लेखन में यह सभावना बढ जाती है क्योकि वहा रचनाकार कल्पना द्वारा चरित्रो को पुनर्जीवित करता है। कल्पना जहां अहम् होगी तो रोमांटिक चरित्रो की अवतारणा की संभावना बढ जायेगी। यह रोमानी आदर्श 'नीला चांद' के चरित्रो मे भी विद्यमान है।

यशपाल और भगवतीचरण वर्मा के इतिहासाश्रित उपन्यासो से भिन्न इस उपन्यास मे रचनाकार ने इतिहास बोध और समकालीन बोध मे अद्भुत सबध कायम किया, ऊचाई दी। राहुल सांकृत्यायन की एक अलग परंपरा है, उस परपरा से भी यह भिन्न है। हां, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासो की कुछ छाया इसमे जरूर दिखायी देती है। डॉ शिवप्रसाद सिह उनके शिष्य भी है, सास्कृतिक द्वंद्व और मानवीय चेतना आदि के स्तर पर उसी परपरा को विकसित करते है। आचार्य द्विवेदी के उपन्यासो 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारूचद्रलेख', 'अनामदास का पोथा' आदि मे भारतीय जीवन में सांस्कृतिक गरिमा की तलाश का अद्भुत आकर्षण दिखायी देता। कुछ इसी ढंग की खोज या चरित्र 'नीला चांद' में मिलते है। लोकधारा को जो यहां स्थान मिला है, द्विवेदीजी की सवेदना लोक सवेदना के साथ खडी है। इस उपन्यास में भी ऐसे चरित्र दिखायी दे रहे हैं। पर द्विवेदीजी में इतना फैलाव नहीं है, जितना फैलाव 'नीला चांद' लेकर चलता है। इसीलिए चरित्रों की भरमार है। जहां व्यापक रूप से अस्तित्व लेती समाज की तमाम शक्तियां गतिमान हैं। मध्ययुगीन काशी वहा के जीवन में समाए पाखंड, अंधविश्वास, घटनाए, चरित्र, रूढि, जातिगत सकीर्णता आदि नाना द्वंद्वो का बारीक चित्र खींचा गया है।

इतिहास का ऐसा कालखंड ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य का काल जहां केंद्रीय

शासन के कमजोर हो जाने के कारण छोटे-छोटे सामंत परस्पर युद्धरत होकर अपनी शक्ति को क्षीण कर रहे थे। इस व्यापक उथल-पुथल के काल में परमार राज्य के कमज़ोर हो जाने पर बुंदेलखंड चंदेल राज्य का केंद्र बन गया। पर कलचुरी (हैहय) वंश के राजा कर्ण कलचुरी ने चदेल वंश के विद्याधर के पौत्र देववर्मा की हत्या कर दी। इतिहास की इसी अधकारग्रस्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का चित्रण इस उपन्यास के व्यापक फलक पर किया गया है। यही कारण है यहां पर दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के चरित्र आमने-सामने खडे हैं। एक ओर अन्याय, अत्याचार और उत्पीडन का समर्थन है तो दूसरी ओर मानवीय मूल्यों की पक्षधरता। कुटिल मनोवृत्ति सपन्न आततायी प्रवृत्ति के चरित्र है तो दृढ इच्छा-शक्ति संपन्न प्रगतिशील उदारवृत्ति के सत्चरित्र पात्र भी है। काशी नरेश कलचुरी कर्ण के अमानुषिक कृत्यों, उसके जनपीडक आततायी रूप के विरुद्ध जैजाकभुक्ति के राजा चंदेल वर्मा के भाई कीर्ति वर्मा का ऐतिहासिक सत्ता-सघर्ष वस्तुत व्यापक जनमुक्ति का प्रतीक बनकर आता है। जहा मनुष्यता विरोधी शक्तिया ध्वस को प्राप्त करती हैं और अतत व्यापक मानवीय मूल्यो की विजय होती है। 'गली आगे मुडती है' मे आज की काशी है जहां राजनैतिक आदोलन का रूप है तो यहां सत्ता-सघर्ष का तीव्रतम रूप अतीत के आधार पर अस्तित्व ले रहा है जो समसामयिक स्थितियो के निकट भी है। परिवेश और चरित्र भले ही इतिहास के भीतर खड़े हो रहे हों पर जहां तक मनुष्य के भीतर की प्रवृत्तियो का सवाल है जो अतीत की पृष्ठभूमि में रचे जाने के बावजूद अतीत में स्वरूप ग्रहण करते हुए भी वर्तमान को ढो रहे है। काशी ही नही यहा सपूर्ण भारतीय समाज की सास्कृतिक चेतना अपनी भव्य गरिमा और उदात्तता के साथ प्रतिष्ठापित होती है। यह कृति सामाजिक विषमताओ, अन्याय और शोषण के विरोध मे खडी होकर इतिहास के माध्यम से वर्तमान वैषम्यो, अतर्विरोधो से लडने की ताकत देती है। परपराए यहां भी टूटती बिखरती हैं, पर परपरा से जोड़नेवाले चरित्र भी है। जाहिर है कि इस महाकाव्यात्मक उपन्यास की चारित्रिक आभिजात्यता डोमो, भर, मुसहर, चाडाल, ग्वाला, नट, कुर्मी आदि निम्न तबके के लोगों के साथ मिलकर भव्यता उदात्तता को प्राप्त होती है। उपन्यास मे तद्‌युगीन राजनैतिक उथल-पुथल के चित्रण के साथ सामाजिक सास्कृतिक स्थिति के भी जीवंत चित्र मिलते है। यद्यपि उस दौर मे भी जाति व्यवस्था की जकड़न समाज में बनी हुई थी पर स्थितियो के अनुरूप बदलाव लक्षित होता है। पुरानी जकडन मे ढीलापन आता है। अब ब्राह्मण पुरोहिती ही नहीं करता राज्याधिकारी और सेनानायक भी है। व्यक्तियो की सामाजिक परिस्थिति सिर्फ धन के आधार पर नहीं आकी जाती थी। वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन आदि धर्मों के साथ ही भक्ति मे तंत्र मंत्रादि के निषिद्ध अभिचारो के सन्निवेश के फलस्वरूप परस्पर की टकराहट के सूक्ष्म चित्र उपस्थित किये गये हैं। इन तात्रिक अभिचारो

के निषेध में खडी मां शीलभद्रा के आध्यात्मिक सस्कारों में धार्मिक कट्टरता और अंधविश्वास मौजूद है। बावजूद इसके वे नापित, ग्वाला, सौरंध्री, माली, मेहतर, केवट आदि जातियों के शूद्रों को सम्मान देती है। उन्हें मालूम है इन जातियों के द्वारा किये जानेवाले कार्यों से ही हमारा जीवन इतनी सुविधाओं साधनों से संपन्न हो पाता है। जाति-पांति की इस दीवार को तोडकर ज़ब राजा-प्रजा के बीच की दूरी पटेगी, तभी वे अपने हित में कुछ कर सकते हैं। महायोगिनी शीलभद्रा तो इन शूद्र तबके के लोगों को कहती भी हैं–"तुम लोग तथाकथित श्रेष्ठ वर्णों को तिलांजलि दे सकते तो वह नये युग को प्रकाश देनेवाला प्रभात होगा।"

मध्ययुगीन सामती समाज जहा मंदिर विलासिता, पाखंड और ढोंग के अड्डे बने हुए थे। रचनाकार की पाखंड वृत्तियो, पंडे-पुजारियो की ढोंग वृत्ति पर चोट करने की जो प्रवृत्ति पहले के उपन्यासो में दिखायी देती है, वह यहां भी मौजूद है। रचनाकार के लिए 'पूजा-आराधना आत्मा के संस्कार' की चीज है न कि बाह्य दिखावे या पाखंड प्रदर्शन की। निर्मल आत्मावाले के लिए कोई छोटा-बडा नहीं है, उसके लिए सब बराबर हैं। उनके लिए व्यक्ति नीच नही होता, उसके कर्म नीच हो सकते हैं। तभी तो एक ओर प्रफुल्ल कुमार बद्योपाध्याय हैं सुद्धु पंडा है तो दूसरी ओर रामचंद्र सिरिया, मुन्नन कातिक जैसे केवट आदि निम्न जाति के लोग आसानी से उनके पतित चरित्र का पर्दाफाश करते हैं।

जाहिर है कि रचनाकार ने वैज्ञानिक दृष्टि की बनिस्पात मानवतावादी दृष्टिकोण को विकसित करने की ही कोशिश की है। वर्गों के संघर्ष को दिखाते हुए भी लेखक वर्ग दृष्टि के विज्ञान से अपने को बचा ले जाता है। वस्तुत मनुष्य की जिजीविषा शक्ति, मनुष्यता उसकी सांस्कृतिक चेतना जिसें आचार्य द्विवेदी ने 'महाकाल की यात्रा' का नाम अपनी रचनाशीलता में दिया है। डॉ शिवप्रसाद सिह का बुनियादी दर्शन भी यही है। मनुष्य की सघर्षशील शक्ति पर विश्वास करते हुए अतीत की नैतिक और सौंदर्यपरक अनुभूतियों के आधार पर वर्तमान यथार्थ को उच्चतर रूप देने का प्रयत्न करते हैं। कथानायक कीर्तिवर्मा का सघर्षशील व्यक्तित्व बलदेव उपाध्याय और कल्हैया मिसिर जैसे लोगों को आगाह करता है। क्योकि इन चरित्रो की असपृक्तता परिवेश के साथ संघर्ष कर अपने रास्ते की तलाश नही कर पाती, वे बराबर शंकित बने भटकते रहते हैं। यद्यपि इस प्रकार की एकरूपता इनके हर उपन्यास में कहीं-न-कहीं दिखायी देती है पर किसी एक पात्र को प्रतिनिधि मानना तो बेमानी होगा फिर भी कन्हैया मिसिर जैसे पात्र ऐतिहासिक सदर्भ मे विपिन और रामानंद वाली प्रवृत्ति को जीते है। लेकिन पहले दोनों उपन्यासो के पात्र तो पूंजीवादी अलगाव में छटपटाहट को जीते हैं। विषम सामाजिक संबंधो के बीच अलगाव की प्रवृत्ति जन्म लेती है। सामंती समाज मे अलग ढंग का आत्मिक अलगाव है। जहां वह ऐतिहासिक वातावरण

मे सामाजिक धारा से अलग-थलग पड़ा स्थितियों का भोक्ता नहीं बन पाता। ऐसे चरित्रों की ओर संकेत कर कीर्तिवर्मा कहते हैं—"कन्हैया मिसिर जरा नशे से अलग होकर अपनी अंतरात्मा से पूछिए कि विदेशी तत्र को स्वीकार करके बल्कि उनके हाथो में अपने को बेचकर आधुनिकता का राग अलापनेवाले महान् होते हैं या अपनी धरती के साथ जुडे हुए प्रजा और साधारण जन के जीवन में रचे-बसे उनके सुख-दु:ख और उनके सघर्षों में हिस्सा लेनेवाले।" स्पष्ट है कि सामाजिक वैषम्यपूर्ण स्थितियो मे रचनाकार वर्ग-सघर्ष को तो देखता है पर उसे मानवतावादी दृष्टिकोण के तहत ही विश्लेषित करता है पर वर्ग दृष्टि से पैदा हुई वर्ग-संघर्ष की वैज्ञानिकता को कारक-तत्त्व के रूप मे नही देख पाता। यहां 'आधुनिकता' शब्द का प्रयोग भी उतना सटीक नही जान पडता। यद्यपि लेखक ने अपने युग के सवाल को उस ऐतिहासिक परिदृश्य पर उपस्थित करने की कोशिश की है पर वह आरोपित ज्यादा लग रहा है। यद्यपि आधुनिकता की बात तो हर युग मे उठेगी। उस युग मे भी जो बाते आयीं वे आधुनिक रही होंगी पर आज आधुनिकता जिन विदेशी अवधारणाओ से सपृक्त होकर फैशन-परस्ती के रूप मे आ रही है उससे भिन्न रूप उस दौर मे रहा होगा।

रचनाकार ने परपरा के रूढ सनातन रूप को भी अस्वीकार किया है, दान के लिए बने पिंड का आगे बढकर भक्षण कर लेना इसका सशक्त उदाहरण है। परपराओ के प्रति वे मोहासक्त है। लेकिन उनके टूटने का दर्द छटपटाहटपूर्ण चीख के साथ खत्म हो जाता है वस्तुत परपरा के विरोध में किसी तर्क के साथ जाना और हमारे जीवन की जो गति है उस रूप में जाना दोनो दो बातें है। यद्यपि टूटती परपराओ के इतिहास-चक्र मे विचार और सिद्धांत ढूंढे तो वहा भी निराशा होगी। फिर भी सहज रूप में हमारे जीवन में जो परंपराएं अस्तित्व लेती है, हमारा नियमन करती है। वे ही इतिहास-क्रम मे रूढ होकर टूटती-बिखरती आधुनिक जीवन-सपृक्ति के नये कोणो के साथ सामने आती है। स्पष्ट है कि मनुष्य जीवन इन परस्पर विरोधी स्थितियो के साथ संघर्ष करते हुए आगे बढता है। साहित्य की ऐतिहासिकता भी वस्तुत: मनुष्य जीवन के अबाध प्रवाह का इतिहास ही है।

अत 'नीला चाद' का फलक जिस व्यापक ऐतिहासिक परिदृश्य से जुड़ा है। इतिहास का संबध अतीत से ही नहीं होता वर्तमान का भी इतिहास बनता है। डॉ शिवप्रसाद सिंह ने उपन्यासों में ही 'अलग-अलग वैतरणी' और 'गली आगे मुडती है' में देश समाज की विसंगतियों विषमताओं को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के साथ गठित किया गया है। इसी प्रकार 'शैलूष' का भी इतिहास बोध है। शैलूष का परिदृश्य सामाजिक विसगति और अंतर्विरोधो को दिखाने के साथ-साथ एक जाति विशेष की सांस्कृतिक जिजीविषा को मुख्य रूप से उभारा गया है। 'मंजुशिमा' मे समाज मुख्य रूप से नहीं आता, इतिहास बोध की अभिव्यक्ति सीधे रूप में नहीं

आ पायी है वरन् लेखक का आत्मसंघर्ष मुख्य बन जाता है। कह सकते हैं कि निराला की 'सरोज-स्मृति' की शैली कथात्मक प्रस्तुति है।

निष्कर्षत हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार में सास्कृतिक भाववाद और सास्कृतिक यथार्थवाद का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। सांस्कृतिक भाववाद के प्रतिनिधि लेखक प्रसाद रहे हैं और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी में भी यह चेतना प्रबल है पर द्विवेदीजी अपने उपन्यासों को यथार्थोन्मुख मोड देना चाहते थे और उसी परपरा को डॉ शिवप्रसाद सिंह ने आगे बढाया है।

उपन्यासों की गली का नया मोड़

• *डॉक्टर मान्धाता राय*

अलग-अलग वैतरणी के यशस्वी लेखक डॉक्टर शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'गली आगे मुडती है' मे न केवल कथावस्तु अपितु शिल्प की दृष्टि से भी औपन्यासिक कला को एक नवीन मोड दिया गया है । उपन्यास क्या है—विभिन्न संस्कृतियों, संप्रदायों, सभ्यताओ, जातियों, वर्गों, सस्कारों, भाषाओ एवं बोलियों का समन्वीकरण है, जहां सभी अलग-अलग होकर भी उसी तरह एक है जैसे नुक्कड पर सभी गलियां। देश की भाषा समस्या, जातिवाद वैवाहिक बधन और प्रातीयता की सीमा को तोड़कर बाबा विश्वनाथ की धर्म प्राण नगरी मे सबको एक कर दिया गया है। एक ओर बंगाली, गुजराती, राजस्थानी एव बिहारियो के खान-पान, वेशा-भूषा, रहन-सहन, भाषा, सभ्यता, नृत्य, गीत एवं अन्य सस्कार है तो कहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी उछल-कूद रहे है । अपनी जवानी के जोश मे डूबता तिरता युवा वर्ग है तो गावटी वाधे, चश्मा लगाये गुडे, पडे और हर गली में सडसा लिये घूमते साधु हैं। यह कहानी काशी की ही न होकर पूरे भारतीय नगरो की कहानी है। हर जगह के युवा नेता कुछ और कहते है परंतु आड में कुछ और ही गुल खिलाते है । यही हालत आज फारवर्ड बननेवाली छात्राओ की भी है ।

युवा आक्रोश जैसी ज्वलत एव सबके लिए सिर दर्द सिद्ध हो रही समस्या का, इस उपन्यास मे पूरी निर्लिप्तता एव सहजता के साथ बेवाक चित्रण किया गया है। अभी तक उपन्यासकार आभिजात्य वर्ग की विलासिता, मध्यमवर्ग की घुटन और निम्न वर्ग की गरीबी के चित्रण में ही ऊधम मचा रहे थे । कथाकार ने पूरे विश्व में एक साथ धधकती हुई इस ज्वाला के प्रति आस्थावान दृष्टिकोण रखते हुए साफगोई ढंग से उसके विभिन्न पहलुओं को न केवल सामने रखा है अपितु पाठक वर्ग को निर्णायक स्थिति मे ले जाकर स्वय मौन हो गया है । छात्र आंदोलन अपनी चरम स्थिति पर पहुचकर छात्र नेताओं के नियंत्रण से उसी तरह निकल जाता है जैसे अपनी ही सुविधा के बनाये जाल में फंसकर आदमी स्वयं गलत कार्य कर बैठता है। उपन्यास का नायक रामानद जो बनारस की एक-एक गली से परिचित है, अंत में जाकर किरण के दरवाजे

से निराशमनः स्थिति में लौटते समय गोलधर की भूल-भुलैया में भूल जाता है । सुविधापरस्त जीवन बिताने की चाह एव मस्तिष्क की अपरिपक्वता उसे कहीं की नहीं रहने देगी । गणेश तिवारी के रक्त की दाद वह पूरे उपन्यास में देता है; परंतु मृगतृष्णा की तरह कभी स्कॉलरशिप लेकर विद्वान् बनने का ख्वाब देखता है और मां को सब्जबाग दिखाता है तो टाप न करने पर नेतागिरी करके रोब गालिब करना चाहता है । इसी तरह जीवन साथी के चुनाव में भी कभी जयंती तो कभी किरण के पीछे भागते हुए अंत तक अनिश्चय की स्थिति में रहता है और किसी का नहीं हो पाता। यही हालत आज के सभी युवा छात्रों की है । उपन्यास में छात्र नेताओ के काले कारनामो का बेलौस चित्र खींचकर लेखक ने सीधे-सादे छात्र-छात्राओं को गुमराह करने की उनकी मनोवृत्ति पर तीखा व्यंग्य किया है ।

उपन्यास को 'मै' शैली मे लिखकर कथाकार ने पाठको के साथ आत्मीयता का सबध स्थापित किया है । उपन्यास के नायक रामानद तिवारी के शब्दों मे ही एक तरह से पूरा उपन्यास लिखा गया है । जहा दूसरे पात्रो की बात आयी है, वहां स्पष्ट हो जाती है । फिर भी किसी एक पात्र को लेखकीय भावनाओ की प्रतिमूर्ति नही कहा जा सकता है । हा, रामानंद की वाक्पटुता, पाडित्य, सरलता, हरिमंगल की पैनी दृष्टि, ईमानदारी, दृढ निश्चय, यथार्थवादी दृष्टिकोण और सिद्धेश्वर भट्टाचार्य की सहज गंभीरता और अध्यापन को राजनीति से दूर मानने जैसे गुणो को एकत्र किया जाये तो जो व्यक्तित्व बनेगा वह बहुत कुछ डॉ शिवप्रसाद सिंह जैसा होगा । उपन्यास का मूल स्वर वर्णनात्मक न होकर सवादात्मक है । बातचीत के प्रसग से धक्का खाती हुई कथा आगे बढती गयी है जिससे कथानक बोझिल और बनावटी होने से बच गया है । बीच-बीच मे लगता है लेखक पाठकों से पूछ-पूछ कर अथवा उनकी राय जानकर कहानी कह रहा हो । 'आपने नहीं देखा है आप नहीं मानते हैं' जैसे वाक्यो का प्रयोग पहली बार इस उपन्यास मे हुआ है, ऐसा प्रयोग करके उपन्यासकार ने पाठको के साथ सीधा संबंध जोड़ा है और उपन्यास लेखन मे पाठको के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। पूर्व स्मृति द्वारा अतीत की घटनाओं को वर्तमान के साथ जोड दिया गया है। किरण की पूर्व स्मृति के उल्लेख द्वारा उसके हृदय की भावनाओं को सामने करके आत्मविश्लेषण कराया गया है। इससे उपन्यास में नाटकीयता आयी है।

मूल प्रसंग के बीच से ही शाखाएं-प्रशाखाएं फूटकर निकलती चली गयी हैं और उपन्यास का कलेवर फैलता गया है। कई स्थानों पर मूल कथा मूक हो गयी है और प्रासगिक कथाएं ही एक के बाद एक आती गयी हैं। परंतु प्रत्येक कथा कहीं-न-कही जाकर मूलकथा से अवश्य जुड गयी है। कथाएं अपना उद्देश्य पूरा करके धीरे से मूलकथा में उसी तरह विलीन हो गयी है जैसे मेन रोड मे छोटी गलियां। इस तरह महाकाव्यात्मकता अपने आप आ गयी है। स्थान-स्थान पर निबंध शैली का प्रयोग करके लेखक ने अनेक पौराणिक उद्धरण भी दिये हैं जिससे उपन्यास की गुरुता बढी है। अनेक ऐसे वाक्य भी आये हैं जिनसे लगता है लेखक कहीं बैठकर सोच रहा है—

जैसे 'बनारस भी क्या अदा से बसा शहर है।'

औपन्यासिक शैली के साथ ही डायरी, निबध, रिपोर्ताज, स्केच, पत्र-लेखन आदि शैलियों का भी प्रयोग इस उपन्यास में हुआ है। एक भोग हुए कटु यथार्थ को अत्यंत सहज भाषा में पूरे पैनापन एव तेवर के साथ प्रस्तुत करने में लेखक पूर्ण सफल रहा है। भोगे हुए सत्य का उद्घाटन करने के बावजूद कहीं भी वह अतिरिक्त सहानुभूति नहीं देता, चाहे वह रामानद हो या हरिबाबू, रज्बुल्ली हों या भगत, आरती हों या शोभना बहन सबका वर्णन करते समय उनकी करतूतों का खुला चित्र प्रस्तुत करके कथाकार अत में झाड़ू पोछ कर सबसे अलग खडा हो जाता है और पाठकों के मन में एक टीस-पीडा की अनुभूति करा जाता है। लेखकीय मान्यता के अनुसार यही बनारसीपन है---दूसरे को फूककर मस्त होना। उपन्यास पढते समय घटनाओं के दृश्यचित्र आंखो के समक्ष बिंबित हो उठते हैं। कोरी वर्णनात्मकता या स्थूलता का भोदापन नहीं आने पाया है। सर्वाधिक बिंब चाक्षुष है परंतु स्पर्श, सुगध, श्रवण एवं स्वादेंद्रिय से संबधित बिबो की योजना भी बीच-बीच मे हुई है।

उपन्यास की भाषा को 'रामानदी भाषा' कहें तो बेजा न होगा। किरण के शब्दो मे इस भाषा को 'अल्हड ब्रह्म पुत्र नद' कह सकते है जिसमें वैदिक ऋचाएं और शोहदों मे प्रचलित शब्दावली को एक जैसी निर्लिप्तता के साथ कहने का साहस किया गया है। मेरी राय मे शिल्प की दृष्टि से उपन्यास की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यही है। उपन्यास की भाषा रामानद के चेहरे की तरह वह पारदर्शी आईना है जिसमे जब कोई चाहे अपनी शक्ल देख ले। रामानंद जिस पात्र के साथ बातचीत करता है, उसके अनुरूप भाषा बदल गयी है। संस्कृत, गुजराती, राजस्थानी, सिधी, बंगला, मराठी, अवधी, मगही, मैथिली, भोजपुरी सभी के शब्द, मुहावरे एव लोकोक्तियां तो हैं ही सबका जीवन-दर्शन एवं सामाजिक सर्वेक्षण भी है। फिर भी जिस प्रकार उपन्यास में वर्णित अन्य सभी संस्कृतियो पर काशी की सरकृति छायी है, उसी तरह सभी भाषाओं और बोलियों पर बनारसी भाषा जिसे लेखक ने 'काशिका' कहा है छायी हुई है।

विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय करने में लेखक को अद्भुत सफलता मिली है। काशी में गुजराती, बगाली, मराठी, राजस्थानी, सिधी, मुस्लिम, बिहार, नेपाली एवं विदेशी सभी की वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन, संगीत, नृत्य, गीत, साहित्य, शब्द सबका न केवल विवेचन हुआ है अपितु उनके बीच तादात्म्य स्थापित कराया गया है।

हिंदुओं की रामलीला, बंगालियो की दुर्गा पूजा और गुजरातियो के गरबा नृत्य की योजना एक साथ की गयी है और यह महान् कार्य गणेश तिवारी के वंशज रामानंद के जरिए होता है। यही उसके जीवन की सबसे बडी सफलता और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जिसके बारे में उसकी मां से किसी संन्यासी ने कहा था कि 'गणेश तिवारी की चौथी पीढी में एक ज्योति पुंज उत्पन्न होगा जो बहुत बडा पंडित होगा।' उपन्यास पढते समय लगता है कि रामानंद के साथ कथाकार की सहानुभूति है परंतु बीच-बीच में अन्य पात्रों के सपर्क के समय उसकी कमजोरियों पर व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण

अपनाकर लेखक ने अपनी निर्लिप्तता और साफ गोई सिद्ध कर दी है । वह रामानद जो नेतागिरी करने चला है अतिम क्षण मे मृग-मरीचिका मे भटक जाता है और मा के ललकारने के बावजूद किरण को न अपनाकर पीछे हट जाता है । यह उसकी पलायनवादी मनोवृत्ति और सुविधाभोगी होने का प्रमाण है । आज हर बुद्धिजीवी यही कर रहा है । एक ओर जयती उसके पीछे है और वह किरण की ओर देख रहा है। अत में किरण भी उसके जीवन से दूर चली जाती है । उसे वह रोक नहीं पाता है क्योंकि उसमे विद्रोह करने का साहस नहीं है । पात्रो के नाम भी गुण और कर्म के अनुरूप है । आरती वास्तव मे आरती करने लायक है। मन मे जो आया उसे बेहिचक कर डाला । काम करके दु:ख भोगने पर भी कोई पछतावा नही है । रामकीरत दास आज के दास कहलानेवाले उन महतों के प्रतीक हैं जो सन्यासी होने का ढोग खडा करके समाज को गुमराह कर रहे है । वहीं भगत कहलानेवाले जमनादास यमुना की प्रतीक राधारानी रूपी अपनी प्रेयसी पत्नी के भक्त हैं और हर क्षण उसी की याद मे तडपते रहते है । हरिमगल जब तक रहे मंगल ही रहा। मरते समय भी अमगल की छाया उनके पास नहीं फटकती है। किरण प्रकाश पुज है । रामानद के जीवन मे जब तक रही ज्योति फैलाये रही और सबके ऊपर आनद ही है जो सबको आनद देता है परतु स्वय अत में आनदित नहीं हो पाता। वह आनद को स्वय के लिए नही सभाल पाता दूसरों को ही दे देता है। निरतर प्रयत्नशील रहने के बावजूद उसे अत मे पीडा ही हाथ लगती है यही विडबना है । जिस मा की रक्षा करने, उसे सुखी बनाने और साथ रखने के लिए वह हर कुर्बानी करता है, उसे भी अत मे छोडकर अपनी सुविधा के लिए दूर भाग खडा होता है। यही आज की नयी पीढी की आधुनिकता है जिसका पर्दाफाश लेखक ने किया है । बीच-बीच में आये हुए सेक्स सबधी वर्णन सत्तर के पश्चात् के सेक्स सबधी सामाजिक झुकाव के प्रतीक है । इसे असामाजिक अस्वाभाविक अथवा अग्राह्य कहना यथार्थ से परे भागना है ।

उपन्यास मे सभी कथाए मूल कथा से मिलकर एक होती गयी है । बीच-बीच मे सभी रसो के समावेश द्वारा जहा इसे महाकाव्यात्मक रूप दिया गया है, वहीं प्रत्येक अश स्वतत्र खड मे वर्णित होकर खडकाव्य का आनंद देता है । आरभिक अश गभीर होने के कारण पाठको को कथावस्तु के प्रति सजग कर देता है । कुछ दार्शनिक विवेचनो के चलते एकाध स्थानो पर उपन्यास बोझिल हो गया है। जयती और किरण के साथ रामानंद का प्रेम संबध इतना जल्द हो गया है कि घटना की सहजता बाधित हो गयी है । महराजिन द्वारा पुजारी के लिए 'साले', 'ससुरे' शब्दो का प्रयोग चितनीय है । पुरानी स्त्रियों के मुह से ऐसी गाली नहीं सुनने को मिलती है । विट्टो का एकाएक घर छोड़कर माथुर के साथ भाग जाना अस्वाभाविक हो गया है । उसके लिए बाद मे जो दलील दी गयी है, वह वास्तविकता का बोध कराने में लचर पड़ती है । दूसरे का घर फूककर तमाशा देखना बनारस के लोगो का मनोरंजन है । यही घर-फुकाई रज्जुल्ली और माथुर ने रामानंद के साथ की थी जैसे अतीत में तुलसी और दयानदजी

के साथ हुआ था । पौराणिक, ऐतिहासिक कथाओं एवं घटनाओं के उल्लेख द्वारा उपन्यास के आध्यात्मिक और ऐतिहासिक स्वरूप को कायम रखने के साथ-साथ निबंध-शैली का भी सहज प्रयोग हो गया है ।

उपन्यास मे प्रयुक्त शब्दावली, उपमानो, लोकोक्तियो और मुहावरों का महत्त्व अक्षुण्ण है । लेखक ने आधुनिक जीवन मे प्रचलित शब्दों का प्रयोग करके उपन्यास को आदर्श के पल्ले से बचाया है । शिष्टता का चोगा ओढनेवाले बुर्जुआ लोग कथाकार पर भारतीय संस्कृति के मूल्यो को नीचा गिराने का आरोप लगा सकते हैं । परंतु उनकी दकियानूसी भरी बातें भी उन्हीं के समान समय के प्रवाह और समाज द्वारा दूर फेंक दी जायेगी। 'स्साले', 'खुदक्का', 'चिपचिपी', 'कडम', 'गाउदी', 'चुपबे हरामी' जैसे शब्द एव सबोधन आज कामन यूज में चल रहे है । अधिकांश उपमान अछूते, प्रसगानुरूप और सटीक हैं । 'राम कीरत' नगे बदन ऐसे लगते गोया साख की सिल्ली हो । 'गरदन, एसी मोटी थी कि खोपडी गोबर में धसे नारियल की अधटूटी कडी कपडी जैसी लगती ।' गाल की चिकनाई को 'रोहू मछली का गलफर', विट्टो को गिलहरी, लहरो का पालतू हिरण, निर्लोम मुड को तितलौकी, मास में धसी आंखों को कटहे बंदर की मुलमुलाती आख जैसे उपमान नवीन होने के साथ ही सामान्य जीवन से ग्रहीत होने के कारण स्थानीयता की सोधी गध से भरे हैं और पूरे दृश्य को बिंबित करते है । 'भीगी रूमाल सहलाना' और 'गले मे बबूल के कांटे उगना' जैसे मुहावरे लेखकीय सजगता और अनुसंधानात्मक दृष्टिकोण के परिचायक हैं। संवाद एकदम स्वाभाविक, चुस्त और पात्रानुरूप है । युवकों तथा युवतियों के संवादो मे चुहलपंती आक्रोश और व्यग्य का स्वर है तो बुड्ढो मे सरलता । आरती और रामानद के कथन में एक-दूसरे की करतूतो पर व्यग्य किया गया है । – 'अरे वाह रे मिट्टी के शेर, तू तो पैरो में चक्की बांधे लंका और अस्सी की सडको पर कुदक्के लगाएगा ।' भाषा मे ध्वन्यात्मकता आद्योपात विद्यमान है ।

पैसे की झनझनाहट, जूते की आवाज को टापक टोप, हसी की ध्वनि के लिए हो-हो-हो, डुग्गी की आवाज को डेडेंग्-डेडेग, डेग द्वारा व्यक्त किया गया है । इसी प्रकार ढाकी, डाक, ढोल, घट और शख की ध्वनि को भी शब्दों मे बांधने में अद्भुत सफलता मिली है । ध्वनि के साथ ही रंगों एव दृश्यों की योजना लेखकीय अभिरुचि और सजगता के परिचायक है। नीला, केशरिया, जाफरानी आदि रगो में से कौन किसके साथ मैच करता है, इसका उल्लेख गरबा नृत्य के समय दिखाया गया है। मडप की सजावट, सरसो, मटर के फूलो एव जौ के खेतों के दृश्य, गगा की लहरों के विभिन्न सीन एवं बाढ के दृश्यों की योजना से उपन्यास की रोचकता और बढी है । उपन्यास का अंत एक गमगीनी से भरा है । जयती से बातचीत के दौरान रामानद इसे स्वयं स्वीकार भी करता है 'मैं ऐसी मिट्टी का बना हू जो अवसाद में ही मन की तृप्ति पाता है ।' अवसाद की यही तृप्ति रामानंद और पाठकों को अंत में मिलती है।

गली आगे मुड़ती है : समाजशास्त्रीय दृष्टि



• डॉ. नंदलाल पांडेय

साहित्य सामाजिक उपज है। साहित्यकार के युगद्रष्टा और युगस्रष्टा दोनो ही रूपों पर समाज की मान्यताओं, विश्वासो, स्वीकृतियो और विचारधाराओ का प्रभाव पडता है। अस्तु उसके अध्ययन में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण और समाजशास्त्रीय विधि का औचित्य स्पष्ट है। लेखक ने पहले ही अनेक बार उपन्यासों और कहानियों के अध्ययन में विषयवस्तु विश्लेषण विधि को लागू किया है। वर्तमान लेख में भी उपन्यास के अध्ययन में इसी विधि को लागू करने का प्रयत्न किया जा रहा है। मेरा निश्चित मत है कि साहित्यकार की विचारधारा समाज की पृष्ठभूमि में विकसित होती है तथा उसकी साहित्यिक कृतियो मे अभिव्यक्ति होती है। मूल्यो से संबंधित प्रमुख दृष्टिकोण लेखक की विचारधारा को स्पष्ट करते हैं। उपन्यास में अभिव्यक्त प्रमुख मूल्यो के आधार पर लेखक की विचारधारा को स्पष्ट करते हैं। उपन्यास मे अभिव्यक्त प्रमुख मूल्यों के आधार पर लेखक की विचारधारा को स्पष्ट किया जा रहा है।

आंचलिक उपन्यास

प्रस्तुत उपन्यास एक आंचलिक उपन्यास है, और वह बनारस की पृष्ठभूमि में लिखा गया है। बनारस की गलियां, मदिर, मठ, गंगा की बाढ एव विश्वविद्यालय के प्राध्यापक और छात्र, उनके आपसी संबध, समस्याए तथा धार्मिक विश्वास उपन्यास की प्रमुख विषयवस्तु है।

नगर की सांस्कृतिक संरचना

अन्य भारतीय नगरों की भाति बनारस का संस्कृति का भी आधार धार्मिक है, क्षेत्र की भाषा भोजपुरी है। आधुनिक बनारस नगर शिक्षा द्वारा बंगाली, गुजराती और भोजपुरी समुदायों के लोगों को आकर्षित करता है। बंगाली समाज का प्रतिनिधित्व

प्राध्यापक सुबोध भट्टाचार्य और उनकी बहन जयंती करती है। किरन का परिवार गुजराती है। नायक भोजपुरी समाज का सदस्य है, जो शिक्षा द्वारा अपने उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में प्रयत्नशील है।

बनारस का चित्र, मठों, साधु और सन्यासियों के बिना अधूरा ही रहता है। उपन्यास में वर्णित राजेश्वरी मठ नायक का निवास स्थान है। मकान मालिक रामकीरति दास, रजुल्ली, जमुनादास, बाबा कामेश्वर नाथ विभिन्न प्रकार के संत महात्माओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपन्यास में मठ व होटल अपराधियों के स्थल के रूप में चित्रित किये गये हैं।

समाज वैज्ञानिक भी मानते हैं कि अंग्रेजी केवल 1% की भाषा है अतः सारे समाज पर इसे लादा जाना उचित नहीं है। अग्रेजी भाषा हटाओ आदांलन रोजगार बढाने की समस्या से जुडा है। प्रोफेसर भट्टाचार्य का कथन है कि "सवाल देश की जनता में समझ का अभाव है, भाषा का नहीं। विचारणीय प्रश्न है कि अंग्रेजी के प्रयोग से जनता की समझ बढ़ेगी या हिंदी के प्रयोग से।" लेखक का भोजपुरी आग्रह इस प्रश्न को महत्त्वपूर्ण नही मानता। शीघ्र ही लेखक अपनी विचारधारा पर आ जाता है। उसके अनुसार "छात्र आंदोलन की अतिम मांग होती है, पी ए सी हटाओ क्योकि पी ए सी. छात्रो पर लाठी और गोली चलाती है परतु कभी-कभी परिस्थिति बदल जाती है तथा पी ए सी छात्रो पर गोली चलाने से इकार कर देती है। लखनऊ का पी ए सी विद्रोह इसका उदाहरण है। ऐसी परिस्थितिया समाजशास्त्रियों एव साहित्यकारो के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि वे हिंसा की आत्मघाती प्रवृत्ति को स्पष्ट करती हैं। संचार अनुसंधान के लिए यह विषय महत्त्वपूर्ण है कि पी ए सी का मानसिक परिवर्तन किस प्रकार की संचा-प्रक्रिया का परिणाम है। जन-आंदोलन मे हिसा का प्रयोग करनेवाला पक्ष बदनाम और अतत पराजित होता है। समाजशास्त्र आदोलनो की गहन व्याख्या करता है। जन-आदोलन एक नयी राजनैतिक शक्ति के रूप में उभरते हैं जैसे असम के छात्र नयी राजनीतिक शक्ति के रूप मे उभर रहे है। जिनका नारा है 'सेव असम टु-डे, टु सेव आल इडिया टुमारो।' अर्थात्, छात्र शक्ति सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक है।

धर्म का बदलता हुआ स्वरूप

उपन्यास का बनारस न तो काशी वास करनेवालों का बनारस है और न धर्म को, परलोक को सच्चा साथी माननेवालों का ही है। उपन्यास के नायक में व्यक्ति का आधुनिक रूप दिखायी देता है। वह प्रथम श्रेणी एवं प्रथम स्थान प्राप्त कर विश्वविद्यालय की प्राध्यापकी एवं सुखी पारिवारिक जीवन की अभिलाषा रखता है। प्रथम स्थान न पाने पर उसकी धार्मिकता भी समाप्त हो जाती है। जनेऊ तोड़कर

वह अपने क्रोध को व्यक्त करता है। स्पष्ट है कि आज धर्म पारलौकिक न रहकर इस जीवन की सफलता का साधन मात्र रह गया है। सही अर्थों मे वह केवल अच्छे समय का साथी (गुड वेदर फ्रैंड) ही रह गया है।

मार्क्सवाद की आलोचना

उपन्यासकार का मत है कि मार्क्सवाद में आस्था हो ही नहीं सकती। जो वस्तु जिदगी में हाथ की तरह तुम्हारी न लगे, उसमें आस्था कैसे होगी। प्रतीत होता है कि भौतिकवादी तर्क से ही भौतिकवादी दर्शन को काटा जा रहा है परतु यह विश्वास भी तो हाथ की तरह भौतिक नहीं है कि बुद्धि द्वारा सुझाये गये मार्ग पर चलकर गली आगे मुडती है। अंत मे नायक स्वयं आगे बढने का फैसला नही करता वरन् अपने घर की गली में आ जाता है, लगता है जीवन की प्रत्येक गली पीछे ही मुडती है। नायक का आगे की ओर न बढना किसी प्रेरणा का सकेत नहीं करता। इसी प्रकार प्रो सुबोध भट्टाचार्य का यह कथन भी तर्कहीन लगता है कि "मैं इतना मूर्ख नहीं हू कि तुमसे साम्यवाद मे आस्था रखने की अपील करू।"

लेखक को इस प्रवृत्ति पर खेद है कि आज का साहित्यकार अध्यापक इतना बुद्धिजीवी और कायर है कि वह युवा समस्याओ से अपने को जोडने मे भय का अनुभव करता है। इसका कारण यह है कि बुद्धिजीवी वर्ग क्रांतिकारी परिवर्तनो से अपनी असुरक्षा अनुभव करता है इसीलिए प्रशासक और बुद्धिजीवी युवा वर्ग को समस्याओ के प्रति गुमराह करते रहते हैं। समाज से न जुडना समस्याओ के प्रति उदासीनता उत्पन्न करता है। इस उदासीनता को साम्यवाद दूर करता है जो व्यक्ति को समाज और कार्य से पुन जोडता है। साम्यवादी बुद्धिजीवी अपने को छात्र समस्याओ और आंदोलनो से जोडते रहे हैं, इससे छात्रों में उनकी प्रतिष्ठा अधिक रही है। उदाहरणार्थ 1954 मे लखनऊ विश्वविद्यालय मे छात्र सघ को ऐच्छिक बनाने के प्रशासकीय निर्णय के विरोध में जो छात्र आंदोलन हुआ था उसके विषय मे प्रो डी पी मुकर्जी ने विदेश में होने के कारण अपने साथी प्राध्यापक को पत्र द्वारा इस विषय मे जानकारी प्राप्त की थी। स्पष्ट है कि सामाजिक सरोकार भी व्यक्ति को समाज में संघर्ष करनेवाले वर्गों से जोड़ता है। इस चेतना का मार्क्सवादी विचारधारा से सबंध स्पष्ट है जिसकी आलोचना उपन्यासकार ने की है।

उपन्यास मे इस तथ्य का उल्लेख हुआ है कि कांग्रेस सरकार के जन-विरोधी स्वरूप के कारण ही जनता उसका विरोध करने लगी और आंदोलन द्वारा अपने विरोध को प्रकट करने लगी।

उपन्यासकार के अनुसार, "जीवन की गली तब आगे मुड़ती है जब कोई पात्र (नायक की बहन बिट्टो) जब वह अपनी बुद्धि के अनुसार चलने का प्रयत्न

करता है। बुद्धिवाद के कारण ही उपन्यास का गरीब नायक अपनी पसंद की लडकियां जयंती और किरण को घर नहीं ला पाता क्योकि दोनों ही धनी परिवारों मे पली है।"

विश्वविद्यालय की राजनीति

विश्वविद्यालय के अनेक प्राध्यापक केवल इसलिए कुछ छात्रो को कम अक देते है क्योकि उनका अनुमान है कि वे उनके विरोधी प्राध्यापको के प्रिय छात्र हैं। उपन्यास का नायक भी इसी राजनीति का शिकार है। इस कारण उसके प्राध्यापक भट्टाचार्य भी परेशान होते है और कहते है, इसका कारण अध्यापकों में ही एंक-दूसरे के प्रति डाह है और एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए हर तरह की पेशकश कर सकते है परिणामस्वरूप छात्रों द्वारा प्राध्यापको का घेराव यूनिवर्सिटी के केरिकुलम का एक अनिवार्य भाग हो गया है।

बल प्रयोग द्वारा समस्या का समाधान

नायक अपने छात्र दोस्तो को बुलवाकर अपने मकान मालिक बाबा रामकीरति दास की पिटाई करता है। रामकीरति दास ने स्वय अपने विषय मे कहा था, "मै गुडो के लिए गुडा हू, बहुत जुल्मी गुंडा। बनारस मे रहते हुए मुझे तीस-बत्तीस साल हो गये हैं। हमने यहा खाली मंदिर की सफाई और ठाकुरजी की आरती ही नहीं की है।"

गुडा हमारी नगरीय सस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। केवल काशी ही नहीं कानपुर और लखनऊ भी गुडो के लिए विख्यात है। समाजशास्त्रीय शब्दावली मे गुडा या रफियन्स हमारे औद्योगिक समाज मे मिल मालिको की दमनकारी नीतियो को लागू करते है। अत फिरोजाबाद जैसे छोटे औद्योगिक केद्रो मे भी विकसित हो रहे है। आधुनिक गुडा कानून भी जानते है। उपन्यास का नायक दरोगाजी को रामकीरति दास के स्वामित्व या उत्तराधिकार के पत्र दिखाने को कहता है, जो उसके पास नही है, परिणामस्वरूप कानून की नजरो मे रामकीरति दास भी गुडागिरी का अपराधी बन जाता है।

रेस्तरां और होटल

रेस्तरां केवल चाय पीने का स्थान मात्र नहीं है। वहा छात्र राजनैतिक चर्चाएं करते हैं। खाली समय आनंद से बिताते हैं, वाद-विवाद होते है, जिसमें मैत्री संबंध टूटते हैं। प्रत्यक्ष रूप होटल फिलाडेल्फिया में खाने-पीने तथा नाचने की सुविधाएं है परतु इसका मालिक खतरनाक गुंडा है। हत्या करता है। अपहरण और बलात्कार

से भी संबधित है। उसमें स्मग्लिंग करनेवाले भी संरक्षण पाते हैं। होटल में मनमानी करनेवालो की पिटाई की भी व्यवस्था रहती है। उपन्यासकार के अनुसार होटल वेश्यावृत्ति एवं सभी प्रकार के अपराधों का गढ है।

पुलिस के दो रूप

एक रूप कानून समझनेवाले परोपकारी समझदार एव जुआ, वेश्यावृत्ति पर छापा डालनेवाले पुलिस कर्मियों का है। उन्यासकार के अनुसार कुछ भ्रष्ट भी है जो ईमानदार और कर्मठ पुलिस कर्मियों पर डाके का झूठा आरोप लगा देते है। छात्र आदोलन के संदर्भ मे पुलिस का यही पक्ष उजागर होता है क्योकि वह शातिपूर्ण छात्र प्रदर्शनकारियों को घेरकर मारते हैं घरो से अकारण पकडते है। प्रदर्शनकारी छात्रों पर अश्रु गैस के गोले फेकते हैं तथा लाठी बरसाते है। पुलिस और सेना का यह रूप केवल भारत मे ही नहीं वरन् साम्यवादी चीन में भी दिखायी देता है।

निर्माण विभाग का भ्रष्टाचार

उत्तर प्रदेश का निर्माण विभाग अपने अविवेकपूर्ण निर्णय से 13 करोड रु. का अधबना बाध बरसात मे बहने को छोड देता है। ईमानदार ऑडिटर को झगड़ा करने का आरोप लगाकर निकाल दिया जाता है। दफ्तरो का सिद्धांत है कि चुपचाप सब देखते जाओ बोलने का परिणाम बर्खास्तगी है।

बाढ के रूप मे उपन्यासकार ने सारे देश को गदे पानी से घिरते हुए देखा है। एक अन्य स्थान पर समझौते को भारतीय जीवन का मुख्य सिद्धात कहा गया है।

जीवन का सरस पक्ष

छात्र राजनीति से सबधित होते हुए भी उपन्यास सरस है। नायक के दो प्रेम-प्रसंगों के साथ उसकी बहन का अपने प्रेमी के साथ स्वेच्छा से पलायन के अतिरिक्त हरिमगल तथा रजुल्ली के प्रेम-प्रसग भी है। दशहरा और दीपावली गुजराती के गरबा नृत्य का सुदर चित्रण है। नायक के लिए पंचकोसी की परिक्रमा पिकनिक जैसी ही है। सारनाथ मे भी नायक की पिकनिक तथा रगरेलियों का ही चित्रण है। उपन्यासकार ने रगो से संबंधित भारतीय विचारों को भी स्पष्ट किया है।

उपन्यासकार ने हिंदी के बारे में आपत्तिजनक शब्द कहे। उसका नायक कहता है, हिंदी किस साले की भाषा है। स्पष्ट है कि हिंदी की उपेक्षा का कारण क्षेत्रियता है। जिस क्षेत्रियता ने ऐसी कलात्मक कृति को जन्म दिया है। वहीं क्षेत्रवाद

जैसी राजनैतिक बुराई को भी जन्म दे सकता है। आलोचक को इस परिणाम से विशेष चिंता है।

नायक की सहिष्णुता एवं उदारता

नायक रामानद तिवारी उच्च ब्राह्मण जाति का है फिर भी वह नाविक झुरी तथा हरिजन परिवार में खानपान के निषेध को नही मानता। नाविक को समान मानकर उससे परिहास भी करता है, जैसे बतलाता है कि उसकी पतनी रात गिर गयी। रामानद प्रश्न करता है–"हड्डी तो नहीं टूटी ?" नाविक का उत्तर है–"हम कौनो हड्डी के दाकदर हैं।" नायक का प्रश्न होता है–"तो आप किस चीज के डॉक्टर है।"

माथुर द्वारा बहन का अपहरण एव गुप्त रूप से आर्यसमाज में विवाह करने पर पहली बार मा से मिलने पर चरण स्पर्श के लिए आगे बढने पर मां झड़कती है –"मुझे छू मत कलकिनी !"

मा के डर से नायक अपनी छोटी बहन से बाद में भी चोरी से मिलता है। नायक रामानद स्नेह का भूखा है, इसी कारण बक्कड गुरु की पत्नी से राखी बंधवाता है। बहन से उपहार मे घडी प्राप्त करता है। नायक पिता के स्नेह से भी वंचित है। (पृष्ठ 5)

होटल फिलाडेल्फिया का मालिक बक्कड गुरु खतरनाक एव होशियार अपराधी है। हर बार वह पुलिस की पकड से बच जाता है। उसकी जमानत होती है और नये शरीर में नये नाम से अपराध का धंधा प्रारभ करता है।

नायक रामानंद में हिम्मत की कमी है। छात्र-पुलिस संघर्ष के बाद प्रारंभ होनेवाली धर-पकड के समय पकड से बचने के लिए किरण के घर कई रातें बिताता है। इस कठिन अवसर पर झुरी सदैव सहायता के हेतु तत्पर रहता है।

परीक्षा मे प्रथम न आने पर मा भी रुष्ट होती है और कहती है–"मैंने तुम्हें खून पिलाकर पाला है, नदू !" उसका क्रोध स्वाभाविक ही है, क्योंकि वह अपने गहने बेचकर नदू को पढा रही है। आगे की पढाई के लिए वह अपना सुहाग चिह्न टीका भी बेचना चाहती है। इस विषम परिस्थिति मे माता-पुत्र दोनो ही बिलखकर रो उठते हैं। (पृष्ठ 46-47)

परपरावादी भारतीय परिवारो से पिता से स्नेह कम और प्रताडना ही अधिक मिलती है। विमाता होने पर चरित्र पर भी सदेह किया जाता है। परिणामस्वरूप घर से पलायन होता है। घर से भागा हुआ युवा विधवा की काम वासना का शिकार बनता है। ग्लानि मे आत्महत्या का प्रयत्न करता है। अच्छे साधु द्वारा बचाया जाता है जो उसे समझाता है कि आत्महत्या करने पर तो लोक-अपवाद सिद्ध हो जायेंगे।

उपन्यास के प्रारंभ में ही नायक को अजनबी साधु से भय होता है। मकान

मालिक महत की मा पर बुरी नजर ही नायक को उत्तेजित करती जिससे झगडा होता है तथा नायक छात्र मित्रो द्वारा महत की पिटाई कराता है।

पुनः छात्र राजनीति

विश्वविद्यालयो की छात्र राजनीति दलो की राजनीति है। इस राजनीति में व्यक्ति का महत्त्व नहीं है। छात्र नेता के लिए छात्रा का बलात्कार भी महत्त्वपूर्ण समस्या नहीं है, इसीलिए छात्र नेताओ के प्रति नायक का आक्रोश इस प्रकार व्यक्त हुआ है, "...सब नकली और बहुरूपिया है...इन चीजो पर ध्यान देने की फुरसत नहीं है।" (पृष्ठ 206)

सैद्धातिक स्तर पर छात्र राजनीति बडी ही महत्त्वपूर्ण है। फ्रास मे नेताओ ने इसे दक्षिणपंथी और वामपंथी अपवादो से बचाते हुए आगे बढाया है। वास्तविक स्तर पर छात्र आदोलन टुच्ची चीज है। (पृष्ठ 109) यूनिवर्सिटी से बाहर रहनेवाले लोग हमारे ऊपर अधिनायकवाद लाद जाते है। छात्र राजनीति मे अनेक गतिरोध भी है। छात्रो मे फूट भी जल्दी पडती है। छात्रो की नैतिकता भी गतिशील होती है। इससे भी समस्याए उत्पन्न होती है। छात्र नेता मानते है कि राजनीति में नैतिकता के पुराने आदर्श मत लाओ, यहा सब चलता है। सभय के अनुसार सब करना पडता है। (पृष्ठ 263) नैतिक विचारो की कमी के कारण प्रतिबद्धता ढोग मानी जाती है। सब कुछ करने की तत्परता में समझौते के सिद्धात को व्यापक मान्यता दिलाई है। उपन्यासकार के अनुसार, "समझौता हिदुस्तान का असली नारा बन गया है।" (पृष्ठ 232) छात्र राजनीति, पाठ्यक्रम मे परिवर्तन तथा रोजगार की माग को समर्थन देती है। चिता का विषय है कि छात्र आदोलन उग्र होते जा रहे हैं जिसमे शांति प्रिय छात्रो का मुख्य राजनैतिक विचारधारा से असहमत होने के कारण प्रभावहीन बनाया जा रहा है।

उपन्यासकार ने यह भी घोषणा कर दी कि मार्क्सवाद रूस मे असफल हो गया। अधिनायकवाद के दुष्परिणाम मार्क्सवाद को पूरी तरह असफल नहीं सिद्ध करते। पूजीवाद मे श्रमिको का शोषण, के बढने की प्रवृत्ति, श्रमिको के सगठन और विरोध की प्रवृत्तियां आज भी मार्क्सवाद की जीवंतता को सिद्ध करती हैं अत सपूर्ण मार्क्सवाद को असफल मानना वास्तविकता के अनुरूप नहीं है।

उपन्यास में उठायी गयी यह समस्या निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है कि 16 करोड की सख्यावाला छात्र समूह एव उसका निदेशन करनेवाला अध्यापक और बौद्धिक वर्ग सही राह क्यो नहीं पहचान पाते। अपनी राह स्वय न बनाकर राजनीतिज्ञों और प्रशासको से निर्देशित होना उनकी शिक्षा का अपमान है। यह सत्य है कि बौद्धिक वर्ग मे भी अविश्वास और दिशा भ्रम है, परतु सही रास्ते की खोज संभव है। विभिन्न मे एकता के दर्शन पर आधारित समाजशास्त्र भी दिशा ज्ञान करा

सकता है परतु संशय, विवाद और आस्था की कमी और संगठन की समस्याएं तो हैं ही।

लेखक के इस मत से सहमत होना आवश्यक नहीं है कि क्षेत्र विशेष में रहने के कारण सभी व्यक्तियो का क्षेत्रीय संकीर्णता से सहमत होना चाहिए। व्यक्तियो को राष्ट्र भाषा हिंदी और राष्ट्रीयता से जुड़ा होना कहीं अधिक उपयुक्त है। उपन्यास मे सुबोध भट्टाचार्य कहते हैं कि "मैं हिंदी में पढता हू, हिंदी बोलता हू, यही नहीं भोजपुरी की सडक पर जीता हूं।" (पृष्ठ 191, एडीशन 1973)। वह देश के किसी भाग मे बसते हों भोजपुरी का अधिकार अनावश्यक माना जायेगा। स्पष्ट है कि लेखक ने अपना आग्रह पात्र पर लाद रखा है। उसकी निष्ठा बंगाली भाषा के प्रति भी तो हो सकती है।

संदर्भ

दासगुप्ता, ए के (1975) 'ए नोट आन काटेन्ट एनालिसिस' सोसियालॉजिकल बुदेटिन, वर्ष 14, अक 1

पाडेय, नदलाल (1966) विषयवस्तु विश्लेषण समाजशास्त्रीय विधि गवेषणा अग, 10 सितबर, 1966

पाडेय, नदलाल मिश्र तथा श्रीमती चदकिशोरी (1974) 'हिदी कथा-साहित्य मे बदलते हुए परिवार का चित्रण', समाज 1973-1974

पाडेय नदलाल (1989) 'साहित्य का समाजशास्त्रीय महत्त्व समाजशास्त्रीय समीक्षा', सपादक डा वी डी गुप्ता, सीता प्रकाशन, हाथरस।

नर्टन, राबर्ट के (1968) 'सोशल थियरी एड सोशल स्ट्रक्चर'—अमेरिंड पब्लिशिंग, दिल्ली।

मुकर्जी डी पी (1942) 'सोशल बैकग्राउड आफ लिटरेचर', इडियन कल्चर नामक पुस्तक मे हिद किताब बाबे।

मुकर्जी डी पी. (1958) 'सोसियालॉजी आफ इडियन लिट्रेचर' डाइवर्सरीज मे, प्रकाशक—पीपुल्स पब्लिशिग हाउस, दिल्ली।

नाथ, महेद्र (1981) औद्योगिक नगर मे अपराध फिरोजाबाद के परिप्रेक्ष्य मे, 'क्राइम इन इडिया' नामक विचारगोष्ठी, आयोजक—समाज विज्ञान सस्थान, आगरा 16-18 अक्टूबर (1981)

सिह बी पी (1967) सपादक 'सोशल एड इकॉनॉमिक चैंज', एलाइड पब्लिशर्स, बाबे।

सिह, शिवप्रसाद 'गली आगे मुड़ती है' प्रथम सस्करण (1973) 'गली आगे मुडती है', द्वितीय सस्करण नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली

हार्टय, जॉन (1974) डी ह्यूमनाइजेशन ऑफ एनामी एड एवीनेश 'ब्रिटिश जर्नल ऑफ सोसियालॉजी।'

युवा-विद्रोह पर शिव का तीसरा नेत्र : गली आगे मुड़ती है

• डॉ. जवाहर सिंह

'गली आगे मुडती है' (1973) शिवप्रसाद सिह का दूसरा उपन्यास है। अपने प्रथम उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' (1967), मे इन्होंने 'करैता' गाव को केंद्र मे रखकर स्वतत्र्योत्तर भारत के ग्रामीण यथार्थ का एक मुकम्मल चित्र प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास मे स्वतंत्रता के बादवाले वर्षों मे भारतीय ग्रामीण जीवन की बाहरी और भीतरी सतहों मे आये उभाडों और पडी दरारों का, उसके सामाजार्थिक परिवर्तनो और मूल्यगत ह्रास का तथा मोहभग, हताशा एव सांस्कृतिक अवमूल्यन का बडा ही सूक्ष्म, विश्वसनीय और आत्मीय चित्रण हुआ है। 'अलग-अलग वैतरणी' का 'करैता' गाव अपनी वैयक्तिक विशिष्टताओं के साथ-साथ स्वतंत्र्योत्तर भारत के सामान्य गावो का उसी तरह प्रतीक बन गया है जिस प्रकार 'गोदान' का बेलारी गाव। उस प्रथम उपन्यास ने ही शिवप्रसाद सिंह को हिंदी के गंभीर और सामाजिक चेतना-सपन्न उपन्यासकारों की प्रथम पक्ति में ला बैठाया था। इस उपन्यास को पाठको और आलोचको ने बडी गंभीरता से लिया था और इसका प्रेमचंद की ग्रामीण चेतना के विकास क्रम मे रेणु के 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' की परपरा मे शुमार किया गया। रेणु के इन उपन्यासो में लेखकीय निसंगता एव असंपृक्तता के कारण जिस संवेदनात्मक आत्मीयता तथा वैचारिक जुडाव का अभाव महसूस किया गया था 'अलग-अलग वैतरणी' ने बहुत हद तक उसी की पूर्ति कर दी थी।

'गली आगे मुडती है' स्वतंत्रता के बादवाले युग की एक अहम् राष्ट्रीय समस्या (अतर्राष्ट्रीय भी) युवा असंतोष, युवा-आक्रोश या युवा-विद्रोह को समर्पित है। एक संवेदनशील समाजचेता कथाकार होने के नाते शिवप्रसाद सिंह ने इस उपन्यास मे अपने समय की चुनौतियो के रू-ब-रू होने का खतरा मोल लिया है। विश्वविद्यालय के एक जागरूक अध्यापक के नाते तथा अपने व्यापक सामाजिक सरोकारों के चलते प्रो सिंह आज के युवावर्ग (एक संगठित शक्ति के रूप में

छात्रवर्ग) की बहु-आयामी समस्याओं, उसकी गतिविधियों तथा आंतरिक बाह्य सघर्षों से एक लबे समय से परिचित रहे हैं। अतः यह स्वाभाविक था कि शिक्षक शिवप्रसाद सिंह का कथाकार इस राष्ट्रव्यापी युवा-विद्रोह से आहत-आंदोलित हो और इस पर अपनी रचनात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करे।

सातवें दशक के अतिम कुछ वर्षों में (सन् 1966-67) संपूर्ण भारत में अंग्रेजी और हिंदी की स्थिति और भविष्य को लेकर एक राष्ट्रव्यापी भाषायी आंदोलन शुरू हो गया था जिसमें दक्षिण के हिंदी विरोध की प्रतिक्रिया में उत्तर में अंग्रेजी विरोध की भावना उग्र रूप धारण कर चुकी थी। एक तरफ जहां हिंदी विरोध का मुख्य केंद्र तमिलनाडु का मद्रास नगर था, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी विरोध का मुख्य केंद्र उत्तर भारत की आदिम सांस्कृतिक धार्मिक नगरी वाराणसी थी।

अंग्रेजी हटाओ आंदोलन के मुख्य केंद्र के रूप में वाराणसी में घटित घटनाएं-दुर्घटनाएं तथा इस आंदोलन के दौरान पैदा हुए कई तरह के सामाजिक-राजनीतिक-नैतिक सवाल और अंततः इसकी दुखात परिणति ने ही सभवतः शिवप्रसाद सिंह को वह अवसर और मसाला दिया जिसके बहाने वह इस राष्ट्रव्यापी युवा-विद्रोह पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकें। 'गली आगे मुड़ती है' इसी प्रतिक्रिया की रचनात्मक परिणति है।

उपन्यास के प्रारंभ मे आयोजित 'नुक्कड सभा' (भूमिका) में उपन्यासकार ने इस बात की स्पष्ट घोषणा भी की है कि "युवा-आक्रोश पूरे समाज में फैली वस्तु है और उसको ठीक से समझने के अभाव में न तो उसका सही निदान हो पा रहा है और न उसे सही दिशा देने की कोई सार्थक काशिश।...आप पूछेंगे कि क्या इस उपन्यास मे ऐसी कोई कोशिश है ? उत्तर है, जी नहीं। मुझे इस तरह का कोई मुगालता नहीं है कि जिस समस्या से पुरानी पीढ़ी के बौद्धिक बुरी तरह से टकरा रहे हैं, उसके समाधान का मैंने रास्ता पा लिया है। बस, यह उपन्यास युवा-आक्रोश की नाना-शक्लों से यदि आपको घनिष्ट रूप से परिचित करा सके तो लेखक का श्रम सार्थक है।

उपन्यासकार की इस साफगोई और ईमानदारी की प्रशंसा की जानी चाहिए कि उसने युवा-आक्रोश का कोई निदान देनें में अपनी असमर्थता को साफ शब्दों मे स्वीकार लिया है। लेकिन क्या यह उपन्यास युवा-आक्रोश या युवा-विद्रोह की नाना-शक्लो से घनिष्ट रूप से परिचित कराने के लेखकीय दावे और वायदे को भी पूरा कर सका है ? माना कि युवा-आक्रोश के सगत कारणों की पड़ताल करना सरल नहीं है (हालाकि युवा-विद्रोह केंद्रित उपन्यास लिखने का संकल्प करके चलनेवाले शिवप्रसाद सिंह जैसे गंभीर लेखक से सहज ही आशा बंधती है कि वह जड को बिलकुल छोडकर केवल शाखाओं और पत्तों पर ही अपना ध्यान केंद्रित नहीं करेंगे) फिर भी क्या युवा-विद्रोह जैसे संवेदनशील विषय पर व्यापक परिप्रेक्ष्य

में विचार करते समय इसके कारणों या इसके पीछे क्रियाशील शक्तियों को पूरी तरह नजरअंदाज करना संभव है ?

यह ठीक है कि 'गली आगे मुड़ती है' अर्थात् युवा-विद्रोह की समस्या यहीं समाप्त नहीं हो जाती...इतने ही पर रुक नहीं जाती, लेकिन यह गली मुड कर जाती कहां है...किस दिशा मे...किस मोड़ या मुकाम पर ? उपन्यास पर विचार इसी बिंदु से किया जाना चाहिए। क्या यह मुकाम कथानायक रामानंद तिवारी का नपुसक पलायन है या हर तरह के अन्याय भ्रष्टाचार के विरुद्ध करनेवाले उपन्यास के जुझारू पात्र हरिमंगल की नृशंस हत्या है या बलात्कार की शिकार हरिजन कन्या रज्जो की घुटन मे पलता प्रतिशोध है या फिर आदर्शवादी संस्कृत प्राध्यापक सुबोध भट्टाचार्य की रहस्यमय चुप्पी में घुटता समझौतावाद है अथवा तथाकथित आधुनिक नारी जागरण की प्रतीक बंगाली बाला जयती का करुण पराभव और रूमानी किरण की पारपरिक विवशता है ?

वस्तुत: शैतान की आंत की तरह कभी न खत्म होनेवाली इस बनारसी गली में कदम रखने के पहले अगर उपन्यासकार द्वारा आयोजित 'नुक्कड सभा' मे कोई उसका भाषण न सुने तो पूरी गली का चक्कर लगा लेने के बावजूद उसे इस बात का पता ही न चलेगा कि इस गली मे युवा-आक्रोश या युवा-विद्रोह की नाना शक्ले दिखायी जा रही है अथवा युवा-रोमास की इद्रधनुषी छवि ! अंग्रेजी हटाओ आदोलन के दौरान वाराणसी के छात्रो के साथ पुलिस मुठभेड का दृश्य (मात्र आठ-दस पृष्ठों में वर्णित) तथा राजेश्वरी मठ के पुजारी का छात्रों द्वारा पिटाई समारोह और हरिमगल द्वारा होटल फिल्डेल्फिया मे चलनेवाले काले धधों के रहस्योद्घाटन जैसी छोटी-मोटी दो-चार घटनाओ या प्रसंगो के अतिरिक्त इस उपन्यास मे युवा-विद्रोह की कोई शक्ल कहीं दिखायी ही नहीं देती। अगर रज्जो के साथ हुए बलात्कार, आरती का घर से भागकर माथुर के साथ विवाह कर लेना, प्रो भट्टाचार्य को दो छात्रों द्वारा धमकी देने और कथानायक रामानद का एक ही साथ दो-दो छात्राओ से रोमास करने को भी युवा-विद्रोह में ही शामिल कर लिया जाये तब शायद इस उपन्यास मे युवा-विद्रोह की कुछ अधिक शक्ले दिखायी दे सकती है। किंतु क्या इन या ऐसी आम घटनाओ को युवा-विद्रोह मे शामिल करना 'विद्रोह' शब्द का मजाक उडाना नहीं होगा ?

सारी समस्या उपन्यास के आरभ में की गयी 'नुक्कड़-सभा' में लेखक द्वारा दिये गये भाषण या किये गये वायदे के कारण ही उत्पन्न होती है। अगर इस उपन्यास में युवा-आक्रोश की नाना-शक्ले दिखाने का वायदा उपन्यासकार नहीं करता तो आज के विद्यार्थियों की भटकन, जीवनगत विसगतियां, घुटन, टूटन, दिशाहीनता तथा युवकोचित रूमानी प्रवृत्तियों—आवेग, भावुकता आदि के चित्रण के परिप्रेक्ष्य मे इस उपन्यास की अपनी उपलब्धियां भी अपने आपमें कुछ कम नहीं

थी। इस दृष्टि से इस उपन्यास को जो सम्मान और स्थान मिलता वह कुछ कम न होता। लेकिन नुक्कड-सभा में की गयी लेखकीय घोषणा ने न केवल इस उपन्यास की उद्देश्यपूर्ण सार्थकता पर ही प्रश्न-चिह्न लगा दिया है वरन् उपन्यासकार की भटकन को भी उजागर कर दिया है।

'गली आगे मुड़ती है' के केंद्र मे एक ऐसे लिजलिजे व्यक्तित्ववाले बिना रीढ के महत्त्वाकांक्षी युवा विद्यार्थी रामानद तिवारी को रख दिया गया है जो एक ही साथ क्लासिक भी बनना चाहता है और आधुनिक भी। वह वशगत-जातिगत आभिजात्य से भी ग्रसित है और परपरा भजक बनने का स्वांग भी करता है। मूलतः भावुक और रोमानी तबीयत का होते हुए भी यथार्थवादी बनने का उसका प्रयत्न उसके व्यक्तित्व को और अधिक विद्रूपित कर देता है। वस्तुत· रामानद को लेखकीय सहानुभूति की मजबूत वैसाखी का सहारा तो भरपूर मिला है किंतु इसे प्राप्त कर वह पाठको के भीतर अपने प्रति सहानुभूति ही जगा पाया है, उनका विश्वास नही अर्जित कर पाया है।

यही कारण है कि इस उपन्यास से गुजरते हुए हर कदम पर यह चीज खटकती रहती है कि उपन्यासकार जिस युवा-आक्रोश और विद्रोह को दिखाना चाहता है उसका उचित संवाहक बनने की क्षमता उस पात्र मे है ही नही, जिससे वह आज की युवा-शक्ति और युवा-मानसिकता का प्रतिनिधित्व कराना चाहता है। आज की विद्रोह युवा-पीढी का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता कुछ हद तक जिस चरित्र के पास थी उस हरिमंगल को तो उपन्यासकार ने एक अवांतर कथा-प्रसग के साथ जोडकर जबरदस्ती कथा-मच से सदा के लिए निकाल बाहर कर दिया है और हीरो का सेहरा उसके माथे पर बाध दिया है जो स्वय अंतर्विरोधों से ग्रसित एक कायर और कोरा बुद्धि विलासी है।

लेकिन एक बात के लिए रामानद (नायक) की तारीफ अवश्य की जानी चाहिए कि उपन्यासकार को भले ही उसमे बडी-बडी सभावनाए निहित होने का मुगालता हो, स्वय उसे अपने बारे मे कोई गलतफहमी नही है। अपने व्यक्तित्व का बडा सही विश्लेषण उसने किया है, "...मै जानता हू कि मै निहायत कायर और बडबोला हू।...मै न्याय का पक्ष लेकर अन्यायी का विरोध नही कर पाता। मासूम पर हुए अत्याचार को देखकर अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए बगल से निकल जाता हू। मेरी आखों के सामने निहायत भद्दे और वीभत्स कुकृत्य होते रहते हैं, पर मै गर्जना करना तो दूर दुम दबाकर खिसक जाता हू।" (पृ 188)

कही ऐसा तो नही है कि उपन्यासकार के मन में आज की विद्रोह युवा-पीढी (विशेषत· छात्रवर्ग) की तथाकथित आधुनिकता, असगत क्रियाकलाप, (कभी-कभी अशोभनीय भी) फैशन के तौर पर ओढ़ी गयी आदोलनधर्मिता और विद्रोह के नाम पर उच्छृखलता के प्रति गहरी खीज है और उसी खीज का शिकार हो गया है

इस युवावर्ग का प्रतिनिधि रामानंद तिवारी। लगता है, जैसे पारंपरिक बोर्ज्वा मूल्यो और आदर्शों की भंजक आज की यह विद्रोही युवा-पीढी ने मर्यादावादी मूल्यवादी लेखक की आत्मा को इतना कष्ट पहुचाया है कि वह क्रोध में आकर उसके चरित्र और चेहरे पर खूब गाढ़ा कोलतार पोत देने की प्रतिज्ञा कर बैठता है। इस विद्रोही युवावर्ग के प्रति लेखक की खीज क्या इस वर्ग के मूल्यांकन के रूप मे जयंती के इन शब्दों में प्रकट नहीं हुआ है, "सारा युवा-आक्रोश सेक्स में ही क्यों सिमटकर रह गया है ? हमारे बंगाली समाज मे भी आक्रोश के नाम पर शराब और सेक्स बस ये ही दो लक्ष्य रह गये हैं।...कोई कवि बनने चला तो बुभुक्षित पीढी के नाम पर सेक्स का शिकार हुआ, चित्रकार बनने चला तो अश्लील, नंगे और भद्दे चित्र बनाने लगा। सर्वत्र एक ही मुद्रा है, जिसके बीच मे अंकित है एक लडकी जो खुर अपने पारिवारिक दबाव के नीचे पिस रही है।"

यही कारण है कि 'गली आगे मुडती है' में लेखक ने युवा-आक्रोश और युवा-विद्रोह के अन्य सारे मुद्दो की उपेक्षा कर केवल सेक्स विद्रोह पर ही अपने को केंद्रित कर दिया है। क्या सचमुच यह सारा युवा-विद्रोह सेक्स के कारण और सेक्स के लिए ही है ? आज की विद्रोही युवा-पीढ़ी और उसके विद्रोह इतने सकीर्ण द्वेषपूर्ण मूल्याकन की अपेक्षा 'गली आगे मुडती है' के लेखक से नही थी।

युवा-विद्रोह का मखौल तो इस हद तक उडाया गया है कि 'युवा-आक्रोश सेक्स मे ही क्यो सिमटकर रह गया है' जैसा नगा दुःसाहसी सवाल पूछनेवाली सुलझे विचारोवाली बगाली युवती जयती को भी रात के अंधेरे में (दो क्षण के ही लिए सही) रामानद के साथ एक ही रजाई के अंदर सुलाकर सत भ्रष्ट कर दिया जाता है ताकि किसी भी युवा-युवती का दामन पाक-साफ न रह सके। केवल इतना ही नहीं हरिमगल जैसे जुझारू-संघर्षशील युवक को भी एक साधारण महरी रज्जो के साथ हमबिस्तर दिखा कर सेक्स की नाली मे ढकेल दिया गया है। लगता है, लेखक एक-एक युवक से गिन-गिनकर बदला लेने पर आमादा है और हर तरह से प्रमाणित कर देना चाहता है कि विद्रोही कही जानेवाली यह सारी की सारी युवा-पीढ़ी भ्रष्ट, दुराचारी, चरित्रहीन, विलासी और गुडा है।

उपन्यास की अतर्धारा में सेक्स का कूडा-कचडा कुछ इस हद तक बहाया गया है कि लगता है यह सारा का सारा समाज यौन-विकृतियों का ही मरीज है। उपन्यास का नायक रामानद स्वयं तो दो-दो लडकियों से एक ही साथ इश्क-मुहब्बत का खेल खेल ही रहा है, उसका भगोडा बाप भी अपनी सती-साध्वी पत्नी की उपेक्षा कर किसी अन्य औरत के चक्कर मे फसा हुआ है। जमनादास साधु की आत्मकथा में भी लेखक न जाने कहां से सोचकर सेक्स का एक प्रसंग निकाल लाता है। बताया गया है कि बेचारे जमुना को भी इसलिए घर छोडकर साधु बनना पडा था, क्योंकि उसके पिता को अपनी जवान दूसरी पत्नी के साथ

अपने बेटे के फंसे होने का संदेह हो गया था।

यह तो है कि विद्रोही कहे जानेवाले आज के युवकों के प्रति लेखक का दृष्टिकोण युवा पीढी की आधुनिक लड़कियां भी उपन्यासकार के कोप की शिकार होने से नहीं बच सकी हैं। आरती के जन्मदिन पर चुन-चुनकर ऐसी लडकियां (आरती की सहेलियां) बुलायी गयी हैं जो अपने हाव-भाव, व्यवहार, आचरण और बातचीत की फूहडता-अश्लीलता के चलते छात्राओं के वेश में काल गर्ल लगती है। क्या वास्तव में आज के युवक-युवतिया, छात्र-छात्राएं इतने नीचे गिर गये हैं या खोज ढूढ कर ऐसे ही चरित्र को लेखक ने आज के छात्र-छात्राओ के प्रति अपनी धारणा को पुष्ट करने के लिए युवा-वर्ग का प्रतिनिधि बनाकर उपन्यास में एकत्र कर दिया है ? मुझे क्या किसी के गले भी यह बात नहीं उतरती कि हमारे देश के तमाम युवक-युवतियो का इतना पतन हो गया है। विश्वास नहीं होता कि यह माहौल उत्तर प्रदेश के एक पिछडे क्षेत्र के शहर वाराणसी और उसमें स्थित विश्वविद्यालयो के उन छात्रों का है जिनका नब्बे प्रतिशत उन पिछडे हुए ग्रामीण क्षेत्रों से आता है, जिनके अभिभावकों को अपना पेट काटकर, खेत बेचकर और औरतो के गहने बधक रखकर उनके हॉस्टलो और लॉजो का खर्च देना पडता है। पता नहीं यह वाराणसी पेरिस और लंदन कब बन गया।

अगर लेखक युवा-आक्रोश और विद्रोह की किंचित असगतियो और भटकावो पर उदार मन से सोचता, पूर्वाग्रह और खीज से मुक्त होकर इन युवाओं की स्थिति पर विचार करता तो शायद इस उपन्यास का रूप कुछ और ही होता और तब इस उपन्यास का नायक रामानद नहीं, आज की युवा मानसिकता का सही प्रतिनिधि हरिमगल होता और उसकी हत्या भी नही होती, वह शहीद होता और उपन्यास के बीच मे नहीं अतिम भाग तक चलकर अन्याय, अत्याचार और भ्रष्टाचार का विरोध करते हुए होता। तब शायद न परिस्थितियो और कारणों का भी बहुत हद तक खुलासा हो जाता जिनके फलस्वरूप आज के युवा के मन में आक्रोश है विद्रोह की ज्वाला सुलग रही है।

उपन्यासकार यह सब नहीं जानता हो या यह उपन्यास लिखते समय उसका ध्यान इन सारी चीजों की ओर नहीं गया हो, यह भी बात नहीं है। वह उन परिस्थितियो और कारणो को भली-भांति जानता है लेकिन कुछ कारणवश (वही जाने) इन चीजों को 'हाई लाइट' करना नहीं चाहता। बस, बौद्धिक बहस मुबाहसे का विषय बनाकर चलता कर देता है। जो चीज घटित होते दिखायी जानी चाहिए, उसे 'टेबिल-टॉक' का जामा पहना दिया गया है और जिन विकृतियों-असंगतियों का मात्र उल्लेख होना चाहिए उन्हीं को 'फोकस' किया गया है।

इसकी पुष्टि छात्र नेता देबू (देवनाथ) और रामानंद के बीच हुई एक बौद्धिक बहस से भली-भाति हो जाती है, जब सब ओर से निराश, टूटा हुआ रामानद गहरे

मनस्ताप के स्वर में देबू से पूछता है, "यह व्हिस्की, ललिता की पार्टियां, शहर के महंगे होटलों का मजा--क्या यह सब भी समाजवादी कार्यक्रम का हिस्सा है देबू ? राजनीति में नैतिकता के पुराने बटखरे मत लाओ देबू। यह ऐसा क्षेत्र है जिसमें वक्त के अनुसार सब करना पडता है। आज वह (छात्रवर्ग) अपनी मजबूरियों के कारण क्षणिक सुविधा और लिप्सा के कारण बिक चुका है। जो नहीं बिके है वे परीक्षाए पास करके बेरोजगारी के पागलपन के शिकार हो रहे हैं। छात्र आज अपने लक्ष्य को ही भूल गया है। वह गिरवी हो गया है।"

"यह विवशता है। सबको युवा-शक्ति से काम निकालना है। नंदू और समाज की बनावट ऐसी होती जा रही है कि अपने को जीवित रखने के लिए उसे किसी-न-किसी की शरण लेनी पडती है। हर पेशे के सत्ता-संपन्न व्यक्ति को 'यूथ' चाहिए। चाहे वे राजनीतिक पार्टियां हो, तस्करी पेशेवाले हो, होटलवाले हो।...ऐसी समाज व्यवस्था मे युवा का नैतिक पतन कौन-सी आश्चर्य की बात है।"

इस वार्तालाप के बीच आज के युवावर्ग के पतन के लिए जिम्मेदार जिन सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक और सत्तात्मक तत्त्वो की ओर दबे जुबान सकेत किया गया है, उनकी गतिविधियो, उनके छुपे हुए हाथो, उनके द्वारा फैलाये जालों का भी कुछ उल्लेख उपन्यास मे होता तो उनके शिकार युवाओ के प्रति पाठको के मन में घृणा के बदले सहानुभूति होती या उनके विद्रोह की सार्थकता समझ मे आती। लेकिन सिवा बक्कड काड के और कुछ भी तो ऐसा नहीं है इस उपन्यास में किरण और रामानद को खुले मे रोमास कराने के लिए सारनाथ ले जाने तथा झूरी की नाव पर नौका विहार करने और हर मौसम मे गगा के बदलते रूप-शृगार का षड्ऋतु वर्णन करने मे उपन्यास के जितने पृष्ठ जाया किये गये है काश। उन पृष्ठो पर कुछ ऐसा होता जिससे रामानद के इस आशावाद को बल मिलता तो शायद यह उपन्यास आज के युवा-आक्रोश, युवा-विद्रोह की सार्थकता प्रमाणित करनेवाला एक सशक्त सार्थक कृति बन जाता।

"प्रतीक्षा करो और देखो। इतना बडा देश मटियामेट होने के लिए नही बना है। हर नदी जैसे अपनी कमर पर वाराणसी जैसी एक आकर्षक नगरी ढोने का ख्वाब देखती है, वैसे ही हर मुल्क अपनी नयी पीढी से पूर्वजो की धरती को सभालने, कूडे को निकालने और ध्वस्त करने तथा नवीन सृजन को सजोने की आशा लगाये रहता है। इतने बडे देश की आशा यों ही चकनाचूर नहीं हो सकती...। ऐसा नही होगा, प्रतीक्षा करो।" (पृ 349)

काश ! इस विश्वास-भरे आशावादी स्वर का सवाहक एक भी चरित्र उपन्यासकार इस कृति को दे पाता।

और अत मे केवल इतना ही कि 'गली आगे मुडती है' की गली मे प्रवेश

करने के पहले अगर आप इसकी नुक्कड-सभा मे दिये गये भाषण सुनने का लोभ संवरण कर लें तो फिर आपको इस उपन्यास से कोई शिकायत नहीं रह पायेगी। गली का भ्रमण बड़ा मजेदार और मनोरजक है। गलियां पार करते हुए गंगा के घाटों पर निकल जाइए, झूरी की डोंगी पर बैठकर विभिन्न ऋतुओं में नया-नया रूप-रग धारण करनेवाली गगा की शोभा देखिए, पंडे-पुजारियों, साधु-संतों के दर्शन कीजिए, सपूर्ण नारी जाति को श्री के रूप में पूजनेवाले राधा-नगर के भक्त जमनादास से प्रेम की पावनता पर प्रवचन सुनिए, लेकिन थोडा सावधान रहिए कि किसी गली के मोड पर आपकी मुलाकात रजुल्ली जैसे गुडे से न हो जाये। लेकिन घबराने की कोई बात नहीं, यह बनारस का खास गुडा है, काफी समझदार और मानवीय सवेदना से लबालब भरा हुआ, जब तक इसे कोई पैसे देकर आपके पीछे लगायेगा नहीं तब तक यह आपका कुछ नहीं बिगाड़ेगा।

यहीं किसी गली में आपको शरत के उपन्यासों की नायिकाओ-सी भीतर ही भीतर प्रेम की आग मे सुलगने और शरीर पर किसी और को अधिकार देकर भी अपनी 'आत्मा' को अपने प्रेमी के जिम्मे सौंपनेवाली किरण और जयंती जैसी युवतियो से मुलाकात हो जायेगी जिनकी हथेलियों के स्पर्श से आपके शरीर में एक विचित्र तरह की रसायनिक क्रिया होने लगेगी और लगेगा कि वह हथेलिया नहीं स्फटिक की प्यालिया है जिनसे निकलकर कोई द्रव पदार्थ आपके शरीर में फैल रहा है और नसो का तनाव ढल रहा है...सारा शरीर एक अबूझ आनद भरी शिथिलता और सज्ञाहीनता मे डूब रहा है।

प्यार की इस बेसुधि मे पडे रहना भला किसे नहीं भायेगा...भाषा की ऐसी मत्र शक्ति से अभिभूत होना कौन नहीं चाहेगा...।

गली आगे मुड़ती है : एक सांस्कृतिक उपन्यास

• *विद्यावाचस्पति शीलभद्र*

शरद बाबू और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी तथा जयशंकर प्रसाद के उपन्यासों की परंपरा में 'गली आगे मुडती है' सिर तानकर खडा होने योग्य उपन्यास अवश्य है। इससे हिंदी के कथा-साहित्य को एक सुदृढ आधार नयी पीढी मे मिला है। यह प्रसन्नता की बात है। जैसे गुप्तजी के साकेत महाकाव्य की सारी घटनाए अयोध्या के आसपास घटती हुई दिखायी गयी हैं, वैसे ही गली आगे मुड़ती है का पूरा का पूरा कथा-परिवेश बाराणसी या काशी ही है। 'गली आगे मुडती है' एक प्रतीकात्मक नाम है इस नाम की लाक्षणिकता दो-दो जगह प्रतीत होती है। एक तो पुस्तक के फ्लैप पर और दूसरी जगह पुस्तक के अत में जहा लेखक रिक्शा पर बैठे वृद्ध व्यक्ति से कहता है–"हां, राजेश्वरी मठ के लिए गली आगे मुड़ती है।" प्रथमत' इसका तात्पर्य यह है कि युवा-पीढ़ी के सामने अभी सही मोड़ आया ही नहीं। संसार के सबसे बुजुर्ग शहर बनारस आज के युवकों को, हिप्पिओ को भी यही कहता है, "इस पथ का उद्देश्य नहीं है...किंतु पहुचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।" तथा "सितारो के आगे जहा और भी है।" बनारस जो आधुनिकता की अधिक अनुकरणवादी मार से लहू-लुहान हो गया है, यही कहता है कि अरे यार छोड़ो भी--आगे, और आगे बढो। साथ ही वह यह भी कहता है कि हमारी प्राचीन भारतीय सभ्यता-संस्कृति में बहुत कुछ इतना महत्त्वपूर्ण है कि वही हमें अब तक बचाये हुए है।

रामानद तिवारी इस उपन्यास का प्रधान नायक है। कथा का वितान्वयन सर्वत्र उसी के मुख से होता है। जयंती और किरण को इस उपन्यास की नायिका कहा जा सकता है। किंतु दोनों के प्रति रामानंद तिवारी की समान आसक्ति है और उन दोनों के मन में तिवारी के प्रति समान ममतापूर्ण समर्पण भावना फिर भी उसे दोनों मे से एक भी नहीं मिल पाती क्योंकि पूर्वशिक्षित और सुसंस्कृत होता हुआ रामानंद तिवारी एक निर्धन 'ट्यूटर' है। अपने आपमें यह ट्रेजेडी इसलिए महत्त्वपूर्ण हो उठती है कि काशी के विश्वविद्यालय के प्राध्यापक, छात्र, बाहरी

राजनीतिज्ञ हैं जो छात्र आंदोलन से लाभ उठाने के लिए उनका दुरुपयोग करते हैं। विशेषकर 'अंग्रेजी हटाओ आंदोलन' का, लेखक ने निकट रहकर भोगा हुआ और जांचा-परखा यथार्थ का इसमें एक कुशल चितेरे की भांति वर्णन या चित्रण किया है।

कहते हैं किन्हीं एस आर. राणा या जो भी इनका नाम है ने लिखा है कि 'गली आगे मुडती है' में डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने बाईस या सत्ताईस रंगो में गंगाजी का वर्णन किया है। मैंने गिना तो नही परंतु एक शब्द में कोई मुझसे डॉ शिवप्रसाद सिंह की विशेषता पूछे तो—मै यही कह सकता हूं कि काशी वर्णन या गंगा वर्णन। इस उपन्यास में काशी की गली-कूची, सट्टा-हाट का बाजार, सर्राफा, बजाजा बाजार, घाट, मंदिर और शिक्षण संस्थाओ को लेखक ने अपनी तूलिका से उरेहने या उकेरने में कोई कसर बाकी नहीं रहने दी है। पर क्या यही सब कुछ इसमें है, यह काशी चित्रण या गंगा वर्णन तक ही सीमित है, सो बात नहीं। इसमें जयती, किरण, लाजो, आरती आदि मनमोहक नवयुवतियों की प्रेम गाथाए भी अंकित हैं। मै यहा पाठको को यह बता दू कि ये प्रणय कहानियां जिस परिपार्श्व मे खिलती है वे परिस्थितिया मुझे इन युवतियो की अवहित्था, ब्रीडा या उनके कपोलों की लाज-रजित लाली से भी अधिक आकर्षक प्रतीत होती है। प्रश्न उठता है कि क्यो ? क्या यह मेरे बार्द्धक्य का सूचक है ? या मेरी किसी उच्चतर भावना का द्योतक है ? तो मैं बेखटक कह सकता हूं कि उच्चतर भावना का द्योतक है।

बग-बाला जयती रामानद तिवारी को न प्राप्त कर पाने की पीड़ा को भूल नहीं पाती और उसे अपने एक प्रेम पत्र मे कहती है—"मैंने हिंदी में ही एम.ए इसलिए किया था कि मै हिंदी की होकर रहूं। और गुजराती पद्मनियो की प्रतीक अपूर्व सुदरी एवं सुशिक्षिता किरण रामानद तिवारी के प्रणय से स्निग्ध मार्ग पर चलकर हिदी की सराहना करने लगती है, जिसे वह पहले अकडबाजों की भाषा समझती थी जहा तक मेरी जानकारी है, हिदी का यह प्रथम सांस्कृतिक और आचलिक उपन्यास है जिसमे काशी की आचल भाषा भोजपुरी का इतना सुदर और सटीक प्रयोग हुआ है। मैने स्वर्गीय फणीश्वरनाथ रेणु का आचलिक उपन्यास 'मैला आचल' और नागार्जुन का 'बलचनमा' भी पढ़ा है। ग्राम सेवक नामक मासिक पत्र में रेणुजी के जीवन काल में ही मेरा एक लेख छपा था। उसमें मैंने उक्त दोनों लेखको की चर्चा करते हुए रेणुजी की कुछ बातो का खडन किया था। 'डॉक्टर' को 'डाग्डर' 'मुस्लिम लीक' को 'मुस्लिम लिंग', 'बाल्टी' को 'बालटीन' और 'महात्मा गांधी' को 'गांधी महात्मा' लिखने के पक्ष मे, मैं नहीं हू। यह तो तुतलानेवाली आंचलिकता हुई। हां, लाजो और हरिमंगल राम के बीच जिस भाषा में संवाद होता है उसकी आंचलिकता की विशेष तारीफ है। लेकिन जब इस उपन्यास में एक पात्र कहता है, "अरे त काऊ ऊहां मियमबक सासतराके निदान पढ़ि हैं" तब यह आंचलिकता

मन को मोह लेती है।

लेखक शिवप्रसाद सिंह की मात्र भाषा काशिका या भोजपुरी ही है अत: उनकी कलम से निकले भोजपुरी आचलिक प्रयोग अत्यत ही बेधक और सटीक बन पड़े है। ऐसा लगता है कि उतनी सटीक बात भोजपुरी मे ही कही जा सकती है। 'बडंति' शब्द की बेधकता भी सुदर है। इस तरह की आंचलिकता से संपन्न होने के कारण यह एक अनूठा और सांस्कृतिक उपन्यास है।

मैं नाहक आंचलिकता के इस कटघरे मे अधिक देर तक खडा न रहकर आपको "आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशायन्मृते-मर्त्यंच" और उषस सूक्त का रामनदीय पाठ भी पढाना नहीं चाहता, जो इस प्रकार है :

"विश्वस्य हि प्राणन जीवने त्वेपि यदुच्छसि सूनरि।
ज्ञानो रथेन वृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघेहवम ।।"

"यद्यपि आज भी एम ए की आभिजात्य वर्गीय छात्राओं को ट्यूशन पढाकर आप उनका मन मोह ले सकते हैं। परतु मैं तो आपको बताना चाहता हू कि बनारस संस्कृतियों का संगम-स्थल है। इसलिए हिंदी भाषी होते हुए भी विद्वान् और कृत विध्य लेखक ने इसमे बगाल और गुजरात जैसे मात्र पूजा के दोनो जागृत केद्रों की सांस्कृतिक छटा दिखलायी है, जो अपूर्व है। प्रोफेसर सुबोध भट्टाचार्य को, रगपुर, वसीरहाट, सोनामाटी के आम्रकुज, कटहल के पेडों का बगीचा, खेतो की मेड पर एक कतार मे लगे सुपारी के पेड, सोनामाटी को तराशे हुए पन्ने की तरह बना देता है।

किरण के मुख से निकले गुजराती शब्द यमल पत्र (संधि-पत्र) बाहर बटिया (डाकू के लिए) प्रयुक्त तथा गुजराती गर्वा नृत्य, गर्वा शब्द की व्युत्पत्ति कमाल है। इन्हे देखकर लेखक के अगाध ज्ञान और तीन-तीन प्रातीय आंचलिकता पर उसके समान अधिकार के प्रति पाठक नतमस्तक हो जाता है। बंगाल और गुजरात की लोक-कथाओ की ओर भी उपन्यासकार हमारा ध्यान आकृष्ट करता है जो सुदर और मनोरम है वास्तविक आचलिकता का एक दृश्य प्रस्तुत है--और यूनिवर्सिटी की कूटनीति की बानगी देखनी हो तो किसी को फेल भी न करो पर स्कॉलरशिप उसे न मिले इसलिए उसे कम-से-कम प्रोज और पोएट्री मे कम नंबर दे दो। इस प्रकार की त्रासदी पंडित रामानद तिवारी के साथ होती है।

इस उपन्यास से हिंदी का जितना उपकार हुआ है, उससे कम संस्कृत का नही। भला हिदी के कितने पाठक ऐसे हैं जिन्होंने पूरी कादंबरी, मेघदूत मूल संस्कृत में पडी हों। या कितने ऐसे पाठक हैं जिन्हें संस्कृत पालि प्राकृत और भाषा विज्ञान मे अभिरुचि इन सब विशेषताओ और घोर क्लासिकल विषयों की व्याख्या इसमें लेखक ने सुंदरियों कों पढाते समय प्रश्न-उत्तर शैली में समझाकर छात्र

'क्रियाशीलन' और अध्यापक 'क्रियाशीलन' की विशेषता कायम रखी है लेखक रहस्यात्मक संकेत भी बीच-बीच में देता जाता है जैसे जमनादास साधु के रूप मे दूसरों के मन की बात जान जाने का रहस्य बतलाता है तथा यह कहता है कि हर जीव की आत्मा का अर्द्धांश आत्मा अपने बिछुड़े हुए अर्द्धांश को अपनी प्रिया रूपी भैरवी को तलाश रहा है। फिर रामानद तिवारी जमनादास से पूछता है कि हम कैसे समझेंगे कि यही लडकी मेरी आत्मा का अर्द्धांश है, इसके उत्तर मे जमनादास कहता है –"जिसे तेरी आत्मा चाहती है और जिसे देखकर तेरे निचले स्तर की लिप्सा नहीं होती, वासना नही जगती जिसे देखकर तुम्हारे मन में सदिच्छा उत्पन्न हो कि यह फले-फूले। इसका कल्याण हो। यह मेरी शारीरिक वासनाओ के नीचे मुरझाये नहीं। ऐसी आत्मिक प्यास ही इसका निर्णय करेगी। अर्थात् जिसे देखकर भोग भावना मे बदले प्यार का भाव तेरे मन मे उठे उसे ही तुम अपनी आत्मा का अर्द्धांश समझो। यह तो एक बहुत बडी बात है। यह एक रहस्यपूर्ण कथन भी है। इसे लेखक ने अपने महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास नीला चाद में भी कुशलतापूर्वक अकित किया है। इसके साथ-साथ राजा दिवोदास, लोलार्क कुंड, ढुढीराज गणेश आदि की कहानियों का भी इस उपन्यास में बहुत ही सुदर ढग से चित्रण हुआ है लेखक ने एक जगह अपने को मुझ अनागरिक धरमपालों कहकर अनागरिक धर्मपाल की स्मृति को उजागार किया है।

अत' हम संक्षेप मे इतना ही कह सकते हैं कि 'गली आगे मुडती है' तीन-चार प्रकार की आचलिकताओ से परिपूर्ण एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें भोजपुरी, हिंदी, बगला उजागर करते हुए राष्ट्रभाषा हिदी जो हमारी प्रांतीय सस्कृतियों की सामासिक भाषा है, की सतुष्टि की गयी है। विविध प्रकार के शब्द, रूप, रस, गंधो और नीले-पीले, केसरिया रगों के परिधान के बीच हिंदी को पुष्पित-पल्लवित किया गया है। अत नीला चाद की तरह ही गली आगे मुडती है भी एक सरस, सजीव और सशक्त सास्कृतिक उपन्यास बन पडा है। राष्ट्र भाषा हिंदी के इस अनुपम उपन्यास को शिवप्रसाद सिंह ने जिस अद्‌भुत कौशल से उपन्यस्त किय। है, उस कला-कौशल का मैं स्वागत करता हू, अभिनंदन करता हू।

नीला चांद : इतिहास के द्वारा इतिहास का अतिक्रमण

• *प्रभाकर श्रोत्रिय*

'गली आगे मुडती है' में शिवप्रसाद सिह ने बंद गलीवाली रुद्ध मानसिकता के विलोम में भारतीय संस्कृति की जिजीविषा को रेखाकित किया था, जो अंधे मोडो के बावजूद नयी दिशा खोजने का निरंतर उद्यम करती रही है। उस उपन्यास का माध्यम भी काशी था और हाल मे प्रकाशित उनके बृहद् उपन्यास 'नीला चांद' की कथा भूमि भी काशी ही है जिसे लेखक ने अतरंग गहराई और संपूर्णता में जिया है। असल मे काशी केवल एक नगरी नहीं है, वह दीर्घकाल से भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक विरोधाभासों का केद्र रही है। वहां योग और भोग, सच्ची धार्मिकता और पाखड, गंदगी और निर्मलता, प्रचंडता और कोमलता, जात-पात की संकीर्णता और जातीय सहिष्णुता, विद्वत्ता और मूर्खता, उग्र साधना और वैष्णवता, कमनीय कला और हिंस्र शोषण—बिल्कुल बेमेल दिमागो के पड़ोसियो की तरह रहते रहे हैं। कदाचित् इसीलिए अर्द्धनारीश्वर को वहा लास्य और ताडव दोनो रचाने पडते हैं अत. जो लेखक काशी को अपने समूचे रंगों मे बुनना चाहता है, उसे काशी के बहाने सपूर्ण भारतीय संस्कृति, जीवन-व्यवस्था, जीवन-चेतना और विसंगतियों का समवेत साक्षात्कारी होना होता है। मुझे यह कहने में सकोच नही है कि शिवप्रसाद सिंह ने काशी को इसी व्यापक भूमिका में पहचाना है।

लेखक ने ऐसे समय का सधान करना चाहा है जिसमें काशी का वह स्वरूप उद्घाटित हो जो "त्रिकटक को भी हिला देता है", "धगद् धगद् धगद् ज्वलम्" के तांडव से अशिव का ध्वंस कर देता है और "नंदीश्वर के ज्योतिर्लिंग के विशाल स्तंभ-सा धरती और आकाश को जोड देता है।" (भूमिका) परंतु यह मानना गलत होगा कि यहां किसी समय की कोई काशी अवतरित कर देना ही लेखक का प्रयोजन है। निस्सदेह घटना-चक्र का केंद्र काशी है, सारे कारक तत्त्व भी वहा आ जुटे हैं, तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और वैयक्तिक स्पर्द्धाओं और

विसंगतियों का मंच भी वही है. भूमिका में स्वयं लेखक ने भी काशी के ऐतिहासिक निरूपण की प्रामाणिकता पर ही बल दिया है, फिर भी इस उपन्यास का कथ्य काशी नहीं है। वह कथा-पटल है, किसी हद तक रंग और तूलिका भी हो सकती है और जो चित्र उभरा है वह भी तत्कालीन काशी का है परंतु इसमें जो ध्वनि है, क्रिया व्यापार मे संचालित जो अभिप्राय है, व्यापक सृजन-दृष्टि है वह वास्तव मे सारी विसंगतियों के बीच प्रज्वलित भारत का मूर्त सांस्कृतिक चैतन्य है; अशिव को क्षार कर देनेवाली अमोघ इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति है, वर्ण-वर्ग की विषमता के प्रति उसकी मौलिक असहमति, विद्रोह और घृणा है, जो उपन्यास में मानवाधिकार की समानता का उद्‌घोष करती है।

काशी नरेश कलचुरी कर्ण (लक्ष्मी कर्ण) ने जैजाक भुक्ति के राजा चंदेल वर्मा की अमानुषिक हत्या कर दी। वे इस समय ध्यानस्थ थे। उनकी रानी ने कर्ण की काम-लिप्सा का ग्रास बनने की अपेक्षा पति की चिता में भस्म हो जाना श्रेयस्कर समझा। बर्बर कर्ण ने कलातीर्थ खजुराहो को भी आग मे झोंक दिया। अर्थात् साधनारत राजयोगी की रक्ताग्नि, सती की चिताग्नि और कला की ध्वंसाग्नि, 'नीला चाद' की आदि ज्वाला है। यही ज्वाला प्रतिक्रिया के रूप में कीर्तिवर्मा की आख और संकल्प में उतर गयी। भाई और भाभीजू की बलिवेदी पर की गयी उसकी प्रतिज्ञा मे, उसी क्षण कर्ण का वध हो चुका था। बीच में भी वास्ततिक वध के अनेक अवसर आये, परंतु जब तक सक्रिय कथा-व्यापार से उसके संपूर्ण दुष्कर्म घनीभूत नहीं हो गये और उसके विरुद्ध जन-आक्रोश पूरी तरह संगठित नहीं हो गया—कर्ण का वध नहीं किया गया। यह भारत की महाकाव्य परंपरा के अनुरूप ही हुआ।

उपन्यास का नायक कीर्तिवर्मा स्कंदगुप्त की तरह निस्पृह लेकिन कर्तव्यपरायण है। वह न तो सत्ता लोलुप है, न हिंसा व्यवसायी। उसका व्यक्तिगत आक्रोश लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण जनपीडक आततायी के विरुद्ध विद्रोह और विद्रोह की जनाकांक्षा का प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार 'जैजाकभुक्ति' को मुक्त करने का उसका संकल्प कर्ण की बर्बरता और अनाचार के परिप्रेक्ष्य में जन-मुक्ति के संकल्प मे परिणत हो जाता है। गृहहीन, राज्यहीन कीर्तिवर्मा ने अपने सग्राम का केंद्र काशी को चुना है। क्योकि 'शत्रु से बचने का' (और संभवत: विनाश का भी) 'उत्तम स्थान वही है जो शत्रु का निवास हो'। (पृ 20)

परंतु उपन्यास में इतिहास के निर्वाह से अधिक काशी की प्रतीकात्मक सत्ता को महत्त्व दिया गया है—जहां पवित्रता, अध्यात्म, जीवन और कला-मूल्य अपनी पराकाष्ठा पर हों वहीं उनका ध्वंस सर्वाधिक दारुण प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। दूसरी बात यह है कि काशी सत् के मंगल और असत् के विनाश-कर्ता शिव की भूमि है। इसलिए वहां लास्य और तांडव एक साथ संभव है। इस सास्कृतिक अवधारणा मे

वस्तु-तत्त्व की संश्लिष्ट संरचना बहुत अर्थवान हो उठी है। संभवतः इसीलिए न केवल कीर्तिवर्मा, बल्कि मां शीलभद्रा, रज्जुक गाहड़वाल, नरेश नृपतिचंद्र, वाममार्गी तांत्रिक और देश-भर के अनेक शासक काशी में किसी-न-किसी साभिप्राय संयोग से ऐसे न्यायालय का रूप लेते हैं जहां पक्ष-विपक्ष के सारे साक्ष्य एकत्र हों।

काशी के स्वाभाविक शासक गाहडवाल नृपतिचंद्र से अहम्मन्य कर्ण से सत्ता लगभग छीन ली थी। वे निःसत्त्व से अपनी पांथशाला में सामंत जैसा उपेक्षित जीवन जी रहे थे। गाहडवाल प्रजा या तो काशी में दर्प-दलित हो रही थी या चरणाद्रि और कतित जैसे सीमावर्ती नगरो में सिमटी-सिकुड़ी पडी थी। अपने शत्रु द्वारा दलित गाहडवालों की मुक्ति में सहयोग देना कीर्तिवर्मा का राजनैतिक चातुर्य भी था और नैतिक कर्तव्य भी। भले ही नृपतिचंद्र, मदन या गोविद चंद्र से सहायता की आशा करना व्यर्थ था, फिर भी काशी में उनसे सहानुभूति रखनेवाली प्रजा विपुल परिमाण में थी, स्वयं रज्जुक और पारस जैसे कुछ गाहडवाल भी अत्यंत योग्य और विश्वनीय थे। गोविद चद्र को काशी का नरेश बनाने की प्रतिज्ञा करते हुए कीर्तिवर्मा ने न केवल अपने पितामह के वचन को पूरा करने का सकल्प किया बल्कि गाहडवाल प्रजा और उनके विश्वस्तों को अपने पक्ष में भी कर लिया। इसके अतिरिक्त तमाम उपेक्षित जातियो अर्थात् नटो, केवटो, डोमों, हरिजनों, आदिवासियों आदि को स्नेह, सद्‌भाव और सहानुभूति से अपना सहयोगी और प्रशंसक बना लिया। भूमिका मे लेखक ने धरती और आकाश को मिलानेवाले नदीश्वर के जिस स्तंभ का उल्लेख किया है, वह इस संरचना में सार्थक हो उठा है। समाज की निम्नतम जातियों से राजत्व की उच्चता (कीर्तिवर्मा) और अध्यात्म की उत्कृष्टता (मां शीलभद्रा) का जुड जाना पृथ्वी और आकाश को मिलानेवाले स्तंभ की ही रचना है। कर्ण के राजनैतिक, नैतिक और आध्यात्मिक पतन की पराकाष्ठा वहीं होती है जहां वह मा शीलभद्रा पर अपने गुंडों द्वारा आक्रमण कराता है और उनकी मृत्यु हो जाने पर अपनी क्षुद्र-पाशविकता का नग्न प्रदर्शन करता है। इस तरह उच्चकोटि की आध्यात्मिक शक्ति को भी अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाने के कारण कर्ण का विनाश नैतिक और आध्यात्मिक अनिवार्यता हो जाती है। मुझे तो नदीश्वर के मंदिर से कर्ण के मुकुट को लक्ष्य करके सधान किया गया कीर्तिवर्मा का बाण एक प्रतीकात्मक परिकल्पना भी लगती है। कीतिवर्मा दृढ इच्छा-शक्ति का प्रतीक है। इसलिए अगर वह दंभी कर्ण के मुकुट को खंडित करता है और कौलाचार्य की आंख फोडता है तो यह एक तरह से आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति द्वारा दुराचारी दभी राजा और धार्मिक पाखड दोनों का विखडन है।

अंततः कीर्तिवर्मा कर्ण को काशी से पलायन करने को बाध्य कर देता है और मार्ग में ही भगोडे वर्मा और उसके पुत्र को तीरों से बेंध देता है। उसके कर्ण

मेरुप्रासाद, त्रिपुरी और माहिष्मती को आग लगाकर एक ओर खजुराहो के दहन और भाई-भाभी की चिता का प्रतिशोध ले लेता है, और दूसरी तरफ गाहड़वाल और चंदेल प्रजा को कर्ण के कुशासन से मुक्ति भी दिला देता है। अपने बूते पर जीती हुई काशी नृपतिचंद्र और गोविंदचंद्र को सौंपकर वह लंका विजयी राम या स्कदगुप्त के आदर्श का निर्वाह करता है। गोविद की मां राल्हदेवी की स्वार्थी और संकीर्ण मनोवृत्ति के बदले वह जो उदात्त आचरण करता है, उससे न केवल उसका स्वाभिमान और आत्मविश्वास प्रकट होता है बल्कि एक बार फिर सिद्ध हो जाता है कि गाहड़वालों से सहयोग लेना उसकी उदारता और दूसरों को यथोचित सम्मान देने की भावना थी। सभी युद्धों में कीर्ति की भूमिका अत्यंत गतिशील और निर्णायक है, फिर भी उसकी नम्रता, सौजन्य और साथियों को बड़प्पन देता है। उसी तरह अंतिम निर्णायक युद्ध मे कर्ण और उसके घायल पुत्र को अपने सेनानायक गोपाल भट्ट की प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए, जीवित रूप में चालुक्य सोमेश्वर को सौंप देता है जो आदर्श भारतीय शासक द्वारा ही संभव था।

गाहडवालों और चंदेलों का कलचुरी कर्ण के विरुद्ध ऐतिहासिक सत्ता-संघर्ष दिखाना 'नीला चांद' का प्रयोजन नहीं है। यहा जो युद्ध होता है वह सदाचार का कदाचार से, प्रकाश का अंधकार से। समान प्रवृत्ति के पात्र अपने-अपने पक्ष से जुडकर इस युद्ध को व्यापक अर्थवत्ता देते हैं। कीर्तिवर्मा के पक्ष में सत्ता, धर्म, लोक और संघर्ष की विध्यात्मक शक्तियां केद्रित हैं। नृपतिचंद्र, गोविंदचंद्र, मा शीलभद्रा, पाशुपताचार्य वृषध्वज, स्वाभिमानी विद्वान् बलदेव उपाध्याय, वीरता के विग्रह गोपाल भट्ट, राजनयिक अनंत, शक्ति-स्वरूपा गोमती, नट बब्बर, बिरजूसिंह, यदुवशी, पारसदेव, आदिवासी लोचन केवट रामचंद्र और संपूर्ण दलित वर्ग है जिन्हें समाज मे निम्नकोटि का माना जाता है, लेकिन जो उच्च मानवीय मूल्यों से संपन्न हैं। इधर कर्ण के साथ सभी कुटिल मनोवृत्ति के लोग हैं, चाहे वह उसका बेटा यश कर्ण हो, या दामाद जातवर्मन, अथवा कौलाचार्य चंडेश्वर, वामाचारी तांत्रिक या धूर्त पंडित विनायक भट्ट। इन दो सीमातों के बीच युद्ध का परिणाम वही होना था, जो भारतीय सांस्कृतिक और सृजन-दृष्टि का प्रयोजन है। 'नीला चाद' में उद्घाटित काशी का अतीत, इतिहास का लेखा-जोखा नहीं है, बल्कि वह समकालीन जीवन के लिए त्रुटियो और उपलब्धियों का साक्ष्य है। एक सृजनशील लेखक को इतिहास का यह लाभ मिलता है कि वहां वह समय को पूरे आयाम में देखता है क्योंकि वहां आदि और अंत एक ही पटल पर घटित होते हुए दिखायी देते है। जब यह अतीत वर्तमान में परावृत्त होता है तो अदृश्य भी दृश्यमान हो जाता है। जाति और धर्म को लेकर विघटन के जिस नये दौर से हम गुजर रहे है वह अंतत मनुष्यता विरोधी है और उसकी बुनियाद में अपनी ही सडांध है जिसे मिटाने के बजाय हम ढंक रहे हैं। इतिहास ने इसे देखा और

भोगा है, साहित्य उसे हमारे बोध में पुनर्सृजित करता है, ताकि हम उन अनुभवों का लाभ लें। परमयोगिनी मां शीलभद्रा केवट के बेटे से कहती है : "तू मत भूल कि गर्हित लोग अपनी सड़ांध छिपाने के लिए जाति का सहारा लेते हैं, अपने को ब्राह्मण या क्षत्रिय कहते हैं और तुम लोगों को शूद्र कहते हैं, वे वस्तुत नीच और मनुष्यता विरोधी हैं।" (पृ 337)

इस उपन्यास में ऐसे मनुष्य विरोधी लोग भी सक्रिय हैं जिनके पतन का विश्वास कृति दिलाती है। वह कहती है कि जहा जो श्रेष्ठ है–चाहे धर्म में, चाहे समाज मे, चाहे शासन में–वह इस विषमता और शोषण का विरोधी है, और जो निकृष्ट है वह सर्वत्र मानव विरोधी घृणा का पक्षधर है। इतिहास के माध्यम से व्यक्त सर्जना का यह सत्य क्या वर्तमान को भी देख सकनेवाली आंख नहीं देता, जिसके आगे कारण और कार्य की पूरी शृंखला खुली पड़ी है।

हमारे समय मे, शायद किसी भी ऐतिहासिक समय की तुलना मे, मानव मूल्य और नैतिकता अपने को सबसे अधिक निस्सहाय पा रही है। 'नीला चांद' नैतिक मनुष्य की उच्चाटित आत्मा को नया संबल देता है। उसका यह नया 'भरत वाक्य' है जो मनुष्य के लिए ऐसा सूत्र है जिससे वह सारे पराभवो को विजय में बदलने की सामर्थ्य विकसित कर सकता है–"जैसे हर व्यक्ति के अंदर एक आगन है, एक तुलसी चौरा है, वैसे ही सबके छोटे-छोटे आकाश में एक नीला चाद भी होता है। ढकोसलो से नहीं, नियति को जाननेवाले दंभिको की भविष्यवाणियो से नहीं, तू खुद कालिमा में डूबकर अपने मन के आंगन मे जगमगाता नीला चांद देख लेगा, उसका नाम है अमोघ इच्छा-शक्ति।" (पृ 465)

भारतीय संस्कृति और जीवन-मूल्यो को जिन्होने आध्यात्मिक और व्यक्तिवादी प्रचारित करने की कोशिश की है, वे या तो नासमझ हैं या फिर षड्यत्रकारी। क्योंकि भारतीय सस्कृति एकांत अध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनों की विरोधी है, वह एकात व्यक्तिवाद और समाजवाद का भी विरोध करती है। वह इनके बीच ऐसे संतुलित और समन्वित विवेक पर बल देती है जो दोनों का उपयोग जीवन की सार्थकता और साम्यता के लिए कर सके। मां शीलभद्रा योगिनी होते हुए भी दुःशक्तियों के विनाश और समतामूलक समाज की रचना मे हाथ बंटाती है। लोकमंगल और लोकमुक्ति के लिए किये गये कीर्तिवर्मा के युद्ध, नैतिकता और मानव-मूल्य से सपृक्त होकर आध्यात्मिक गरिमा प्राप्त करते हैं। दुश्चरित्र शत्रु के मुख से अपने लिए 'चरित्रहीन' शब्द के उच्चारण तक से उसे इतना ध ाक्का लगता है कि अपनी समस्त विजय और संघर्ष-साधना भी व्यर्थ लगने लगती है। क्या आज की मोटी चमडी के नेता कल्पना भी कर सकते हैं कि कोई राजा केवल इस बात के लिए जीवन में सर्वाधिक दुखी हो सकता है कि उसके गंदे शत्रु ने उसे 'चरित्रहीन' कह दिया ! यानी राजा का चरित्र इतना निष्कलंक होना

चाहिए कि नीच से नीच शत्रु भी उस पर उंगली न उठा सके, क्योंकि वह केवल व्यक्ति नहीं है। गोमती की सांत्वना के उत्तर में कीर्ति कहता है · "आपको समाज का भय नहीं होगा, पर एक अनपढ प्रजा के राजा के पास चरित्र के अतिरिक्त और क्या होता है, जिस पर उसकी भोली-भाली प्रजा प्राण निछावर करती है।" आज यही आंतरिक मूल्य-संवेदन या आध्यात्मिकता हमारी राजनीति से छिन चुकी है, इसी का परिणाम है कि लोग बेशर्मों की तरह रिश्वतें, दलाली, अस्मतें बल्कि देश तक को डकार जाने में सकोच नही करते। उनके लिए 'चरित्रहीन' कहलाना मानो यातना का कारण नहीं, गर्व की वस्तु है। संपूर्ण उपन्यास मे ऐसी भांति-भांति की वर्तमान पीडा और विद्रोह अग्नि की तरह धधक रहा प्रतीत होता है, इसलिए इसका पूरा रचना-विधान तीव्र प्रतिरोध और प्रखर ऊर्जा से प्रज्वलित है, जिसमें इतिहास का ढांचा भी जल गया है और शहर का भी; रह गया है केवल मूल्य-बोध सघर्ष-चेतना और परिवर्तन की अदम्य इच्छा-शक्ति जिसके लिए देश-काल कोई सीमा नहीं होता।

इतनी विस्तृत कृति में जो संरचनात्मक त्रुटिया दिखायी देती हैं, वे बहुत महत्त्व की नहीं है, हालाकि न होती तो बेहतर था।

कुल मिलाकर 'नीला चांद' इतिहास के पटल पर भारतीय संस्कृति की ऊर्जा और सकल्प, उसके मानक और मूल्य की भव्य प्रतिष्ठा का महाकाव्यात्मक प्रयास है। उसमे हमारे समय का अक्स और चरित्र इतना साफ दिखायी देता है, मानो इतिहास हमारे समय को दिशा दे रहा हो। उपन्यास में इतने गहन सांस्कृतिक और मानवीय सदर्भ है, इतनी मार्मिक सूक्तिमत्ता और काव्यात्मकता है, इतना प्रवाह और जीवंतता है कि यह कृति वर्तमान उपन्यासों के बीच अलग से अपनी पहचान कायम करने की क्षमता रखती है।

नीला चांद

• डॉ. गंगासहाय पांडेय

[डॉ गगासहाय पाडेय को शिवप्रसाद सिह उन थोड़े से लोगो मे एक मानते हैं जिनके स्नेह के प्रति वे सदा नतमस्तक रहे। डॉ. पाडेय न केवल प्रख्यात चिकित्सक हैं बल्कि उन थोड़े से लोगो मे हैं जो रचनाकार और सहृदय रसज्ञ साथ-साथ थे। समसामयिक डॉ मल्ल और डॉ. बच्चन सिह, डॉ पाडेय की रचना-धर्मिता के प्रमाण है। उनकी टिप्पणी से आपको स्पष्ट आमास हो जायेगा कि वे कितने बडे सहृदय' पाठक है।]– *संपादक*

लंबे अतराल के बाद एक कालजयी कृति 'नीला चाद' का दर्शन पठन एवं अनुशीलन का अवसर मिला। वैसे संगीत, साहित्य विहीन साक्षात् पशु पुच्छविषाणहीन वर्ग में अनुबंधित होने के कारण इस प्रकार की उत्कृष्ट कलाकृतियों के अध्ययन, अनुशीलन एवं विषय के भावो के हृदयंगम् करने के अधिकारी न होने पर भी हिंदी साहित्य के प्रति बाल्यावस्था के लगाव के कारण जो संबंध बना वह 'लागी नाहीं छूटे रामा' की उक्ति के समान छूट नहीं सका। बहुप्रशंसित, सुचर्चित 'नीला चांद' की सुरभि से आकृष्ट होकर भृग के समान रसवती कृति के—आलिंद के—पृष्ठ-पटल मे बलात् निरुद्ध होकर अनेक रातो तक मधुपान करता रहा और आचार्य अभिनव गुप्त की वर्णित रागात्मक, रसात्मक अनुभूतियो का प्रत्यक्ष दर्शन कर सका। रसो वै स· का वास्तविक समानीकरण का अनुभव हुआ।

'नीला चांद' काशीखंड का ही नहीं, अखड काशी का ऐतिहासिक, सामाजिक, सास्कृतिक घटनाक्रम का यथार्थ दर्पण है। ऐतिहासिक उपन्यासो मे अनेक बार केवल घटनाक्रम का इतवृत्त वर्णित होने पर उसकी रसात्मकता अवरुद्ध हो जाती है। प्रस्तुत कृति मे दशम शताब्दी की काशी अपने पूर्ण जीवंत स्वरूप में उपस्थित है। कहीं घटना-प्रवाह खडित नहीं होता। ऐतिहासिक व्यक्तित्व अपने तात्कालीन परिवेश मे सजीव बन गये हैं। सम्राट विद्याधर देव बर्मन के पौत्र सम्राट कीर्ति बर्मन चदेल धीर, उदात्त, गंभीर जनमानस को अपने शौर्य, दर्प, बल, पौरुष,

रणकौशल एवं सर्वजन्यहिताय की भावना से अभिभूत कर लेते हैं। उनके उच्चैः श्रवा-क्वा प्रतिनिधि पूर्ण प्रचंड और गिरिवासी आदिवासी कैवर्त, आटव्य, नागर आदि सभी वर्ग के व्यक्ति अपने प्राणवंत जाज्वल्यमान स्वरूप में प्रतिबिंबित हुए हैं। अपने रक्त से सम्राट का तिलकोत्सव कर सम्राट के लिए पूर्ण समर्पित अश्वपीठ पर ही निद्रा लेनेवाले महासेनापति गोपाल भट्ट, अमात्य अनंत और जैजाकभुक्ति के अनेक प्रतिभाप्रदीप्त व्यक्ति अपने उदात्त गौरवमय व्यक्तित्व के रूप मे मूर्तमान प्रतिभासित होते हैं। गाहडवाल वंशीय आर्य रज्जुक का अपना एक निराला व्यक्तित्व है जो अपने में मस्तमौला, परम बुद्धिमान, रणनीति कुशल प्रखर योद्धा के रूप में राखालदास की 'करुणा' के आर्यगोविंद गुप्त या स्वर्गीय कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी के 'मुंजाल मेहता' या स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद के 'गुंडा' कहानी के नायक बाबू नन्हकू सिंह के उदात्त चरित्रों के स्वरूप का स्मरण दिलाते हैं। नंदीश्वर मंदिर के पाशुपताचार्य आर्य वृषभध्वज—जिनकी ज्ञानदृष्टि में अतीत, वर्तमान, भविष्य एक साथ प्रत्यक्ष हो जाता है जो प्राचीन विद्वता, पूर्ण समर्पित उपासना, साधना से सिद्ध, केवल सत्य पक्ष का अनुमोदन करने का स्वभाव, निसत्वधारी, परमविद्वान् का सही मानदंड उपस्थित करता है। मां शीलभद्रा का चरित्र स्वयम् मे एक पवित्र गाथा है जिसमें सर्वस्व त्याग, असीम करुणा, समर्पित साधना और तीक्ष्ण तपस्या एवम् परदुःख कातरता का अपूर्व सामंजस्य अभिव्यक्त होता है। विशिष्ट समाज के प्रतिनिधि भरत काका, सूरज काका, आचार्य वीर्यरुद्र एवम् बब्बर नट अपने प्रखर तेज के साथ सम्राट कीर्ति वर्मा के प्रति पूर्ण समर्पित प्रदीप्त नक्षत्रमंडल के समान कथानक से जुडे हुए हैं। कलचुरी सम्राट लक्ष्मी कर्ण एवम् पटरानी आवल्लदेवी तात्कालीन काशी के शासन की जटिलता, कलह, स्पर्धा, ईर्ष्या आदि विशिष्ट विषमताओं का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। राजरानी गोमती यथार्थ में अपने चरित्र की विशेषताओं के कारण सम्राट कीर्ति वर्मा की हृदयेश्वरी बनने का सौभाग्य प्राप्त कर सकी हैं। राजा-रानी के स्नेह भाव में आनंदकारिक रूप में मधुभावों का संचारीकरण हुआ है। शृंगार कहीं भी अवगुंठन से बाहर नहीं आया है--यह हलकी-सी मसलन है जो बनती गालों की लाली--इस 'प्रसाद' की पंक्ति के समान लज्जा, आकर्षण, आलिंगन, समर्पण आदि के भाव इंगित रूप में निर्दिष्ट हुए हैं जो पाठक को गुदगुदा कर अपूर्व आनंद की सृष्टि करते हैं। 'नीला चांद' में वर्णित प्रत्येक चरित्र अपनी पूर्णता के साथ कथावस्तु से कुशल ग्रंथक द्वारा ग्रथित अनुपम मणिमाला का सुनियोजित रत्न उपभासित होता है।

महान् कथाशिल्पी स्वर्गीय शरद की ललित रचनाओं में महिला चरित्र बड़े उदात्त, कमनीय, समर्पणकारी तथा बज्रादपि कठोर आदि विशिष्टताओं से युक्त है। 'नीला चांद' में भी आदरणीय भाभी जू, परमश्रद्धास्पद एवम् परमतपस्विनी रूपा, शीलभद्रा तथा जीवा वर्ग की प्रतिनिधि कलाकार सुनंदा जो सम्राट कीर्ति वर्मा

के प्रति संपूर्ण रूप में समर्पित होकर भी अपने शील और शरीर की रक्षा के लिए महारानी गोमती से याचना करती है और सम्राट कीर्ति वर्मा अपनी जीवन की बाजी लगाकर उसका उद्धार करते हैं। इन चरित्रों का भी स्वतंत्र रूप में पूर्ण विकास करने में न्याय किया गया है।

इस कृति की भाषा अपनी विशिष्ट अर्थवत्ता से मंडित है। तात्कालीन परिवेश में प्रयोज्य पारिभाषिक, आलंकारिक शब्द अभिधा, लक्षणा एवम् व्यजना के अनुरूप प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृतगर्भ सास्कृतिक भावानुरूप इन शब्दों का अनमोल गुंथन आश्चर्यचकित करता है। लेखक को एक-एक शब्द का चयन, यथावसर उनका प्रयोग और कथाप्रवाह के साथ समरसतापूर्वक व्यवहार लेखक के गंभीर अध्ययन, शब्द चयन, चिंतन, अनुशीलन की अपूर्व सामर्थ्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। रचना में भाषा प्रवाह कहीं शिथिल नहीं होता। प्रत्येक शब्द डंके की चोट के समान अपने अर्थ को ध्वनित, प्रतिध्वनित और अनुगुजित करता रहता है। इस रचना मे वेद, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत, काशीखंड तथा बौद्ध एवम् प्राचीन वांड्मय के अनेक ग्रथो से यथावसर संदर्भ लिये गये हैं और उनका सुनियोजित प्रयोग किया गया है। कहीं शांकर वेदात के दर्शन हैं, कहीं सांख्य और मीमासा का विश्लेषण है और कहीं नवधा भक्ति अपने पूर्ण समर्पित स्वरूप का उदाहरण प्रस्तुत करती है। वास्तव में यह अपूर्व कृति औपन्यासिक आकर्षण के साथ भारत के प्राचीन सांस्कृतिक सदर्भ का आश्चर्यकारी समायोजित स्वरूप उपस्थित करती है। पाठक अध्येता रचना के प्रवाह के साथ सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, व्यावसायिक, जानपदिक, नागर एवम् आरण्यक विशिष्टताओ से अभिभूत-सा हो जाता है।

'नीला चाद' मे कथावस्तु कहीं शिथिल नहीं है। प्रवाह कहीं अवरुद्ध नहीं है। एक भी शब्द व्यर्थ नहीं लिखा गया। प्रत्येक वाक्य कुशल कलाकार की दीर्घ साधना का उद्घोष करता है—यथा चतुर्भि: कनकम् परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदन तापताडनै' तथा चतुर्भि' पुरुष' परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मेण—उसी प्रकार किसी कालजयी कृति मे समुचित कथाप्रवाह, गद्य में पद्य का आनंद, चरित्रों का उचित विस्तार एवम् त्याग, करुणा, औदार्य, दर्प, आत्मबल, पौरुष और जनरंजकता का समन्वित स्वरूप मणिकाचन का अपूर्व हृदयग्राही, अभिभूतकारी प्रभाव उसकी गरिमा को अनुशीलन की कसौटी पर अपने समस्त वैभव के साथ प्रस्फुटित करता है।

काशी की वर्तमान संस्कृति के बारे में लेखक ने पहले 'गली आगे मुडती है' में समाज की सभी विसंगतियों, संघर्षों, अंतर्द्वंद्वों को चित्रित किया है, उसी प्रकार दशम शताब्दी के आसपास की काशी का साधिकार वर्णन ऐतिहासिक तथ्यों से परिपुष्ट तात्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, वैचारिक, राजनीतिक, वैपणिक आदि

सभी विशेषताओं के साथ प्रस्तुत कृति में प्राणवत लक्षित होता है व उस समय की काशी का भौगोलिक स्वरूप पण्यशालाओं, वीथिकाओं, देवालयों, पुष्करणी, तीर्थों आदि का सही मानचित्र प्रस्तुत करता है। पात्रों के अनुरूप, भाषा की विविधता इस रचना की अपनी विशेषता है और भावों के अनुरूप शब्दों का चयन इसकी तेजस्विता है।

इस अपूर्व कृति को हिंदी साहित्य में अप्रतिम स्थान मिलेगा यह विश्वास तो है ही और दीर्घकाल तक इसका अध्ययन, अनुशीलन, परिशीलन करके विश्वसाहित्य के अध्येता रसानुभूति का अपूर्व आस्वादन करते रहेगे। डॉ. शिवप्रसाद सिंह जी से मेरा परिचय उनकी 'कर्मनाशा ही हार' कहानी के अपूर्व समापन से प्रारंभ हुआ। वह एक उत्कृष्ट अप्रतिम निबंध लेखक, आध्यात्मिक साहित्य के गूढ अध्येता, आंचलिक कहानियो व औपन्यासिक कृतियो के माध्यम से संदर्भित आचार-विचार, शब्दानुचयन की अपूर्व सामर्थ्य रखनेवाले महान् कथा-शिल्पी हैं। भगवान विश्वनाथ एवम् मां अन्नपूर्णा की कृपा से उत्तम स्वास्थ्य, दीर्घजीवन और सद्-असद् विवेकिनी अपनी विशिष्ट प्रतिभा के प्रसाद स्वरूप इस प्रकार की अनेक रचनाए साहित्य समाज को दे सकेंगे, यह दृढ विश्वास है। पिछली दशाब्दी में किन भयकर, उद्वेलनकारी संघर्षों से उनको जूझना पडा है, उसका परिचय बाह्य जगत् को कदाचित् न मिल सके किंतु उन क्षणों के भयंकर आवर्तों का अनुभव मुझे मिलता रहा है। इन विषम स्थितियों के बाद भी 'नीला चांद' के लेखन में ऐतिहासिक तथ्यों के समीकरण में, एक-एक पारिभाषिक शब्द के अन्वेषण में कितने-कितने दिनों तथा विचार मंथन किया है, इसका भी मुझे कुछ आभास प्राप्त होता रहा है। रचनाकार की वेदना का सही अनुभव आसन्नप्रसवा मा ही कर सकती है। पाठक जो लेखक की शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक, पारिवेशिक आदि विषमताओ, संघर्षों का सही परिचय नहीं मिल पाता, वह तो केवल कृतियों से ही लेखक का मूल्याकन करता है और आलोचक रचना का मनोनुरूप विश्लेषण स्वरूप शवच्छेद करते हैं। इस श्रेणी के त्रियामिक विशाल चित्रफलकवाली औपन्यासिक कृतियों का सही मूल्यांकन कुछ काल बाद ही हो पाता है और क्षणै-क्षणै यन्नवताम् उपैतितदैवरूपम् रमणीयतायाः—इस प्रकार इसमें निरंतर रमणीयता का अनुभव होता है। पाठक कथाप्रवाह से शरबिद्ध शावक के समान बंधा रहता है। प्रियवर प्रभु ने आपको अपना जन समझ कर समाज को कुछ देने की प्रेरणा उत्पन्न की है—जेहिपर कृपा करे जनजानी, कविउर अजिर नचावैहि बानी। आपके हृदय में 'बानी' का नृत्य हो रहा है। वीणा पाणि के वीणा के स्वर अपूर्व रंजकता उत्पन्न कर रहे हैं। विश्वास है इस स्वरलहरी के प्रभाव से अनेक कथानक एवम् अनेक कृतियों के प्रारूप अंकुरित होते रहेंगे। आपके हृदय में प्रभु की कृपा से प्रांजल प्रकाश अनेक रचनाओं का चित्रफलक, सुचित्रित रूप में उपस्थित करेगा। जय

ण्ड्दार्य महेश्वर।

जयकटाहसम्भ्रमभ्रममन्निलिम्पनिर्झरी-
विलोलवीचिवल्लरी विराजमानमूर्द्धिनि।
घगद्धगद्धगज्जवल्ललाट् पट्टपावके
किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणनव।
ऊं नमः शिवाय। ऊं नमः नमस्कराय।।
ऊ नमः शिवतराय।
ऊ नमः शिवप्रसादाय। ऊ शिवाय नमः।।

सोमवती अमावस्या 6 2 89 — *गंगासहाय पांडेय*
सवत् 2045
काशी

नीला चांद : सामंती-मूल्यों और जनता का द्वंद्व

• मधुरेश

अनेक कारणों से लेखक ऐतिहासिक काल-खडों, व्यक्तियो और घटनाओ की ओर मुड़ते रहे हैं और उनसे प्रेरणा पाकर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचना करते रहे हैं। जब कोई लेखक किसी विशेष कालखड को, जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्ति और घटनाए स्वत आ जाती हैं, अपनी रचना का आधार बनाता है तो इसके लिए उसे एक दोहरी यात्रा संपन्न करनी होती है। उसकी यात्रा यदि एक ओर अतीत की ओर उन्मुख होती है, अनेक विघटित बाह्य और अंतरग परिवर्तनों को पकडने के लिए, तो दूसरी ओर वह अतीत से वर्तमान की ओर भी धावित होती है, क्योंकि अतीत का पुनः सर्जन एक महत्त्वपूर्ण कार्य होते हुए भी अपने में स्वय कोई लक्ष्य नहीं हो सकता। रचना की सामाजिक भूमिका के प्रति सजग लेखक इसकी सीमाए भली-भांति समझता है। किसी भी ऐतिहासिक सांस्कृतिक अभिरुचियों वाले लेखक में हिंदुओ की शाश्वत कही जानेवाली नगरी काशी के प्रति अनेक प्रकार की जिज्ञासाओ का उपजना स्वभाविक है—विशेषकर एक ऐसे लेखक में जो हजारीप्रसाद द्विवेदी की सांस्कृतिक विरासत के प्रति गहरी श्रद्धा रखने के साथ ही अपने जीवन के प्राय चार दशक इसी काशी में बिता चुका हो। दस वर्ष के सुदीर्घ अतराल के बाद शिवप्रसाद सिंह का 'नीला चांद' इसी मध्यकालीन काशी को केंद्र में रखकर लिखा गया एक महत्त्वाकांक्षी उपन्यास है। यह उनकी प्रस्तावित काशी-त्रयी का पहला खंड है जिसमें उन्होंने ग्यारहवीं शताब्दी की काशी को उसकी समग्रताओं में अंकित करने की कोशिश की है।

अपने उपन्यास 'नीला चांद' की भूमिका में लेखक ने इस विशिष्ट काल-खंड को चुनने के कारणों का उल्लेख किया है—'मैं मध्यकाल की वह काशी देखना चाहता था जो विदेशी आक्रांताओं से पहले थी। मुझे तदनुरूप किसी ऐसे समय को ढूंढ़ना था जिसने त्रिकंटक को भी हिला दिया हो, जहां 'धगद्-धगद्-धगद् ज्वलम्' के भीतर नंदीश्वर के ज्योतिर्लिंग ने विशाल स्तंभ की तरह धरा और आकाश को जोड़ दिया हो। वह समय मिल गया, जब कर्ण कलचुरी ने देववर्मा चंदेल की

हत्या की। पूरी जुझौती को रौंदकर कर्णमेरु प्रासाद में अपने चारणों द्वारा नयी विरुदावली सुनी यानी 'काल' काल जराधिपतये' कांलजर अधिपति का काल। गाहड़वाल कर्ण के पिता गागेयदत्त के जमाने से ही जी मसोस कर रह गये, क्योंकि आवश्यक अश्वों और आरोहियो से अपने को सज्जित नहीं किया था। लक्ष्मी कर्ण ने अपने पिता की ही तरह गाहडवालों को मामूली सामत मानकर हमेशा दबाये रखा। उस समय की काशी है यह यानी ईसवी 1060 की।' (नीला चांद, भूमिका, पृ 9)। इसी उल्लिखित काल-खंड मे कार्तिक से लेकर फाल्गुन में महाशिवरात्रि तक की घटनाओ को आधार बनाकर इस बृहद्काय उपन्यास की रचना की गयी है। बडे भाई देववर्मा की हत्या और उनके शव के साथ सती हो जानेवाली मातृस्वरूपा भाभी की स्मृति को मन में रखकर चदेलकुमार कीर्तिवर्मा इसके प्रतिकार को प्रतिबद्ध होता है। अपने कुछ विश्वस्त साथियों के साथ, चदेल राजवश की राजधानी खर्जुरवाह के पतन के बाद वह छद्मवेश में काशी आ जाता है। यहां रहकर वह एक ओर सैन्य-संगठन एव भावी रणनीति तैयार करना चाहता है, दूसरी ओर शत्रु के निकट रह कर ही अपने को सुरक्षित मानता हुआ उसकी गतिविधियो पर दृष्टि रखना चाहता है।

कीरतसिह अर्थात् कीर्तिवर्मा के काशी आते ही घटनाचक्र कुछ इस प्रकार घटित होता है कि छद्म रूप मे काशी में रहने की उसकी योजना गडबडा जाती है। काशी उस समय दो राजवशो के बीच बंटी हुई थी। एक ओर काशी में कलचुरी राजा कर्णदेव का शासन था तो दूसरी ओर एक आपसी अनुबध के तहत, गाहडवाल नरेश चद्रदेव काशी के दूसरे राजा माने जाते थे। लेकिन व्यावहारिक रूप मे सत्ता और अधिकार राजा कर्णदेव के ही हाथ मे थे और राजा चंद्रदेव के संरक्षण में रह रही प्रतिहार सामत सोमेश्वर की कन्या गोमती का वामाचारियों द्वारा अपहरण किये जाने पर संयोगवश कीरत को उसके रक्षार्थ तत्पर होना होता है जिसके परिणामस्वरूप छद्म रूप मे उसका रहना उतना सुरक्षित नहीं रह जाता और उसकी तथा उसके अश्व 'प्रचड' की दुर्दम्य भूमिका के कारण गोमती की रक्षा तो हो जाती है लेकिन घटनाक्रम वैसा ही शांत नहीं बना रहता जिसकी आशा में उसने काशी प्रवास की योजना बनायी थी।

गाहडवाल नरेश चद्रदेव के पौत्र युवराज गोविंद को अपने संरक्षण में लेकर कीरत एक संयुक्त मोर्चा बनाता है और जन-सपर्क एवं संगठन द्वारा अपने खोये हुए राज्य को पुन प्राप्त करने के लिए संघर्ष करता है। उसका यह संघर्ष केवल अपने खोये हुए राज्य को पुन: प्राप्त करने के लिए ही न होकर उससे बहुत बडा और व्यापक है। इस संघर्ष द्वारा एक ओर यदि वह अपनी खोई हुई धार्मिक-सास्कृतिक अस्मिता की पुनर्प्रतिष्ठा करना चाहता है तो दूसरी ओर अपने आचरण द्वारा सामती समाज के लिए एक ऐसा उदाहरण भी प्रस्तुत करना चाहता

है, तत्कालीन परिस्थितियों में जिसे काफी-कुछ एक क्रांतिकारी आकांक्षा भी माना जा सकता है क्योंकि उसके मूल मे जन-संपर्क और जन-संगठन के परिणामस्वरूप पुनर्गठित सामंती समाज का एक ऐसा आदर्श है जिसे भारतीय इतिहास में सामंतवाद के प्रगतिशील पक्ष के रूप में रेखांकित किया जाता रहा है।

कीर्तिवर्मा सत्ता और अधिकार-मोह से मुक्त एक वीतरागी किस्म का युवक है जो अपनी युवावस्था में ही संसार के प्रति वैराग्य-भाव के कारण बाकायदा संन्यासी बनकर देश-भ्रमण कर चुका है। बड़े भाई देववर्मा की हत्या और भाभी के चितारोहण के पश्चात् आपदधर्म के रूप में वह राज्य स्वीकार करता है और उस स्थिति में उत्तराधिकार के नाम पर उसे एक ध्वस्त राज्य, विघटित सेना और असुरक्षित जीवन ही मिले हैं। अपने शौर्य, उत्साह, रणनीति और सबसे अधिक जनता के सहयोग से वह नयी सेना गठित करके बहुत थोड़े समय में ही वह अपने खोये हुए राज्य और प्रतिष्ठा को वापस लौटा लेने में सफल होता है। वह गहरी धार्मिक आस्था का युवक है जो महीने मे चार व्रत रखता है, माता विंध्यवासिनी के दर्शन के बाद व्रत का उद्यापन करता है और यज्ञोपवीत धारण करता है। उसके संदर्भ मे धार्मिक सामरस्य का वैसा सुविस्तृत अकन लेखक ने नहीं किया है जैसा नागराजराव ने 'पट्ट महादेवी शतला' मे तत्कालीन धार्मिक असहिष्णुता के बीच धार्मिक सौमनस्य की खोज के रूप में किया है। लेकिन फिर भी कुल मिलाकर वह धार्मिक दृष्टि से एक सहिष्णु एवं उदार व्यक्ति है जो धार्मिक रूढियों तथा धर्म मे अंतर करना जानता है। मां शीलभद्रा के शव के पास प्राय· सारे धर्मों से सबद्ध लोगो की उपस्थिति का आग्रह उसके इस धार्मिक सामरस्य की ओर ही सकेत करता है--'उनके शव के पास आचार्य राहुलभद्र 'धम्मपद' का पाठ कर रहे थे, मीनाक्षी भागवत में तल्लीन थी और झुंड के झुंड शैवयोगी शिव महिमा का पाठ कर रहे थे।' (पृ 409)

वह सामंती व्यवस्था का प्रतिनिधि होकर भी उसके विरुद्ध संघर्षरत है। उसका सघर्ष सामतवाद की भोगवादी दृष्टि और शौर्य के नाम पर राजाओं के उच्छृंखल आचरण से है। उसकी सराहना करता हुआ सूरजगोंड आवल्ल देवी से कहता है--'जिसने न कभी मदिरापान किया है और न पर-स्त्री संभाषण'--अपने आचरण में योगी की कठोरता अपनाते हुए भी वह गृहस्थ जीवन को मर्यादा देनेवाला व्यक्ति है। वह न गद्दे पर सोता है, न बैठता है। कठोर आस्तारण उसके दैनिक उपयोग की वस्तु है। पिगला और भर्तृहरि के प्रसंग में वह भर्तृहरि की आलोचना करता है क्योंकि उसने गृहस्थ धर्म का प्रत्याख्यान करके निवृत्त मार्ग को स्वीकार किया है। लेकिन उसके आचरण से अभिभूत भर्तृहरि उसकी सराहना करता हुआ कहता है--'वह योगी है, उसे जीतनेवाला अभी कोई पैदा नहीं हुआ।' (पृ. 485)। वह कीरत को अपने गुरु गोरखनाथ के समान बताता है। कर्णदेव के जामाता जातवर्मन द्वारा

मीनाक्षी के अपहरण के प्रसंग में, उसके आचरण द्वारा, प्रकारांतर से वह सामंतवाद के भोगवादी उच्छृंखल जीवन की ही आलोचना कर रहा होता है—'अधम और छिछोरे लोग राजवंशों की उदात्त परंपरा को स्वार्थांध होकर इतना मोहित बना देंगे कि लोग एक दिन अपने को राजा कहने मे भी लज्जा का अनुभव करेगे। भ्रष्ट सामंती राज का इतना घिनौना रूप मैने कभी नहीं देखा है।' (पृ 446)। मीनाक्षी और सुनंदा के सदर्भ में उसके सुरक्षा प्रयत्न यदि एक ओर नारी के प्रति उसकी जाग्रत श्रद्धा का संकेत हैं तो दूसरी ओर कला के प्रति सामंती समाज की भोगवादी दृष्टि का प्रत्याख्यान भी हैं। कलचुरीराज कर्ण देवी की पराजय वस्तुत इसी भोगवादी जीवन-दृष्टि और सामंती उच्छृंखलता की पराजय है जिसकी समाप्ति पर एक लोकहितकारी कला को संरक्षण देनेवाली और धार्मिक दृष्टि से कैसी भी कट्टरता के विरोध में धार्मिक सहिष्णुता और सामरस्य को प्रश्रय देनेवाली व्यवस्था का उदय होता है जिसका प्रतिनिधि रूप कीर्तिदेव चंदेल में समुपस्थित है। लेकिन कीर्तिवर्मा का चरित्र जितने भव्य और आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया है उसे देखते हुए रणजीत देसाई के 'स्वामी' की तरह 'नीला चांद' भी सामतवाद की गौरवगाथा जैसा लगने लगता है।

उपन्यास के अनेक पात्र अनेक रूपों में उसके चरित्र का मूल्याकन करते हैं। मां शीलभद्रा कीरत के सबध में गाहडवाल युवराज गोविद से कहती है—'अपराजेय होते हुए भी वह शिशु की तरह लगता है (पृ 374)।' कृष्णमिश्र उसकी सराहना करता हुआ कहता है—'लोग कहते हैं सामतवादी व्यवस्था में कवि कलाकार एक व्यक्ति के, या इसी प्रकार के कुछ श्रेष्ठि-साहूकारों के मनोरंजन के लिए जीवन के यथार्थ को कामुकता मे बदलते रहते हैं, पर कीरत जैसे लोग इस निष्कर्ष को झूठा कर देते है।' (पृ 11)। कीर्तिवर्मा मे सामतवाद के सारे आदर्श एक जगह एकत्रित करके इस समूची व्यवस्था को महिमामडित करने की कोशिश की गयी है। वह शौर्य का मूर्त रूप है और यह विवेक उसके पास है कि उस शौर्य का उपयोग किसके पक्ष तथा किसके विरुद्ध किया जाता है। काशी प्रवास मे उसका भेद इसीलिए गुप्त नहीं रह पाता क्योंकि आते ही संयोगवश उसे कापालिक तान्त्रिको द्वारा अपहृत गोमती की रक्षा में अपने खड्ग का प्रयोग करना पड जाता है। इस अभियान मे उसके अश्व 'प्रचड' की भूमिका और कापालिक के कंधे को काटता हुआ अश्व की पीठ तक धंस जानेवाला उसका खड्ग अंतत उसका भेद खोल देते है। शंकुधारा स्थित भद्रवन शाक्त तांत्रिकों के उत्सव मे कृष्णमिश्र की रक्षा, मीनाक्षी और सुनंदा के सुरक्षा-अभियान, पंद्रह दिन निरंतर अश्व दौडाकर उद्‌भाड से खजुराहो तक की सकटपूर्ण यात्रा और कलचुरी कर्णदेव की सभा मे एक निश्चित दूरी से बाण सधान द्वारा उसका दर्पदलन आदि उसके शौर्य के कुछ उदाहरण हैं। रणनीति एव रणकौशल इसी शौर्य के अनिवार्य अंग हैं। 'त्रिशूल'

तथा 'सप्राचि' को उसकी योजनाएं अति नीति-निपुणता का परिणाम हैं। निःसंबल और निःसहाय होकर भी जुझौती की जनता को संगठित करके अपने असंभवप्राय उद्देश्य में कृतकार्य होना उसके इसी अति माननीय शौर्य का प्रतिफल है।

गोमती गाहड़वाल दुर्ग में शरणागत कान्यकुब्ज अप्रतिम योद्धा सामंत सोमेश्वर की एकमात्र संतान है। कीर्तिदेव द्वारा अपने जीवन और सम्मान की रक्षा के बाद उसके प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक रूप में विकसित हुआ है। कीरत के प्रति अपने इसी राग-भाव को व्यक्त करते हुए वह आर्य सुबोध से कहती है—'वे अपने कष्टों मे मुझे भागीदार बनाने को तैयार नहीं होंगे तात, मैं जानती हूं। पर मैं शीश पर चढ़नेवाला अगस्त्य पुष्प नहीं, चरणो को धोनेवाली गोमती के रूप में भी उनके निकट रहने का प्रण कर चुकी हू।' (पृ 158)। उसकी इस दृढ़ता और समर्पण का प्रतिफल मिलता है, सघर्ष थमने की प्रतीक्षा किये बिना ही मां शीलभद्रा उन दोनो को अत्यत सादे ढंग से परिणय-सूत्र में बांध देती है। मां शीलभद्रा उसे 'लयात्मक वेणुगीत' की संज्ञा देती है और आर्य गोपाल भट्ट उसे 'साक्षात् वैष्णव शक्ति' के रूप में देखते है।

उसके रूप से सुनदा जैसी सौंदर्यशालिनी एवं कलावती युवती भी सहज ही अभिभूत हो उठती है—'सुनंदा ने बहुतेरी रूपवतियां देखी थीं, अनेक रूपांगनाएं भी, पर आखो के सामने पिघले स्वर्ण का लहराता हुआ समुद्र उसने पहली बार देखा था। सुनहले केश और नीली आखे, केशों से ढंका मुख-मडल श्वेत सहस्रदल कमल की तरह छूने को आमत्रण दे रहा था...'(पृ. 557)। लेकिन इस अपरूप सौंदर्य के पीछे दुर्गम्य मानसिक एवं शारीरिक शक्ति भी छिपी है जिसके कारण वह कठिन से कठिन स्थिति में भी विचलित नहीं होती। तात्रिक-कापालिकों से उसकी मुक्ति के बाद कीरत पर उसके प्रथम प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा गया है—'जिस पर अचानक घटी विपत्ति का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं था। घोर संकट में पड़ी अबला नहीं थी वह। विवश थी पर अकंप भी...'(पृ 74)। वस्तुतः सौंदर्य और शक्ति का यह समवाय ही गोमती के चरित्र को एक ऐसा वैशिष्ट्य देता है जिसके कारण वह सामती समाज की नारी होकर भी उससे अलग लगने लगती है। वृंदावनलाल वर्मा की वीर रमणियो की भांति वह घोडे पर चढ़ सकती है, शस्त्र चला सकती है और धनुर्विद्या में असाधारण लाघव की स्वामिनी है। यद्यपि यह सूचना के स्तर पर ही प्रेषित है, लेकिन सोना के साथ दो सहस्र कलचुरी सैनिकों के विनाश का श्रेय उसे भी मिलता है। वह पुरुषवेश में 'रिपुंजय' नामक अश्व पर चढकर अकेले वरुना पार करती है और मत्स्योदरी पहुंचती है यद्यपि कीरत उसके इस दुःसाहस पर क्रोध भी करता है। स्वयं वैष्णव होकर शैव कीर्तिवर्मा का वरण करके जैसे वह धार्मिक सौहार्द और सहिष्णुता की दिशा में आगे बढती है। संघर्षों के बीच कीरत के साथ उसके दांपत्य शृंगार के चित्र अत्यंत संयत ढंग से उकेरे गये हैं।

शीलभद्रा के रूप मे ऐसी स्त्री की परिकल्पना की गयी है जो युवावस्था में अनेक अपमान और लांछन सहकर, पति के अनाचार के परिणामस्वरूप यौवन के सर्वाधिक आकर्षक अंग को खोकर जो आध्यात्मिक विलास द्वारा श्री मां की कोटि तक उठ जाती है। जिस काल-खंड का चित्रण 'नीला चांद' करता है। (1060 ई.); उसके पूर्व की अनेक घटनाओ की साक्षी वह स्वय है। कीर्तिदेव के दादा महाराज विद्याधर देव से, पतिगृह से निष्कासन के बाद, उनका आत्मीय एवं अंतरग संबध रहा है। लोग इसे लेकर आज भी उन्हें लांछित करने में कोई कसर नहीं छोडते लेकिन वे दोनो ही—विद्याधर देव और शीलभद्रा—जानते रहे हैं कि संबंधों की शुचिता और मर्यादा का अर्थ क्या होता है। बंगाल की कन्या होने पर भी अब वर्षों से काशी उनका घर है। अछूत और अस्पृश्य कहे जानेवाले लोगों के प्रति उनकी सद्भावना की कोई सीमा नहीं है। पति द्वारा लांछित करके निकाल दिये जाने पर जो केवट नौका से उन्हे काशी लाया था वह जीवन-भर उनका मुहबोला भाई बना रहता है और उसके परिवार से वह आजीवन उसी सूत्र मे बंधी रहती हैं।

अपनी साधना द्वारा यह शक्ति उन्हें सहज प्राप्त है कि किसी की आखो में झाककर वह उसके अतीत को यथातथ्य कह देने की क्षमता रखती है। कृष्ण मिश्र उनके विरोध से शुरू करके समादर और हार्दिक श्रद्धा तक पहुचता है। उनके कौतुकपूर्ण आदेश पर, जिसमे व्यग्य की अतर्धारा भी स्पष्ट है, वह महेश शूद्र के हाथ का पानी पीकर जीवन के एक नये सत्य का साक्षात्कार करता है। उनका आग्रह केवल 'सत्य के अन्वेषण' पर है, शेष सब झूठ है। शांति और प्रार्थना से कार्य सिद्ध होने पर उन्हें शक्ति-प्रयोग पर भी कोई आपत्ति नहीं है। बसती के प्रसंग में, उसे महामुद्रा बनाकर उस पर अनाचार करनेवाले तीनो वज्रयानी कापालिक जब किसी प्रकार जाने को तैयार नहीं हैं तो वे नेत्र मूदकर काल-भैरव का आह्वान करती हैं और विशालकाय कुत्ते आकर उन कापालिकों का मांस नोच लेते हैं। बौद्ध धर्म की वर्तमान विकृतियों के विरुद्ध होकर भी वे उसके वैयक्तिक साधनापरक रूप की प्रशसिका है और अनीश्वरवादी बौद्ध चितक बोधिधर्म कृत 'लकावतार' की परपरा को विस्तार देना चाहती हैं जो दुर्भाग्य से बौद्ध धर्म में भी अग्राह्य बनी रही है। उनकी मृत्यु पर सर्वधर्म सम्मेलन का आग्रह उतना स्वत स्फूर्त न होकर भी वस्तुत उनकी उसी मानसिक स्थिति के प्रति श्रद्धाजलि है जिसमें धर्म संकीर्णता से ऊपर उठकर गौरव पाता भी है और देता भी है। शीलभद्रा को श्री मां के रूप में प्रस्तुत करने का आग्रह 'उत्तर योगी' का अवशिष्ट खुमार भी हो सकता है जिसके प्रति शिवप्रसाद सिह का गहरा लगाव रहा। यही कारण है कि सारी उठापटक के बाद भी उनका चरित्र गोमती की तरह मौलिक नहीं लगता क्योंकि आधुनिक आशयों से लेकर हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनेक स्त्री-पात्रों

की छवि उसके मौलिक स्वरूप को प्रभावित करती रही है।

'नीला चांद' का फलक बहुत विस्तृत है। वह एक विशेष काल-खंड की अनेक धार्मिक-सांप्रदायिक हलचलों एवं सास्कृतिक-दार्शनिक रुझानों को समेटकर आगे बढता है। इसमें मुख्य रूप से तीन राजवंशों की कहानी है और प्रतिहार सामंत सोमेश्वर का परिवार गौण रूप मे शामिल है। लेखक अनेक बार, अनेक प्रमुख पात्रो द्वारा जुझौती की जनता के जागरण और सगठन का आह्वान करता है। इसके लिए छोटे-बडे अनेक पात्रो की सृष्टि उसने की है। कलचुरी राजा कर्णदेव उसकी हूण पत्नी आवल्लदेवी, पुत्र-पुत्रियां और जामाता आदि अनेक अच्छे-बुरे पात्र यहा मौजूद हैं। गाहडवाल नरेश चद्रदेव का पौत्र युवराज गोविंदसिंह किशोरावस्था पार करके यौवन की देहरी पर खडा है जो कीरतसिंह को बड़े भाई और गुरु जैसा सम्मान देता है। वह गाहडवाल राजवश के इतिहास का भावी युग-पुरुष है जिसके संकेत यहा भी प्रचुर रूप मे विद्यमान हैं। सेनापति गोपाल भट्ट, अमात्य अनत और चंदेल राजवश के सभा-पडित कृष्णमिश्र, गोमती के पालक और सरक्षक प्रतिहार कवि आर्य सुबोध आदि सघर्ष में कीर्तिवर्मा के साथ खडे महत्त्वपूर्ण लोग है जो अपने शौर्य और निष्ठा के साथ पूरी तरह से कीर्तिवर्मा के प्रति समर्पित है। इनके अतिरिक्त लेखक ने गोड और भील जाति के अनेक आदिवासी पात्रो को अत्यंत सदाशयतापूर्वक गढा और उकेरा है। राजा के प्रति सबधो मे अतिरिक्त अनौपचारिकता पर जार देने से कहीं-कहीं वे अपनी जमीन से जुडे लोग है। सूरजगोड, भरतडोम, जो श्री मा का विशेष प्रीतिपात्र है क्योकि पूजा के फूल वह उसी से मगवाती है, केवल रामचद्र, बब्बर नट, अगोरी का दुर्गपति, अभिमन्यु और उसकी पत्नी कन्ति, कौमुदी, मीनाक्षी, सुनदा, सोना आदि अनेक पात्र उपन्यास में हैं। कीरत और गोमती की विशेष दासी दक्षिणा दासी से अधिक परिवार की आत्मीय सदस्या जैसी है और अत्यत प्रगल्भ भाव से वह इस अधिकार का उपयोग भी करती हैं। इसके अतिरिक्त युवा-शक्ति के केंद्र मे 'त्रिशूल' और 'सप्तार्चि' के अनेक युवक उन मूलस्त्रोतो की ओर सकेत करते है जो किसी जीवित राष्ट्र के गठन और विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

शिवप्रसाद सिह ने 'नीला चाद' मे सन् 1060 के जिस सक्षिप्त कालखंड को अकित किया है, उसमे उत्तर भारत के राजनीतिक, सास्कृतिक स्थिति का एक संश्लिष्ट चित्र देने की कोशिश की गयी है। इससे चौंतीस वर्ष पूर्व सन् 1026 मे महमूद गजनवी, सोमनाथ और काशी के मदिरों को ध्वस कर चुका था। इसके बाद आक्रांताओ के लिए जैसे आर्यावर्त्त का रास्ता खुल गया। असंगठित हिंदू राजा अधिकांशत स्वार्थी और तेजहीन थे जो व्यापक राष्ट्रीय हित की दृष्टि से समस्या और आसन्न संकट पर विचार करने में सक्षम थे। इसी ओर संकेत करते हुए आर्य सुबोध किंचित् विक्षुब्ध और पीडा भरे स्वर में कहते हैं—'भेडिए आर्यावर्त्त मे

घुस रहे हैं...प्रतिहार साम्राज्य के ध्वंस हो जाने पर अनेक राजकुल टुकड़े के लिए जीभ लपलपा रहे हैं। राजा लोग भोग विलास मे, धार्मिक जन अंतश्चेतना के स्वप्नलोक में विलीन रहे है। चाटुकार कवि एक ग्राम का दान पाते ही नपुंसक राजाओं की असत्य विरुदावली के माध्यम से उन्हें लोरी सुना-सुना कर सुला रहे हैं। धर्मस्थानो, मदिरों, विहारों, सघारामों को भूमिदान शाश्वत काल के लिए दिये जा रहे हैं और किसान-मजदूर आटविक जन सभी अन्न के लिए दिन-रात हाहाकार कर रहे हैं (पृ 56)।

धर्म के नाम पर वामाचार एव कापालिकों की तात्रिक क्रियाओ के प्रति बढते हुए आकर्षण को लेखक विस्तारपूर्वक चित्रित करता है। 'मुद्रा' और नरबलि इस कथित धर्माचरण के स्वीकृत विधान थे। कापालिक बौद्धों और वैष्णवो के सघर्ष प्राय' ही रक्त संघर्ष मे बदल जाते थे। बसती के सदर्भ में श्री मां एव बौद्ध कापालिको का संवाद अपनी अंतिम परिणति में, उस युग के एक बडे सत्य को उद्घाटित करता है। इस बात के लिए लेखक की प्रशसा की जानी चाहिए कि वामाचार की विकृतियो को वह सयत ढग से अकित कर सका है। शरद पगारे के 'गंधर्वसेन' की तरह न तो वह उन विकृतियो की अतिरजना द्वारा उनके प्रति रसाग्राही बनता है और न ही आधुनिक स्थितियों को अतीत पर आरोपित कर इतिहास के प्रति एक उच्छृखल और अराजक दृष्टि अपनाता है। अत्याधुनिक शब्दों की अर्थ-दूरिया कहीं-कहीं इस गभीरता को बाधित भले ही करती हों लेकिन फिर भी कुल मिलाकर वह इस दृष्टि से पर्याप्त सजग दिखायी देता है। 'तटस्थता' और 'सह-अस्तित्व' आज की राजनीति मे प्रयुक्त ऐसे ही शब्द समुच्चय है जिन्हे लेखक इतिहास के साक्ष्य पर अस्वीकार करना चाहता है। चदेल नरेश देववर्मा का चरित्र इसका उदाहरण है। इसी प्रसग में कीरत अपनी भाभी से कहता है--'अहिंसा शत्रुओ से घिरे हुए व्यक्ति के लिए नहीं है...वस्तुत' यह पहले दर्जे की मूर्खता है। उन्होंने अहिसा को राजधर्म बनाने का प्रयत्न किया, खजुराहो के जैन मदिर इस बात के प्रमाण हैं ' (पृ 21)। कीरत, आगे चलकर अपने कर्म से ही अपने विचार को सही प्रमाणित करता है।

'नीला चाद' मे सक्रिय इतिहास-दृष्टि इस विघटन के कगार पर खडे आर्यावर्त्त को एक समर्थ तेजस्वी और जनहित मे समर्पित राजा को प्रतिष्ठित करनेवाली दृष्टि है। लेखक जनता की अमूर्त धारणा से बचकर वास्तविक जन-शक्ति के चित्रण का प्रयास करता है। गोंड, भील, केवट, डोम आदि जातियो के अनेक पात्र राजा के संघर्ष मे कधे से कंधा मिलाकर आर्यावर्त्त के पुनर्गठन मे सक्रिय दिखायी देते हैं। गोविंद में घटित रासायनिक परिवर्तन के पीछे आटव्य प्रदेश की यही जनता है और कीरतसिंह तो अपनी जूझौती की इस जनता के यशोगान से जैसे कभी थकता ही नहीं है। इस यशोगान में कभी-कभी प्रगल्भता

और अकारण प्रदर्शन की भावना भी सिर उठाने लगती है। पारसदेव के आदेश पर गुलाब पल्ली के लोग युवराज गोविंद चंद्र के स्वागत की तैयारी में, सफाई-अभियान मे लगे हैं। गंदगी और कूड़े-कतवार से इन निर्धन लोगों का संबंध जोडने पर लेखक का आग्रह कुछ अधिक ही है। ऐसा भी लग सकता है कि जन-संरक्षण एव जन-रंजन की आदर्श सामंती व्यवस्था को और भी गाढा रंग देने के लिए आयासपूर्वक ऐसा किया जा रहा है। जी-जान से अनेक युवक-युवतियां इस कार्य में लगे हैं क्योंकि सेनापति का आदेश है और युवराज पधार रहे हैं। बिरजू जदुवंशी इस कूडे-कतवार को 'दारिद्रय के चिह्न' ही घोषित करता है—जैसे वह स्वय इससे ऊपर और अलग हो। दोनों दरिद्र हैं परंतु दारिद्रय के विषय मे बात कर रहे है। रामचद्र कहता है—'दरिद्र तो हैं ही हम लोग। किसी प्रकार दूध-दही बेचकर जीविका चलाते हैं...'(पृ 216)। लगता है यह सूचना किसी बाहर के आदमी द्वारा किसी दूसरे बाहरी व्यक्ति को दी जा रही है। ऐसे स्थल जनता और लेखक के वास्तविक संबध को बडे सहज ढंग से उद्घाटित कर जाते हैं।

शिवप्रसाद सिह ने 'नीला चाद' की सरचना एव वस्तु-विधान के लिए नाट्यशास्त्र का सहारा लिया है। पूरा उपन्यास तीन खंडों में विभाजित है -मत्तवारणी, मच और नेपथ्य। 'मत्तवारणी' कथा का प्रवेश-द्वार है। जब चंदेल नरेश देववर्मा की हत्या के फलस्वरूप उसकी पत्नी के चितारोहण को कीरत भीगी आखों से देखकर, भावी रणनीति निश्चित करते हुए, इस अपमान के प्रतिकार की प्रतिज्ञा लेता है। इस दृश्य के बाद कीरत काशी-प्रवास के लिए निकल पड़ता है। उपन्यास की प्राय: सारी प्रमुख घटनाए काशी के 'मच' पर घटित होती हैं। अतिम खड 'नेपथ्य' है—जिसमे कीर्तिवर्मा, रणनीति के तौर पर, सुरक्षा की दृष्टि से आटव्य प्रदेश मे शरण लेकर कलचुर नरेश कर्णदेव के विरुद्ध युद्ध का सचालन करके अतत: उसकी पराजय से अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने मे सफल होता है।

तत्कालीन काशी के चित्रण के लिए लेखक के अनेक ऐतिहासिक और धार्मिक ग्रंथों की सहायता से अधिकांशत: तत्सम शब्दोंवाली एक ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जो उपन्यास की अतर्वस्तु के साथ न्याय कर पाने मे सफल भाषा का उदाहरण मानी जा सकती है। लेकिन इस तत्सम-बहुल भाषा के बीच उर्दू-फारसी के अनेक ऐसे शब्द भी आ जाते है जो इस भाषिक संतुलन को गडबड़ा देते हैं और रचना की अतर्वस्तु मे बेमेल से लगते हैं—बेगाना, कबीला, नीलाम, बर्दाश्त, रखैल, पेशा, अजूबा, बशर्ते, मासूम, नाबदान आदि—अनेक ऐसे शब्द उद्धरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते है।

अत में एक ही सवाल बचा रहता है। यह 'नीला चांद' किसका प्रतीक है ? किसी प्रतीक के आधार पर रचना का नामकरण उसके कलात्मक उत्कर्ष

को बढ़ाता है और रचना को एक प्रीतिकर अर्थविस्तार देता है। लेकिन दुर्भाग्य से 'नीला चांद' के साथ ऐसा नहीं है। शीर्षक के लिए प्रयुक्त प्रतीक रचनावस्तु का अनिवार्य अंग नहीं बन सका है। शुरू मे लगता है कि नीला चाद गोमती के लिए प्रयुक्त प्रतीक है जिसके माध्यम से उसके सौंदर्य एवं शुचिता की ओर सकेत करके, लेखक अतत· सामती जीवन में दाम्पत्य मर्यादा और स्त्री के गौरव का बखान करना चाहता है। लेकिन ऐसा नहीं है। उद्भाड मे चौका-बर्तन करनेवाली महासफवी इस प्रतीक का अर्थ उद्घाटित करती हुई कीरत से कहती है—'इस महान्, असीम और अथाह आकाश की तरह सबके मन मे भी एक आकाश होता है। वहा की अमावस्या महीने-महीने आनेवाली अमा से लाख गुना अधिक बोझिल, असह्य, आंखों को विजडित करनेवाली होती है। बेटे, जैसे हर व्यक्ति के अदर एक आगन है, एक तुलसी चौरा है, वैसे ही सबके छोटे-छोटे आकाश मे एक नीला चाद भी होता है। ढकोसलों से नहीं, नियति को जाननेवाली दांभिको की भविष्यवाणियों से नहीं, तू खुद कालिमा में डूबकर अपने मन के आगन मे जगमगाता नीला चाद देख लेगा, उसका नाम है अमोघ इच्छा-शक्ति।' (पृ 645)। इस प्रकार एक अमोघ इच्छा-शक्ति के रूप में 'नीला चांद' की व्याख्या वस्तुत· एक आरोपित प्रतीक का उदाहरण है जो रचना के अदर से न उभरकर उस पर बाहर से आरोपित दूरारूढ प्रतीक है। स्पष्ट ही वह रचना को अर्थ-विस्तार न देकर, उस पर बोझ बनकर, अपना सारा आकर्षण खो देता है।

[समीक्षा जनवरी-मार्च 1989 से साभार]

सबके अपने-अपने आकाश में नीला चांद

• बलराम

प्रख्यात कथाकार शिवप्रसाद सिंह के द्वारा बृहत उपन्यास नीला चांद का रचा जाना और फिर उसका साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत होना एक युगांतरकारी घटना है, क्योकि यह तथाकथित आधुनिकता और प्रगतिशीलता, दोनों की सांझी पराजय का क्षण है और यही वह क्षण भी है, जिसमे आंदोलनधर्मी साहित्यकारों के हवामहलों के कंगूरों को ढहते हुए भी देखा जा सकता है और इसी क्षण में देखा जा सकता है जीवन और साहित्य का वह चरम सत्य, कि आज और अभी पर केंद्रित दृष्टि में दोष है, उसे आज और अभी पर केंद्रित न होकर भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों पर केंद्रित होना चाहिए, अपनी प्राचीन साहित्यिक सांस्कृतिक परंपरा से विमुख होकर जिसे हम दिनोदिन खो रहे हैं और इस बात को शिवप्रसाद सिंह की नगरी काशी के ही दो साहित्यकारों का संदर्भ देकर आसानी से समझ सकते हैं—प्रेमचंद और जयशकर प्रसाद। न जाने किस अति के मुहाने पर खडे होकर हमने इन दो साहित्यकारों में एक जयशंकर प्रसाद की तरफ पीठ कर ली थी और दूसरे, प्रेमचद की तरफ मुंह, यानी वर्तमान के बरक्स अतीत को बिसरा दिया था, जिसके सवाहक थे जयशंकर प्रसाद। अरसे तक सिर्फ प्रेमचंद को देखा जाता रहा, सिर्फ प्रेमचंद को प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा। जयशंकर प्रसाद की दृष्टि को गलत और प्रेमचंद की दृष्टि को सही मानने की जिद वस्तुत: गलत थी, क्योंकि अपने-अपने तरीके से हमारे इन दो पुरखों ने हिंदी भाषा और साहित्य का भंडार भरकर उसे समृद्ध किया। वस्तुतः इन्हें एक ही सिक्के के दो पहलू मानना गलत नहीं होगा, क्योंकि एक वर्तमान को खंगाल रहा था और दूसरा अतीत को और अपने-अपने तरीके से दोनों भारतीय मनुष्य में स्वाधीनता और समता की आकांक्षा जगा रहे थे, दोनों ही गुलामी से लड़ रहे थे और अब समकालीन भारत की अराजक स्थिति को मानो सिक्के के दोनों पहलुओं का स्वामी होकर शिवप्रसाद सिंह अपने महाकाव्यात्मक उपन्यास नीला चांद में हमें बता रहे हैं कि वर्तमान को वर्तमान के जरिए देखनेवाली प्रेमचंद की आंख तो सही है ही, वर्तमान को इतिहास की

आंख से देखनेवाली जयशंकर प्रसाद की आंख भी गलत नहीं है और बाबू वृंदावनलाल वर्मा जिसकी अगली कडी हैं, जैसे प्रेमचंद की अगली कड़ी फणीश्वरनाथ रेणु है, मगर इतिहास अपने को हू-ब-हू कभी नहीं दोहराता, इसलिए इनमें पर्याप्त निजता और वैशिष्ट्य है, मगर इतिहास बोध इन दोनों में भी कम नहीं है।

इतिहास से आंख चुराकर रहा तो जा सकता है, मगर सुसस्कृत नहीं हुआ जा सकता है, मानो यही बताने के लिए शिवप्रसाद सिंह ने 'नीला चांद' की रचना की है। वे हमें बताते हैं कि हालाकि इतिहास में जीना नहीं है, मगर अपने इतिहास को तो हमें जीना नहीं पड़ता है और आगे जाने के लिए इतिहास की आग, हवा, मिट्टी और पानी से गुजरे बिना काम नहीं चलता। इतिहास-बोध के बिना कुछ दूर चलकर हम पंगु हो जायेगे, मगर इतिहास से इतिहासकार के गुजरने और साहित्यकार के गुजरने में बडा फर्क है और पाठक के तो और भी ज्यादा। इस फर्क को समझने के लिए भी 'नीला चाद' पढ़ना जरूरी है ताकि यह जाना जा सके कि कोई साहित्यकार जब खुद को इतिहास के बीच से गुजारकर कुछ रचता है तो कितना साहित्य बनता है और कितना इतिहास अर्थात् इतिहास का क्या होता है और साहित्य का क्या होता है ? किसका क्या बनता-बिगडता है ?

अतीत (इतिहास) में घुसकर वर्तमान की व्याख्या करना दोधारी तलवार पर चलने जैसा कठिन काम है, क्योकि इस पर चलते हुए आपने अपनी मर्यादा का जरा-सा भी हनन किया नहीं कि आपका सहार निश्चित है। ऐसा इतिहासकार के साथ हो सकता है और साहित्यकार के भी, क्योंकि दोनों की अपनी-अपनी मर्यादाएं है और अपनी मर्यादाओं का हनन यहा पर आत्मसंहार जैसा ही है। इतिहासकारों के बारे में तो इतिहासकार जाने, मगर साहित्य में इसे राहुल सांकृत्यायन, रागेय राघव, वृदावनलाल वर्मा तथा भगवतशरण उपाध्याय जैसे सर्जकों ने साधा है और जयशंकर प्रसाद की परपरा को आगे बढ़ाया है। ये लोग इतिहास का उपयोग करते समय प्राय: अपनी मर्यादाओं में बंधे रहे। आज 'नीला चांद' की यह सर्वानुमति स्वीकृति उसके इतिहास-सम्मत होने के कारण तो है ही, लोकसम्मत होने के कारण भी है और इससे एक उपेक्षित और लुप्तप्राय साहित्यिक धारा ऐतिहासिक साहित्य का पुनरोदय हो रहा है, साथ में एकाकी सोचवाली साहित्यिक धारा का अवसान भी।

आधुनिकता और प्रगतिशीलता ने हिंदी कथा-साहित्य को एक ओर जहा अनेक वरदान दिये, वहीं कुछ अभिशाप भी दिये हैं, गो कि इसका कारण आधुनिकता और प्रगतिशीलता में नहीं, उनकी गलत और क्षणवादी व्याख्या में है, जो व्यक्तिवाद को बढावा देती है, जबकि आधुनिकता और प्रगतिशीलता वास्तव मे न तो क्षणवादी हैं और न ही व्यक्तिवादी। आधुनिक और प्रगतिशील हुए बिना न तो आप इतिहास

के आईने में वर्तमान की व्याख्या कर सकते हैं, न ही बृहत्तर मानवीय यथार्थ से खुद को जोड़ सकते हैं। खुशी की बात है कि 'नयी कहानी' की लौह दीवारों को तोड़कर शिवप्रसाद सिंह ने इतिहास में प्रवेश किया और वर्तमान अराजक भारत को उसके कुछ भयावह दृश्य दिखाये और बताया कि किस तरह केंद्रीय सत्ता के कमजोर होने से राष्ट्र बिखरने लगता है और रक्तस्नान करता है जनजीवन और नंगा नाच दिखाती है बर्बरता, जहां मनुष्य का दम घुटने लगता है। नयी कहानी के पुरोधाओं में जैसे 'तमस', 'हानूस' और 'माधवी' के जरिए भीष्म साहनी अतीत की कदराओं में घुसे और कृष्णा सोबती ने जैसे 'जिंदगीनामा' को रचा, वैसे ही 1060 ई के भारत की अनेक अर्गलाएं 'नीला चांद' में शिवप्रसाद सिंह ने खोली है।

जयशकर प्रसाद और प्रेमचद की धाराओं का सम्यक् विश्लेषण करने की प्रेरणा 'नीला चाद' जरूर देता है, मगर उसका न तो यहा अवकाश है, न ही स्थान, उसे फिर कभी अन्यत्र देखेगे, अभी तो यहा हम सिर्फ यही सभव स्वप्न देखना चाहते है कि समकालीन हिंदी कथा परिदृश्य मे जयशकर प्रसाद और प्रेमचद को (विरोधी स्कूलो के बावजूद) परस्पर एक-दूसरे का पूरक मानें न कि विरोधी। अज्ञेय और यशपाल को एक-दूसरे का पूरक मानकर देखने में दृश्य कितना बदल जाता है ? ये जो छोटे-छोटे घेरे बनाकर हम अपने पाठको की घेराबदी कर रहे हैं, वह बडी खतरनाक बात है और अंततः साहित्य के लिए घातक। आओ, सो तो क्या, हिंदी की इस विशाल बगिया मे हजार फूलो को एक साथ खिलाने की कोशिश करें और शिवप्रसाद सिंह के 'नीला चाद' की रोशनी को हर फूल की सुहानी ही लगनी चाहिए। इस रूप मे देखे तो 'नीला चाद' लेखकों के छोटे-छोटे घरौदे तोडकर हिंदी को एक बृहत्तर आकाश देने की कोशिश भी दिख सकता है।

'नीला चाद' से पहले शिवप्रसाद सिंह दो बडे उपन्यास और लिख चुके थे। 'अलग-अलग वैतरणी' तथा 'गली आगे मुडती है'। दूसरा उपन्यास 'गली आगे मुडती है' इसकी काशी विषयक उपन्यास शृंखला की पहली कडी था तो 'नीला चांद' दूसरी। हालाकि चौथा उपन्यास 'शैलूष' आ चुका है, मगर काशी विषयक तीसरी कडी की प्रतीक्षा पाठकों को है।

शिवप्रसाद सिंह के इन उपन्यासो मे 'नीला चांद' सबसे बडा है। आकार मे और आयाम मे भी। इसकी बहु-आयामिता भी संभवतः इसकी इस स्वीकृति का एक कारण है। काशी को केंद्र बनाकर 'नीला चांद' लिखा जरूर गया है, मगर यह एक हजार साल पहले के भारत को, उसके रहन-सहन को, आचार-विचार को और सभ्यता-संस्कृति को जीवंत रूप मे प्रस्तुत करने की एक कोशिश है, मगर जैसा कि हमने पहले भी कहा, यह कोशिश एक साहित्यकार की ऐतिहासिक

कोशिश है, तय है कि उपकरण भी साहित्यिक ही होंगे और उसकी सफलता को मापने के पैमाने भी। इतिहासकार की दृष्टि से इसे देखना इसके साथ नाइंसाफी होगी, क्योंकि अनेक पात्र तो ऐतिहासिक हैं, मगर कीर्ति वर्मा जैसे पात्रो को इतिहास-सम्मत भले ही न कहा जा सके, मगर कृष्ण की तरह वह लोक-सम्मत जरूर ठहरता है, जिसका साहस, पौरुष तथा त्याग भारतीय संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। इस उपन्यास में उस समय के राजनैतिक जीवन के चित्र तो है ही, सामाजिक जीवन के चित्र और चरित्र उससे भी ज्यादा हैं। दरअसल इतिहास केंद्रित उपन्यास लेखक के सामने उत्खनन का मुख्य कार्य यही होता है। 'नीला चाद' जहां सेठों, सामंतों और ब्राह्मणो के प्रमाणिक और जीवत चित्र देता है, वहीं समाज के निचले तबकों के मल्लाहो, डोमो और भिखारियो के भी हृदयग्राही चरित्र उपस्थित करता है।

'नीला चांद' के विषय मे शिवप्रसाद सिंह का खुद का कहना यह है कि ' ''मै (इस उपन्यास में) मध्यकाल की वह काशी देखना चाहता था, जो विदेशी आक्राताओ से पहले थी। मुझे तदनुरूप किसी ऐसे समय को ढूंढना था, जिसने त्रिकंटक को भी हिला दिया हो, जहां 'धगद्-धगद्-धगद् ज्वलम्' के भीतर नदीश्वर के ज्योतिर्लिंग ने विशाल स्तभ की तरह धरा और आकाश को जोड दिया हो। यह समय मिल गया, जब कर्णकल्चुरी ने देव वर्मा चदेल की हत्या की। पूरी जूझौती को रौदकर कर्ण मेरू प्रासाद मे अपने चारणो द्वारा नयी विरुदावली सुनी...गाहड़वाल कर्ण के पिता गागेयदत्त के जमाने से ही मन मसोसकर रह गये, क्योकि उन्होने आवश्यक अश्वों और आरोहियो से अपने को सज्जित नहीं किया था। लक्ष्मी कर्ण ने अपने पिता की ही तरह गाहडवालो को मामूली सामंत मानकर हमेशा दबाये रखा। उस समय की काशी है यह, यानी 1060 की।''

देव वर्मा को अर्द्धांगिनी सती होने से पूर्व अपने देवर कीर्ति वर्मा को अपनी सास भुवना देवी की कही बात बताती है--''राजा देव वर्मा के निरवशी होने का दुख मेरे हृदय मे सूची वेध की तरह चुभ रहा है। अपने पराक्रम से जिस राज्य को श्री हर्षदेव वर्मा ने स्वतंत्र बनाया। राज राजेश्वर थगदेव अनेक बार बाहरी शत्रुओ के आक्रमण की खबर पाते ही पूरी सेना लेकर सिंधु नदी के पास उदभांड पहुंच जाते। उनके यशस्वी पुत्र राज राजेश्वर गडदेव ने यामिनी आक्रमण को ध्वस्त करने के लिए उत्तरापथ के द्वार पर स्थित शाही राजा के निमत्रण पर पूरे सैन्यबल को राजकुमार विद्याधर देव के नेतृत्त्व में भेजा। राजपूतो की सधिबद्ध प्रतिरक्षा को देखकर शत्रु काप उठा। कर्ण के पिता गांगेय देव तथा भोज परमार ये सब राज राजेश्वर परम भट्टारक विद्याधर देव के चरणों में शिष्य की तरह बैठकर अपने को धन्य समझते थे, वही चंदेल साम्राज्य अपने ध्रुव से च्युत होकर बिखरना चाहता है...।'' लेकिन कीर्ति वर्मा ने साम्राज्य को बिखरने नहीं दिया।

बिखराव को रोकने के अभियान मे सत्ताच्युत काशी नरेश प्रभृति और सामंत आदि अभिजन भले ही कोई खास रुचि नहीं प्रदर्शित करते, मगर समाज का निचला वर्ग, जो कर्णकल्चुरी के कुशासन से भयाक्रात था, तुरत ही कीर्ति वर्मा के साथ सगठित होकर सामने आता है और काशी मुक्त होती है। इस मुक्ति अभियान का नायक कीर्ति वर्मा है, मगर वह सिहासन पर नहीं बैठता। यह सिंहासन पर बिठाता है अपदस्थ कर दिये गये काशी नरेश गोविंदचद्र को, जैसे कभी कंस को मारकर कृष्ण ने मथुरा का राज सिंहासन पदच्युत कस के पिता उग्रसेन को सौप दिया था। ठीक इसी तरह कीर्ति वर्मा त्याग का परिचय देकर निष्काम कर्म को प्रतिष्ठित करते हैं और कृष्ण की तरह इतिहास से आगे निकलकर मिथ बनते नजर आते है।

यहा पर प्रश्न उठता है कि 'नीला चाद' क्या कोई इतिहास निर्मित करता है या इतिहास से 'नीला चाद' स्वय निर्मित हुआ ? कीर्ति वर्मा इतिहास की सृष्टि है या उपन्यासकार की ? सीधा-सा उत्तर नहीं है इस प्रश्न का, लेकिन 'नीला चाद' ने इतिहास के सहारे मानवीय इतिहास तो रचा ही है, जो इतिहासकार रच नही सकता, उसे इसकी छूट भी नहीं होती, मगर रचनाकार को रचने की यह छूट होती है और सुखद बात यही है कि शिवप्रसाद सिह ने 'नीला चाद' के बहाने बहुत कुछ रच दिया है। 'नीला चाद' मे अगर धर्म की स्थापना है तो पाखंड का उद्‌घाटन भी कम नही है, असीम सहनशीलता के दर्शन अगर वहा हम करते हैं तो असहिष्णुता भी खूब दिखती है, साफ-साफ। प्राप्ति है तो त्याग भी, उदात्तता है तो सकीर्णता भी। मानवीयता का उत्कर्ष है तो दानवता का नग्न नृत्य भी। पैशाचिकता के साथ देवत्व, कुटिलता के साथ सहजता, भोग के साथ योग, तपस्या के साथ ऐश्वर्य और प्रभुता के साथ दीनता, हीनता के साथ कुलीनता, कहने का मतलब यह है कि जीवन मे जो कुछ भी होता है वह सब 'नीला चाद' मे विश्वसनीयता के साथ हमारे समक्ष साक्षात् हो जाता है और एक विस्मृत युग के विस्मृत लोग इतिहास से निकलकर साहित्य के विस्तृत आकाश मे दीप्त 'नीला चाद' की रोशनी मे नहा उठते है। यह चादनी स्नान इतिहास को शायद इतिहास नही रहने देता, उसे समकालीन जीवन बना देता है, क्योकि चादनी स्नान सिर्फ समकलीन लोग ही कर सकते है और यह साहित्य की जीत भले ही न हो, इतिहास की पराजय जरूर है, क्योकि इतिहास के जीवन को साहित्य ने उससे छीन लिया और जब भी यह होता है, अच्छा ही होता है। इतिहास का गुप्त काल जयशकर के हाथों छिनकर जब साहित्य बना तो इतिहास ने मातम नहीं मनाया, क्योकि उससे खुद भी इतिहास कुछ-कुछ सवर गया। ऐसे ही शिवप्रसाद सिंह ने 1060 के आसपास के इतिहास को कुछ नहीं, काफी कुछ सवार दिया है, मगर इतिहास यह नहीं है। है यह उपन्यास ही, मगर यह ऐतिहासिक उपन्यास कहकर इसे इतिहास-सम्मत

भले ही कह लें, मगर बेहतर यही होगा कि इसे सिर्फ उपन्यास कहा जाये।

ऐतिहासिक दृष्टि से 'नीला चाद' का मूल्य क्या है, यह इतिहासकार ही तय करेंगे, लेकिन हम तो सिर्फ यही कह सकते है कि 'नीला चाद' जो है, उसकी रोशनी हरेक को लुभाती है--वह चाहे इतिहासकार हो या रचनाकार, अध्यापक हो या छात्र और 'नीला चाद' तो होता भी सबका अपना-अपना है, तभी तो चौका-बर्तन करनेवाली एक महिला खजुराहो के लिए पलायनप्राय 'नीला चाद' के नायक कीर्ति वर्मा से कहती है · "एक बात गाठ बाध ले। इस महान् असीम और अथाह आकाश की ही तरह सबके मन मे भी एक आकाश होता है। वहा की अमावस्या महीने-महीने आनेवाली अमा से लाख गुना अधिक बोझिल, असह्य और आंखों को विजडित करनेवाली होती है। बेटे, जैसे हर व्यक्ति के अदर एक आगन है, एक तुलसी चौरा है, वैसे ही सबके छोटे-छोटे आकाश मे एक 'नीला चाद' भी होता है। ढकोसलों से नहीं, नियति को जाननेवाले दाभिको की भविष्यवाणियों से नहीं, तू खुद कालिमा मे डूबकर अपने मन के आगन मे जगमगाता 'नीला चाद' देख लेगा, उसका नाम है--अमोघ इच्छा-शक्ति।" यही है कीर्ति वर्मा के संपूर्ण जीवन का निचोड, यही है 'नीला चाद' का सदेश और यही है जीवन को टूटने से बचानेवाली और विजय की ओर ले जानेवाली मानवीय शक्ति।

इस अमोघ इच्छा-शक्ति के बल पर ही कण-सा कीर्ति वर्मा पहाड से कर्णकल्चुरी को परास्त करता है वह करके दिखाता है, जो अपदस्थ काशी नरेश कभी स्वप्न मे भी नहीं सोच सकते थे। डॉ शिवप्रसाद सिंह का यह उपन्यास तलछट मे पडे हुए छोटे-छोटे लोगो के जीवन-वृत्तात को अपने आकार मे समाकर महाकाव्यात्मक उपन्यास बनाता है, जैसे प्रेमचद के पात्र और 'नीला चाद' शीर्ष पर बैठे लोगो का तो वृत्तात है ही, जैसे जयशंकर प्रसाद के पात्र, इसीलिए मैने इस उपन्यास के लिखे जाने को, इसे मिले पुरस्कार को युगातरकारी घटना कहा है, क्योंकि दो ससारो के एक होने के इस क्षण मे 'नीला चाद' हिदी साहित्य की दो धाराओ का संगम कराता प्रतीत हो रहा है और उस अमोघ इच्छा-शक्ति को प्रतिष्ठित करता हुआ भी, जो प्राचीन भारतीय साहित्य मे प्रचुरता से उपलब्ध है। हेमिग्वे कृत 'ओल्ड मैन एड द सी' के बूढे मे यही अमोघ इच्छा-शक्ति तो थी, जिसने मानव जाति की जिजीविषा और सघर्ष क्षमता का शृंगार ही नहीं किया, हेमिंग्वे को नोबेल पुरस्कार का अधिकारी भी बनाया और शिवप्रसाद सिह को... उनका प्राप्य मिलना अभी शेष है।

अमोघ इच्छा-शक्ति की अद्‌भुत शौर्य-गाथा : नीला चांद

• *चंद्रकला त्रिपाठी*

'नीला चाद' प्रख्यात कथाकार शिवप्रसाद सिह का नया उपन्यास है। इस महाकथा की कथाभूमि काशी है। अपनी रचनात्मकता में शिवप्रसाद सिह के लेखक की प्राथमिकता समय का सच लिखने के प्रति सर्वाधिक है। वे व्यक्ति के प्रश्नों का उत्तर ढूंढने की अपेक्षा समूह या संपूर्ण के प्रश्नो का उत्तर पाने के लिए प्रतिबद्ध दिखायी देते है। 'नीला चांद' भी काशी जैसे बुजुर्ग शहर को पूरी तरह जानने की प्रक्रिया का प्रस्थान पर्व है। काशी को सही-सही जानने की अनिवार्यता मानकर ही लेखक ने विदेशी आक्राताओं से पूर्व की मध्यकालीन काशी का वह समय चुना है, जिसने त्रिकटक को भी हिला दिया था—"जहा धगद्-धगद्-ज्वलम् के भीतर नदीश्वर के ज्योतिर्लिंग ने विशाल स्तंभ की तरह धरा और आकाश को जोड़ दिया था।" भयकर सामाजिक सघर्ष से आक्रांत इस समय ने काशी की जनता को, समाज को भयानक उथल-पुथल से मथ दिया है। सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की तहें खुल रही हैं और परस्पर टकरा रही हैं। यह काशी है ईसवी 1060 की।

प्रकाश के अर्थ में प्रसिद्ध अविमुक्तेश्वर, विश्वेश्वर और कृतिवासेश्वर के इस नगर मे स्वर्णाभूषणों, क्षौभ, और्ण्य, रांकब वस्त्रों, मूल्यवान मूर्तियो के बदले विदेशों से अपार धनराशि का प्रवेश हो रहा है। इस ऐश्वर्य से श्रेष्ठियों-सामतों की हासविलास पूर्ण संस्कृति फल-फूल रही है, इस सपन्नता के समानातर श्रमजीवियों, बुद्धिजीवियो और सामान्यजनों का जीवन कठिन होता जा रहा है। भगवान विश्वेश्वर के विराट मंदिर के ठीक सामने आध्यात्मिक आस्था का प्रत्युत्तर देती हुई सी वेशवीथी जिस सांस्कृतिक परिवेश की सूचना दे रही है उसमें धार्मिक साधनाओं के नाम पर बौद्धों का वज्रयान और शाक्तों की पंकिल भोग-विलासपूर्ण साधना-पद्धति पनप रही है। श्रेष्ठियों, सामंतों की अतिशय भोगप्रियता के चलते वज्रयानी और शाक्त कापालिक अध्यात्म और मांसलवासना का सेतु बना रहे हैं।

कामुकता के छलावे में सोचा हुआ जीवन राजसत्ता की सुविधा है। गाहड़वाल शासको की शौर्यविहीनता का लाभ उठाकर लक्ष्मीकर्ण भोगभूमि काशी का अधिपति बना हुआ है। अनार्य आचरण के लिए अभ्यस्त अपनी पाशविक सेना के आतंककारी उपद्रवों के बावजूद कर्ण काशीवासियों की आत्मा में बसे सत्य को छू भी नहीं पाता। ब्रह्मपुरी के विनायक भट्ट, घाटियो, पंडों और ब्रह्मतेज रहित विस्सू मिस्सर जैसे पातकियो में कर्ण स्वीकृत है, गुवाल पल्ली के बिरजू सिंह जदुवंशी के साथ-साथ ऐश्वर्य सुख चाहनेवाले उत्तरी भाग के ग्वालों मे भी कर्ण स्वीकृत है, किंतु बलदेव ओझा, बधुजीव, पारस, मिष्ठानक श्यामू, वस्त्र व्यापारी रूपाढय, ततुवाय रूपचद, कारूश्रेणी के मूलराज, रानू, केवट, रामचद्र महेश, नदीश्वर के आचार्य वृषध्वज, ऋतध्वज के साथ-साथ रत्नेश आदि बुद्धिजीवियों मे कर्ण सर्वथा अस्वीकृत है। काशी मे कालकूट का प्रस्तावक कर्ण है तो काशी का पुरोधा आचार्य कुल स्वाभिमानी प्रजाजन और शिष्टोद्धत समाज इसके समानांतर अमृत का अनुष्ठान कर रहा है। अमृत की इसी शक्ति से बंधुजीव पाखंडी तोता रटत लोलुप ब्राह्मणो के लिए चुनौती बन जाता है। गुवालपल्ली के मस्त मलगो में प्रकट शिवत्व का यही तेज श्री मां को प्रताडित करनेवाले पंडों-घाटियों पर कहर बन कर टूटता है। आस्था की इसी शक्ति से ततुवाय रूपचंद कर्ण की बेटी के सामने कहता है--"कर्णदेव राजा नहीं राक्षस है।"[2]

काशी के बाहरी नक्शे पर स्थित नाना शिवायतनों, भद्रवन, हरिकेशव वन, आनदवन, दारुवन और महावन का बाहरी चेहरा पहचानने के साथ-साथ लेखक ने इस नक्शे का भीतरी चेहरा भी पहचाना है। काशी की आध्यात्मिक भावसत्ता का अस्तित्व वेद-वदाग जाननेवाले ब्राह्मणो, मनुष्य मात्र की शक्ति के प्रति विश्वस्त नास्तिको, धर्मों के साथ-साथ शौर्य का अनुष्ठान करनेवाले शैव आचार्यों, आत्मा का व्यापार न करने के लिए प्रतिबद्ध श्रेष्ठियो, श्रमिकों, गृहस्थों और सगीत-कला की आराधिका, कलानेत्रियो के कारण है...। "इस अतर काशी के नरेश महाविश्वेश्वर भोलेनाथ है, राजमाता अन्नपूर्णा है और नगर के कोटपाल काल भैरव हैं। शिव शरीर के सहस्रार में आसीन हैं, पार्वती कुडलिनी शक्ति है और काल भैरव साधक के योग-क्षेत्र का वहन करनेवाले महाभैरव है।" फूल गली में काशी के इन दोनों चेहरों की साज-सज्जा के पदार्थ उपलब्ध हैं। मत्स्योदरी इस सास्कृतिक नगरी की निर्मलता की भाषा है।

अपनी इसी निर्मलता की शक्ति से काशी कर्ण द्वारा प्रताडित जुझौती के चंदेल युवराज कीतर की कीर्तिकथा बनती है। कीरत की यशगाथा का नेपथ्य जुझौती चेदि कुल कलंक है हयवंशी कण डाहरिया के पाशविक रक्तपात और अग्निकांड की भेंट चढ गयी है। चंदेल राजा देववर्मा की हत्या हो चुकी है। कीरत की भाभी जू ने भी अग्नि समाधि ले ली है। कीरत का वह सब कुछ खत्म हो चुका

है जो उसका निजी और आत्मीय था, जो उसके प्रत्येक विपरीत से विरुद्ध होने की प्रेरणा था। क्षुब्ध कीरत से उस जाग्रत महापुरुष का रहस्यमय भविष्य कथन टकरा रहा है जिसके अनुसार भविष्य पर पाशविक उन्माद से उपजे अनार्य आचरण के काले बादल मडरा रहे हैं। मात्र दो ही विकल्प शेष है--मृत्यु या गुलामी। कीरत मर्माहत है--"जलता हुआ नगर, उठती हुई ज्वाला, चिल्लाते हुए लोग, चटकती हुई लपटें, जात-पात, सामत-मृत्य सैकड़ों तरीके से बंटे हुए लोग क्या कर पायेगे ? क्या यह जर्जर ढाचा तुर्कों के अटूट संगठन और धार्मिक उन्माद को रोक पायेगा।"[4] अपनी मातृभूमि की दुर्दशा से पीडित कीरत मृत्यु चाहता है। किंतु गोपाल भट्ट उसे अनिवार्य प्रतिशोध के लिए प्रेरित करते है। गोपाल भट्ट की सलाह पर कीरत, अनत और कन्हैया मिस्सर के साथ काशी की ओर प्रस्थान करता है। कीरत के पितामह विद्याधर के पूज्य नदीश्वर के आचार्य ऋतध्वज एवं वृषध्वज परमआत्मीय रज्जुक गाहडवाल है। नृपतिचद्र देव काशी के नाम के राजा हैं। गाहडवालो के प्रति वफादार काशी की जनता घोर दरिद्रतापूर्ण जीवन बिता रही है। अनार्य कर्ण के आतकपूर्ण प्रभुत्व का आधार लूट-खसोट, बलात्कार, शिशुओ तथा स्त्रियों का वध एव प्रजा का प्रत्येक प्रकार से शोषण है। कर्ण के विलासी सामतों और उत्तरदायी अधिकारियो की छत्रछाया मे वज्रयानियो कुत्सित शाक्तों, कापालिको का पाखड पनप रहा है। धर्म-अध्यात्म एव ज्ञान-विज्ञान को उसकी गूढ़ता मे जाननेवाले विद्वान् पडित और चितक तिरस्कृत है, जबकि प्रबधक तत्राचारी, धर्म के मूल भाव के प्रति अविश्वस्त पाखडी साधक राजा और विलासलोलुप जनता द्वारा स्वीकृत है। कर्ण की काशी दलालो, दस्यु प्रवृतिवाले वणिकों, उच्छृखल धनलोलुप दिशाहीन नवयुवको और निकृष्ट कर्म के लिए अभ्यस्त ब्राह्मणों और वेश्याओ की काशी है।

काशी की इन विपरीतताओं से टकराने के साथ-साथ पराजित कीरत अपने विमूढ चुप अकेलेपन से टकरा रहा है। रज्जुक गाहडवाल, सुबोधदेव, आचार्य वृषध्वज कीरत के सघर्ष-पथ की शक्ति बनना चाहते हैं। मत्स्योदरी का नील विस्तार उसे बाधना चाहता है किंतु उसके अंतर मे नर्मदा के धूम्रधार की स्मृति है, मरकत की पहाड़ियो के ऊपर गिरते धारास्तर फव्वारे है। कीरत अपने भीतर की गंगा के भवरों, चक्रो से आक्रांत है। उसके भीतर का द्वद्व उसके व्यक्तित्व को मथ रहा है। काशी की तटो की मर्यादा मे सीमित दिन-दिनांत के रगों मे लगातार बदलती गगा ही कीरत को उसकी आतरिक अस्त-व्यस्तता से मुक्त करती है--"नहीं, मैं इस कल्मष भरे वातावरण से पराजित होकर अध्यात्म के खोखले मायाजाल मे बधने को तैयार नहीं हूं।"[5] त्रिशूल की नगरी काशी उसे कठोर वास्तविकताओं से टकराने की शक्ति देती है। "हमें अपनी धोखा देनेवाली बुद्धि के स्थान पर जीवन अश्व की वल्गा को इसी इच्छा-शक्ति के हाथों सौप देना होगा। यह तभी होगा जब हम मानसिक स्तर पर जीवित रहते हुए कर्म से, कष्ट से, वेदना से,

संघर्ष से पलायन न करने का सकल्प करें।"[6] इस सकल्प के साथ ही विद्याधर के इस तेजस्वी वंशज में अद्‌भुत क्षमता का विस्फोट होता है और वह व्यक्ति या व्यक्तित्व से ऊपर एक सस्था के रूप में प्रमाणित होता है। शक्ति, शौर्य और सौंदर्य में असाधारण कीरत एक पारस व्यक्तित्व है। उसके भीतर जीवन को उसके ठोस तर्कों के साथ जानने का साहस ही नहीं अनुत्तरित से टकराने का हठ भी है।

विद्याधर की चतुरग सेना का महानायक गोपाल भट्ट सदैव और सर्वत्र कीरत के इस साहस और हठ से साथ है। गोपाल भट्ट अपनी अतर्प्रज्वलित आस्था के कारण अकुंठ-अपरिग्रही और अद्वितीय है। पूरी कथा मे आस्था का यह महीनपन बना रहता है। जो कुछ भी स्थूल अथवा मानसिक है उस सबकी प्रस्तोता, नियामक शक्ति यही छंदमयी आस्था है। इस पूरी सघर्ष गाथा में गोपाल भट्ट का व्यक्तित्व बहुत बडा होकर उभरता है। प्रतापी दिग्विजयी राजा विद्याधर और उसके प्रपौत्र की लक्ष्यसिद्धि के लिए गोपाल आहुति की तरह जलता है। उसे समर-भूमि से किंचित् भी विश्राम नहीं है। सैन्य विस्तार, सैन्य प्रशिक्षण, सैन्य संगठन और कालंजर से काशी तक के प्रत्येक ऊहापोह, परिवर्तन के प्रति संवेदनशील गोपाल आवश्यकता पडते ही हर जगह उपस्थित हो जाता है। गोपाल भट्ट के पास कीरत के लिए सिर्फ एक प्रश्न है—"कैसे हैं राजन ?" और कीरत मथ उठता है। स्वयं को उन्मादित करनेवाले सवालो के साथ कीरत, यदि कहीं खुलता है तो केवल गोपाल भट्ट के सामने– "उलझे हुए पादपो, पैरो को उलझाती लताओं, उत्तरीय को पकड लेनेवाली झरबेरी, खदिर, अश्वत्थ, वट आदि सघन छायावाले वृक्षो और उनको छू कर आती हुई हवा पता नहीं मेरे रहते इस शरीर को स्पर्श करेगी या नहीं सेनापति ?"[7]

काशी में कर्ण के दमनचक्र से विमूढ पडे गाहडवालों की मुक्ति की नैतिक जिम्मेदारी कीरत लेता है। आचार्य वृषध्वज, ऋतध्वज, रज्जुक, गाहडवाल, सुबोध देव, चम्पक, पुडरीक, सूरज, पारस, नाविक रामचंद, बब्बर नट, भरत डोम, महेसुआ, बधुजीव, बलदेव ओझा, रत्नेश शर्मा, सुनदा आदि तमाम चरित्र अपने भीतर की आस्था के साथ कीरत का पक्ष बनते हैं। कीरत अपने निर्वासन की मारक पीडा को बहुत भीतर उतर कर भोगता है। बाहर से वह बिल्कुल संयत है। अपने आत्मीयो, आश्रितो की रक्षा के लिए तत्पर, भावी महासमर की दिशा में पूरी दृढता से एक-एक कदम रखता हुआ कीरत जीवन की त्रासद जटिलताओ से लगातार टकराता हुआ विद्याधर से कही बडा व्यक्तित्व साबित होता है। प्रस्तर खडो का तकिया, बाजरे की रोटिया, गंगा, नर्वदा और शोणभद्र का पानी अंजुरी में भरकर पीता हुआ कीरत दुर्दांत विलासी लक्ष्मीकर्ण का अत अपने व्यक्तिगत ऐश्वर्य और विलास के लिए नहीं चाहता, बल्कि आतकित, आहत, प्रजा की मुक्ति के लिए चाहता है। कीरत की आस्था काशी के अहकारी और उद्दंड युवराज के भीतर एक सर्वथा नया कर्मठ, विनयशील व्यक्तित्व रचती है। गोविंद के भीतर जगी प्रजा-वत्सलता से गाहडवालो

की सोयी हुई सेना मे चेतना की विद्युत्-धारा प्रवाहित होती है। उपेक्षित प्रजा को उसका प्राप्य मिलता है तथा अहीर, गौड, नट आदि उत्साही वीरों की सेना कीरत के सुनियोजन में कर्ण की प्रत्येक महत्त्वाकांक्षा पर तुषारापात करती जाती है। कीरत के पास सप्तर्षियो की रज्जु कुंडली है, आस्था-शक्ति और साहस से निर्मित त्रिशूल है और भीतर कही गहरे लपलपाती भाभीजू की रक्त जिह्वाचिता की लपटे है।

काशी मुक्त होती है। कीरत सदल-बल जैजाक भुक्ति के लिए चल पडता है। राल्ह के विद्वेषपूर्ण आचरण से मर्माहत कीरत गोविंद देव को उसकी सेना सहित वापस कर देता है। माता की स्वार्थपरता से पीडित गोविंद कीरत के अग्नितेज से विवश लौट आता है। इस पूरे प्रसग से क्षुब्ध क्रुद्ध वृषध्वज कीरत के लिए गाहडवालों से कीरत द्वारा जीते गये डेढ हजार घोडे प्राप्त करने मे सफल होते है। कीरत के अनूठे व्यूहन से नाना षड्यंत्रों, दुरभिसधियो के बावजूद कर्ण पराजित होता है और शत्रु रक्तस्नात जुझौती राज राजेश्वर कीरत को प्राप्त होती है। कर्ण और यश· कर्ण को कीरत चालुक्य सोमेश्वर को सौंप देते हैं और मातृभूमि के मुक्तियज्ञ के समापन पर्व पर अपने साथी योद्धाओ को सम्मानित करता है।

इस कथा को महाकाव्यात्मक विस्तार देनेवाले अनेक प्रकरण और चरित्र है। अनेक चक्राकार और समानातर उपकथाए, फ्लैश बैक आदि मूल कथा के अभीष्ट अर्थ को पूरा करते है। इन कथाओ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कथा महायोगिनी शीलभद्रा और कर्मयोगी विद्याधर के विलक्षण प्रीतिभाव की कथा है। विद्याधर लोकधर्म मे दीक्षित, उदात्त संकल्प चेता योद्धा-पुरोधा व्यक्तित्व हैं। शीलभद्रा इस महायोगी का महत्त्वपूर्ण अर्द्धाश है। यह संबध अनूठा है। इसमे कहीं मांसलता नहीं है, बल्कि द्वैत की निर्मल नेह से विगलित परम एकात्म स्थिति है। शीलभद्रा विद्याधर की पूर्णता है। वह सखी, मित्र, मा, पत्नी, गुर वागदत्ता सब कुछ है। दोनो एक-दूसरे के बिना रिक्त और निष्क्रिय हैं। शीलभद्रा का व्यक्तित्व अद्भुत आत्मविस्तार का उदाहरण है। वात्सल्य की आतरिक ज्योति से जगमगाती, असाधारण शक्तिसपन्न यह महिमामयी नारी धर्म-कर्म और अध्यात्म की संकीर्णताओ से मुक्त सार्थक मानव धर्म के प्रति पूर्णत स्पष्ट है। केवट रामचंद की भगिनी, महेश की बुआ, भरत डोम और बसंती की मा तथा तमाम दलित-हीन जातियो की रक्षक शुभचिंतक शीला मा सबकी मुक्ति चाहती है। उनमें जीवन के प्रति घना सर्जनात्मक जुड़ाव दिखायी देता है। कई बार वे विद्याधर को उसके त्राता के अहंकार से मुक्त करती हैं। सशयग्रस्त विचलित चित लोगों पर योगिनी श्री मां बहुत भारी पडती हैं, जबकि अनपढ़ रामचंद, महेसुआ, डोमिन आदि उनके सात्विक तेज से सहज भाव से स्फूर्त होते हैं। नास्तिक चिंतक रत्नेश की चितन क्षमता भी श्री मां द्वारा अपना उत्स जान पाती है, किंतु सुपठित, प्रबुद्ध कल्पनाशील कन्हैया मिस्सर तर्कमूढ ही रह

जाते हैं। 'श्री मां' मे अपनी क्षमता के प्रति अहकार नहीं है। जीवन के सूक्ष्म-स्थूल को जानने की शक्ति उनकी निष्कलुष संवेदनशील आत्मा की सिद्धि है। कन्हैया मिस्सर के भीतरी उलझावों को टटोलती हुई श्री मां कहती है—"आपकी सबसे बड़ी दुर्बलता यह है सरस्वती पुत्र कि आप अपने भीतर ताना-बना बुननेवाली महाशक्ति को नही जानते।"[8] अनीश्वरवादी रत्नेश मे श्री मां ने मूर्त जीवन के प्रति विश्वस्त अडिग आस्था को देखा है। रत्नेश मे सत्यान्वेषण का हठ है। श्री मा जानती हैं कि रत्नेश में वैयक्तिक साधना के प्रथम अनीश्वरवादी चिंतक बोधिधर्म नामक योगी का ही विस्तार है।

कीरत की सपूर्ण कीर्ति-कथा पर विद्याधर का प्रकाश व्यक्तित्व छाया हुआ है। कीरत का वर्तमान विद्याधर से सर्वथा भिन्न है। विद्याधर अपराजेय शौर्यसंपन्न चतुरंगिनी सेना का स्वामी है, अपने ऊपर प्राण देनेवाली प्रजा का चहेता है और गोपाल भट्ट, रज्जुक, ऋतध्वज-बृषध्वज जैसे अनेक सुहृदो-संगियो की पूर्ण प्रकाशित आस्था का आधार है। अपनी सपन्नता मे विद्याधर व्यक्ति मात्र नहीं, अपितु एक मिथ बन चुका है। उसने श्री मा के पूर्ण समर्पण का रागरजित रसलोक जिया है, उस पर अगस्त्य पुष्प से आराधना चाहनेवाली भगवती योगमाया का आशीर्वाद है। विद्याधर मोक्ष की शून्यता का आकाक्षी नहीं, अपितु मोहाच्छन्नता के मायाजाल को काटकर निकले प्रकाश-पथ का अद्वितीय यात्री है। कीरत के जटिल-सकुल सघर्ष-पथ मे विद्याधर की कीर्तिकाया अक्सर आकर खडी हो जाती है और अपने भीतर अपने इस पूर्वज को पूर्ण विस्तार देता हुआ भी कीरत प्राय उससे टकरा जाता है—"विद्याधर देव, विद्याधर देव, सुनता-सुनता मै ऊब गया हू। मेरे पितामह विद्याधर देव सपूर्ण उत्तरापथ के सम्राट थे। उद्मांड से लेकर पाटलिपुत्र तक और हिमालय की उत्तुग श्रेणियो से लेकर विंध्य मेखला तक उनका एकछत्र साम्राज्य था और मैं पददलित, पराजित, अपमानित एकाकी और असहाय व्यक्ति हू।"[9] इस प्रकार लेखक ने दो प्रचड व्यक्तित्वो को एक-दूसरे की समानातरता मे आकार देकर उनकी वैशिष्ट्यपूर्ण इयत्ता को बराबर अलग कर रखा है। लेखक मे असाधारण की रचना का अद्भुत सामर्थ्य दिखायी देता है। बधुजीव जैसे समाज बहिष्कृत व्यक्ति मे भी लेखक ने सत्यनिष्ठा, निर्मलता और ऋत की रक्षा के प्रति तत्पर बलिदानी भाव देखा है। कीरत, श्री मा, बधुजीव यहां तक कि कन्हैया मिस्सर के बहाने भी लेखक की दलितो-पीड़ितो के प्रति पक्षधरता प्रतिफलित होती है। यह पक्षधरता उनकी असहायता के प्रति पीड़ाबोध के रूप मे नहीं है, अपितु उनके भीतर आत्मविश्वास और सामर्थ्य-बोध जगाने के प्रति है। 'कीरत' की लोकसपृक्तता से इन्ही सोये हुओ, खाये हुओ के भीतर पराक्रम का महाबवंडर जाग जाता है। इस कथा के सारे सकारात्मक पात्र लेखक के अभीष्ट अर्थ की सिद्धि की दिशा मे अग्रसर है। रत्नेश भी व्यक्ति की अपूर्णताओं को उसके अपने साहस, विश्वास

और इच्छा-शक्ति के पूर्ण होने की बात पर बल देते हैं। मीनाक्षी देव मंदिर की कमनीय नर्तकी है। वह भी जानती है कि—"जिसके भीतर जागृत प्रबल इच्छा-शक्ति हो वह देवता का प्रतिनिधि होता है।"[10]

गोमती वासुदेव की आराधिका है। उसमें प्रखर सात्त्विकता है। कीर्तिवर्मा और गोमती दोनों एक ही लय पर धडकते हैं। गोमती कीरत की सांस के साथ सांस लेती है, उसके उपवासो के साथ उपवासी रहती है और उसकी उनींदी रातों के लिए नींद तज देती है। समर्थन के इस ऐकांतिक भाव में विद्याधर और श्री मां के समर्पण की ही अनुगूज है। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि बावजूद परिस्थितियो और सकल्पों की भिन्नता के इतिहास अपने को दुहरा रहा है। गोमती मे युद्ध, साहस और युद्ध कुशलता भी है।

प्रचंड इस उपन्यास में एक अश्व मात्र नहीं है, वह एक असाधारण पात्र साबित होता है। वह परम उत्साही वीर कीरत के प्रत्येक पराक्रम की शक्ति है। प्रचंड कीरत के पल-पल का साथी है, दुलार है, रक्षक है। प्रचंड और कीरत की परस्परता पाठक को भिगो जाती है।

कथा का विकास एक सीधी-समानांतर रेखा में नहीं हुआ है, बल्कि कथा में लेखक ने घटनाक्रमों के अनेक भंवर रचे हैं जिनकी तीव्रता से शक्ति पाती हुई कथा अधिक सक्रिय होती है। गोमती का मद्यप वज्रयानी द्वारा अपहरण, कन्हैया मिस्सर का शक्ति तंत्रोत्सव मे भाग लेना, अनंत का छद्म रूप में कर्ण का महासेनापति बनना प्रवचक विनायक भट्ट और सरल गुरुनिष्ठा में अद्वितीय बंधुजीव का सघर्ष, बलदेव ओझा का प्रसग, कृष्णन, मीनाक्षी का प्रसंग, बब्बर नट और कन्हैया मिस्सर का प्रसंग, गोमती और कीरत का विबाह, श्री मां और रज्जुक का महाप्रस्थान, वेषवीथी की सुनदा का प्रसंग, मीनाक्षी के उत्पीडन का प्रसंग, गोविंद की कायरता, महाशिवरात्रि का प्रलयकर युद्ध आदि अनेक घटनाए इस कथा का मार्मिक अर्थ रचती हैं। इसके अतिरिक्त फ्लैश बैक मे घटती श्री मां विद्याधर देव, राल्ह और मदनदेव, रज्जुक आदि की कथा भी इस महाकथा का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। कथाकार ने इस रचना मे सकारात्मक चरित्रो को वह औदात्यपूर्ण विस्तार दिया है, जिसके कारण वे कुल-शील की अनिवार्यता से मुक्त अपने व्यक्तित्व की भीतरी शक्ति के द्वारा उच्चतम प्रमाणित होते हैं। कथा में सत् और असत् चरित्रों की भीतरी-बाहरी प्रकृति बिल्कुल अलग-अलग निर्धारित है। बहुत कम ऐसा हुआ है कि चरित्र विशेष अपने मूल भाव से विचलित हुए हो। लेखक ने कुछ संशयात्मा चरित्रों की सृष्टि भी की है, वहां लेखक पूरी तरह स्पष्ट है कि जहां ज्ञान-विज्ञान की सर्जनात्मकता की मूल प्रेरक शक्ति का ज्ञान नहीं है, संशय या दुविधा को वहीं पनपने का अवसर मिलता है। कर्ण, कीरत, गोपाल, विद्याधर, श्री मा, रज्जुक यहां तक कि राल्ह जैसे पात्र अपने चरित्र में सीमित न रहकर प्रवृत्ति विशेष के प्रतीकों में ढल जाते हैं।

'नीला चाद' का देशकाल केवल चरित्र कथा के आधार का निमित्त मात्र नहीं है, बल्कि लेखक की साफ-साफ पक्षधरता, मध्यकालीन काशी के सामाजिक सांस्कृतिक, राजनीतिक आशय को व्यक्त करने के प्रति है। काशी इस उपन्यास की आत्मा है। काशी के सत्-असत् शासकीय प्रतिनिधियों के शासन से ज्यादा महत्त्वपूर्ण शासन नदीश्वर मदिर के पाशुपताचार्य वृषध्वज का है। उनके पराक्रमी नागा सैनिकों ने तुर्क नियाल्तगीन को अपने कुंतव्रक्षेप से भागने पर विवश किया है। गंगा और शिव के अपूर्व समन्वय की नगरी काशी के हृदयदेश में स्थित मत्स्योदरी अपने भावकों की पूरक शक्ति है। 'नदीश्वर' नागर शैली का अद्‌भुत विशाल मंदिर है, जिसका उन्मुक्त शिल्प देवता के औदार्य का व्यजक है। ऋषिपत्तन की इस अभूतपूर्व साधना स्थली पर दूसरा हस्ताक्षर अविमुक्तेश्वर का प्राचीन महालय है। आटव्य देश के रंगीन चिकने पत्थरों से निर्मित यह अद्वितीय मदिर काशी कौशल अंग, बंग, पांचाल, गुर्जर आदि तमाम देशो के शिवभक्तों की श्रद्धा का केंद्र है। विश्वेश्वर 'लक्ष्मी विलास भोग मदिर' के नाम से ख्यात है। विश्वेश्वर का स्थापत्य नागर द्रविड शैली का अद्‌भुत मिश्रण है। दक्षिण के शैव-वैष्णव, शैव शाक्त द्वंद्व से परे इस मंदिर के मुक्ति मंडप में भगवान विष्णु विराजते है। शृगार मंडप में शृगार गोरी। काशी रौद्र शिव, कृष्ण-शिव, विष्णु-शिव, सौम्य शिव के प्रपचों से मुक्त परम शिव की नगरी है। अविमुक्तेश्वर के शिव शुभ्रता और श्वेत के समुच्चय मे साकार कर्पूर और शिव हैं। कर्णमेरु कर्ण और भोजराज की शक्ति स्पर्धा मे कर्ण की विजय का प्रतीक है। पचास हाथ ऊंचा यह ऐतिहासिक महालय द्रविड स्थापत्य कला का अनुपम उदाहरण है। भव्य ऊंचाई पर स्थित पर्वत शिखर-सा नुकीला विमान अहकारी कर्ण के दर्प का प्रतीक है। शक्ति और ऐश्वर्यमद से भरे उस सामती युग में मदिरों का राजनीतिक उपयोग खुल कर हो रहा था। कर्णमेरु में स्थापित देवविग्रह और ब्राह्य भित्तियों पर अकित युगनद्ध मूर्तियां, कर्ण की मांसल विलासप्रियता को अभिव्यक्त कर रही थीं।

काशी का समाज विभिन्न श्रेणियों में बटा हुआ समाज है। आरण्यक श्रेणी आदिवासियों और नटों की श्रेणी है। काशी की फूलगली आराण्यक श्रेणियों द्वारा उपलब्ध कराये गये वन-प्रातर के बहुमूल्य पदार्थों से सज्जित है, वहां बिकनेवाले भुगचर्म भृगागिन, स्फटिक से लेकर गौरा पत्थर से बने खिलौने आटविकों की देन हैं। कारू श्रेणी के शिल्पकार काशी के ऐश्वर्य मे चाद और सूरज जडते हैं। स्पर्ण, रजत आभूषणों, बहुमूल्य वस्त्रों के साथ-साथ रंगीन नकली मोती की वे आकर्षक मालाएं वहीं बनती हैं जो राजकुमारियों, श्रेष्ठि कन्याओं के साथ-साथ विपन्न परिवार की बालाओं में समान रूप से प्रिय हैं। फूलगली, विश्वेश्वर और वैशिक वीथिका के संदर्भ में त्रिकोण का तीसरा बिंदु है, जहां से देव-आराधको के लिए चंदन और कामिनी कटाक्ष पीडितो के लिए सुगंध-लेप आदि समान रूप

से प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुत: यह फूलगली अपनी विविधा में उस देशकाल के सास्कृतिक चरित्र का प्रतीक है। लेखक ने काशी के विविध विभाजित समाज की परस्परता और संघर्ष को उच्चतम मूल्यों की गहरी समझ के अंतर्गत रूप दिया है।

भाषिक प्रयोग की दृष्टि से शिवप्रसाद सिंह का यह उपन्यास उनके पिछले उपन्यासों से भिन्न प्रकार का है। इसकी क्लासिक प्रकृति की कथा के अनुरूप ही लेखक ने तत्सम प्रधान भाषा का चुनाव किया है। यद्यपि लेखक सदैव अपने पात्रो की क्षमता के प्रति सजग है। यही कारण है कि कीरत, श्री मां, विद्याधर नृपतिचद्र देव आदि कुलीन पात्र जो परिष्कृत भाषा बोलते हैं, वही भाषा सूरज गौंड, बब्बर नट और रामचद नाविक नहीं बोलते। बिबधर्मिता तो शिवप्रसाद सिंह की भाषा का प्रारभ से ही प्रधान उपकरण है। 'नीला चांद' मे बिबात्मकता अधिक निखरी हुई है। आध्यात्मिक जटिलताओं के साथ-साथ मूर्त जीवन के जटिलतम टकरावों को अभिव्यक्ति देता हुआ लेखक अपने अर्थ के पूर्ण अनुष्ठान के प्रति प्रतिबद्ध है और सस्कृत से सस्कारित शब्द अपनी अभेद्या के साथ नहीं, बल्कि अपनी सहज सप्रेष्यता की ताकत के साथ शामिल होते है। तत्सम बहुलता से कथा की भव्यता सिद्ध होती है। आंचलिक गीतो के प्रवेश से कथा की रम्यता तो बढ़ी ही है, कथा को एक मार्मिक-सजीव गति भी प्राप्त हुई है। प्रतीकात्मकता की दृष्टि से पूरी कथा का समकालीन जीवन-सदर्भ से जो जुड़ाव बनता है वह विशेष है। अगस्त्य के श्वेत पुष्प से फूटते विशेष आशय की बात भुलाई नहीं जा सकती और न ही कर्ण-कीरत युद्ध के दौरान निर्मित त्रिशूल के निहितार्थ की अवहेलना नहीं की जा सकती है। कन्हैया मिस्सर का पूरी कथा से जो जुड़ाव-अलगाव बनता है वह प्रत्येक युग के सशय संकुल रचनात्मक व्यक्तित्व की व्याख्या करता है। स्वयं शीर्षक 'नीला चांद' भी अमा से ओझल आकाश की मुक्ति चेतना 'इच्छा-शक्ति' का प्रतीक है।

'नीला चाद' रोमानी कवियो या शायरों का 'नीला चांद' नहीं है जो मांसल प्रेम की उन्मत्तता पर सायास थोपी गयी भावनात्मक सूक्ष्मता का कमजोर प्रतीक बन कर आता है, बल्कि यह अमोघ इच्छा-शक्ति का वह अनुष्ठान है, जिसकी उज्ज्वलता अपनी अगाधता के कारण नीली है।

यद्यपि 'नीला चांद' की कथा-भूमि काशी का सुदूर अतीत है, तथापि कथाकार कहीं भी इक्कीसवीं सदी के मुहाने पर पहुचते हुए देशकाल के प्रति रचनात्मक प्रतिबद्धता से विचलित नहीं है। ईसवी 1060 की अराजक काशी के परिवेश मे बंधकर यद्यपि सामंती व्यवस्था के संघर्ष की प्रकृति से लेखक बधा हुआ है तथापि उस व्यवस्था के भीतर एक लोकोन्मुख शासन और शासक की बात लेखक ने उठायी है और राजा तथा प्रजा के निर्कुंठ रचनात्मक जुड़ाव की बात

खुल कर सामने आयी है। रचनाकार यह साफ-साफ मानता है कि भीड साबित होनेवाले तेजस्वी व्यक्तित्वों की पहल पर ही इतिहास बदला करता है। इस अभिप्राय के साथ लेखक सर्वत्र अपने युग के मूल मन्तव्य से जुड़ता हैं।

कुछ रचनाकार अपने समय का साक्षात्कार करते हैं और उनकी रचनाओं में घटते हुए सामानांतर सच का लेखा-जोखा फलता-फूलता है, किंतु कुछ रचनाकार अपने समय के साथ टकराते हैं, वे अपने समय से आगे चलते हैं और उनके पास अपने युग को 'विजन' दे सकने की ताकत होती है। 'नीला चांद' मे शिवप्रसाद सिंह अपने समय के साथ टकरा रहे हैं और नेतृत्त्व-सकट तथा चरित्र-संकट से त्रस्त, खंड-खंड स्वार्थों के क्षुद्र समारोहो में व्यस्त इस युग में उन्होनें हमें कीरत जैसा एक नायक दिया है, नेतृत्त्व क्षमता की वह पहचान करायी है जिसके वेग से इतिहास की गति-मति बदल जाती है। लेखक अपने समकालीन जीवनानुभवो को पूरी तरह मथ कर, भविष्य की ओर पूरी सन्नद्धता से देखता हुआ अपने अपेक्षित अर्थ की सिद्धि के लिए भविष्य की ओर जाता है।

'नीला चांद' एक विराट फलक पर घटनेवाली कथा है। असख्य चरित्र अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ इस कथा में उपस्थित हैं। वैसे देखा जाये तो चरित्र बहुलता शिवप्रसाद सिंह को अधिक प्रिय है। ऐसा उनके पिछले उपन्यासों 'अलग-अलग वैतरणी' और 'गली आगे मुडती है' को देखकर भी समझा जा सकता है और इसे समझ कर उनके कथाकर की लोकतात्रिक प्रकृति के बारे मे स्पष्ट हुआ जा सकता है। इस कथा के द्वारा कथाकार की असाधारण, अद्वितीय के निर्माण के प्रति निष्ठा प्रतिफलित होती है।

संदर्भ

1. शिवप्रसाद सिह, 'नीला चाद', सिर्फ एक मिनट से।
2. वही, पृ 517।
3 वही, पृ. 414।
4 वही, पृ 20।
5 वही, पृ 51।
6 वही, पृ 76।
7. वही, पृ 97।
8 वही, पृ 317।
9 वही, पृ 37।
10. वही, पृ 161।

नीला चांद : परिवेश के यथार्थ संकेत

• *डॉ. निर्मला मौर्य*

स्वाति नक्षत्र तोड भले ही चातक की प्यास बुझाता हो किंतु वहीं अंबु सीप में पड़े मोती का रूप ले लेता है। यही मोती विभिन्न आभूषणों में ढल किसी सुदरी के गले की शोभा बढाता है। हिंदी उपन्यास रूपी सीप में अवतरित होनेवाले तीन धवल मोती 'अलग-अलग वैतरणी', 'गली आगे मुडती है' और 'नीला चांद' एक ऐसे आभूषण में ढल गये हैं जो हिदी साहित्य सुदरी के कठ की शोभा मे चार चांद लगा रहे हैं। यह धवल अक्षुण्ण माला युगो-युगों तक जगमगाती रहेगी। पाठकों (चातकों) की प्यास इन जगमगाते मोतियों को पाकर ही बुझी नहीं बल्कि और बढ गयी।

डॉ शिवप्रसाद सिंह पचासोत्तर हिंदी साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर हैं। डॉ सिह एक ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होने निबंध, कहानियां, उपन्यास, नाटक, समीक्षा, चितन, दर्शन हर एक क्षेत्र को स्पर्श किया है। उन्होने 1951 मे सर्वप्रथम 'प्रतीक' में 'दादी मा' कहानी के साथ इस क्षेत्र मे प्रवेश किया। दलित मानव समाज से उन्हे विशेष लगाव रहा है, यही कारण है कि उनके उपन्यासो और कहानियों मे इसी का बाहुल्य है। बडी ही संजीदगी, सजगता व ईमानदारी के साथ लेखक ने अपने विषय के साथ न्याय किया है। बृहत् उपन्यास 'नीला चांद' लेखक का तीसरा महाकाव्यात्मक उपन्यास है। इससे पहले के दोनों उपन्यासों मे लेखक ने काशी के जिन विभिन्न रूपों का दिग्दर्शन कराया था वह अपने मे बेजोड़ व अनूठा है। 'अलग-अलग वैतरणी' जहां करैता के माध्यम से भारतीय गांवों की पहचान करता है वहीं 'गली आगे मुड़ती है' उपन्यास काशी शहर को लेकर चला है। पहले उपन्यास का परिवेश गत्यात्मक परिवेश है और दूसरे उपन्यास में काशी का चित्रण अनेक रगो से सजा दृष्टिगोचर होता है। लेखक काशी की आत्मा से जुडे हैं इसलिए उनमें सवेदनात्मक गहराइयों का होना लाजिमी है। लेखक का तीसरा उपन्यास 'नीला चांद' एक ऐसी आस्था-आशा की कथावस्तु लेकर चलता है जिसका आधार ऐतिहासिक है। यह उपन्यास मध्यकालीन काशी की धड़कनें सुनाता है, अपने इस

उपन्यास के विषय में स्वयं लेखक के विचार देखें .

"मैं मध्यकाल की वह काशी देखना चाहता था जो विदेशी आक्रांताओं के पहले थी। मुझे तदनुरूप किसी ऐसे समय को ढूढ़ना था जिसने त्रिकंटक को भी हिला दिया हो, जहा 'धगद्-धगद्-धगद् ज्वलम्' के भीतर नंदीश्वर के ज्योतिर्लिंग के विशाल स्तंभ की तरह धरा और आकाश को जोड़ दिया हो। वह समय मिल गया, जब कर्ण कलचुरी ने देव वर्मा चंदेल की हत्या की।...उस समय की काशी है यह, यानी ईसवी 1060 की।" इस समय को 'नीला चांद' में पढ़ना उसके अंधेरे और रोशनी से एक ही साथ गुजरना है। इस उपन्यास मे तत्कालीन समय एक नयी रचनात्मकता के साथ प्रस्तुत हुआ है। यह उपन्यास आज की दुनिया को नयी दिशा प्रदान करने में पूर्ण सक्षम है। 'महत्त्वाकांक्षा' किसी भी मानव के लिए गुण हो सकता है किंतु उसकी अति उसे अवगुण भी प्रदान करती है। 'नीला चांद' वास्तव में एक प्रतीकात्मक अर्थ लिये हुए है। मानव ह्रदय एक ऐसा व्यापक विस्तृत आकाश है जिसमे सब गुण-अवगुण समाहित हो जाते हैं। यदि ह्रदय मे अमावस के समान अधेरा व कुठा जड जमा लेते हैं तो उस अमावस भरी रात्रि के अवसान के लिए एक ऐसे 'नीले चांद' की आवश्यकता होती है जो अपनी जगमगाहट से सर्वत्र प्रकाश भर दे। आज के इस वैज्ञानिक युग मे युवा-पीढ़ी भ्रांत हो गयी है। अन्यान्य सुविधाओ की तलाश में भटकता मानव मृग-मरीचिका के पीछे दौड रहा है जहा सिर्फ भटकन के सिवा कुछ नही। काशी अर्थात् बनारस अर्थात् वाराणसी घाटो, ठगों, सीढियों, गणिकाओ, गलियो और मंदिरो की नगरी है। काशी में स्वयं इतनी शक्ति है कि यहा होनेवाली हर वस्तु स्वय मशहूर हो जाती है चाहे बनारस का लंगडा आम हो, साडियां हों या विश्वनाथ गली। आज काशी की गगा मैली हो रही है, वहां की सडन व बदबू गगा के पानी को खराब कर रही है फिर भी उस गंगा मैया की महिमा आज भी उतनी ही अक्षुण्ण है जितनी मध्य काल मे थी।

'नीला चाद' उपन्यास मे परिवेश अपने अनेक रूपो में उपस्थित हुआ है। सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक, अर्थिक, प्राकृतिक आदि ये सभी परिवेश अपनी पूरी जीवतता के साथ इस उपन्यास को सजीवता प्रदान करते हैं। बदलते जीवन-मूल्य और नैतिकता के मानदंड, स्वार्थ-लोलुपता, व्यवस्था की सडी-गली सडांध, अवसरवादिता, पैतरेबाजी, दलबदी, भ्रष्टाचार ऐसी बहुत-सी धाराए हैं जो इस उपन्यास में सर्वत्र बहती नजर आती हैं।

सामाजिक परिवेश

कर्मों के आधार पर समाज का जो वर्गीकरण हुआ उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारो वर्ण अपने कर्मों में सलग्न परंपराओं को निभाते रहे। निम्न वर्ग

की स्थिति पहले जैसी तो नहीं रही फिर भी आज का ये वर्ग अनेक विसंगतियों में जी रहा है। निम्न वर्गों में कुम्हार, बढई, लोहार, मनिहार, भंगी, डोम आदि अनेक प्रजातियां आती हैं, इन सभी का वर्णन 'नीला चांद' उपन्यास में हुआ है। समाज का हर प्राणी चाहे निम्नवर्गीय हो वह उच्चवर्गीय समाज की इकाई होता है। समाज के कर्णधारों ने शूद्रों के लिए एक सीमा निर्धारित की जो आज भी उसी सीमा से बंधे हुए हैं। लेखक ने मंदाकिनी सरिता के मोड पर स्थित गुवालपल्ली का सजीव वर्णन किया है।

"पूरी बस्ती दो भागों में विभक्त थी। दक्षिण पट्टी के मकान अपनी दुःखद स्थितियों की साक्षी दे रहे थे। चारों तरफ झोंपडियां, कच्चे मकान, कच्ची दीवारें, नोना माटी की बनी थीं, शायद उनके ऊपर के मृत्तिका लेप उखड गये थे। दीवालों के मध्य भाग इस तरह झुके थे मानो एक धक्के से भूमिसात हो जायेंगे। गुवालपल्ली के दक्षिणी छोर पर ग्वालों के छोटे-छोटे घर थे। उनसे कुछ बडी गोशालाए थीं। वहीं बछरू रभा रहे थे।" (पृ 65)

हमारे समाज में ऐसी कई कुरीतिया व परपराए हैं, जिनका वर्णन इस उपन्यास में मिलता है। ऐसी ही एक रूढि है कि मार्गशीर्ष तृतीया को यक्ष-पूजा के अमृतपान चखने से वश-वृद्धि होती है। इसके अलावा और भी बातें हैं जो हमारे समाज में प्रचलित हैं।

बीच मे एक अत्यंत असाधारण आकार का कुष्माड रखा हुआ था। चदन, रोली, पुष्प, ताम्बूल आदि अर्पण करते हुए कुष्मांड-पूजा समाप्त हुई।...मिष्ठान्न तथा दूध, घी और दधि, शर्करा से बना हुआ यक्षामृत का भोग लगाया गया। पंडित ने कहा, "अब तुम उदुम्बर की शाखा को पकडकर खडी हो जाओ।...मै पुत्र-कामना से यक्षराज की पूजा करती हू। वे मेरे मनोरथ पूर्ण करें।"

समाज मे प्रचलित इस प्रकार के ढोग, पंडितो की कलई खोलते हैं। लेखक ने समाज के हर वर्ग का नग्न चित्र प्रस्तुत किया है। मध्ययुगीन का समाज शाक्त कापालिको का भी समाज था। ये कापालिक स्त्री को भोग्या के रूप में स्वीकार कर झूठे तत्र-मंत्रो का सहारा लेकर जीवन-पर्यंत मदिरा, मैथुन, मास में लीन रहते थे। समाज में ऐसे साधक खत्म होते जा रहे हैं जिनमे शक्ति के उद्दाम वेग को सहने की शक्ति हुआ करती थी। कापालिकों और भैरवियों का यथार्थ वर्णन इस उपन्यास में हुआ है।

"चक्रार्चन के लिए जो प्रकोष्ठ था उसमें आठ स्तभ थे और प्रत्येक पर कपाल-दीप जल रहे थे। बीच में त्रिभुजाकार वेदिका थी, जिसमें अग्नि जल रही थी। अगरू, राल और चर्बी के हवन से विचित्र प्रकार का धूम सारे कक्ष में व्याप्त होने लगा। कीरत का मस्तिष्क उस दुर्गंधि से घबडा उठा। वे काष्ठ पटल की दूसरी ओर जाकर इस भयानक पूजा को देखने लगे। सभी के सामने मदिरा-पान

के लिए कपाल रखे हुए थे। साधक-युग्म भैरव और भैरवियां ध्यानस्थ मुद्रा में विराजमान थीं।" (पृ 78)

लेखक ने इस वर्णन को अति विस्तार से 'व्यास शैली' का सहारा लेते हुए प्रस्तुत किया है। उपन्यास में कई स्थलों पर 'व्यास शैली' का सहारा लिया गया है जिसके कारण वो स्थल अपने चहुंमुखी सौदर्य के साथ जगमगाते दिखायी देते हैं।

समाज में कुम्हार छोटे-छोटे कारीगर, डोम आदि की स्थिति बडी ही दयनीय थी और आज भी है। मध्ययुग मे जिस प्रकार स्वामी व कलाकारों के बीच दलाल हुआ करते थे, वैसी ही स्थिति आज भी है। उन गरीबों की मेहनत का मुआवजा इतना भी नहीं होता कि वो उससे दो वक्त की रोटी जुटा सके। उच्च व निम्न वर्ग, अमीर व गरीब वर्ग की खाई भले ही पाटने के प्रयास हो रहे हो किंतु वह खाई और भी ज्यादा चौड़ी होती जा रही है। काशी कलाकारो की नगरी है। लेखक ने स्वय स्वीकारा है कि :

"कुभकारों का शिल्प जितना महान् था पर वह रोजी-रोटी के लिए उतना ही निकृष्ट था। सकोरे दो कार्शिक में एक कोडी यानी बीस प्राप्त होते थे। इनमें उकेरी गयी कल्पवल्लियो को लोग मिष्ठान्न अथवा दूध आदि पीकर दुकान के नीचे पटक देते थे।...मैंने कोशिश की है कि विभिन्न हाटकों, श्रेणियो आदि के प्रारभ मे हर नये उपखंड के ऊपर की पंक्ति में पुरानी काशिका का एक टुकडा जोड़ दूं। ताकि उस श्रेणी की स्थिति को स्पष्ट कर दिया जाये।"

समाज में एक ओर 'बलदेव ओझा' जैसे सच्चे ब्राह्मण व विद्वान् है, वहीं दूसरी ओर 'उपाध्याय विनायक भट्ट' जैसे भ्रष्ट व दुराचारी ब्राह्मण भी है। एक उदाहरण देखिए, धुजीवा का कथन

"मैं तेरे जैसा वृषल (दोगला) नहीं हू। तू छुप-छुप कर गणिकाओं के यहा जाता है। वसतोत्सव पर नगर की गणिकाएं तेरे राजप्रासाद मे नृत्य करती है। तू चार-चार पत्नियो से विवाह कर चुका है।...मै तेरे इस अधार्मिक चैत्य को, तेरे अह के स्तूप को ढहा दूंगा। तेरा तथाकथित आश्रयदाता कर्ण भी इसे रोक नहीं पायेगा।...तू काष्ठ-हस्ती, चर्महीन मृग, जन-विहीन कूप और ज्ञान-विहीन ब्राह्मण है। तू इस जाति के लिए कलंक है।" (पृ 103)

बलदेव ओझा के अंतर्मन मे अमोघ इच्छा-शक्ति तो है किंतु वह स्वाभिमानी है। जीविका के लिए अपनी अंतरात्मा बेचना उसे स्वीकार नहीं। ये दोनों ब्राह्मण समाज के दो ब्राह्मण वर्गों का प्रतिनिधित्व करते है। नट जो अपनी कलाबाजी, करतब दिखाकर रोजी-रोटी कमाते हैं समाज उन्हे हेय दृष्टि से देखता है। बब्बर नट का कथन उदाहरणार्थ है :

"आपसे यह कहना कि अभ्यास क्या होता है, छोटे मुह बडी बात होगी।

आप सब कुछ जानते हुए भी कोठरी मे बद होकर यह सब करते हैं ताकि आप आवश्यकता से अधिक भोजन के लिए पेट को स्वच्छ रखे और हम इसलिए करते है कि परिवार के साथ मुझे दो रूखी-सूखी रोटी मिलें। दोनों में बड़ा अंतर है ना महाराज।" (पृ 108)

एक नट का यह कथन समाज का कच्चा चिट्ठा खोल पाठक के ह्रदय को आर-पार कर जाता है और अंत तक पाठक के ह्रदय में एक टीस उठती रहती है। समाज मे नारी की स्थिति बड़ी ही दयनीय होती है। इस उपन्यास में नारी के विभिन्न रूपों (प्रेयसी, गणिका, देवदासी, पत्नी) का दिग्दर्शन कराया गया है।

"मुझे गगा के अतिरिक्त कही और शरण नही मिलेगी, आर्य मा के कहने पर मै बीस कार्षापण का ऋण लेने आयी थी इस नीच के पास। इसने मुझे प्रकोष्ठ मे चलने का आग्रह किया कि धन इसी प्रकोष्ठ मे सुरक्षित है। वहा इसने मेरे साथ बलात्कार किया, मुझे कलंकित किया, किसी और का भी नहीं रखा।" (पृ 200)

गुवालपल्ली के निकट कारू श्रेणी थी। इस श्रेणी मे बसनेवाला रानू एक ऐसा श्रमिक है जिसके श्रम से प्रासाद बनते है, पण बनते है कितु हम उस कलाकार के दग्ध शरीर को नहीं देखते बस उसे श्रमिक मान आगे बढ जाते हैं। रानू का वक्तव्य एकबारगी पाठक का ह्रदय झंझोड कर रख देता है ·

"ब्राह्मणी मा और क्षत्रिय पिता का गौरव ढोते-ढोते हम सब थक गये हैं। आप ही बताइए आर्य कि इस प्रकार के परिवार मे जन्म लेनेवाले भीम भी होते तो क्या अपने माता-पिता, भाई-बहन की उदरपूर्ति के लिए प्रात काल से लेकर सायकाल तक अगार की तरह धधकते लोहे को पीटते न रहते।" (पृ 222)

मध्य युग का सहारा लेकर लेखक ने आज काशी का अति सुंदर चित्रण किया है।

"न तो ब्राह्मण यज्ञ-पूजा ही सपन्न करा पाता था, न तो नट, शैलूष आदि अपना करतब दिखाकर जीविका चला सकते थे, न तो उद्यानादि की यात्राएं सुरक्षित थी, न तो नारिया आभूषण पहनकर बाहर निकल सकती थीं, न कोई विलासी अपनी प्रेमिका के साथ एक ही अश्व अथवा रथ पर बैठकर कहीं जा सकता था।" (पृ. 224)

राजकुमारी गोमती का कथन समाज का एक अलग रूप हमारे सामने रखता है—"क्या काशी नपुंसको और अपदार्थों का संकुल बन गयी है ? क्या काशी के सौम्य किंतु उद्धत विशेषण से जुडे और स्वत स्फूर्त आनंद में डूबे रहनेवाले युवक समाप्त हो गये हैं ?...काशी के अल्हड नवयुवक काल से भी नहीं डरते। वह सदा न्याय-पक्ष के लिए अपना बलिदान देते रहे है।" (पृ. 397)

मध्य युग में डोमों व अछूतो की स्थिति बडी ही दयनीय थी और आज भी

है। उन्हें नगर में प्रवेश नहीं करने दिया जाता था। वह पीने का जल सार्वजनिक कुओं या जलाशयों से नहीं ले सकते थे। जब वो बाहर निकलते थे तो कमर में कटीली झांडिया बांध कर निकलते थे जिससे उनके पैरों के निशान भी कहीं दिखायी न दें। उनकी छाया से भी बचा जाता था। इस उपन्यास में डोम व अछूत जो नगर मे प्रवेश भी नहीं कर सकते थे, उनका मार्मिक चित्रण हुआ है।

"भरत न तो नगर में रहता है, न किसी राजा-महाराजा से रोटी की भीख मांगता है। आपके धर्म प्रवीण शास्त्रकारो की आज्ञा है कि लकड़ी के झंझ बजाते हुए चांडाल नगर-प्रवेश कर सकते हैं। लेकिन झंझ बजाना जरूरी है, ताकि उनके स्पर्श से कोई कलुषित न हो जाये, उनकी छाया न पड जाये। भरत, आपके धर्म-नायकों की आज्ञा पर लात मारता है। हमें न किसी से अन्न-जल मिलता है, न किसी से सज्जनता के दो शब्द। हम पशुओं और मनुष्यो के शव क्यों उठायें ?"

इस प्रकार हम देखते है कि यह उपन्यास मध्यकालीन काशी की सामाजिक स्थिति को खोलकर पाठको के सामने रख देता है। यह उपन्यास पतन की ओर उन्मुख काशी की सही तस्वीर प्रस्तुत करने में पूर्णत सक्षम है।

धार्मिक परिवेश

डॉ शिवप्रसाद सिह की प्रकृति लेखक की प्रकृति है और उनकी यही प्रवृत्ति उनमे निरतर कुछ नया कर दिखाने की इच्छा जागृत करती रहती है। युगीन परिवेश का सहारा लेकर लेखक ने धर्म के दोनों पक्ष हमारे सामने रखे है। यह समसामयिक चित्रण अत्यत विस्तार से इस उपन्यास मे आया है।

"शिव श्वेत क्यों है ? रुद्र नील क्यो है ? खजुराहो के मदिर मे गेरु-रगी ध्वजा को लहराते हुए नील-लोहित पृष्ठभूमि को और भी गहरी कालिमा में डुबो देते हैं। शिव तब उसे श्वेत-गौराग नहीं, नील-लोहित लगते, श्वेत, पिंगल और लोहित। क्यों शिव के साथ इतने विरोधी रग चिपके हुए है ? कहा गौराग कर्पूराभा और कहां नील-लोहित ?" (पृ 74)

इस उपन्यास मे केवल काशी ही नहीं अनेक धार्मिक स्थलों का वर्णन हुआ है। ब्रह्मपुरी के ब्राह्मणों की आस्था का प्रतीक वाक्य 'धर्म नाद तहा पाप माद' माना जाता है।

"मत्स्योदरी से निकली हुई मदाकिनी सरित् अर्ध-वृत्ताकार मोड लेती हुई मणि कर्णिका की ओर जाती थी।...ब्रह्मनाल में स्नान करके पितामहेश्वर लिंग का दर्शन करना ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन था। ब्रह्ममुहूर्त में शय्या-त्याग कर, गगा में नहाकर, स्नान-पूजन से निवृत्त होकर, गगा तट पर आसन जमाकर झुंड के झुड लोग बैठ जाते थे। तीर्थ-पुरोहित, पडा, घाटिये, छतरीवाले गरीब ब्राह्मण,

महापात्र, नापित, फूल-विक्रेता सभी प्रातःकाल मुह-अंधेरे अपने-अपने यजमानों को लेकर आ विराजते थे।" (पृ 98) धर्म का रूप शनैः-शनैः बिगडता जा रहा था उसके प्रतीक हैं शाक्त कापालिक जो सुरापान में लीन होकर अपनी महामुद्राओं में साथ अंधेरे में डूबे रहकर अनर्थकारी पाप में रत रहते थे।

"आज संघ पर कुत्सा और कलक के बादल मडरा रहे हैं। हमारे बीच में जिन लोगों ने दीक्षा लेते समय प्रतिज्ञा की थी कि धर्म, संघ और भगवान् बुद्ध के उपदेशो के प्रति सर्वदा निष्ठावान रहेंगे, वे आजानु नहीं, आपादमस्तक पाप और अनाचार के दलदल में धंस चुके हैं।...ये लोग बद्ध हैं, पशु हैं, ये आधुनिक अगुलिमाल हैं, जो यात्रियो की उंगलियां काटकर उनसे माला बनाकर गले में धारण कर लेता था।" (पृ 221)

कहावत है—"राड साड सीढी सन्यासी, इनसे बजे तो सेवे काशी।"

वास्तव में शकर के त्रिशूल पर टिकी काशी धर्म-स्थली है। इस धर्म-स्थली का एक पक्ष पूर्णिमा है तो दूसरा पक्ष अमावस। सुबोधदेव का कथन--"अब तो काशी मे केवल महाकाली की पूजा ही प्रचलित होगी, आर्य। वह भी तामसिकता जडता से पूर्ण।" (पृ 75)

'चौसट्ठी योगिनी' मंदिर जो *वाममार्गी कापालिकों का आश्रय क्षेत्र* माना जाता है, वहा काले जादू में विश्वास करनेवाली जनता को भरमानेवाले पाखंडी लोग रहते हैं। इसके अतिरिक्त श्रीशैल, जालधर पीठ, कामरूप कामाख्या आदि मंदिर ऐसे ही तांत्रिको से भरे रहते हैं। इस उपन्यास मे और भी धर्म-स्थलों का वर्णन मिलता है। "मितोली (पधौती), रानी खेत (झारिया), पाटलिपुत्र, खजुराहो, दुधही (लल्लिपुर) आदि मध्य देश में स्थित शक्ति पूजको के ये मदिर एक चक्र से कीलित क्षेत्र में स्थापित हैं।"

धार्मिक कर्मकाड आज भी उतने ही प्रचलित है, जितने मध्य युग मे रहे। पूजा-पाठ कराकर स्वर्ग की प्राप्ति, गंगा स्नान से पापों की मुक्ति कहा तक सभव है किंतु हमारा धर्मांध समाज उन्हीं कुरूढ़ियों पर डटा हुआ है

"आज मौनी अमावस्या के दिन पूजन करके जो लोग पुण्य पाना चाहते हैं, वह तब तक नही मिलेगा जब तक आप कम-से-कम दस कार्षापण प्रदान करके यह श्रेयोदान नहीं लेते...अरे, माताजी के मंगल सूत्र को ही दे दीजिए और अपनी मनौती का पुण्य-लाभ तो पा लीजिए।" (पृ 297)

धर्म को लेकर ईश्वर का बंटवारा भी जायज रहा। वैष्णव और शैव न जाने कितने युगो तक धर्म के कारण एक-दूसरे के शत्रु बने रहे। एक-दूसरे के मदिर प्रवेश पर भी निषेध रहा। धर्म के खोखलेपन पर लेखक का वक्तव्य अत्यंत हृदयग्राही बन पडा है

"मुक्ति-मडप गर्भगृह है। इसके अरघे के भीतर ज्योतिर्लिंग स्थापित है।

परतु शिव के मुक्ति-मंडप का स्वामी कौन है ? मैं जब गुरुवायुर में था तो वहां प्रायः उपद्रव हो जाता। हम बालकों को बताया जाता कि पता नहीं काष्ठ के बने इस देव-प्रासाद में कब अग्नि की लपटे उठने लगेंगी।" (पृ 299)

इस प्रकार धार्मिक कृत्यों के साथ-साथ, धार्मिक स्थलों व देवालयों का विस्तृत वर्णन "नीला चांद" की विशेषता है। मोक्ष भूमि काशी जातवर्मन जैसे भ्रष्ट राजा के अमात्य के लिए भोग-भूमि है। वह उसके नेत्रों में ऐसी बसी कि वह उस नयनाभिराम नगरी मे ही रच-बस गया। इस संपूर्ण उपन्यास का दारोमदार दो ही परिवेशो पर है—एक राजनीति दूसरा धर्म जिससे संस्कृति भी जुड़ी है।

सांस्कृतिक परिवेश

संस्कृति का नाम जहां आता है, वहा धर्म व समाज अपने आप आ जाता है। संस्कृतियों में भारतीय सस्कृति सबसे पुरानी मानी जाती है। इस संस्कृति मे वो आकर्षण है जो युगों से विदेशियों को भी अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। आज हम जितने आधुनिक हो रहे हैं, उतनी ही अपनी सस्कृति से दूर होते जा रहे हैं कितु आज भी सस्कृति का जीवत रूप कबीलों, आदिवासियों में दिखायी देता है। इस उपन्यास मे अनेक स्थल सस्कृति का दिग्दर्शन कराते हैं। लेखक ने सांकेतिक भाषा का प्रयोग कर भारतीय सस्कृति का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह बेजोड है ·

"यह दोष वातावरण के बदलने के कारण आया। कालिदास के काव्यों की चामरधारिणी, मदिरों की देवदासियों और धनी युवको को वशीभूत करनेवाली गणिकाएं अचानक कहां से अवतरित हो गयी ? क्या कारण है कि उत्तर भारत मे जब ये मंदिर बन रहे थे, उसी समय कश्मीर नरेश जयापीड के आश्रित दामोदर पडित 'कुट्टनीतम', 'क्षेमेन्द्र', 'समय मातृका', 'देशोपदेश', 'कलाविलास' आदि कामशास्त्रीय ग्रथ लिख रहे थे ?"

भारतीय सस्कृति स्त्री को देवी का दर्जा देती रही है और जहा नारी की पूजा होती है, वहां देवता का वास होता है। आज गिरते नैतिक मूल्यों में नारी देवी नहीं, मां नहीं बल्कि भोग्या के रूप मे पूजी जा रही है। सुबोधदेव व कीरत के संवाद इसके लिए पर्याप्त है

"पुत्र सृष्टि की आद्या शक्ति जिसने अपने एक अपाग से संपूर्ण ब्रह्माड को जन्म दिया, जो अपने चरणों में लोटते सहस्रो ब्रह्मांडों को कदुक की तरह उछाल दिया करती है, मा के रूप मे नहीं भोग्या के रूप मे पूजी जा रही है।" (पृ 75) भारत देवालयों व मदिरो का देश है जहा विभिन्न संस्कृतिया एक साथ पलती है। देवियो का माहात्म्य निम्न पक्तियो मे है—"केदार क्षेत्र मे तीन उग्र देवियो के स्थान है। चामुडा, चर्ममुंडा तथा महारूडा। दुर्गा, चित्र गीवा द्वारेश्वरी, स्वप्नेश्वरी

आदि देवियां भी इसी क्षेत्र में विराजमान हैं। पश्चिम दिशा की रक्षा करनेवाली चडी अंगारेशी, नैऋत्य कोण की चंडी उत्तरेश्वरी, आग्नेय कोण की चंडी अधःकेशी अपनी उग्रता और वदान्यता के लिए प्रसिद्ध है।" (पृ. 75)

भारतीय संस्कृति कोई झूले में झूलनेवाला शिशु नहीं किंतु उसकी स्थिति यहा वैसी ही बना दी गयी है। लेखक ने काशी की संस्कृति देखी और जानी है। निम्न पक्तियों में उनका व्यग्य स्पष्ट है :

"भारतीय संस्कृति को पालने में झुलानेवालों को ज्ञात नहीं है कि उन्हें किससे जूझना है। वात्याचक्र की तरह जीर्ण-शीर्ण मलबे को उन्मथित करता हुआ ऐसा दुर्दांत शत्रु आ रहा है जो पालने मे झूलती हुई आर्य सस्कृति की बच्ची को खड्ग की नोक पर उठा लेगा।" (पृ 105)

भारत त्योहारो और मेलों का देश है। उत्तर हो या दक्षिण, पूर्व हो या पश्चिम सभी जगह अपनी रग-बिरंगी सस्कृति व त्योहारों के लिए प्रसिद्ध है। काशी बाबा भोले की नगरी है। यहा नागपंचमी पूजा हो, दिवाली हो, होली हो या महाशिवरात्रि हो, सबके अपने अलग-अलग रग होते हैं। महाशिवरात्रि व होली में भंग एवम् ठडाई का अपना अलग ही मजा होता है। 'नीला चाद' उपन्यास मे सूरज, लोचन, बब्बर आदि अनेक पात्र ऐसे हैं जो भारतीय सस्कृति का जीता-जागता रूप प्रस्तुत करते है। लोक-नृत्य व लोक-गीत हर किसी का मन मोह लेते है। काशी अपनी सस्कृति के लिए ही नही अपनी अन्य विशेषताओं के कारण हर किसी का मन बरबस अपनी ओर खींच लेती है। उपन्यास का अत भारतीय सस्कृति की याद ताजा करता है जब सूरज काका अपनी पूरी तान के साथ गा उठते हैं:—

"नवा चान उगे, उगे, उगे !
नवा चान उगे !
... .
सासु ननद देवई गारि
नाव चान उगे, नाव चान उगे।"

नये चाद का उदय हुआ है। चारो दिशाओ में प्रभात हो गया है। पूर्व से उदित हो पश्चिम में डूब गया है। सांवरि (स्त्री) उठकर आंगन बुहार रही है कि उसका आंचल गिर जाता है जिससे सास-ननद उसे गाली देती हैं...।" ऐसी ही न जाने कितनी गीतिकाए है जिन्हे सुनकर हम एक नयी दुनिया में पहुच जाते हैं।

ग्यारहवीं शती की काशी की महिमा ही निराली थी। काशी के कलाकारो द्वारा इतना महीन व चिकना मलमल तैयार किया जाता था, जिसकी विदेशों में अच्छी खपत थी। मूर्तियां, आरकूट के बने बर्तन, आभूषण इतने उम्दा हुआ करते थे कि देखनेवाला बस देखता ही रह जाये। विश्वेश्वर के सामने का राजपथ

वस्त्र-विक्रेताओं एवं गणिकाओं के भव्य राजप्रासादों से जगमगाता रहता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपन्यास मे सास्कृतिक पक्ष इतने यथार्थ ढंग से उपस्थित हुआ है कि संपूर्ण उपन्यास रुचिकर बन पड़ा है। भारतीय संस्कृति और खासकर काशी की सस्कृति इसमें हर जगह छायी दिखायी देती है। काशी की संस्कृति कला व भोग की संस्कृति रही किंतु धीरे-धीरे उस संस्कृति का विलय हो रहा है, उसके स्थान पर एक नयी संस्कृति जन्म ले रही है जो काशी को अध पतन की ओर घसीट रही है।

राजनीतिक परिवेश

कथावस्तु को ऐतिहासिक आधार प्रदान कर पूरा का पूरा उपन्यास राजनीतिक परिवेश में लिखा गया है। नीतियों पर चलनेवाला सच्चा राजनीतिज्ञ कहलाता है। आधुनिक युग मे राजनीति की परिभाषा बदल गयी है। भ्रष्टाचार, अनीति, अत्याचार यही है आज की राजनीति और इन पर चलनेवाला सच्चा राजनीतिज्ञ। प्राचीनकाल में भारत सोने की चिडिया कहा जाता था परंतु समय के फेर मे वह चिडिया न जाने कहा उड गयी और रह गया भुखमरी व गरीबी से लडता भारत। भारत की इस स्थिति का उत्तरदायी कौन है ? यह प्रश्न पूछे जाने पर सब एक-दूसरे पर दोषारोपण कर अपना दामन बचा कर साफ निकल जाते है, उसका खामियाजा भुगतती है जनता, जिस पर हर तरफ से मार पड़ती है। प्रस्तुत उपन्यास मे मुख्य रूप से दो ही चरित्र ऐसे है जो सच्चे राजनीतिक कहे जा सकते है—राजा कीरत और सेनापति गोपाल भट्ट। इस उपन्यास की धुरी भले ही कीरत हो किंतु सेनापति गोपाल भट्ट का त्याग एव उनकी मेहनत इसके लिए सोने मे सुहागे की तरह है। राज राजेश्वर परम पट्टारक सम्राट् विद्याधरदेव ने गोपाल भट्ट की आस्था पहचानकर ही उन्हे अपना विश्वास सौप दिया था। गोपाल भट्ट का चरित्र पढकर न जाने क्यो मुझे भीष्म पितामह याद आ गये। उन्होने तो अपने कुल के लिए त्याग किया था किंतु गोपाल भट्ट का त्याग तो नि स्वार्थ है। कृष्ण मिश्र जैसा व्यक्ति भी उन्हे आदरणीय मानता है

"गोपाल भट्ट जैसा दर्पण की तरह स्वच्छ मनुष्य खोजे नहीं मिलेगा। उनकी कृपा है जो उन्होंने मुझे अपने सभागार में आदर से निमत्रित किया।" (पृ 109)

गांगेय पुत्र कर्ण कलचुरी और विद्याधरदेव वशज कीरतसिह का राजनीतिक युद्ध इस उपन्यास मे बड़े विस्तार व व्यापक रूप मे चित्रित हुआ है। स्थान-स्थान पर कीरतसिह राजा का कर्तव्यबोध प्रतीत होते है।

"राजा का आकर्षण भूमि से नहीं, प्रजा से जुडना होता है। तुम्हारी अपनी प्रजा अगर तुम्हारे साथ नही है तो तुम्हारी रक्षा कोई नहीं कर सकता।...तुम्हारे राज्य में जो पहाडियां है उनसे जाने कितनी बडी-बडी पर्वत शृंखलाएं जैजाक

भुक्ति में है, वर्षा के जल को ढोनेवाले सहस्रो नदी-नाले हैं जो यमुना और शोण मे सगम बनाते हैं, पर मेरे पूर्वजों ने इस पर भरोसा नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि जिस साल वर्षा नहीं होगी, सूखा या अकाल पड़ेगा उस समय अन्न के लिए बिलबिलाती हुई प्रजा पानी मांगेगी। 'पानी-पानी', धधकते हुए पठारों पर तडपते हुए लोग चिल्लायेंगे 'पानी दो, पानी दो', पानी कौन देगा, गोविंद ?" मध्ययुग की समस्याएं आज भी वैसी की वैसी ही है। आज भी थोडा पानी बरसने पर बाढ़ और पानी न बरसने पर सूखे जैसी विभीषिकाओ का सामना जनता को करना पडता है। इस मर्मातक पीडा को सहन करना अपने आपमे एक साथ जीना-मरना है। इस उपन्यास में खल व आदर्श दोनो प्रकार के पात्र है। कर्णदेव एक राजनीतिज्ञ नहीं षड्यत्रकारी और कुचक्रकारी है, वह धोखे से कीरतसिंह के भाई चदेल राजा देववर्मा की हत्या करवाता है और उनकी पत्नी को हस्तगत करना चाहता है किंतु अपने नीच मनसूबे मे सफल नही हो पाता। ऐसी गंदी राजनीति चलानेवाले कला का क्या मूल्य जानेगे ? योगी भरथरि उस प्रवचक की खुलकर भर्त्सना करते हैं—"मै उस पर हत्या, षड्यत्र और म्लेच्छ होने का अभियोग लगाता हू।...क्या तुमने धरा को लूटा, प्रासादो को जलाया और जिस तरह तुमने खजुराहो के विश्वविख्यात मदिरो को आग की लपटों को सौप दिया, उसी तरह भोज के सरस्वती-भवन, कनक-सभा को भी राख के ढेर मे बदल दिया ? ...यह सब तुम्हारी बुद्धि का विलास था, कर्ण। तुमने व्यक्ति की हत्या नहीं की भारतीय कला और सस्कृति के पूजा-स्थल को नष्ट कर दिया। तुम म्लेच्छ से भी निकृष्ट पापात्मा हो। (पृ 412-413)

आज भी भारतीय कला और सस्कृति के पूजा-स्थल वैसे ही नष्ट हो रहे है। अब मदिर व देवालय ईश्वर के रहने लायक नहीं रह गये। वहां हिंसा व क्रूरता का नगा नाच होता है। लेखक द्वारा छोडा गया तीर अपने निशाने पर लगा है, इसमे कोई शका नही है। काशी जैसी नगरी कर्ण के कारण चद्र काशी और कर्ण काशी में बंट गयी। जो जिस पद का अधिकारी नहीं होता उसे वह पद मिल जाता है और जब ऐसी स्थिति आती है तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इसके प्रतीक है कर्ण व काशी की स्थिति।

"इहै दुद चल रहा है, हमारे मन मे। इहा गुवालपल्ली मे बटवारा हो गया है, वत्स। मदाकिनी के निकट रहनेवाले दक्खिन पट्टी के लोग चंद्रदेव को काशी का राजा मानते हैं। अब रहे उत्तर पट्टी के गुवाल सो हमरे कारन करणदेव के भगत हैं। उन्हीं को काशी का राजा कहते हैं।" (पृ 68) अंततः यही कहा जा सकता है कि यह पूरा का पूरा उपन्यास राजनीति के ऊपर आधृत है। राजनीति का बडा ही सजीव वर्णन इसमें दिखायी देता है। राजनीति मे वर्ग-सघर्ष, जाति-सघर्ष, कबीलो का संघर्ष तो है ही साथ में राजाओं का सघर्ष मुख्य है। जी-हुजूरी करनेवालों का सजीव चित्रण मन को लुभाता है।

आर्थिक परिवेश

अर्थ की समस्या जो न कराये थोडा है। 'नीला चांद' उपन्यास आर्थिक परिवेश से अछूता नहीं है। अर्थ के बल पर समाज मे प्रभाव व इज्जत प्राप्त होती है। मेहनत मजदूरी करनेवाले श्रमिक एव ऊचे-ऊंचे नगरों की स्थिति इस उपन्यास में खुलकर आयी है। मेहनत वो करते है कितु उस मेहनत की कीमत भी उन्हें नहीं मिलती। सारा फायदा बिचौलिया उठाते हैं। उपन्यास मे अनेक स्थल इसकी प्रतीति कराते हैं। बगाल के राजा विग्रहपाल अपनी पत्नी के साथ जब तंतुवाय रूपचद्र से मिलते हैं तो उसकी व्यथा उसके शब्दों से प्रकट हो जाती है।

"मुझे काशी में रहते पचास साल हो गये। कभी किसी ने आर्य नहीं कहा। यह मेरा पारिवारिक धंधा है। इस काशी में हमे केवल दुत्कार मिली। हमे ही क्यो, भारतवर्ष के सभी तंतुवाओ को शूद्र कहा जाता है।...हम महार्घ उपकरण लगाकर दिन-रात जुटकर शाटी बनाते है और उन्हे वणिक और मध्यम (दलाल) मिलकर भोजन कर जाते है। हमें कठिनाई से पंद्रह प्रतिशत मिलता है रोजी-रोटी के लिए।" (पृ 517)

आज स्थितियां और भी जटिल हो रही है। धीरे-धीरे उम्दा कलाकरों व कारीगरों की कमी होती जा रही है, दूसरा एक कारण और भी है, शोषण व बेकारी के कारण आज की युवा-पीढी अपने पुश्तैनी धंधे को नहीं करना चाहती। दुर्भिक्ष, सूखा, बाढ जैसी परिस्थितियो के कारण आर्थिक समस्याएं और भी बढती जा रही है। आज गैर-जिम्मेदारिया इतनी बढ गयी हैं कि इन स्थितियो से लडाई होती अवश्य है किंतु वह कागजो तक ही सीमित रह जाती है जिससे हर तरफ असतोष व्याप्त होता जा रहा है।

इन परिवेशो के अतिरिक्त प्राकृतिक परिवेश के स्थूल एव साकेतिक रूप भी इस उपन्यास मे है।

"गगा और काशी का दिव्य सयोग तो तभी जानते है, पर शर्माजी के आवास से आदि के शव से केदारेश्वर तक विस्तृत घाटो और उनके तट पर खडे धवल गृहो, मदिरो, श्रेष्ठ-प्रासादो का समवेत दृश्य और उनके शिखरों पर लहराते केशरिया ध्वज इतने मनोहारी हैं कि काशीपुरी एक मोहानगरी का रूप उपस्थित कर रही है। शिवलिग पर एक पुष्प चढाने पर यहा सहस्रो यज्ञों के फल सहज उपलब्ध हो जाते हैं, उस काशी को कोई कैसे छोड सकता है।" (पृ 212)

इसी प्रकार काशी का साकेतिक वर्णन निम्न है ·

"कीरत पथशाला के ऊपरी प्रकोष्ठ मे अधलेटे जाने कहा दृष्टि गडाये सोच रहे थे। पिछले तीन दिन के अंदर ही उन्होंने जान लिया था कि काशी का जितना विस्तार है, उतनी ही गहराई भी। यह शिव बारात के बावन वीरों की राजधानी है।" कई स्थलो पर पात्रों की मनःस्थिति के अनुकूल प्राकृतिक परिवेश आया है।

इस प्रकार के सांकेतिक सूक्ष्म परिवेश बहुत कुछ अनकहा व्यक्त कर जाते हैं।

समग्रत: इस उपन्यास मे परिवेश का बड़ा ही सुंदर व व्यापक चित्रण हुआ है। परिवेश के विभिन्न रूपो के द्वारा लेखक ने इतना अनकहा कह दिया है कि उसमें व्यक्ति, परिवार, समाज, देश, विश्व सभी आ गये हैं। उपन्यास में पात्र नहीं लेखक बोल रहे हैं :

"अनादिकाल से आज तक उत्थान-पतन, हार-जीत, अस्तित्व के लिए हिंसा-प्रतिहिंसा, शोध-प्रतिशोध के इस चक्रव्यूह मे व्यक्ति की क्या नियति है, वह एक अणु है। किंतु अणु को अणु मानकर तिरस्कृत कर देने में समस्या सुलझती नहीं, कुछ ऐसा है जो देखा, अनदेखा हो जाता है। किसी चुंबकीय शक्ति का अज्ञात सबध है या बंधन है कि सारी वैश्विक चेतना एक लय मे आबद्ध हो रही है। "आज की गंगा पराधीन-सी है साथ ही स्याह और धूम वर्ण की भी।" आज हर एक मानव अपने ह्रदय के भीतर के द्वंद्वो से लडता हुआ जिये जा रहा है। 'नीला चांद' प्रतीक है महत्त्वाकांक्षा का। मध्यकालीन काशी का वर्णन करते हुए लेखक ने समसामयिक परिस्थितियो पर बखूबी प्रकाश डाला है। उपन्यास की अतिम कुछ लाइनें पूरे उपन्यास का उद्देश्य प्रकट कर देती हैं :

"इस महान्, असीम और अथाह आकाश की ही तरह सबके मन में भी एक आकाश होता है। वहा की अमावस्या महीने-महीने आनेवाली अमा से लाख गुना अधिक बोझिल, असह्य, आंखो को विजडित करनेवाली होती है। जैसे हर व्यक्ति के अंदर एक आंगन है, एक तुलसी चौरा है, वैसे ही सबके छोटे-छोटे आकाश मे एक नीला चाद भी होता है। ढकोसलों से नहीं, नियति को जाननेवाले दांभिकों की भविष्यवाणियो से नही, तू खुद कालिमा में डूबकर अपने मन के आंगन में जगमगाता नीला चाद देख लेगा, उसका नाम है अमोघ इच्छा-शक्ति।"(पृ 645)

प्रकृति के सूक्ष्म एवं साकेतिक परिवेश का सहारा लेकर लेखक ने उपन्यास को समसामयिक बना दिया है।

काशी को लौटती कथा : नीला चांद

• *भारत भारद्वाज*

कभी 'नव-लेखन' के प्रबल पक्षधर और अगुआ रहे डॉ. शिवप्रसाद सिंह समकालीन हिंदी-साहित्य में आज प्रमुख कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में चर्चित हैं। उनकी कहानियों के केंद्र में यदि गांव है तो शहर का अतीत और वर्तमान उनके उपन्यास की धुरी है। एक ओर यदि अपनी कहानियो में उन्होने स्वातंत्र्योत्तर भारत के गांव के गतिशील यथार्थ को अनेक कोणों से स्पर्श किया है तो दूसरी ओर अपने उपन्यास में भारतीय समाज की विसंगतियों, जातीय असमानता और धार्मिक पाखंड को अविस्मरणीय चरित्रों और घटनाओं के जरिए भी सघनता से मूर्त किया है। उनकी कथादृष्टि वर्तमान तक सीमित नहीं है, वे भविष्य की ओर भी जाती है और सुदूर अतीत के इतिहास मे प्रवेश कर सांस्कृतिक चेतना को भी उद्बुद्ध करती है।

प्रसिद्ध समालोचक डॉ रामविलास शर्मा की साहित्यिक राजनीतिक चेतना के केंद्र मे यदि ई. 1857 का गदर है तो भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केंद्र काशी का हजारो साल पुराना इतिहास डॉ शिवप्रसाद सिंह के मन में वासुकि नाग की तरह कुंडली मारे बैठा है। यही कारण है कि शिवप्रसाद बार-बार लेखन में काशी की ओर लौटते है।

काशी-शृखला के अपने पहले उपन्यास 'गली आगे मुडती है' में उन्होंने काशी के वर्तमान को लिया था। उसी शृखला के अपने दूसरे नये महाकाव्यात्मक उपन्यास 'नीला चाद' में उन्होने मध्यकालीन काशी के इतिहास को अपना विषय बनाया है। यहा सवाल पूछा जा सकता है क्यों वर्तमान से अतीत की ओर मुडना शिवप्रसाद सिह को जरूरी लगा ? भूमिका में वे लिखते हैं–"मैं मध्यकाल में वह काशी देखना चाहता था जो विदेशी आक्रांताओ के पहले थी। मुझे तदनुरूप किसी ऐसे समय को ढूढना था जिसने त्रिकंटक को भी हिला दिया हो, जहां 'धगद्-धगद्-धगद्-ज्वलम्' के भीतर नदीश्वर के ज्योतिर्लिंग ने विशाल स्तंभ की तरह धरा और आकाश को जोड़ दिया हो। वह समय मिल गया, जब कर्ण कलचुरी ने देववर्मा

चंदेल की हत्या की। उस समय की काशी है यह यानी ईसवी 1060 की।" मध्यकालीन काशी को अपने उपन्यास की कथावस्तु चुनने के पीछे डॉ. सिंह की दृष्टि मात्र इतिहास के अंधेरे से मुठभेड़ करना ही नहीं रहा है, बल्कि उस प्रकाश-पुंज की तलाश भी रही है। इस उपन्यास में उठाये गये पात्रों की अदम्य इच्छा-शक्ति का नाम है 'नीला चांद'। उपन्यास के अंत में लेखक ने इस ओर संकेत किया है—'...जैसे हर व्यक्ति के अंदर एक आंगन है, एक तुलसी चौरा है, वैसे ही सबके छोटे-छोटे आकाश में एक नीला चांद भी होता है। ढकोसलों से नहीं, नियति को जाननेवाले तांत्रिकों की भविष्यवाणियों से नहीं, तू खुद कालिमा में डूबकर अपने मन के आंगन में जगमगाता 'नीला चांद' देख लेगा, उसका नाम है, अमोघ इच्छा-शक्ति।' (पृ. 645)

सदियो से काशी सास्कृतिक अंतर्विरोधों का केंद्र रहा है। गंगा की अगाध बहती विपुल जल राशि यदि राग उत्पन्न करती है तो धारा में बहते शव विराग। राग-विराग का अद्भुत संगम है काशी। योग-भोग, माया, मुक्ति, धार्मिक पाखंड, छल-कपट, जात-पांत की संकीर्णता, जातीय सहिष्णुता, उग्र साधना, कला-साधना, सुख, ऐश्वर्य, शोषण की धारा लगातार बहती रहती है काशी में। छद् आध्यात्मिक पाखंड के बहुआयामी विद्रूप चेहरे को तो लेखक ने इस उपन्यास में बेनकाब किया है, इतिहास के विस्मृतप्राय चरित्रों—विद्याधर, गांगेय, कर्णकलचुरी, कीर्ति वर्मा, गोपाल—को अपनी अकूत सृजनात्मक शक्ति के बल पर पाठकों के सामने मूर्त कर दिया है। लेखक की दृष्टि मात्र शासक-शोषक पर ही टिकी नहीं रहती, उसकी अपनी सहानुभूति तत्कालीन समय के सामान्य जन-जीवन को, खासकर निचले वर्ग के प्रति भी है। वह उनकी आशा-आकांक्षा और संघर्ष को गरिमापूर्ण ढग से चित्रित करता है।

काशी नरेश कलचुरी कर्ण (लक्ष्मी कर्ण) द्वारा जैजाक मुक्ति के समाधिस्थ राजा देव वर्मा चंदेल की नृशंस हत्या ने उसके भाई कीर्ति वर्मा (कीरत) के भीतर नफरत, प्रतिशोध की ऐसी आग प्रज्वलित कर दी है, जिसने काशी को अपनी लड़ाई का केंद्र बनाकर, व्यक्तिगत प्रतिशोध के अपने संकल्प को जनमुक्ति के संकल्प में परिणत कर दिया है। काशी के सत्ताच्युत शासक गाहड़वाल नृपतिचंद्र, मदन या गोविंदचंद्र भले ही कीर्तिवर्मा के शौर्य, पराक्रम के प्रति उदासीन रहे हों, लेकिन काशी की प्रजा को उसने अत्याचारी कर्ण से मुक्ति दिलाने के लिए आंदोलित कर दिया है। रज्जुक और पारस का कीर्तिवर्मा के प्रति अथाह विश्वास, समाज के हर वर्ग—नट, केवट, डोम, हरिजन आदिवासी का एकजुट होना कीर्तिवर्मा की रणनीति, अदम्य संकल्प-शक्ति का प्रमाण है। कीर्तिवर्मा की दृढ़ इच्छा-शक्ति का ही यह परिणाम है कि वह न केवल गाहड़वाल और चंदेल प्रजा को कर्ण के कुशासन से मुक्ति दिलाता है बल्कि गोविंद चंद्र को काशी का नरेश बनाकर अद्भुत त्याग

का परिचय देता है।

उपन्यास के मुख्य पात्र कीर्तिवर्मा का चरित्र विशिष्ट है। कुछ-कुछ वासुदेव कृष्ण से मेल खाता। स्थित-प्रज्ञता उनमें नहीं है और इसी बिंदु पर वे अत्यधिक मानवीय हो उठते हैं, बन गये हैं। समाधिस्थ की हत्या, भाभी की मौत, अपनी प्रजा का अपमान कर्णदेव के हाथों। कीर्तिवर्मा विचलित भी होते है, रोते भी हैं लेकिन पतझड़ को अपने जीवन का यथार्थ नहीं बनाते। युग पुरुष कृष्ण टूटते नहीं थे, कीर्तिवर्मा बिखर-बिखरकर जुड जाते हैं। कीर्तिवर्मा चाहे उपन्यास के नायक हों या ऐतिहासिक पुरुष, डॉ सिंह ने जिस कौशल, रचनात्मकता से इस पात्र को दोबारा गढा है, वह अपनी लोकोन्मुखी दृष्टि के कारण शोषण विरुद्ध जनाकांक्षा के विद्रोह का प्रतीक बन जाता है।

इतिहास और परंपरा के द्वंद्व से इस उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है। परपरा से इतिहास की टकराहट की अनुगूजता है ही इस उपन्यास मे। लेकिन भौतिक इतिहास के पार भी जाती है लेखक की दृष्टि। वह काशी के इतिहास के कालखड से ऐसे पात्र को उठाता है जिसने अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर धरा को आकाश से मिला दिया।

उपन्यास का कथा-फलक बहुत विस्तृत है। कुछ प्रमुख पात्र-पात्रा शीलभद्रा, गोमती, राहुलभद्र, वृषध्वज, केशवानंद जो उपन्यास मे आध्यात्मिक अलौकिता के केंद्र बिंदु हैं, की चर्चा छूट रही है। लेकिन डॉ. सिंह ने मध्यकालीन काशी के अध्यात्म, इतिहास और समाज को जिस सर्जनात्मक संलग्नता के साथ संवेदनात्मक धरातल पर पूरी भाषिक शक्ति-कौशल के साथ उठाया है, वह अद्‌भुत है। यह उपन्यास पढकर डॉ सजना कौल ने अपने एक पत्र मे मुझे लिखा था 'टालस्टॉय' के 'युद्ध एवं शांति' की तरह अद्‌भुत युद्ध दृश्य है इस उपन्यास में। निश्चित रूप से यह उपन्यास लिखकर डॉ. सिंह ने डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन की परपरा को आगे बढाया है। जो लोग डॉ सिह पर यह आरोप लगाते है कि वे 'यथार्थ की गतिशीलता समग्रता में नहीं पकड पाते' या 'उनकी कहानियों-उपन्यासो में जनजीवन के जीवन-सघर्ष की दिशा सामने नहीं आती।' उनसे मेरा विनम्र आग्रह है कि इस उपन्यास को पढकर अपने विभ्रम से मुक्त हो।

कथाकृति से झांकती सांस्कृतिक विराटता

• *संजना कौल*

अपने पहले बहुचर्चित उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' में डॉ. शिवप्रसाद सिंह के उपन्यासकार ने क्षुब्ध होकर लिखा था, "साल भर तक मैंने इस गांव में रहकर यह जान लिया है कि यहां किसी भले आदमी का रहना मुश्किल है। यह एक जीता-जागता नरक है जिसमे वही आता है जिसके पुण्य समाप्त हो जाते हैं। चारों ओर कीचड, बदबूदार नाबदान, गो-मूत, बीमारिया, कुलबुलाते कीडे, मच्छर, जहरीली मक्खियां, इसके बीच भुखमरी, डरावनी हड्डियों के ढांचे, किंचरौली आंखों और बीमारी से फूले पेटवाले छोकरे, घरों में बंद गंदगी में आपादमस्तक डूबी औरतें जो एक-दूसरी को खुलेआम चौराहे पर नंगियाने में ही सारा सुख और खुशी पाती है, धुधुआते मन के अपाहिज जैसे नवयुवक जो अंधेरी गलियों में बदफेली करने का मौका ढूढते फिरते हैं, थके-हारे प्रौढ जो गृहस्थी के जुए को उतार पाते हैं न उसमे उत्साह से जुत पाते हैं, मौत का इंतजार करते बुड्ढे अपने ही बेटों-बेटियों से उपेक्षित बिलबिलाते रहते हैं...यही है न हमारी जन्मभूमि करैता!"

और ग्राम समाज के प्रति इस विरक्ति को बहुत पीछे छोड़ता हुआ उनका तीसरा उपन्यास है 'नीला चांद' जो उनके पिछले दो उपन्यासों 'अलग-अलग वैतरणी' और 'गली आगे मुडती है' से निश्चय ही ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। यह उपन्यास भारतीय ग्राम समाज को लेकर किसी प्रकार का विक्षोभ लिये हुए नहीं है वरन् प्रकट करता है स्वस्थ जातीय गौरव और कुछ भी कर गुजरने की मनुष्य की असीम शक्ति संपन्नता।

लेखक ने एक बहुत बडा ख़तरा मोल लेकर इस उपन्यास की रचना की है। बहुत से तथाकथित प्रगतिवादी कथाकृति में आर्यजाति की स्तुति पढ़कर उपन्यासकार को अप्रगतिवादी या जातिवादी कह सकते हैं। इस बिंदु पर मैं यह कहना चाहूंगी कि लेखक ने आर्यत्व को मानव सुलभ श्रेष्ठत्व के रूप में लिया है, आर्यजाति को थोपने का कोई प्रयत्न नहीं किया। नायक कीर्तिवर्मा तथा उनके अन्य साथियों के साथ योगिनी शीलभद्रा का संबंध यदि आर्यजाति से है तो गोंडों

और अन्य जनजातियों की भी अस्मिता बनी हुई है।

उपन्यास मूलत· ऐतिहासिक है—मध्यकालीन काशी के इर्द-गिर्द घूमता हुआ। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखते-लिखते लेखक की कलम बृहद् मानवीय जीवन को भी छूने से रह नहीं पायी है। ऐतिहासिक पात्रों के ही माध्यम से डॉ. सिह ने मनुष्य की जिजीविषा, उसकी जीवनी-शक्ति में अपनी भरपूर आस्था व्यक्त की है।

कहानी का नायक राजकुमार कीर्तिवर्मा है जिसके समाधिस्थ भाई की शत्रु हत्या कर देता है, भाभी सती हो जाती है और प्रतिशोध की आग में जलता हुआ, अपने बलबूते पर संघर्ष करता हुआ वह अंतत· अपने शत्रु कर्ण कलचुरी का मानमर्दन कर देता है। उसी के सघर्ष और उसी की दृढ इच्छाशक्ति की कहानी है 'नीला चांद' और इसी कहानी के साथ-साथ डॉ सिंह की कलम भारतीय जनजीवन के विभिन्न हिस्सों को भी छूती हुई उपन्यास को देश की सांस्कृतिक विराटता का दर्पण बना देती है।

यहां प्रश्न उठाया जा सकता है कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न कुसंस्कारों को उपन्यास में उजागर किया गया है। फिर सांस्कृतिक विराटता कैसी ? किंतु मैथ्यू आर्नल्ड के शब्दों में, "सस्कृति पूर्णता का अध्ययन है...मानव मात्र के प्रति प्रेम और उसकी समस्याओं को समझना सस्कृति के मुख्य अंग हैं। संस्कृति का उद्देश्य है जीवन में उदात्त मूल्यों तथा उद्देश्यो की सम्यक् प्रतिष्ठा करना, जीवन में साध्य और साधन, स्थायी और अस्थायी, पूर्ण और अपूर्ण के भेदाभेद की व्याख्या सस्कृति का मुख्य प्रयोजन है।"

लेखक ने भारतीय सस्कृति को उसकी सपूर्णता में देखा है। संस्कृति के अवमूल्यन को सामने रखते हुए उदात्त मूल्यों को प्रस्थापित किया है। सही है कि भारतीय जनजीवन में उत्पन्न हुए दोषो को भी उपन्यासकार ने अनदेखा नहीं किया, कितु उससे उपन्यास की महत्ता घटने के स्थान पर बढती ही है। कथाकार की प्रतिबद्धता जीवन की उदात्तता के प्रति ही स्पष्ट होती है। वस्तुतः इसमें भारतीय जनजीवन का एकमुखी स्वरूप नहीं, विराट संस्कृति के भरपूर तत्त्व मिलते हैं। निश्चय ही यह उपन्यास लिखकर डॉ सिंह ने हिंदी उपन्यास साहित्य को एक महत्त्वपूर्ण कृति दी है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उपन्यास का कथाफलक ऐतिहासिक है, कितु यह कथा न तो अग्रेजी और फ्रासीसी साहित्य के नाइटों के 'रोमांस' के निकट बैठती है और न भारतीय साहित्य के आख्यानात्मक महाकाव्य से इसका संबध है। लेखक के ऐतिहासिक सस्कार का अध्ययन बखूबी किया जा सकता है, इस उपन्यास से और यही ऐतिहासिक सस्कार उनकी दृष्टि को अत्यधिक मानवीय बना देते हैं। 'नीला चांद' यद्यपि राजन्य संस्कृति का आधार लेकर चलता

है किंतु इसमें अनुगुंजित हैं केवल मानवीय मूल्य। इस संस्कृति को याद रखना हमारे लिए उसी प्रकार आवश्यक है जिस तरह भारतीय लोकतंत्र पर सोचने-विचारने के लिए लिच्छिवियों पर लिखना और उन्हें याद रखना अत्यावश्यक है। तात्पर्य यह कि अपने देश के इतिहास को भूलकर हम प्रगतिशीलता की दुहाई भर देते रहें तो यह हमारी हठधर्मिता और थोथी प्रगतिवादिता होगी।

श्री भारत भारद्वाज ने 'जनसत्ता' में प्रकाशित इस उपन्यास की अपनी समीक्षा में उपन्यास के नायक कीर्तिवर्मा को वासुदेव कृष्ण के चरित्र से मेल खाते हुए बताया है, इसका गलत अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए। मात्र कीर्तिवर्मा में नहीं, कथाकृति के अधिकांश चरित्रों में कृष्ण छाए हुए हैं, किंतु लीला पुरुषोत्तम या मुरलीधर के रूप में नहीं वरन् बहुमुखी प्रतिभावाले योगेश्वर कृष्ण के रूप में। उपन्यास में छाए हुए कृष्ण 'मानित नवमदन' भी हैं और 'कालियकुल दमन' भी उन्होंने किया है। माधुर्य और शौर्य के स्वामी कृष्ण की छवि को उपन्यास के कई प्रमुख पात्र जगह-जगह पूजते दिखायी देंगे।

मैं यह तो नहीं कहूंगी कि तॉल्स्तॉय के लेखन की काट का उपन्यास है यह। किंतु एक स्थान पर डॉ. सिंह को तॉल्स्तॉय से महत्त्वपूर्ण जरूर मानना पड़ेगा। तॉल्स्तॉय के लेखन में कई जगहों पर उनके व्यक्तिगत अंतर्द्वंद्व झलक-झलक उठते हैं जबकि 'नीला चांद' के डॉ. सिंह के अपने अंतर्द्वंद्व नहीं, मध्यकालीन काशी के युगीन अतर्द्वंद्व देखने को मिलते हैं। लेनिन ने तॉल्स्तॉय के लेखन के अंतर्द्वंद्वों को लक्ष्य करके लिखा है, "...On the one hand the remarkably powerful, forth right and sincere protest against social falsehood and hypocrisy, and on the other, the 'Tolstoyan' i.e. the jaded, hysterical sniveller called the Russian intellectual who publicly beats his breast and wails, 'I am a bad wicked man, but I am practising moral self perfection; I don't eat meat any more, I now eat rice cutlets'...on the one hand the most sorber realism, the tearing away of all and sundry masks, on the other the preaching of one of the most odious things on earch namely religion. (Lenin on Leo Tolstoy) (Page 8)

'नीला चांद' के जिन पात्रों में चारित्रिक दृढ़ता नहीं है, उनका महत्त्व अपने आप लुप्त हो जाता है। दूसरी ओर नायक और अन्य प्रमुख पात्र अलग तरह की आत्मश्रद्धा लिये हुए हैं। पूर्णत्व प्राप्ति के स्थान पर वे मानवीयता प्राप्त करने की आकांक्षा से भरे हुए हैं। एक श्रीकृष्ण मिश्र को छोड़कर 'नीला चांद' का कोई पात्र अपने कामों पर विलाप करता नज़र नहीं आता। यह सत्य है कि कथाकृति के पात्रों में हमें धर्म के प्रति कट्टर श्रद्धा दिखायी देती है, किंतु यह उस समय के समाज की मांग है। मध्यकालीन भारत का आधार स्तंभ ही धर्म था। लेखक अगर इस आधार को उपन्यास में स्थान न देते तो उनके इतिहास बोध की बहुत बड़ी गलती प्रकट हो जाती।

इस उपन्यास के माध्यम से डॉ. सिंह ने कई विलक्षण चरित्रों को गढ लिया हैं जो निश्चय ही हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासों में अपनी एक अलग पंक्ति बना लेते हैं। कीर्तिवर्मा का चरित्र तो विलक्षण है ही, उनके अमात्य अनंत और उनकी पत्नी चंपक का चरित्र कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। राजकुमारी गोमती में हमें एक वीरांगना के दर्शन होते हैं, किंतु हिंदी साहित्य में ऐसे नारी चरित्र इससे बहुत पहले डॉ. वृंदावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलते हैं। उपन्यासो के साथ-साथ यदि हम प्रसाद साहित्य में जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चंद्रगुप्त' की 'अलका' को याद करें तो गोमती उसके बहुत निकट लगती है। चंपक के चरित्र में गोमती से अधिक नवीनता है। उपन्यास में वह एकमात्र कूटनीतिज्ञ नारी है। ऐसे नारी चरित्र हिंदी उपन्यास साहित्य में बहुत कम मिलते हैं। देश-काल की पृष्ठभूमि में चपक के चरित्र का मूल्यांकन करें तो उसका चरित्र गोमती के चरित्र के मुकाबले में अधिक क्रांतिकारी मालूम होगा।

उपन्यास मे एक और क्रांतिकारी चरित्र है, महायोगिनी शीलभद्रा। उसका चरित्र वैदिक युग की ऋषिमाताओं से मेल खाता है। 'नीला चांद' में वह सम्राट् विद्याधर देव की प्रेमिका और अन्य पात्रों की 'शीला मां' के रूप में छाई हुई है। उच्च जाति के अहंकार से रहित वह कर्मयोग से तेजस्विता नारी है जो निचली जाति के लोगों मे आत्मगौरव भर देती है, उनमें जीवन के प्रति आस्था पैदा करती है। उसका चरित्र अत्यधिक मानवीय है जो किसी भी तरह के अन्याय को नहीं सहता। रामचंद्र की पत्नी के शब्दों में, "मेरा शूद्र परिवार जन्म-जन्मांतर तक अपने को धन्य मानता रहेगा कि पूर्वजों के पुण्य से एक दिन ऐसी ब्राह्मण युवती के दर्शन हुए जो साक्षात् पार्वती थी।" (नीला चांद, पृ 311)

इतना ही नहीं, शीला मा ब्राह्मणो को भी आत्मसम्मान से जीवित रहना सिखाती है। कौमुदी के शब्दों मे, "मेरी मां का आदेश है कि दक्षिणा मत लिया कर...वे कहती हैं कि यदि अन्न-जल ठीक से मिल जाता हो तो किसी के सामने ब्राह्मण-कन्या को हाथ नहीं पसारना चाहिए।" (नीला चांद, पृ 179)

उपन्यास मे एकमात्र अनीश्वरवादी चरित्र है, भूवनरत्लेश शर्मा जिनके स्वभाव मे तर्कशीलता भी मिलती है और भरपूर आत्मविश्वास भी।

पूरे उपन्यास में हमें सामंतवाद, राजन्य व्यवस्था के बीच बहता हुआ लोकधर्म दिखायी देगा। कीर्तिवर्मा का सीधा संबध यद्यपि राजकुल से है, किंतु उनकी दृष्टि लोकोन्मुखी है, लोकमानस के प्रति उनमें भरपूर आदर है जिसे राजतंत्र से जुडा हुआ एक क्रांतिकारी तत्त्व कहा जा सकता है।

आख्य प्रदेश के जनसाधारण से कीर्तिवर्मा का गहरा जुड़ाव और प्रतिदान मे दिया जानेवाला आख्य निवासियों का अगाध स्नेह तत्कालीन समाज के लोकमानस की एक बड़ी लुभावनी झलक दिखा देता है।

इतना ही नहीं, कथाकृति में शोषण के किसी भी रूप के प्रति भरपूर घृणा

मिलती है। वह चाहे देवदासी का शोषण हो, पति के हाथों पत्नी का शोषण हो या श्रमजीवी को पीसा जा रहा हो, कथाकार ने पूरी ताकत से उसके प्रति अपनी घृणा व्यक्त की है। मेहनतकश का शोषण स्वामी वर्ग कैसे करता है, इसी संदर्भ में उपन्यास की ये पंक्तियां ध्यातव्य हैं, "लंगोटा मात्र पहने स्वेद से नहाए शरीरवाले उस कर्मी को देखकर ही जाना जा सकता है कि मनुष्य के हथौड़े की चोट से लौहपिंड किस तरह विदीर्ण होता है, प्रसरित होता है और सहस्रों घरों में, शूद्र से लेकर ब्राह्मण तक, कृषक से लेकर भूस्वामी तक, हल के फाल से लेकर अरघट्ट की मालाओं तक, खड्ग से लेकर सर्वला तक, तवे से लेकर कवच तक, बाण की अनेक प्रकार की अनियों से लेकर कुंत तक, लाल अंगार से तपता-भुनता कौन व्यक्ति है, जिसकी दग्ध त्वचा हम कभी भी देख नहीं पाते क्योंकि हमें पण्य से वास्ता है, इसके निर्माता से नहीं। जिस क्षण पण्य और प्रणेता का संबंध टूट जाता है, वह कलाकार के स्थान से च्युत होकर एक विवश श्रमिक मात्र रह जाता है।' (नीला चाद, पृ 219)

श्रम के प्रति लेखक की यह दृष्टि राजन्य पृष्ठभूमि लिये हुए इस उपन्यास को आज के भारत के लिए भी प्रासंगिक बनाती है। किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि लेखक ने मार्क्सवाद या प्रगतिवाद के घोषणा पत्र की तरह उपन्यास की रचना की है। कथाकृति के स्वरूप और उसमें बोलते हुए चरित्रों के माध्यम से लेखक की यह दृष्टि स्वाभाविक रूप से उभर आती है।

लेखक ने पहली बार हिंदुत्व और बौद्धधर्म के बीच के दुराव को पाट दिया है। युवा भदंत राहुलभद्र आर्यों के भी पूज्य हैं और बौद्धों के भी वंदनीय। इसी प्रकार शीलभद्रा शैवों और वैष्णवों के साथ-साथ बौद्धों की भी 'शीला मां' हैं। डॉ सिंह ने कथाकृति में पहली बार में ब्राह्मणत्व और क्षात्रधर्म का भी एक-दूसरे मे समावेश किया है। गोपाल भट्ट ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण होने के साथ क्षत्रियोचित गुण भी उनमें भरपूर मात्रा में मिलते हैं। अमात्य अनंत अभिनव कौटिल्य कहे जानेवाले प्रभास के पौत्र हैं और साथ ही क्षत्रियों की तरह अत्यधिक शूरवीर भी। कीर्तिवर्मा चंदेल राजपूत हैं और राजपूतों की वीरता के साथ-साथ हम उनमें वे सारे गुण पाते हैं जो ब्राह्मणों में मिल सकते हैं। पराक्रम के साथ-साथ उनमें भरपूर क्षमाशीलात भी मिलती है। यही है सांस्कृतिक विराटता जिसके दर्शन 'नीला चांद' में जगह-जगह किये जा सकते हैं।

कई विद्वान् आलोचकों ने इस उपन्यास को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन की परंपरा का उपन्यास बताया है। किंतु इस कथाकृति में जो लोक-जीवन बोलता है, गंभीर जीवन-दर्शन के साथ-साथ इसमें आम व्यक्ति के जीवन की जो ऋजुता झलकती है, उसे देखते हुए यदि इसे डॉ. वृंदावनलाल बर्मा के उपन्यासों की कोटि में रखा जाये जो अधिक उचित होगा।

नीला चांद : मध्ययुगीन काशी की महागाथा

• *वाचस्पति*

वर्ष 1990 के लिए साहित्य अकादमी से पुरस्कृत वरिष्ठ कथाकार डॉक्टर शिवप्रसाद सिंह (जन्म 19 अगस्त, 1928 ई) का करीब साढ़े छह सौ पृष्ठों पर उपन्यास 'नीला चाद' (जून 1988), मध्यकालीन काशी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। इससे पहले लेखक के दो उपन्यासों 'अलग-अलग वैतरणी' (1967) और 'गली आगे मुड़ती है' (1974) का प्रकाशन हुआ। पहला उपन्यास पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्राम्यांचल का स्वातंत्र्योत्तर यथार्थ प्रस्तुत करता है तो नये बनारस के विश्वविद्यालयीय परिवेश के साथ काशी का बहुरगी जीवन दूसरे उपन्यास के केंद्र में है। अपने गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इतिहासबद्ध उपन्यासों की परंपरा में शिवप्रसाद सिंह का काशी जैसे बुजुर्ग शहर पर प्रस्तावित तीन बडे उपन्यासों के क्रम में 'नीला चाद' दूसरा है। इस बाबत 'नीला चांद' की भूमिका में शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है, "मै मध्यकाल की वह काशी देखना चाहता था जो विदेशी आक्राताओं के पहले थी।...उस समय की काशी है यह यानी ईसवी 1060 की।" बहुत विस्तृत फलक पर चित्रित इस उपन्यास का कथानक चंदेलों और गाहड़वालों के सम्मिलित प्रयास से हुए कलचुरियों के पराभव की उन परिस्थितियों से जुड़ा है जिनकी घटना भूमि मध्ययुगीन काशी और उसका निकटवर्ती परिवेश है।

चंदेलवंश नवीं शताब्दी के प्रारभ में नानुक या नन्नुक द्वारा स्थापित हुआ। इस वंश के नवें शासक विद्याधर (लगभग 1025-1035 ई) बहुत प्रसिद्ध हुए। विद्याधर के पौत्र देव वर्मा (लगभग 1045-1060 ई) कलचुरि नरेश लक्ष्मीकर्ण (लगभग 1049-1072 ई.) के समकालीन थे। कलचुरि गागेयदेव के पुत्र लक्ष्मीकर्ण कलचुरि ने काशी में कर्णमेरु नाम से प्रासाद का निर्माण करवाया । चंदेल शासक देव वर्मा को पराजित करके वध किया। देव की पत्नी जल मरी। कवि विल्हण के 'विक्रमांक-चरित' में कर्ण कलचुरि की चर्चा में कालिजराधिपति के काल के रूप में हुई है। देव वर्मन या देव वर्मा के भाई कीर्तिवर्मन देव (लगभग 1060-1100 ई) ने तमाम घटनाचक्र से शोक सतप्त होकर अंततः शासन की बागडोर

संभाली। राजपूत शासक चंद्रदेव द्वारा ग्यारहवीं शताब्दी में ही स्थापित गाहड़वाल (गहरवार) वंश का भी एक सीमा तक उसके पौत्र गोविंद चंद्र आदि के माध्यम से चंदेलों के खोये हुए गौरव की फिर से स्थापना करने में कीर्तिवर्मा को सहयोग मिला। भारतीय इतिहास के कालखंड के कई पृष्ठों के साथ जैजाक भुक्ति या जुझौती अर्थात् बुंदेलखंद की जुझारू प्रजा, पिछड़ी जातियों और काशी के 'शिष्टोद्धत' युवकों के अलावा जागरूक आचार्यों की सक्रिय भूमिकाएं भी 'नीला चांद' में रची-बसी हैं।

सास्कृतिक नगरी काशी का तत्कालीन ऐतिहासिक परिदृश्य तो उपन्यास मे है ही साथ में शैव, शाक्त, अनीश्वरवादी और बौद्ध धर्म के अनेक संप्रदायों की आपसी टकराहट के रोमांचक चित्र भी हैं। धर्म के नाम पर होनेवाले कुत्सित वामाचार और कापालिक बज्रयानी निकृष्ट साधना की प्रतिरोधक शक्ति के रूप में योगिनी मां शीलभद्रा का आध्यात्मिक लेकिन करुणा से भरपूर सहज मानवीय चरित्र उपन्यास के तमाम नारी पात्रों से बढकर है। प्रतिहार वंश की गोमती जो कीर्ति वर्मा की पत्नी बनती है, चंपक, शिंजिनी, मीनाक्षी, दक्षिणा, दुलारी और अनेक राजमाताए राजरानियां हैं पर सत्तर वर्षीया शीलभद्रा की भूमिका सर्वोपरि है। वे चदेल विद्याधर से अपने अति आत्मीय संबधों को न छिपाती हैं और न अपने अतीत को। नाव चलानेवाले, शव उठानेवाले दलितों-उपेक्षितों को भी शीलभद्रा अंतरंग आत्मीयता देती हैं।

'नीला चांद' में बडे और छोटे करीब शताधिक पात्र हैं पर शुरू से अंत तक छाये रहते हैं गाहड़वालवंशीय आर्यरज्जुक और चंदेल सेनापति गोपाल भट्ट। 'प्रबोध चंद्रोदय' नाटक के रचनाकार श्रीकृष्ण मिश्र भी एक पात्र हैं।

भुवन रत्नेश शर्मा जैसे कर्मकांड विरोधी आचार्य हैं तो परम संतोषी आचार्य बलदेव के विरोधी परमकुटिल विनायक भट्ट भी हैं। आचार्य ऋतुराज और वृषध्वज की भी बडी तेजस्वी भूमिकाएं हैं। नृपतिचंद्र, मदनचंद्र, गोविंदचंद्र, सुबोध प्रतिहार, पारसदेव, सेनापति अनंत, अश्वगंध जैसे उच्च वर्गीय अनेक पात्रों के बीच रामचंद्र केवट, सूरज, महेश, लोचन, शोभू, भरत डोम, बब्बर नट आदि मामूली मगर जुझारू पात्रों की एक लंबी कतार है। कीर्तिवर्मा—कीर्ति सिंह यानी कीरत तो सर्वप्रमुख केंद्रीय पुरुष पात्र है। इसी चरित्र की धुरी पर एक तरह से लगभग पूरा उपन्यास गतिशील है। कीरत उस व्यक्तिगत इच्छाशक्ति की दृढता का प्रतीक है जो बुद्धिबल और सैन्यबल के साथ ही साधारण जनों की वीरता का सहयोग असाधारण रूप से पाकर अंततः विजयी होता है। वैसे देखें तो घटनाओं का दिलचस्प घटाटोप और उन्हें घटित करनेवाले पात्र तो निमित्त मात्र हैं। असली नायकत्व तो काशी नगरी का है। "ग्यारहवीं शती की काशी अराजकता से पीड़ित है मगर काशी का अर्थ ही है प्रकाश।" यह प्रकाश अपनी विविधवर्णी छटाओं और इसे घेरनेवाले

अंधकार के साथ 'नीला चांद' के पृष्ठों पर मौजूद है। लेखकीय चिंतन की बानगी उपन्यास में शुरू से अंत तक फैले सूक्तिपरक वाक्यों से भी मिलती है—''बिना रहस्य जाने रणनीति बनाना मूर्खता है। किसी अपराधी के प्रति दया दिखाना कायरता है। वाणी जब ऋतु को छोड़कर अनृत की ओर जाती है, तब उसके प्रयसोक्ता के स्खलन के लिए दंड मिलना स्वाभाविक होता है। अगर ब्राह्मण जीविका के लिए ज्ञान बेचता है तो विवशता है पर मंदिर का सेवक बनता है तो उसके ज्ञान का अपमान है। लड़ाइयां पहले मानचित्रों पर जीती जाती हैं, फिर युद्धक्षेत्र में। शत्रु राजा से नही उसके प्रताप से डरता है। राख को लोग मसल देते हैं, पर अग्नि छूने से डरते है।''

किस्सागोई की तकनीक का सधा हुआ इस्तेमाल, मध्यकालीन् काशी और उससे जुडे परिवेश मे विभिन्न वर्गों की सटीक भाषा 'नीला चाद' के आकर्षण हैं। जहा तक उपन्यासकार के दृष्टिकोण का सवाल है उसकी एक झलक देती हैं 'नीला चाद' की ये पक्तिया—''नाना प्रकार की विनोद क्रीडाओं से मध्ययुगीन भारत को पतन के गर्त मे झोंकनेवाले राजन्यो और श्रेष्ठियों को कभी अवकाश ही नहीं मिला कि वे पगडडी के कटकाकीर्ण पथ पर जीविका के लिए भिक्षा-याचना करनेवाले अथवा श्रम से क्लात होकर गिरे हुए श्रमिक की पीडा को समझ सके।''

शिवप्रसाद सिंह और गांव की कहानी

• *रवि शेखर*

शिवप्रसाद सिह को उनके नये उपन्यास 'नीला चांद' पर साहित्य अकादमी का पुरस्कार देने की घोषणा की गयी है। वैसे यह उनका बिल्कुल नया उपन्यास नहीं है। 'नीला चांद' के बाद उनका एक और उपन्यास शैलूष हाल में प्रकाशित हुआ है। लेकिन शिवप्रसाद सिंह द्वारा काशी शृंखला पर लिखे जा रहे उपन्यासों में यह नया जरूर है। उनकी योजना काशी को केंद्र मे रख कर तीन उपन्यास लिखने की रही है, जिसमें काशी के अतीत और वर्तमान को संपूर्णता में सामने लाया जा सके। 'नीला चांद' से पहले उनका 'गली आगे मुडती है' उपन्यास प्रकाशित हो चुका है। उसमें वर्तमान काशी की जिंदगी परिभाषित करने की कोशिश की गयी है। 'नीला चांद' में मध्यकालीन काशी है। इसके बाद उनकी योजना उपनिषद्कालीन काशी पर महागाथा लिखने की है। इस उपन्यास के प्रकाशन के बाद ही शिवप्रसाद सिंह की 'काशी शृंखला' का मूल्यांकन समग्रता में हो पायेगा।

'नीला चांद' के बारे में उल्लेखनीय बात यह है कि शिवप्रसाद सिंह के कथाकार ने पहली बार इतिहास से अपनी कथा-भूमि चुनी है। 'नीला चांद' में क्या है ? इतिहास के किस कालखंड को विषय बनाया गया है ? शिवप्रसाद सिंह स्वय उसकी भूमिका मे लिखते हैं, 'मैं मध्यकाल की वह काशी देखना चाहता था जो विदेशी आक्राताओं से पहले थी। मुझे तदनुरूप किसी ऐसे समय को ढूंढना था जिसने त्रिकंटक को भी हिला दिया हो, जहां 'धगद्-धगद्-धगद्-ज्वलम्' के भीतर नंदीश्वर ने ज्योतिर्लिंग के विशाल स्तंभ की तरह धरा और आकाश को जोड़ दिया हो। वह समय मिल गया, जब कर्ण कलचुरी ने देववर्मा चंदेल की हत्या की। उस समय की काशी है यह यानी ईसवी 1060 की।'

'नीला चांद' की रोशनी में शिवप्रसाद सिंह काशी के मध्यकाल को जितना देख सकते थे, देखा है।

शिवप्रसाद सिंह का लेखन समय पिछले चार दशकों में फैला है। इस बीच उन्होंने मुख्यतः कहानियां, उपन्यास और निबंध लिखे हैं। इसके अलावा शोध,

नाटक, समीक्षा और कविताएं (!) भी लिखी हैं। उनकी कृतियों के नाम इस प्रकार हैं—कहानी संग्रह : 'आर-पार की माला', 'कर्मनाशा की हार', 'इन्हें भी इंतजार है, 'मुरदा सराय' और 'भेड़िए'। इन संग्रहों में 74 कहानियां हैं। ये सारी कहानियां अब सिर्फ दो खंडों में प्रकाशित कर दी गयी हैं। संपूर्ण कहानियों के संकलन खंड-एक का नाम है 'अंधकूप' और दूसरे का 'एक यात्रा सतह के नीचे'। उपन्यास : 'अलग-अलग वैतरणी', 'गली आगे मुड़ती है', 'नीला चांद' और 'शैलूष'। निबंध संग्रह : 'शिखरों के सेतु', 'चतुर्दिक' और 'कस्तूरी मृग'। इनमें से ज्यादातर निबंध अब 'मानसी गंगा' और 'किस-किस को नमन करूं' पुस्तक में उपलब्ध हैं। उनका शोध प्रबध है 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य'। शांति निकेतन से शिवालिक पुस्तक उन्होंने संपादित की है। नवलेखन और उसकी समस्याओं पर केंद्रित उनकी पुस्तक है : 'आधुनिक परिवेश और नवलेखन'। उन्होंने 'घाटियां गूंजती हैं' शीर्षक नाटक भी लिखा है। कथाकार शिवप्रसाद सिंह ने कविताएं भी लिखी हैं। राजेन्द्रप्रसाद सिह द्वारा सपादित संकलन 'प्रक्रिया' में उनकी लंबी कविताएं पहली और अंतिम बार छपी हैं। इसके अलावा 'उत्तरयोगी' शीर्षक से अरविंद की जीवनी तथा 'आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद' शीर्षक वैचारिक पुस्तक भी लिखी है।

लेखन के इस लंबे विस्तार के बीच शिवप्रसाद सिह कथा मे भारतीय गांव की अभिव्यक्ति के लिए ही ऐतिहासिक रूप से याद किये जायेगे। अक्तूबर 1951 के 'प्रक्रिया' में उनकी कहानी 'दादी मां' छपी और पहली बार कहानी की दुनिया मे वे चर्चित हुए। 'दादी मां' से पहले उनकी कुछ कहानियां 'आज' में छप चुकी थीं। लेकिन वे आरभिक कहानिया हैं। 'दादी मां' में वे पहली बार अपनी पूरी लेखन क्षमता के साथ सामने आये। यह कहानी कुछ लोगों को इतनी महत्त्वपूर्ण लगी कि इसके साथ उन्होंने 'नयी कहानी' की शुरुआत मानने की स्थापना कर दी। जबकि 'नयी कहानी' के जो मान-मूल्य बताये गये उस आधार पर यह पूरी तरह 'नयी कहानी' के सांचे मे नहीं अंटती। कमलेश्वर का कहना है कि गैर-रूमानियत 'नयी कहानी' का प्रस्थान बिंदु है, जबकि 'दादी मा' एक रूमानी कहानी है। लेकिन 'दादी मां' को पढते हुए यह अहसास तो होता ही है कि शिवप्रसाद सिंह 'दादी मा' के साथ नयी विषय-वस्तु और अभिव्यक्ति पद्धति लेकर सामने आये थे।

पांचवे दशक के आरंभ से छठे दशक उत्तरार्द्ध तक शिवप्रसाद सिंह ने लगभग 74 कहानियां लिखी हैं। जिनमें से अधिकांश भारतीय गांव की जिंदगी की वास्तविकताओं को सामने लाने की कोशिश करती हैं। छठे दशक के उत्तरार्द्ध में छपा उनका बृहद् उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' उनकी ग्राम कथाओं का जैसे समाहार है। 'अलग-अलग वैतरणी' के बाद शिवप्रसाद सिंह ने गांव को अपना विषय लगभग नहीं बनाया है। उनका कहना है कि गांव को जितना उन्होंने जिया

और समझा उसे अभिव्यक्त कर चुके हैं। मुश्किल यहीं खड़ी होती है। क्या अपनी रचनाओं में उन्होने गांव को जिस हद तक सामने रखा है उतना काफी है? कहने की आवश्यकता नहीं कि वह काफी नहीं है। लेकिन ऐसा क्यों है ?

असल मे हिंदी आलोचना में प्रेमचद की परंपरा तलाशने की एक थका देनेवाली परंपरा रही है। गांव के जीवन पर कैसी भी कहानी लिख कर हर कथाकार उस परंपरा की अगली कड़ी होने का दावा करता रहा है। जबकि ऐसी कहानियों का प्रेमचंद की परंपरा से कुछ लेना-देना नहीं है। सिर्फ गांव का कथानक प्रेमचंद की परंपरा नहीं है। कस्बे की कहानी भी प्रेमचंद की परंपरा में हो सकती है, अगर उसमें यथार्थ के गतिशील रूप को पकड़ने की कोशिश है।

शिवप्रसाद यथार्थ की गतिशीलता समग्रता में नहीं पकड़ पाते। उनकी कहानियों-उपन्यासो मे गांव आता है, वहा के लोग आते हैं, स्थितियां आती हैं लेकिन जनजीवन के जीवन संघर्ष की दिशा सामने नहीं आती । यही कारण है कि प्रेमचंद की परंपरा दूर तक वे नहीं ले जा पाते। जबकि ठीक इससे भिन्न प्रेमचंद की परपरा को फणीश्वरनाथ रेणु काफी हद तक आगे बढाते हैं। प्रेमचंद ने ग्राम जीवन के यथार्थ को समग्रता में सामने रखा था लेकिन लोकजीवन का सास्कृतिक स्वरूप नहीं उभार पाये थे। रेणु अपनी रचनाओं में इस स्वरूप को बड़े पैमाने पर रेखांकित करते हैं। शिवप्रसाद सिंह को रेणु की यही विशेषता शायद आचलिकता की 'ठनक' लगती है और 'अलग-अलग वैतरणी' की 'तट चर्चा' में इससे बचने की घोषणा करते हैं।

मंजुशिमा

• *डॉ. रामविनोद सिंह*

उपन्यासों में वैचारिक तथा परिवेशगत अनुभव का टकराव रचनाओं को निश्चित दिशा और मूल्य की ओर ले जाता है। लेकिन जब उपन्यास में वैचारिकता का स्थान आत्मीय सवेदना या निजी प्रेरणा प्राप्त करती है, तब उस उपन्यास को लेकर विवाद का जन्म स्वाभाविक हो जाता है। डॉक्टर शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'मजुशिमा' में विचार की जगह चेतना की प्रधानता है। इसलिए कभी यह संस्मरण, कभी आत्मकथा और कभी उपन्यास लगता है। जिस प्रकार कविता का ज्ञानात्मक होना अनिवार्य नहीं है, उसी तरह उपन्यास के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता अनिवार्य नही होती है। उपन्यास अनुभव तथा घटना की यौग-पदिक स्थापना से भी निर्मित होता है और व्यक्ति की निजी वेदना के सघन स्वरूप से भी। 'मंजुशिमा' में 'सरोज-स्मृति' की तरह निजी वेदना का अटूट प्रवाह है, जो इसको हिंदी के दूसरे उपन्यासों के बिलग करता है। उपन्यास के सबध मे कहा जाता है कि वह सामाजिक जीवन के यथार्थ पर आधारित काल्पनिक उद्भावना है। इसलिए दूसरी घटना से लेकर पात्र तक काल्पनिक होते हैं। 'मन्‌शिमा' हिंदी का पहला उपन्यास है, जिसमें पात्र, घटना, समस्या और सवेदना यथार्थ की जमीन से पैदा हुई है। इसीलिए उपन्यासालोचन के वर्तमान स्वरूप को यह उपन्यास चुनौती देता है तथा उपन्यासालोचन पर नये ढग से सोचने को विवश करता है। प्रश्न है कि रचना समृद्ध कब होती है, अनुभव से या विचार से या संवेदना की सघनता से। नामवरजी मानते है कि रचना ताकतवर 'विजन' से समृद्ध होती है। वे कहते हैं, "लेकिन मुझे सचमुच ऐसा महसूस होता है कि हिंदी में आज किसी लेखक के पास अपना कोई ताकतवर 'विजन' नहीं है।" ऐसा कहते वक्त वे निश्चय ही निराला को इस खाते मे नहीं रखते होंगे। या फिर प्रेमचद भी इस खाते से बाहर रखे गये होंगे, क्योंकि वे बडी कुशलता से 'आज' शब्द का प्रयोग करते हैं। विजन रचनाकार की अतर्दृष्टि है, जो भीतर से प्रस्फुट होती है। निराला की 'सरोज-स्मृति' में एक

ताकतवर विजन है, जो उस रचना की प्राणशक्ति है। ठीक इसी प्रकार शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'मंजुशिमा' में भी एक सशक्त विजन है, जो रचना को अधिक चुनौती देने की ताकत देता है।

'सरोज-स्मृति' की तरह 'मंजुशिमा' एक संवेदनशील पिता के मानस-पटल पर पहली बार अंकित होकर सर्जनात्मकता की दुनिया में आयी है। यह उपन्यास यथार्थवादी है। इसलिए काव्य की कोमलता और लालित्य से दूर है। 'मंजुशिमा' के लेखक ने उन सभी क्षणों को रचना की महत्त्वपूर्ण इकाई बना दिया है, जिन क्षणों का वह प्रत्यक्षदर्शी ही नहीं है, भुक्तभोगी भी है। यह उपन्यास मात्र मंजु की दुःखद कहानी न होकर हमारे बीमार सामाजिक ढांचे का अनिवार्य हिस्सा बन गया है। आततायी परिस्थितियों से जूझता हुआ पिता तथा असाध्य रोग को झेलती हुई पुत्री का संघर्ष अलग-अलग भी है और एक साथ भी। दोनों के मानसिक तनाव के कई प्रकार हो सकते हैं, किंतु उसके कारण में कोई फर्क नहीं है। संघर्ष के कई आयाम हैं। बीमारी से संघर्ष उनकी विवशता है। लेकिन संघर्ष का एक बड़ा मार्मिक हिस्सा कुछ और है। पुत्री मृत्यु को चुनौती देती है और पिता का स्वाभिमान सामाजिक और साहित्यिक जगत् के मित्रों के आत्मविभाजित व्यक्तित्व को। अतः यह उपन्यास न तो एक पराजित मन का लेखन है और न निस्सहायता की दारुण कहानी, बल्कि यह संघर्षशील पिता के दुर्दमनीय साहस का अभिनंदनीय दस्तावेज है।

'सरोज-स्मृति' भी निराला के करुणानुकूल हृदय की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति है। ऐसे अवसरों पर मन के भीतर उमड़ने-घुमड़ने वाले भावनात्मक प्रवाह को रोका नहीं जा सकता। लेकिन इस कविता में कवि के नितांत ही वैयक्तिक धरातल को, आत्मसंघर्ष के साथ सामाजिक संघर्ष में तब्दील किया गया है। इसलिए वे कवि-कर्म की दारुण स्थिति की भर्त्सना करते हैं, जो साहित्यकार के जीवन को संकटपूर्ण बनाता है। आर्थिक लाभ की दृष्टि से कवि-कर्म ग्राह्य नहीं हो सकता है। पुत्री के निधन के बाद कवि का टूटा हुआ मन भावनात्मक ऊर्मि को वास्तविकता के तट से टकराने देता है। कवि अनुभव करता है कि आर्थिक संकट ही मानव-जीवन को संकटापन्न बनाता है। अतः उनका आक्रोश-प्रकाशन उन संस्थानों में केंद्रित हो जाता है, जो साहित्यकर्मी को लूटता है, विपन्न बनाता है। वे अपनी जीवनगत असफलता के साथ सामाजिक न्याय पर प्रहार करते हुए कहते हैं :

लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर,
हारता रहा मैं स्वार्थ समर
लिखता अबाध गति मुक्त छंद,

पर संपादकगण निरानंद
वापस कर देते पढ सत्वर

. . ..

दु:ख ही जीवन की कथा रही
क्या कहू आज जो नहीं कहीं

.. ..

कन्ये, गत कर्मों का अर्पण
कर, करता मैं तेरा तर्पण

नियति से पराजित होना कवि के आत्मसंघर्ष की पराजय नहीं है, बल्कि जीवन-सत्य का स्वीकार है। भले ही मृत्यु को केवल कायिक परिवर्तन का माध्यम माना जाये, लेकिन वह एक ऐसा पूर्णविराम है, जिसके आगे कोई नया वाक्य नहीं रचा जा सकता। अत: निरालाजी इस काव्य में सामाजिक यंत्रणा तथा नियति को शापित करनेवाली प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हैं। 'सरोज-स्मृति' मे तो कवि के कटुतम अनुभव और भावाकुल मन का विरल साहचर्य स्थापित हो गया है।

अनुभव एव भावना का साहचर्य ही 'मंजुशिमा' को 'सरोज-स्मृति' की ऊंचाई देता है। बीमार मजु की टीस भरी स्थितियां लेखक को भावना के भंवर में डाल देती हैं। 'सोलह नवंबर उन्नीस सौ इक्यासी को मेरी बीस वर्षीया एकमात्र पुत्री मंजु बहुत बेचैन थी। रात मे उसे बैठने मे, लेटने में या तकियों से लगातार पीठ टिकाकर आराम करने में, यानी किसी भी स्थिति में पीडा थी।' इसके विपरीत भावना की आकुलता से निकलकर लेखक विचार के संसार में जब प्रवेश करता है, तब उसे लगता है कि मृत्यु से केवल यह नहीं हारा है, बल्कि मृत्यु भी हार गयी है। 'अगर मैंने मृत्यु को एक मिनट के लिए भी रोक दिया तो मैं सफल हूं। मै टूट गया तो क्या हुआ। मृत्यु भी तो टूट गयी मेरे लिए।' आत्म-संशय और आत्मविश्वास के संश्लेष से बना हुआ यह उपन्यास अनेक प्रश्न छोड़ जाता है। हिंदी का यह पहला उपन्यास है, जो कल्पना को हाशिए पर रखकर केवल जीवन के यथार्थ से बना हुआ है। प्रश्न उठता है कि इसको उपन्यास कहा जाये, संस्मरण कहा जाये। या फिर उपन्यास और संस्मरण के मिश्रण से नये किस्म का उपन्यास कहा जाये। अनुभवी समीक्षक कहानी में लेखक के निजी अनुभव की प्रशंसा करते है। ऐसी स्थिति में अनुभव के यथार्थवादी स्वरूप से निर्मित इस उपन्यास की प्रशंसा करना भी उनका धर्म बनता है।

मैं इस कृति को नितांत ही भिन्न दृष्टि से देखता हूं। इसलिए मेरे लिये उपन्यास और संस्मरणीय झंझट अनावश्यक भटकाव की ओर ले जाती है। रचना में लेखक की आस्था पुन:सर्जित होती है। इसके साथ वह सामाजिक कर्तव्यों के

ति भी सचेष्ट होता है। दूसरे अर्थ में लेखक की आस्था और सामाजिकता, सर्जन ी प्रक्रिया में एक-सी दीख पड़ती है या नहीं, यह एक अहम् सवाल है, जिससे मंजुशिमा' की अस्मिता जुड़ी हुई है। लेखक की आस्था केवल कर्मयोग में है। ह भाग्ययोग या ज्योतिषयोग को इनकारता है। पारिवारिक संतुष्टि के लिए वह योतिषियों के द्वार पर सिरजा देता है, लेकिन वह ऊपरी दिखावा भर है। इसलिए ह सिसकती हुई मंजु से कहता है कि 'सुनो मंजु ! मैंने पहली डायलसिस की ात को कहा था कि इस विपत्ति के विरुद्ध सुसाइड स्क्वाड के कप्तान की तरह ाड़ूंगा। पर अगर तुम्हारा विश्वास और आत्मबल टूट जायेगा तो मैं प्रकृति के वेरुद्ध इस युद्ध में न केवल पराजित होऊंगा, बल्कि तुम्हारे साथ मैं भी इस धरती ो छोडकर कहीं चला जाऊंगा।' अतः लेखक की आस्था सामाजिक कर्मवाद की ास साफ रचना में ढक गयी है। 'मंजुशिमा' के लेखन की यह बड़ी उपलब्धि है।

लेखक अपने पराजित होते हुए मन को साहस की मुद्रा में तब्दील करता । वह मंजु के साहस को टूटने नहीं देना चाहता है। साहस और वेदना का द्वंद्व स उपन्यास को संवेदना के स्तर पर संघर्षशील बना देता है। 'देखती रहो कि । क्या कर सकता हूं। बस, तुम आदेश कहो, बहलाना कहो, जो भी चाहे कह ो, पर अपने बाबूजी के सामने शपथ लो कि इस अभागे प्राणी के विरुद्ध खड़ी नेयति के जबडों को तोड़ने मे तुम पीछे नहीं हटोगी, तुम तब तक साथ दोगी ाब तक हम इस दैवी कूटनीति को बेनकाब नहीं कर लेते।' लेखक परिस्थिति ो रद्द नहीं करता, बल्कि वह उसकी जटिलता और परिणाम को जानते हुए ी मंजु के मन को जुझारू बनाने का प्रयास करता है। वह वास्तविकता के बीच । जाकर सत्य को पहचानने तथा नयी संभावित परिस्थितियों में घटित होनेवाले नुभवो को सम्यक् ढंग से पहचाना है। निराला के समक्ष सरोज की मृत्यु की भावना उतनी स्पष्ट नहीं थी, जितनी शिवप्रसादजी के सम्मुख थी। लेखक पहले ात्म-संघर्ष से टकराता है, फिर जटिल परिस्थितियों को चुनौती देता है और ंत में मजु के भीतर से मृत्यु के भय को, भगाना चाहता है। लेखन के समय ी वह संश्लिष्ट और जटिल आत्मानुभव के दबाव से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक ोने की चेष्टा में सफल है।

'सरोज-स्मृति' हिंदी का अद्वितीय शोकगीत है। इसकी बनावट बहुत विचित्र ै। इसकी बड़ी विचित्रता यह है कि कवि कहीं आश्रय बन जाता है और कहीं आलंबन बनता है। पाठक के सामने वह आलंबन बन जाता है। इससे नाटकीय अवस्था बनती है। इसमें मैं का विस्तार होता है, या सरोज का, यह कहना कठिन ो जाता है। शोकगीत में आलंबन के साथ आश्रय सहवर्ती हो जाता है। मंजुशिमा ें बनावट की ऐसी विचित्रता तो नहीं है, लेकिन इसमें लेखक के मैंपन के विस्तार के दो रूप हैं। वह स्वयं अपनी स्थिति और मानसिकता के साथ रचना में प्रकट

होता है। लेकिन लेखक के मैंपनवाले हिस्से में भी मंजु मौजूद रहती है। इसलिए इस उपन्यास में भी लेखक और मंजु सहवर्ती हैं। इसलिए इसमें संस्मरण, आत्मकथा, शब्दचित्र, डायरी, ललित निबंध आदि को मिला दिया गया है। रचनात्मक क्रिया एक चिंतनशील एवं अन्वेषण की क्रिया है। शिवप्रसादजी के उपन्यासों के विकास में चिंतनशील प्रक्रिया दीख जाती है। 'मंजुशिमा' में यथार्थ अपने संपूर्ण व्यक्तित्व की जटिलता और खुलापन के साथ व्यंजित है। इतना मुकम्मिल यथार्थ हिंदी के किसी दूसरे उपन्यास में दिखायी नहीं पडता है।

मंजुशिमा : तीन दृष्टियां
एक

• *विद्यानिवास मिश्र*

प्रियवर,

मंजुशिमा पढना शुरू किया तो बहुत क्रोध आया शिवप्रसाद सिंह पर, जिन्होंने इतनी प्रिय बेटी की मृत्यु से लंबी लडाई को विषय बनाया।

कैसे साहस हुआ ऐसे भावुक और स्नेही शिवप्रसाद को, जिन्हें मैं स्वयं बहुत स्नेह करता हू। मैं स्वयं जानता हूं, इस बीमारी ने नहीं, उस दुर्निवार मृत्यु ने इतना तोड़ा कि लगता नहीं था, वे उबरेंगे।

परंतु जब मैंने उपन्यास समाप्त किया, तो लेखक शिवप्रसाद को अद्‌भुत पाया कि अपने इस प्रकार के दु:ख भोक्त-भाव से काट कर, इतने धैर्य और इतने नि:संग पर अत्यंत मानवीय आसक्ति से उन्होंने रचना पूरी की।

कई स्थानों पर बडा उद्वेलन हुआ, मंजु की अपार धैर्यशीलता से और भी अधिक। और कई स्थलो पर सुखद आश्चर्य हुआ कि निजी व्यथा की लहरों के थपेडो के बावजूद अन्याय को चुनौती देना नहीं भूला है, न भूला है पं. हजारीप्रसाद का अट्टहास। मानव नियति की विडंबनाओं का उपहास करना नहीं भूला है।

मंजुशिमा कहानी नहीं है। यद्यपि यह एक क्रम में बहती है। यह दर्द और दर्द को सहने की दुहरी लड़ी-सी मोती की माला है। एक पूरी कविता है। इसी से इसमें आवेग तो है पर बडा संयत है। आक्रोश है, पर व्यक्ति पर नहीं, एक अभिव्यक्ति अमानवीयता पर है। इसीलिए मंजुशिमा को कविता नहीं भी कहें, तो इसे 'कविता-कथा' तो कहेंगे ही।

कैंसर वार्ड पढ़ा था। बहुत ही प्रभावकारी उपन्यास है, इसमें कोई संदेह नहीं, पर वह बहुत ठंडा है, उसमें ऊष्मा की कहीं-कहीं कमी दिखती है। कैंसर वार्ड का एक दूसरा आयाम है, जो हम लोगों के अनुभव में नहीं है। केवल उस अरूप भय का अनुमान करके ही हम सिहरते हैं। मंजुशिमा में अमानवीयता के

अंधकार को निरंतर चीरनेवाली रोशनी गर्मी देती रहती है। यह इसकी विशेष उपलब्धि मानता हूं। अंत में आपको इस रचना के लिए बधाई देते हुए व्यक्तिगत रूप से कोसना भी चाहता हूं कि समय बीतने देते, दर्द को फैलाने देते, इतनी जल्दी क्यों लिखा। लिख-लिख कर कितने दु:खी हुए होंगे, यह कल्पना करता हूं तो आंखों में आंसू आ जाते हैं। मैं भी इकलौती लड़की का पिता हूं।

दो

• *ठाकुर प्रसाद सिंह*

कुछ पुस्तकें बहुत दुःख देती हैं, उन्हें पढ़ने से भय लगता है; पर उनमें एक दुर्निवार आकर्षण ऐसा होता है कि उससे बचा नहीं जा सकता। पुस्तक उसके चलते बार-बार पढी जाती है, बार-बार उन्हीं दुःख-भरे रास्तों से गुजरा जाता है। शिवप्रसादजी की रचना 'मंजुशिमा' ऐसी ही पुस्तक है। पिछले दो-तीन वर्षों में मैने उसे कितनी बार पढा है। पुस्तक बहुत गहरे दुःख के आवर्त में खींच ले जाती है। मुझे वे मोड तक याद हो गये हैं, जहां दुःख घहरा कर बरसता है पर करूं क्या ? दुःख का भी एक नशा होता है। मैं चाहूं भी तो इस नशे से अपने को छुडा नही पाऊंगा।

डॉ विद्यानिवासजी का श्री शिवप्रसादजी के नाम लिखा पत्र देखकर कुछ अधिक ही उद्विग्न हो उठा, मुझे लगा, वे भी मेरी की तरह पुस्तक पढ़ते समय बार-बार उन्मथित हुए होंगे, तभी तो वे शिवप्रसादजी पर नाराज हुए हैं। आखिर लिखे बिना नहीं रहा गया, तो शिवप्रसादजी के पास क्या विषयों की कमी थी ? उन्होंने इतनी एकांत पीड़ा को सार्वजनिक क्यों कर दिया ? कुछ दुःख केवल अपने भोगने के लिए होते हैं, उन्हें अपने एकांत के लिए रखा जाता है। रहीम ने अपने मन की व्यथा मन में क्यों रख ली ? इसीलिए न कि सार्वजनिक होने पर उसको समझनेवाले कहां मिलेंगे। जो समझेगा, वह कुछ दूर तक साथ चलेगा, पर दुःख बाटने के लिए तो और आगे तक जाना होता है। इतनी दूर कौन चल पाता है ?

डॉ. विद्यानिवासजी तो एक बेटी के पिता हैं। उन्होंने मंजु की सिहरन मिनी मे उतरती अनुभव कर ली; पर मेरी बेटी तो मेरे भीतर ही भय से पीली हुई मेरी ओर देखती रहती है। हर बार पुस्तक के साथ वह पीली पड़ती है, फिर धीरे-धीरे मरती है। जो बाहर नहीं होता, वह ऐसा तो नहीं कि होता ही नहीं। रवि ठाकुर के भीतर जो रोती है, वह कोई विरहिणी होती है। मुझे तो लगता है, मेरे भीतर मेरी वे सभी संतानें दुःख झेलती जीती-मरती हैं, जिन्हें दुनिया में प्रत्यक्ष होने का अवसर नहीं मिला। मेरी तरह कितने ही लोग होंगे जो अपने भीतर अजनबी संतानों

से एकांत में बातें करते होंगे। 'मजुशिमा' पढने के पहले भी ऐसा होता था; पर उन्हें पहचाना मैंने मंजुशिमा पढते हुए ही। अब मजुशिमा मेरी खुराक बन गयी है। जब कभी मन उचटता है, उसी तहखाने में उतर जाता हूं।

मैंने कहा न कि मेरी लड़की मेरे भीतर दुःख झेलती तिल-तिल करती मृत्यु की ओर बढ़ रही है। वह मेरे शरीर मे ही है, इसलिए मेरी ही उक्त शिराओं, गालब्लाडर और किडनी से उसका भी शरीर चलता है। बार-बार पैथालॉजी विशेषज्ञ मेरे शरीर की जाच करके खतरे के सकेत देते हैं, बार-बार रिपोर्ट में ब्लड-यूरिया की खतरनाक बत्तियां जलती हैं और किडनी काम न करने की धमकी देती हैं। दवाएं खिलाता हूं, अपनी बेटी को, उसके सिरहाने बैठता हूं और मंजुशिमा के वे पृष्ठ दुहराने लगता हू, जहा मजु की किडनी जवाब दे रही है। 'चंद्रकांता' श्री देवकीनंदन खत्री का प्रसिद्ध उपन्यास है। उसमे राजकुमार जब तिलस्म में हसता है, तो एक पुस्तक मे लिखे विवरण पढकर तिलस्म के रास्ते को खोलता है। मंजुशिमा मेरे लिए तिलस्म की वही पुस्तक है। मैं अपने भीतर के गहरे भूधरों में उसकी मद्धिम रोशनी हाथ में लेकर सीढियां उतरता हू।

यह भी एक तिचित्र और रोमाचक सौभाग्य है कि श्री शिवप्रसादजी मेरे भीतर धीरे-धीरे रेगती इस नियति से हर क्षण परिचित होते रहते हैं। उनके पास भी फोन है, मेरे पास भी। हम लोग दुनिया की नजर से दूर फोन की डोर पकडकर अपनी-अपनी स्लेटे लेकर गहराई में उतर जाते हैं लगभग रोज। और अपना गणित कि हल करते है। मेरे कारण उन्हे बार-बार मजु बेटी के असहनीय दुःख को याद करना पडता है। काफी देर बात करने के बाद वे एकाएक उचट जाते हैं, जैसे अपने चारों ओर घिर आया कुहरा दोनों हाथो से हटा रहे हैं, फिर एकदम मुझे बिना घबराये यह दुःख झेलने के लिए कहते हैं और फोन रख देते हैं। मैं उन्हे आश्वस्त करता हुआ भी मन ही मन हंसता हू। कारण मैं जानता हूं कि यह सब शिवप्रसादजी मुझसे नहीं ख़ुद अपने से कहते होते हैं। शायद मैं ही वह अकेला आदमी उनके निकट हू, जिसके भीतर वे उन दुःखों को देख सकते हैं, जो कभी उनके अत्यंत निजी दुःख थे। लगता है, उन्हें मेरे भीतर दुःख झेलती अपनी बेटी, जो मेरी भी है, रह-रह कर झलक जाती है।

- हो सकता है यह मेरी कल्पना ही हो, पर हो तो बुरा क्या ? मैं बहुत अकेला आदमी हूं। अपने भीतर ही अपने सारे रिश्ते तोडता-जोडता हूं। जिंदगी में मित्र होने की बहुत सारी शर्तें होती हैं। इन शर्तों से अलग रहकर अपने भीतर के दुःख के हाथों दूसरे के भीतर का दुःख हाथ बढ़ा कर पकडा जा सके, तो संताप से भरी दुनिया भर रहने लायक बन सकती है।

[दस्तावेज 53, अक्तूबर/दिसंबर 1991 से साभार]

तीन

• *नाहिद*

दु.ख और संत्रास के क्षण प्रायः हर व्यक्ति के जीवन में आते हैं। लेखक भी इनसे अछूता नहीं है। शिवप्रसादजी के जीवन में भी ऐसा समय आया। नवंबर '81 से दिसंबर '84 तक। अभी वह अपनी खुद की लंबी बीमारी से उबर भी ना पाये थे कि प्रिय पुत्री मजु मरणातक बीमारी से ग्रस्त हुई। पिता ने निश्चय किया—सब कुछ दांव पर लगा कर भी उसे बचाऊंगा। सब कुछ दांव पर लगा दिया। सामर्थ्य से अधिक व्यय किया। खानाबदोशी की जिंदगी जी। मृत्यु टल न सकी। शिवप्रसादजी टूट से गये।

किंतु यह टूटना बाह्य था आंतरिक नहीं। अंतर में तो निरंतर प्रवहमान आत्मा थी जो न टूटती है, न रुकती है, न थकती है, न बूढी या बासी होती है। अहम् खड-खड हुआ था। जिजीविषा आहत हुई थी। सृजन रुद्ध था, किंतु ऊर्जा चुकी न थी। आंखें शून्य मे थीं। मन का जुलाहा विचारों के ताने-बाने बुनने में लगा था। ऐसे में, अनजाने में एक दिन शिवप्रसादजी ने कलम उठा ली। आत्मा की पीड़ा कागज़ पर बह उठी और जब प्रवाह रुका तो 'मंजुशिमा' का उद्‌भव हो चुका था।

'मंजुशिमा' भोगे हुए यथार्थ के नाम पर मात्र व्यक्तिगत दुख की कथा नहीं है। यह एक मंजुशिमा की कहानी नहीं है। यह हर उस घर की कहानी है जहां बेटिया है लडकियां है। कहने की जरूरत नहीं कि लड़कियों के मामले में हमारा समाज कभी सदय नहीं रहा। वह दारुण दुख देनेवाली, बोझ, बला और कलंक मानी गयी। कहीं पुरुष ने उसे अपनी कमजोरी समझ कर शापित किया तो कहीं दीन-हीन समझ कर उसे अधिकारों से वंचित किया गया। कहीं उसे सारे फ़साद की जड़ मान कर घर की चहारदीवारी में कैद किया गया तो कहीं सड़े-गले विश्वासों के नाम पर जीवित चिता पर चढाया गया। कभी स्वयं पिता ने उसे अंधी गलियों में छोडा तो कभी पति ने चादी के चंद सिक्कों के एवज में उसे बेचा। आधुनिक वैज्ञानिक परीक्षणों के नाम पर बालिका भ्रूण हत्याओं को वैधानिक मान्यता मिली हुई है। ऐसे में शिवप्रसाद सिंह की 'मंजुशिमा' न केवल राहत देती है वरन् गलीज

परंपराओं के खिलाफ जेहाद में शामिल होने का आवाहन भी करती है।

आदमी-आदमी के बीच एक सार्वभौम रिश्ता होता है—पीड़ा का। यही वह रिश्ता है जो 'मंजुशिमा' के पाठकों को लेखक के साथ एकात्म करता है। पाठक लेखक के साथ न जाने कितनी बार आंसू पोंछता है, न जाने कितनी बार उसके साथ संघर्ष के पथ पर अग्रसर होता है। लेखक को बेटी के रोग और उसकी पीड़ा के सिवा कुछ दिखायी नहीं देता। न ही बेल्लूर की नंगी पहाड़ियों का सौंदर्य उसे अपनी ओर आकृष्ट कर पाता है न ही मन में तमिलियन नारी के बदन का कसाव देखने की इच्छा जाग्रत होती है। वह हर समय इसी उधेड़बुन में रहता है—क्या उपाय करूं, कैसे उसे बचाऊं। पुस्तक के अंत में लेखक के उद्‌गार--विदा तो तुम्हें देनी ही थी, जहां एक ओर पाठक को खून के आसू रुलाते हैं वहीं दूसरी ओर वह यह सोचे बिना नहीं रह पाता—मैं उसे खून नहीं दे सका तो कोई बात नहीं। अच्छा होता कि मैं उसे एक फूल ही दे सकता। मृत्यु की भयकर यंत्रणा झेलते हुए पीडा से सूखे उसके होंठों पर एक मुस्कान ही ला सकता।

किंतु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शिवप्रसाद सिंह ने बेटी की पीडा को भुनाने का प्रयास किया है। यदि वह ऐसा करते तो मंजुशिमा एक सतही रचना बन जाती और पाठक उस बिंदु तक पहुच ही न पाते जहां आंसू आनंद की पहचान बनते है। 'मजुशिमा' आसुओ का खारा समुद्र नहीं, यह पीडा का वह उत्कर्ष स्थल है जहां से आनद की रस की धारा फूटती है। और पाठक उस धारा मे आकंठ सराबोर हो उठता है। हां, 'मजुशिमा' आंसुओं के आनंद की दस्तावेज है। यह शिवप्रसाद सिह की कालजयी रचना है। यह उनकी रचना-प्रक्रिया का चरम है।

आलोचक 'मंजुशिमा' को सस्मरणात्मक उपन्यास या उपन्यास जिस भी श्रेणी में चाहे रखें इससे इसकी कलात्मकता और लोकप्रियता में कमी नहीं होगी, क्योंकि 'मजुशिमा' जैसी रचनाए सप्रयास गढी या बुनी नहीं जातीं। ये तो एकाएक जन्म लेती हैं। यही कारण है कि एक ओर रचना पढते समय कहीं भी थकान की अनुभूति नहीं होती। रचनाकार की दार्शनिक विचारधारा और उसका बहु-आयामी व्यक्ति-चिंतन कथा के सहज प्रवाह मे बाधक नहीं बनता। दूसरी ओर यह रचना बबारमेंट जैसा कुछ नहीं करती। यह तो धीरे-धीरे पाठक को अपनी गुंजलक में लपेटती है कि वह बहुत समय तक अपने को उसके प्रभाव से मुक्त नहीं कर पाता। रचना उसे पुनर्मूल्यांकन और पुनर्विश्लेषण का अवसर देती—कहीं उसकी बेटी के साथ अन्याय तो नहीं हो रहा है। कहीं नारी जाति के साथ अन्याय तो नहीं हो रहा है। यही रचना की सफलता और रचनाकार की सबसे बडी उपलब्धि है। यहीं साहित्य जीवन बनता है।

एक बार शिवप्रसादजी ने कहा था—महादेवी वर्मा को तुमने बोलते सुना

है ? नहीं। आह ! वह जब बोलती थीं तो भाषा का सांस्कृतिक रूप निखर उठता था। शिवप्रसादजी जब लिखते हैं तब भाषा का सांस्कृतिक रूप खिल उठता है, और संस्कृति भी कौन-सी ? संस्कृति की बात जब शिवप्रसाद सिंह करते हैं तब अच्छा लगता है। क्योंकि वह किसी विशेष धर्म की संस्कृति की बात नहीं करते। वह तो उस गंगा-जमुनी तहजीब की बात करते हैं जो भारतीय संस्कृति की अस्मिता है, पहचान है। उसी संस्कृति की तरह उनकी भाषा भी रंगारंग फूलों का गुलदस्ता है। भाषा के सौंदर्य को बढ़ाते हैं बिंब और प्रतीक। आजकल आधुनिकता और नयेपन के नाम पर अटपटे और निरर्थक प्रतीकों के विधान का फैशन-सा चल पड़ा है। शिवप्रसादजी प्रतीक विधान में सदा पारंपरिक रहे हैं। ये प्रतीक सीधे प्रकृति और संस्कृति से उठाये गये हैं। ये भाषा की कलात्मकता को बढ़ाते हैं, साथ ही साहित्य की मर्यादा की रक्षा करते हैं।

लोकगीतों का चयन बहुत सुंदर है। 'कइसे खेले जाइब सावन में कजरिया' और 'काहे के बाबा दुधवा पिअवला' जैसे लोकगीत सुख-दुख की शाश्वत कथा तो कहते ही हैं, साथ ही पूर्वांचल के जीवन को गहराई और निकटता से व्यक्त करते हैं।

चित्रों का सही पैनोरमा : इन्हें भी इंतजार है

• *डॉ. भगवतशरण उपाध्याय*

यह शिवप्रसाद सिंह की लिखी बीस कहानियों का संग्रह है। कहानियां सुंदर हैं, इन्हीं की परपरा में लिखी, प्रेमचद की परंपरा में, देहात के चित्र हैं। आज के कहानी लेखन में देश के प्रति एकाग्रता–मतलब समन्वित एकाग्रता से है–कम दीखती है। या तो गांवों से उखडे मात्र शहरों के चित्र देखने मे आते हैं अथवा नागरिक जीवन से विरहित केवल गांवों के। नगरों के सान्निध्य में लिखते हुए हम शायद गांवों का अस्तित्व भूल जाते हैं और देहात के चित्रो मे नगर का अस्तित्व सर्वथा आखो से परे हो जाता है। इधर हाल मे गांवो के सबंध में जो उपन्यास और कहानियां लिखी गयी है, उनमे न केवल देहात के चित्रो की बाढ आ गयी है बल्कि बोलियों का उपयोग भी भाषा में इस मात्रा मे हुआ है कि आंचलिकता ने जैसे खडी बोली को दबोच लिया है। तद्‌भव का प्रयोग प्रशसनीय है, संभवत· तत्सम से अधिक प्रशसनीय, पर वह खडी बोली के ही क्षेत्र में, बोलियों के प्राधान्य से नहीं। मुझे प्रसन्नता है कि 'इन्हें भी इतजार है' की कहानियों के लेखक ने अपनी भाषा में वह स्पृहणीय संतुलन कायम रखा है जो इधर की अनेक कृतियों में उपलब्ध नहीं। उसकी भाषा, हल्की-फुल्की, लहराती हुई चलती है और उसके अचल मे देहाती जीवन के फूल अनायास खिलते चले जाते हैं। भाषा और भावों का अन्योन्याश्रय सबंध है, 'समवाय' सबध भी, जिसकी ओर कालिदास ने 'रघुवंश' के पहले श्लोक मे ही 'वागर्थाविव संपृक्तौवागार्थप्रतिपत्तयै' मे सकेत किया है। संग्रह की कहानियों के कथानक अनुकूल सहज भाषा द्वारा मुखरित हुए हैं।

भाषा की बात कहते मुझे शिल्प के संबंध में आज के हिंदी लेखकों के एक दृष्टिकोण का खयाल हो आता है। पेंच की भाषा को, मुझे लगता है, शिल्प की सज्ञा दी जाने लगी है। शिल्प पेंचदार है अथवा सादा, इसका अंतर प्रस्तुत न कर मै स्वय शिल्प की बात कहना चाहूंगा। शिल्प विधि है, विधा नहीं, साधक है, साध्य नहीं, यद्यपि साध्य वह, जहां शब्द ही इष्ट हो सकता है। कथानक के साहित्य मे शिल्प की स्थिति अभिव्यक्ति के माध्यम और साध्य के आधार के रूप में, गौण है, कम-से-कम साध्य से गौण। भाषा अच्छी-बुरी अभिव्यक्ति के आधार रूप में,

किसी रूप में भी, ग्राह्य हो सकती है, यद्यपि साहित्य के संदर्भ में उसका सुरुचि से संबलित, विषय के अनुकूल संचयित, आवश्यकतावश अलंकृत होना सहज है। भाषा जब अपने मूलाधार से उठ संस्कारपूत हो, मंडन के 'विकार' से संयुक्त होती है, प्रकृत को 'गुणों' से युक्त करती है, तब उसका स्वयं भी मंडन के संसार से प्रसाधित हो जाना अनिवार्य है । संभवतः इसे ही लोग शिल्प कहेंगे, यद्यपि मैं भूलता नहीं, भाषा ही मात्र शिल्प नहीं है, अभिव्यक्ति का समूचा आवयवीय संगठन ही शिल्प में समाविष्ट होता है। शिल्प की व्याख्या चाहे यह अधूरी अथवा समस्त हो, इसमें संदेह नहीं कि शिल्प केवल विन्यासकल्प है, न तो मंदिर का गर्भगृह है न उसका देवता, न देह न उसकी आत्मा। फिर भी, मात्र अलंकरण से भिन्न, वह अपनी रचित अभिव्यक्ति का वाहन होने से अभिन्न है, यद्यपि फिर भी न उससे विशिष्ट है, न उसकी समवर्ता। केवल शिल्प अथवा अधिकाधिक शिल्प साध्य को आवरण मे लुप्त मात्र कल्पनाजन्य कर देगा, हेत्वाभास के रूप में स्वयं बाह्य आरोही पर आरूढ हो जायेगा ।

मुझे याद है एक बार प्रेमचंद के स्मारक दिवस पर बोलते हुए डॉक्टर उपाधिधारी आलोचक ने कहा था कि प्रेमचद असाधारण कहानीकार हैं, यद्यपि उनकी भाषा 'प्रसाद' की-सी कलात्मक नहीं है। मैं दोनों की इस तुलना से स्तब्ध रह गया। प्रकट है कि इस दृष्टि में कला की परख का सर्वथा अभाव है जो यह नहीं समझ पाती कि सहज अथवा प्रसाद 'कम्प्लेक्स' की चरम परिणति है, और कि प्रेमचंद को अनायास वह चलनेवाली भाषा सहज अनुभूति और उसे सधे सतुलित 'विनय' (डिसिप्लिन) का परिणाम है जो 'प्रसाद' की कृत्रिम भाषा से कोसों दूर है, यद्यपि 'प्रसाद' की कृत्रिमता जिस अनजाने संसार का आभास उत्पन्न करना चाहती है, उसके लिए संभवत वह भाषा अनुपयुक्त नहीं । शिवप्रसाद सिंह के शिल्प के संबंध में एकाध बार मुझसे शंका की गयी है जिससे प्रसंगत मुझे शिल्प संबंधिनी भाषा अथवा भाषा संबंधी शिल्प के विषय में यहां कुछ कहना पड़ा । शिवप्रसाद सिह की भाषा, उनका शिल्प, उनके प्रतिपाद्य के सर्वथा अनुकूल है, प्रशस्य।

अब कहानियां । गांवों के चित्र इनमें खुलकर आये हैं और उनके पात्र उतने ही सजीव हैं, जितने उनके एकैक व्यक्तित्व की पहचान सहज है । लगता है, जैसे, नन्हो को, कबरी को, दीनू और बिहारी को, लख्खीलाल, बेलमद्दर को हम कब से जानते हैं । नन्हो धोखे से अपाहिज को ब्याही 'हिया' रखनेवाली गृहिणी है जो अपने राग के भार को जिंदगी भर ढोती है, एकांत और एकांत में फलनेवाले अवसरों में भी संयम द्वारा उस कमजोरी को, अभिमतजन के सान्निध्य और उसकी 'प्रार्थना' के बावजूद, जीत लेती है जो उस स्थिति में साधारण नारी के संयम का बांध तोड़ देती । 'पंचतंत्र' में इसी स्थिति को व्यक्त करते हुए अपनी तब की भाषा में, तब की परंपरा में, विश्वास में अनुभव से कहा था कि यदि स्थान उपयुक्त

है, समय का अवसर प्राप्त है, तब भी यदि नारी आत्मसमर्पण नहीं करती तो केवल इस कारण कि उसके निकट 'प्रार्थयिता नर' नहीं है 'नास्ति प्रार्थयिता नरः'। 'बेहया' एक व्यंग्य है, एक बदला, जो बोकाचो के 'देकेमेशन' की एक कहानी की याद दिलाता है, यद्यपि इससे यह निष्कर्ष कतई नहीं निकालना चाहिए कि कहानीकार किसी अंश में बोकाचो का ऋणी है । 'मरहला' जहां खुन-खुन के जीवन की सादगी चित्रित करता है, वहीं उसके विपरीत उस दिलदार औरत को भी निराबृत करता है जो गांव की परिचित सीमाओं में बंध नहीं पाती और उसे लांघ कर 'मामूल' से विरत हो 'गैरमामूल' की ओर निकल जाती है, ड्राइवर के उस आकर्षण को प्रकट करती हुई जो गांवों की सूधी निम्नवर्गीय नारी को बरबस खींचता है । 'इन्हें भी इतजार है' डोमन कबरी का समूचा जीवन नंगा अभिव्यक्त करता है, तन के रोमरोम, पौध के पोरपोर । जिसने गाव में श्राद्ध आदि के अवसरों पर करन्नों को जूठी पत्तलों के लिए कुत्तों से, स्वयं अपनों से जूझते देखा है उसके लिए चित्रण मार्मिक है, यह जानकार ही जानेगा, और जिसने नहीं देखा उसके लिए निश्चय यह असाधारण वर्णन चित्रों का एक सही 'पैनोरमा' प्रस्तुत कर देगा। 'टूटे तारे' अच्छी नहीं लगी, यद्यपि विस्मय की भूमि इसमें गढ़ी गयी है । 'सुबह के बादल' मुझे बडी मार्मिक लगी, जिसमे भाषा और कथानक दोनों अन्योन्याश्रित बढते हैं और गावो के जीवन की सहानुभूति, उसके खेल, हंसी और अवसादं खुलते चले गये है। 'आखिरी बात' बैठकबाजी की एक झलक प्रस्तुत करती है, कमजोर है । 'बहाव वृत्ति' का बिहारीलाल शहरवालो के लिए उस दुनिया का राज खडा करता है जो उनका अनजाना है । उसका 'भौगडपन' उसके जीवन पर इतना हावी है कि उसके अपने आकर्षण के प्रति जिद्द जैसे हममें उसके लिए एक प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न कर देती है यद्यपि पात्र वह घिनौना है । कहानीकार ने कहानी का यह नाम क्यों चुना, समझ में नहीं आता, क्योकि 'वृत्ति' इसमे वस्तुत. मात्र एक है, 'शाखामृग' से सर्वथा भिन्न, जो नाम शायद 'शाखामृग' कहानी के लिए ज्यादा फबता । 'बहाव वृत्ति' और 'शाखामृग' के शक्तिम चित्रणो के बीच एक कमजोर कहानी 'धूल और हंसी' आ गयी है । गावो में एकाध ऐसे अवसर हो जाते है जिन्हे कोई पेशा पकड नही पाता, पर जो हर पेशे को पकड लिया करते है और उसी के माध्यम से सूधे लोगों पर अपने व्यक्तित्व का जादू डालते हैं। 'शाखामृग' का नायक लख्खीलाल कुछ ऐसा ही है जो नये पेशों के चुनाव से निरंतर गाव में चमत्कार उत्पन्न करता हुआ भी, जैसा स्वाभाविक भी है, निकम्मा पहचान लिया जाता है और बेलमद्दर तक, जिसकी शादी करने की साध आखिर तक बनी रहती है, उसके राज़ को समझ लेता है और उसकी खुद की दुर्गति पर हंसता है जो लख्खीलाल को भाडे की बीकी कर देती है । 'पर कटी तितली' की कमज़ोर कहानी उन्हीं भारतीय फिल्मों को याद दिलाती है जिनमें अचानक, अकारण, असंभाव्य दशा में नायक-नायिका एकत्र हो जाते हैं, भरी सड़कों पर भी एकांत का नाट्य करते, रोमांचक आचरण करते हैं और उनसे अथवा फिल्म निर्माताओं

से कोई पूछ नहीं पाता कि आखिर जानी हुई दुनिया में ऐसा कहीं होता भी है? 'पर कटी तितली' में शायद कहानीकार से कोई से पूछ न सके कि कहानी का 'मैं' मेह से बचने जब घर की देहली में खड़ा होता है और उसे घर की मालकिन कमरे में बुला कर चाय पिलाने लगती है, अपने बनाये चित्रों का प्रदर्शन करने लगती है, और जैसे भूलकर गायन द्वारा उसका मनोरंजन कर चलती है जिससे पीछे के कमरे में पड़ा उसका लुंज और अपाहिज पति भी चौंक पड़ता है, शायद फिल्म निर्माताओं की तरह कहानीकार से भी नहीं पूछा जा सकता कि यह सब क्या दुनिया में होता है कि महज यह आपकी कल्पना का राज़ है जिसे आप उम्मीद करते हैं कि पाठक भी अपनी सहज बुद्धि ताक पर रख समझे, और शायद आपकी ही तरह अफ़लातूनी रहस्य मान ले । 'खेल' फिर एक लचर कहानी है जिसमें 'लमहे' को—जिसे कहानीकार सर्वत्र 'लहमा' लिखता है (पृ. 91, 124, 130 पर क्या ऐसो की कमी है जो 'महरूम की जगह 'मरहूम' बोलते हैं ?) अविराम लंबा करके एक अत्यंत साधारण परिस्थिति चित्रित की गयी है । 'टूटे शीशे की तस्वीर' कहानियों के इस ग्राम्य कलेवर में एक नागर अंदाज़ डालती हुई नजर आती है जो 'सटल' होती हुई भी मुझे जची नहीं, यद्यपि उसमें कामिनी का व्यक्तित्व सामान्य से भिन्न है । 'बीच की दीवार' सबल कहानी है और मुझे ज़िद्दी छोटे भाई की 'कैफियत' पढ गांव की ठीक एक ऐसी ही स्थिति याद आयी जिसमें बड़ा भाई छोटे भाई से आजिज आकर पूछता है, अच्छा तू बता दे एक में रहेगा या मुझसे अलग रहेगा, और छोटा भाई उसी चोट के साथ लौटकर कहता है, न मैं एक में रहूंगा न अलग रहूंगा, मैं तुम्हें ढाहूंगा । 'खैरा पीपल कभी ना डोले' गांव के अनेक चित्र एक साथ चित्रपट पर फेंकता है और 'कर्ज़' में कुटुंब के भाइयो का परस्पर प्रेम इस तरह कुछ बन गया है कि प्रेमचंदजी की याद आ जाती है, केवल उनके कथानक के प्रसंग की । 'अंधकूप' गांव के आवारे की कैफियत प्रस्तुत करता है, साथ ही सामाजिक दुरभिसंधि से प्रसूत सास-बहू का क्रूर चित्र भी । 'धतूरे का फूल' फिर गांव की जमीन में शहर की कलम है, जिसमें मास्टरजी के सूक्ष्म प्रतिबोध से किशोरी बेटी तो अपने रूप के संबंध में सजग हो ही जाती है, प्रौढ़ा भी 'मास्टरजी' के प्रति विचल हो उठती है । आंखें संग्रह की सबसे अच्छी कहानियों में से है । दर्दभरा माहौल है जिसमें सृजनता और समाज का डर एक साथ पलता है, घृणा और सेवा के भाव एक साथ पनपते हैं । कहानी ने शहर का जीवन नंगा कर दिया है, जीवन जो अधिकतर परिणामतः जीवन है, मजबूरियों में घुटा हुआ।

कुल मिलाकर कहानियां बहुत सुंदर हैं, मुझे अच्छी लगीं । कहानीकार को यद्यपि मुबारकबाद देते वक़्त यह भी सुझाने से नहीं चूकूंगा कि सारी अच्छी-बुरी कहानियां एक साथ समूचे जीवन की रचनाओं के वर्गीकृत खंडों में एकत्र चाहे प्रकाशित निभ जायें, पर कोई तुक नहीं कि आप आकार के मोह से अच्छी-बुरी दोनों को समान संग्रह में नथ दें ।

(मशाल, काशी के नवंबर '62 के अंक से साभार)

हनोज दिल्ली दूर अस्त : मध्यकालीन अतीत की पदचाप और वर्तमान की चीख

• *अशोक प्रियदर्शी*

व्यास सम्मान, शारदा सम्मान और साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित उपन्यास 'नीला चांद' के लेखक शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास 'कुहरे में युद्ध' महीनों पहले हाथ लगा था। तभी मैं उसे पढ भी गया था। उसे आप पढना शुरू करें तो छोड पायेंगे भी नहीं। लेकिन उस पर तत्काल लिखने का मन नहीं बना पाया तो इसलिए कि उसके दूसरे भाग, 'दिल्ली दूर है' की प्रतीक्षा थी। यद्यपि 'कुहरे में युद्ध' अपने आप में पूरा उपन्यास है, किंतु इस पुस्तक में ही यह उल्लेख भी है कि इसी उपन्यास का पूरक खंड 'दिल्ली दूर है' नाम से उपलब्ध है। अब, जब 'दिल्ली दूर है' को भी मैं पढ़ गया हूं तो इस उपन्यास के जोड़े से आपको परिचित कराने की इच्छा बलवती हो गयी है।

वस्तुत: शिवप्रसाद सिंह ने मध्यकालीन जुझौती को केंद्र में रखकर भारत की धरती पर प्रतिकूल आचरण और संस्कृति के संघर्ष के चित्रण के लिए दो खंडोवाले उपन्यास की रूपरेखा बनायी। पहले भाग का नाम उन्होंने 'हनोज दिल्ली दूर अस्त' रखा, वही पूरी किताब में फोलियो पर छपा भी, किंतु इस खंड में विपरीत संस्कृतियों की लडाई तो अंधेरे में ही चलती रही, दिल्ली दूर ही नहीं, अभी बहुत दूर थी। सो इस उपन्यास को 'कुहरे में युद्ध' का नया नाम दे दिया गया जो, जैसा कि पुस्तक मे कहा गया है, अधिक उपयुक्त है। 'दिल्ली दूर है' नामक दूसरे उपन्यास में अपेक्षया नजदीक आकर भी दिल्ली दूर ही रही, लेकिन उसकी चर्चा बाद में। पहले 'कुहरे में युद्ध'।

मुझको लगता है कि किसी-किसी मिट्टी की खास तासीर होती ही है। धार्मिक पाखंड पर तुर्श चोट करते रहे जिस मिट्टी में पले-बढ़े कबीर, उसी मिट्टी में सनकर अब्दुल बिसमिल्लाह ने कबीर के वंशजों के दर्द की वैसी ही तल्ख अभिव्यक्ति की। और अब कबीर के बेलौसपन और अक्खडपन के साथ हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य की तह मे बैठने का माद्दा दिखाया है शिवप्रसाद सिंह ने।

उपन्यास के मध्य में एक स्थान पर मलय चौहान सेनापति आनंद वाशेक से कहता है— 'मैं जब उससे (अली मेहर) मिला था, सेनापति, तभी मुझे लगा कि यह मुसलमान तो हो गया है पर वह मजहब से मातृभूमि को बड़ा मानता है। मेरे मन में उसी दिन यह विचार कौंधा था। क्या सभी नवीकृत मुसलमान यदि अली मेहर की तरह मातृभूमि को वरीयता दें तो हमारे बीच का वैमनस्य समाप्त नहीं हो जायेगा ?'

इस्लाम की उसके पैगंबर की, रसूल की खूबियों को पूरी सफाई से रेखांकित किया है लेखक ने। महाराज त्रैलोक्य वर्मा की मुगलों से पराजय के मूल को स्पष्ट करते हुए आचार्य देव शर्मा कहते हैं— ..इसलाम केवल धार्मिक शक्ति नहीं, राजनीतिक शक्ति है। इससे धर्म को बचाने का प्रयत्न गलत नहीं है, पर इसकी विराट राजनीतिक ऊर्जा को समझो। उसके ध्वजवाहक किसी एक जाति के लोग नहीं हैं। रेगिस्तानी अरबों की सभ्यता क्या है ?... वे अचानक धर्मोन्माद में प्रमत्त की तरह तुर्की से लेकर मंगोल क्षेत्रों की सीमा तक सभी जगह छा गये। कहां से आयी यह शक्ति ? यह निश्चित ही उनके पैगंबर की, रसूल की उन वाणियों में अंतर्भुक्त रही होगी जो सारी सीमाएं तोडकर विश्व-बंधुत्व का पाठ पढ़ा रही थीं। ये खानाबदोश दुनिया पर टिड्डी दल की तरह छा गये तो क्या यह आसमान से टपका कोई करिश्मा था ? नहीं, यह पैगंबर की वाणी का तेज था।

मै इस उपन्यास की कहानी आपको नहीं सुनाने जा रहा हूं। वस्तुतः वैसी सीधी सपाट कहानी इस उपन्यास मे है भी नहीं। यह उपन्यास दो संस्कृतियों और दो विरोधी मूल्यों के संघर्ष का दस्तावेज है। स्पष्ट है कि इसमें ही युद्ध है किंतु कुहरे में लड़ा जाता हुआ। ऐसे विस्तीर्ण फलकवाले उपन्यास परंपरा-सिद्ध नायक या खलनायक नही होते, फिर भी एक ओर आप आनंद वाशेक को रख लें जो हारकर भी जीत जाता है और दूसरी ओर तयासी जैसे विदेशी आक्रांता को जो वाशेक के प्रहार से क्षत होकर, सड़े जख्म लेकर गंधाता हुआ लौटता है।

पूरे उपन्यास में तनाव, संघर्ष, द्वंद्व और युद्ध का बहुत प्रामाणिक चित्रण हुआ है, ऐसा जो आंखों में तिर जाये। जिस विषय को लेखक ने उठाया है, उसमें किसी एक पक्ष में डंडी के झुक जाने का बड़ा खतरा होता। शिवप्रसाद सिंह का कौशल उस संतुलन के निर्वाह में है जो वे बनाये रख सके हैं और इसकी वजह यह है कि राष्ट्रप्रेम से ओतप्रेत लेखक-मन पूरी निष्ठा के सत्य के संधान के लिए विकल रहा है।

लेखक ने इस उपन्यास में ताऊ के माध्यम से बड़ा आशाजनक संदेश दिया है जिसे आनंद वाशेक दुहराता है— ... बडी संस्कृति मरुभूमि में बदल भी जाये तो भी वह सूखती नहीं। अगर उसमें कहीं हरे-भरे उद्यान दिखें तो भीतर ही भीतर जीवनी-शक्ति के निरंतर प्रवाहित होते रहने का प्रमाण मिलता है।'

त्रैलोक्य मल्लदेव, आनंद वाशेक तथा तासी के अतिरिक्त सदाशिव राजेश्वर,

शुचिस्मिता देवी, भोज, करामत हुसैन, अंशुमान, अजय हरि, वैराट, सुपर्ण जैसे अनेक चरित्रों का और उनके मानसिक उद्वेलन का सफल अकन इस उपन्यास में हुआ है।

और अब, 'दिल्ली दूर है'।

फिर से आनद वाशेक का सघर्ष। सारी जिंदगी दिल्ली में काटकर भी दिल्ली से नफरत करनेवाला आनंद वाशेक। 'विश्व मानवता के सतत विकास में विश्वास रखनेवालो, धर्म व मजहब को व्यक्तिगत आस्था की वस्तु माननेवालों' की दिल्ली की तलाश थी आनंद वाशेक को। वह दिल्ली तो आज के आनंद वाशेकों के लिए भी दूर ही रह गयी है।

आनंद वाशेक लेखक के सपनों का प्रतिनिधि चरित्र है इसलिए वह यह भी है, वह भी है, सब कुछ होकर भी जैसे सब कुछ से परे है। यों इस बृहद् उपन्यास में कथा-क्रम में कई-कई इतिहास-विश्रुत चरित्र आते हैं यथा इल्तुतमिश, शम्सुद्दीन, फीरोजशाह, रुकंनुद्दीन, रजिया बेगम, बलबन, जलालुद्दीन खिलजी, अमीर खुसरो और निजामुद्दीन औलिया भी। क्या इस उपन्यास की कथा पूरा-पूरा इतिहास है? इतिहास होता क्या है? क्या घटित घटनाए? या घटी घटनाओं की प्रस्तुति के साथ जुडी इतिहास-दृष्टि भी? नहीं, केवल घटनाए सच नही होतीं, जनता सच होती है। इतिहास को भोगना तो उसे ही होता है। लेखक की दृष्टि साफ है 'प्राचीन युग के सम्राटो के प्रशस्तिकारों से लेकर नेहरू युग के इतिहासकारों तक कभी भी वस्तुपरक इतिहास न तो लिखा गया, न तो लिखा जा सकता है. जो सत्ता से राज्याश्रय और कीर्ति-यश पाने की लिप्सा से पीडित हैं वे तटस्थ हो ही नही सकते।.. इतिहासकार के लिए जनता सत्य बने।' इस विस्तीर्ण फलकवाले उपन्यास में शिवप्रसाद सिह की इतिहास-दृष्टि की प्रशंसा किये बिना कोई चारा नहीं।

मेरे मन में एक सवाल उठता रहा है कि ऐतिहासिक उपन्यास लिखे ही क्यो जाते है? यदि उनका अभीष्ट इतिहास को दुहराना है तो हम इतिहास की पुस्तके ही क्यो नहीं पढ लेंगे। और यदि वे इतिहास से खेलते हैं तो इसकी इजाजत हम उन्हे क्यो देंगे? 'दिल्ली दूर है' ने मेरी इस शंका को दूर कर दिया है। इतिहास के सच को देखने के लिए जो तटस्थ, ईमानदार, संवेदनापूर्ण दृष्टि होनी चाहिए वह किसी निष्ठावान साहित्यकार में ही मिल सकती है, चाटुकार इतिहासकारों की पुस्तको मे नहीं।

किसी खौफ के डर से सच का मुंह बंद तो नहीं किया जा सकता? गुलाम वंश के मध्यकालीन दौर की कथा कहते समय उस युग के अत्याचारों को निर्भीक होकर लेखक ने लिखा है। यहा कुहरे का या कोई भी, युद्ध नहीं है। मन का द्वंद्व है, मन की लडाइयां हैं।

जिस देविका का मुंह अपनी दोनों हथेलियों में ऐसा संभाला था वाशेक ने जैसे दो पत्तों के बीच कमल का फूल हो और प्रतिदान में देविका ने अपने अधरों को दो

पंखुड़ियों की तरह बनाकर आनंद के अधरों को उनके संपुट में दबा लिया था, और यों जिस देविका ने आनंद वाशेक से एक आश्वासन पाया था उसका क्या हुआ ? वह भोजवर्म देव की काकी जू नहीं कहला सकी। उसने कसम ले ली थी कि अंतिम क्षण तक गाय की तरह मूक रहेगी। गाय रेती गयी और उस गाय की यह टिप्पणी—'जैसे भी सही, विवश होकर ही जब तयासी के बच्चे की मां बनी तो उन बच्चों को कैसे फेंक सकती थी ? सृजन करके नारी ध्वंस नहीं कर सकती। इसीलिए वह दुनिया की सबसे अधिक सतायी प्राणी होती है। सहना ही उसका धर्म है।'

कौन है यह देविका ? वाशेक की दिल्ली। 'हनोज दिल्ली दूर अस्त' की जीती-जागती मिसाल। आनंद वाशेक की चिता पर साथ सो जानेवाली।

आनद वाशेक हार गया है लेकिन कथा जीत गयी है।

ठीक है कि शिवप्रसाद सिंह के इधर के हर उपन्यास का नायक पूरी कथा में छाया होता है लेकिन आनद वाशेक का चरित्र बाधता है।

शिवप्रसाद सिह सवादों के सहारे कथा को आगे बढ़ाते हैं और ऐसे प्रसंगो को भी उपन्यास मे लाते हैं जिन्हे थोड़ा सख्त संपादन करके छाटा जा सकता है, अतएव आश्चर्य नहीं कि उनके उपन्यासों की काया स्थूल से स्थूलतर होती जाती है। लेकिन ऐसे बृहदाकार उपन्यास को बिना किसी आवृत्ति या चूक के, पाठक को बांधते हुए कह जाना छोटी कला नहीं है।

दिल्ली-कथा कहते हुए शिवप्रसाद सिह मानवता के विकास पर सदैव नजर टिकाए रहते हैं। मध्यकाल की कथा में से वर्तमान हमेशा झांकता रहता है। ऐसी दुखती रग पर उंगली रखना साहस का काम है।

शिवप्रसाद सिह की भाषा रवानी भी बांधती है, उनकी दृष्टि भी, उनके चरित्र भी। 'कुहरे में युद्ध' तथा 'दिल्ली दूर है' को पढ़ना एक नये अनुभव से गुजरना है। एक बार आप कथा में प्रवेश पा जायें तो फिर पुस्तकों की स्थूलता डराती नहीं, उलटे किताब खत्म किये बिना जी नहीं मानता। इन किताबों की कहानी सुनायी नहीं जा सकती। इन्हें पढ़ने का न्योता दिया जा सकता है।

शिवप्रसाद सिंह का कहानी कर्म

• *डॉ. पुष्पपाल सिंह*

इस लेख के संदर्भ में शिवप्रसाद सिंह की कहानियों को फिर नये सिरे से पढकर मन में कुछ निष्कर्ष अनायास ही आ जाते हैं : यह कि वे नयी कहानी के बाद के समय में ग्रामीण जीवन के अप्रतिम कहानीकार हैं, यह कि उनकी नयी कहानी-दौर की कुछ सशक्त कहानियां आज भी अपनी ताजगी में बांधती ही नहीं हैं, अपितु वे संदर्भ-च्युत भी नहीं हैं, यह कि उनके ग्रामीण जीवन के निचले स्तर के पात्र बडे जीवटवाले हैं और वे शोषण की शक्तियों के खिलाफ विद्रोह करते हैं, यह कि उनकी कहानियां समकालीन दौर में ग्रामीण जीवन में शोषण की शक्तियों को इंगित करती अनेक 'जनवादी', प्राय फार्मूलाबद्ध कहानियों से कहीं आगे हैं; यह कि उनकी ग्रामीण भाषा के संस्कार मे पगी अभिव्यक्ति हिंदी कहानी में बेजोड है; यह कि उनकी अधिकांश कहानियां चरित्र को केंद्र में रखती हैं और अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण उनकी कुछ या कहें अधिकांश कहानियों का चरित्र संस्मरणात्मक हो गया है; यह कि अपने प्रकृत क्षेत्र से हटकर जब वे शहराती जीवन पर लिखते हैं तो बुरी तरह असफल होते हैं, आदि-आदि ! ! किंतु सभी निष्कर्ष कहानियों के अध्ययन-विश्लेषण से पहले क्यों; केवल यह बात कहकर उनकी कहानियों के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ जा सकता है कि शिवप्रसाद सिंह नयी कहानी के दौर से लेकर अब तक के रचना-समय में एक अत्यंत सजग और सशक्त कथाकार के रूप में आते हैं जिन्होंने हमारी कहानी को विषय का नया विस्तार, कथ्य के निर्वाह की नयी परंपरा और अभिव्यक्ति की अपूर्व समृद्धि और ताजगी दी ।

नयी कहानी के समय में शिवप्रसाद सिंह की चर्चा 'नन्हो' और 'दादी मां' जैसी कहानियों के कारण ही हुई, इन्हीं से उन्हें भरपूर प्रतिष्ठा मिली। इन दोनों कहानियों के साथ ही मैं उनकी 'धरातल' और 'बेहया' कहानियों की चर्चा भी करना चाहूंगा। इन कहानियों को आज भी, पुनः-पुनः पढ़ने पर भी, लगता है कि इनमें एक ताजगी है। गांव-ज्वार के ये पात्र बडे अपने से तो लगते ही हैं, उनमें एक अद्भुत जीवट मिलती है। ये कहानियां अपने यथार्थ का चित्रण मात्र ही नहीं करतीं अपितु उसका अतिक्रमण कर आगे बढ़ती हैं। नयी कहानी के दौर में 'भोगे हुए यथार्थ', 'यथार्थ की प्रामाणिक अनुभूति' जैसे नारे तो थे ही, अतएव यथार्थ

का सशक्त अंकन उन्हें कहानी की भीड़ से अलग ही नहीं करता अपितु ये पात्र लेखक की दृष्टि के तहत अपनी प्रदत्त स्थितियों के प्रति विद्रोह करते हैं। यह विद्रोह इनके यथार्थ जगत् का सच नहीं है अपितु रचना का सच और लेखक की जीवन के प्रति एक दृष्टि है। 'धरातल' की नारी का यह निर्णय "मैं बिना हिस्सा लिये दम न छोड़ूंगी। मैं इनकी नौकरानी बन कर नहीं रह सकती।" कम उम्र विधवा औरत का यह निर्णय उस समय ही नहीं, उस समाज में आज भी बहुत बड़ा विद्रोह है। लेखक ने इस भोली-भाली नारी को जितना साहस दिया है। विद्रोह की जीवट प्रदान की है वह दर्शनीय तो है ही 'नयी कहानी' की नारी में अत्यंत विरल है, "ठकुराने की बहू, जिसने गांव का सिमान भी कभी नहीं देखा, मुसम्मात बन गयी। कचहरी में दाखिल हुई।" वह अपने परिवार में वह 'कुतिया बनने से' इंकार करती है जिसे जंजीर में बांधकर रखा जाता है, जो रोटी के टुकड़े के लिए दुम हिलाती पैर चाटे। वह अपनी दृष्टि में बिलकुल साफ है कि उसे कुछ पाने के लिए कुछ देना है, कुछ खोना है। इस नारी में कहीं भी आदर्शों को ओढ़ने का आग्रह नहीं, ठेठ मिट्टी से उपजा चरित्र है यह "दुनिया में शायद कुछ भी बिना कीमत चुकाये नहीं मिलता। सोचना सिर्फ इतना होता है कि क्या देकर क्या पाया गया और इस पूरे हिसाब-किताब के बाद भी यदि मैं खुश हूं, तो आप जानते ही हैं कि मैं चीजो के बारे में क्या सोचती हूं।" इस नारी में न भावुक रोमान है, न भाग्य और स्थितियों के सामने मूक समर्पण।! बाद की कहानी में जो 'बोल्डनेस' दिखायी देती है, 'धरातल' की नारी में वह एक सहजता के रूप में आती है और इतनी ही सहजता से उसकी आत्मस्वीकृति भी है, " क्यों हरी, तुम्हें अनेक बार खिलाया होगा, अनेक बार तुम्हारा दुखता सिर भी दाब दिया होगा, अनेक बार इन हाथों पानी भी पिलाया, पर कभी शरम नहीं आयी । फिर एक बार वह भी किया। उसमें ही शरम क्यों ?"[1] उस समय के पूरे रचनात्मक दौर में ऐसी नारी की संकल्पना एक उपलब्धि है। इसी प्रकार 'दादी मां' जो एक 'शापभ्रष्ट देवी-सी' है, स्नेह और ममता की मूर्ति है किंतु ऊपर से कठोर—एक स्मरणीय पात्र बन जाती है। इन कहानियों में 'नन्हो' की नन्हो भी प्रभावित तो करती है, अपनी विशिष्टता में बहुत देर तक याद भी रहती है किंतु उसमें नयी कहानी के दौर की रोमानी प्रेम-शैली है, यही कहानी का कमजोर पक्ष (कम-से-कम आज तो) दिखायी देता (ही) है। फिर भी यह कहानी प्रभावित करती है तो उसका कारण यही है कि इस नारी में भी एक जीवट है, वह भी संघर्षों से कुंदन बनती है, "मैं कमजोर थी बाबू, भाग्य से हार गयी। पर आज तो मैं अपने पैरों पर खड़ी हूं । आज मुझे तुम हारने मत दो।" भाग्य से हार कर भी अपने पैरों पर खड़े होने का विश्वास इस नारी को जो दम-खम देता है, वह कहानीकार का 'यथार्थ' से आगे जाना है । इसी बिंदु पर 'नन्हो' स्मरणीय चरित्र देती है ।[2] शिवप्रसादसिंह की अन्य कहानियों में भी ऐसे नारी पात्र आये हैं जो अपनी स्थिति को जस की तस नहीं स्वीकारते हैं, उनके प्रति तीव्र विद्रोह करते हैं, 'आर-पार की माला', 'उपहार' आदि में यह स्पष्टतः देखा जा सकता है। 'उपहार' की गुलाबी के कथन से उदाहरण देकर हम यह संदर्भ समेटना चाहेंगे कि शिवप्रसाद सिंह ने अत्यंत सशक्त नारी-चरित्रों की सृष्टि की है, उस कहानी-दौर

में जब बड़ी लिजलिजी, भावुक और केवल प्रेमिका-छाप नारियां ही अधिकांशतः आ रही थीं "जाके अपनी घरवाली की खाल खींचो ठाकुर, वही दरबे में बंद मुर्गी की तरह ओठ सिये तुम्हारा जुलुम सहेगी, काहे से कि तुम उसे चारा देते हो। अपना क्या, हाथ-पांव चला के दो रोटी कहीं से भी कमा लेंगे। तुम्हारी धौंस सहनेवाले कोई और होंगे, हां!"[3] सर्वत्र ही शिवप्रसाद सिंह के नारी पात्र आर्थिक स्वतंत्रता आयत्त करने के लिए विद्रोह करते हैं।

शिवप्रसाद सिंह की अधिकांश कहानियां चरित्र-प्रधान हैं किंतु इनमें श्रेष्ठ कहानिया वे हैं जहां चरित्र के साथ-साथ सामाजिक स्थितियों से साक्षात्कार कराया गया है। ये कहानिया अत्यंत जटिल यथार्थ की कहानियां हैं जिनमें लेखक स्मृति के सहारे से कोई चरित्र तो उभारता ही है किंतु उन विषम जीवन-स्थितियों को भी रेखांकित करना चाहता है जो हमारे गावों को गरीबी की भयावह रेखा पर रखे हुए हैं। वह सारी सामाजिक-संरचना इन कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती हैं जिसमें एक ओर रूढियों में डूबा वह समाज है जो मध्ययुगीन से भी पुराना है तो दूसरी ओर आर्थिक स्तर पर शोषण के विविध रूप दिखायी देते हैं। शोषण के इस रूप को देखकर लगता है कि वह हमारे गांवों का ऐसा प्रामाणिक यथार्थ है, प्रेमचंद के बाद जिसका चित्रण इतने विश्वसनीय रूप में हिंदी कहानी में नहीं हुआ है। 'नन्हो', 'दादी मां', 'हीरो की खोज', 'महुवे के फूल', 'देऊ दादा', 'मास्टर सुखलाल', 'बिंदा महाराज' ऐसे ही सश्लिष्ट यथार्थ की कहानियां हैं। आर्थिक दबावों के तहत ही नन्हो का पिता यह जानकर भी कि उसके साथ धोखा हुआ है, मिसरीलाल जैसे बदसूरत, अपंग और लिजलिजे लडके की जगह कोई और, रामसुभग को, दिखा दिया जाता है, चुपचाप इस अपमान और धोखे को पी जाता है। नन्हो एक भारी बदसूरत पत्थर को गले में बांधे वेदना और पीड़ा के अछोर समुद्र में उतार दी गयी, जहां से उसकी सिसकियों की आवाज भी शायद ही सुनायी पडती। कहानी में उसकी इस पीड़ा से साक्षात्कार आर्थिक विवशताओं से साक्षात्कार है। दहेज, दहेज-हत्या आदि के रूप में ये सामाजिक स्थितियां आज भी विद्यमान हैं, इसलिए 'नन्हो' आज भी सदर्भच्युत रचना नहीं लगती। 'दादी मां' जैसी चरित्र-प्रधान कहानी में भी लेखक गांव के सिवान का जिस रूप में चित्रण करता है, वह वहा के आर्थिक स्तर को सूचित करता है, "मेरे गांव के चारों ओर पानी ही पानी हिलोले ले रहा है। दूर के सिवान से बहकर आये हुए मोथा और साई की अधगली घासें, घेऊर और वन-प्याज की जडें तथा नाना प्रकार की बरसाती घासों के बीज, सूरज की गरमी में खौलते हुए पानी में सडकर एक विचित्र गध छोड़ रहे हैं।" यह शिवप्रसाद सिंह (की 'नन्हो' के लड़के) का ही गांव नहीं है अपितु आज भी मेरा या और किसी का भी गांव है। इतनी सूक्ष्मता से गांव के उस चौगिर्दे को वर्णित करना हमारी कहानी के यथार्थ को एक नया धरातल देता है। 'हीरो की खोज' में बोधन तिवारी जाति-बहिष्कृत होकर सारी समाज-व्यवस्था को तो चुनौती देते ही हैं, लेखक जहां कहीं अवसर मिलता है ग्राम-जीवन की जर्जर दशा का चित्रण करता है, "शाम घिर आयी, क्वार की मनहूस शाम जिसमें चुपचाप अपने नंगे पैर बढाकर भुखमरी गरीबों के घरों में घुस

जाती है । मलेरिया, चेचक, और न जाने कितनी भयानक बीमारियों के जहरीले कीटाणु हवा में तैरने लगते हैं।"[4] 'महुवे के फूल' की सत्तो का यह हाल शायद गांव की हर लड़की का भाग्य बता देता है जो आर्थिक तंगी के कारण इस दशा को पहुंची है, "और आज मेरे सामने वही सत्तो खडी है जिसे पहली नजर में देखने से विश्वास नहीं होता । बुझती हुई दीये की बाती, म्लान शाम की रोशनी से भी करुण सत्तो को देखकर पीडा होती है । हंसोड़, महुए के फूल की तरह कोमल, मादक और तितलियों की तरह चंचल वह लड़की पिछले एक साल के अंदर ही एक औरत बन गयी है जिसकी गोद में एक बच्चा है और उसकी आंखों में अपने-सा ही बेमनापन ।"[5] गांव के इस परिवेश की पर्त-दर-पर्त शिवप्रसाद सिंह की प्रत्येक कहानी में उघड़ती चलती है । हर मौसम में किसान अपनी दशा संवारने की एक आशा संजोये रहता है किंतु प्रत्येक बार मौसम की मार उसे और भी मार जाती है । 'देऊ दादा' कहानी में लेखक इसी तथ्य को इस प्रकार अभिव्यक्ति देता है, "गर्मी में बारिश न होने से सूखा पडा। जाड़े की फसल की आशा थी । आज चैती के खेतों में छोटी-छोटी चलवा मछलियों के झुंड-सा पानी रेंग रहा था। ओले पड़ने से गेहूं टूट गये हैं । अलसी-मसूर तो उकठ जायेंगी, और का हाल भगवान जाने। गांव के बहुत से रास्ते बंद हो गये हैं । बदन साहु के पिछवारेवाला रास्ता स्कूल की इमारत गिरने से पट गया। स्कूल की दीवारे आधी खडी हैं। नीमवाली राह पर जमेसर साहु का घर बैठ गया। रमिया चमारिन आज सुबह भुनभुनाती जा रही थी । उसके गिलटवाले कड़े को साहु ने सिर्फ बारह आने में गिरो रखा पाप का फल कहां जाता है।"[6] आज से प्राय 20-25 वर्ष पहले के गांवो का यह कितना प्रामाणिक यथार्थ है। इसी प्रकार गावों के स्कूलों में शिक्षा का हाल देखना हो तो आप 'मास्टर सुखलाल' से मिलकर वहा की सारी सचाइयों से परिचित हो सकते हैं।

गांवों में बद से बदतर आर्थिक स्थितियों में जीते हुए किसान ही नहीं, छोटी-छोटी जातियो के लोग किस प्रकार मुश्किल से तन धारने की स्थिति में हैं, इसे शिवप्रसाद सिंह अपनी अनेक कहानियों मे चित्रित करते हैं । 'आर-पार की माला' 'बेहया', 'पापजीवी', 'उपहार', 'रेती' 'कलंकी अवतार' आदि कहानियां मुसहरों, मल्लाहों, बारी (नाई) आदि जातियों के आर्थिक सघर्ष को गहराई से उकेरती हैं । 'आर-पार की माला' में जुम्मन के जीवन का यह आर्थिक पक्ष न जाने कितने मजदूरों की जिंदगी का सच है, "पूरे एक महीने मर-मर कर रस्सियां बटी थीं जो कुल आठ-नौ रुपये में बिकीं । छह तो गरारे और ओढनी में ही खप गये, तीन रुपये चावल, तंबाकू और नमक में लग गये ।"[7] अपने गांव-ज्वार में मजदूरी की यह स्थिति ही इन लोगों को दूर-दराज की जगहों में रोटी की तलाश में भटकाती है । 'गन्हरपों' (एक छोटी जाति) की स्थिति का चित्रण 'बेहया' में मिलता है, "गांव में कुल दस-बारह घर थे गन्हरपों के, पर किसी के घर छाजन की खपरैल तक भी सीधी न थी । बहुत से घर तो वर्षा और धूप की मार से धसककर जमीन पर बैठ गये थे, क्योंकि अरसे-से उनके वाशिंदों ने इन बूढ़े मकानों की दीवालों को कभी प्यार से छुआ तक नहीं । कभी रहे होंगे इनके पुरखे नामी-गरामी संगीतकार । आस-पास के गांवों के

गृहस्थों, सेठों और मंदिर के महंतों के दरबार कभी इनके संगीत से गूंजते रहे होंगे । पर मुद्दत से तो इनकी बात पूछनेवाला भी कोई नजर नहीं आया । लड़के जवान हुए तो परती ज़मीन के छोटे टुकड़ों को देखकर निराश हो गये । किसी ने इस-उस शहर की राह पकड़ी । एकाध के स्वर ने साथ दिया, तो रोटी-पानी की समस्या हल हो गयी । पर अधिकतर तो अपने विस्तृत रिश्तों की सिफारिश से इसके-उसके कोठे के शृंगार बने । पान लाने के काम से कुछ अधिक हुनर आयी तो समाजी बन गये और अपने को उन बंद दीवालों को सौंप कर जिंदगी की अंतिम सांसें गिनते रहे ।"[8] इसी प्रकार लड़कियों की स्थिति का सूक्ष्म समाजशास्त्रीय विश्लेषण कहानीकार ने किया है । इन सभी छोटी जातियों की समाजार्थिक दशा से लेखक हमारा परिचय अत्यंत विश्वस्त ढंग से कराता है ।

गांवों में पुश्तैनी लड़ाई भी वहां के जीवन का एक कटु-यथार्थ है । इस पुश्तैनी लड़ाई का आधार होती हैं जमीन और जोरू, शिवप्रसाद सिंह अपनी 'आदिम हथियार' जैसी कहानी में इस कथ्य को चुनते हैं । नयी पीढ़ी व्यर्थ ही गांवों में क्रांति लाने का उद्घोष करती फिरती है, वास्तविकता तो यह है, "यही है नयी पीढ़ी की क्रांति । व्यक्ति से व्यक्ति की लड़ाई तो बहाना है, लड़ता है खानदान से खानदान या जात से जात । इसके बाहर कहीं जैसे समाधान है ही नहीं । मैं इन दो दलों के खिलाडियों के हाथ का मुहरा हू । मामूली गोटी, जिसे अपनी सुविधा से जो चाहे जहां बिठा लेना चाहता है ।" पंचायत, पुलिस आदि की गांव के झगड़ों मे जो भूमिका रहती है, वह भी यहां उजागर होती है । इसी प्रकार 'भेडिए' कहानी में गावों में होनेवाले झगडों की तह में जाकर लेखक उन सब स्थितियों का पर्दाफाश करता है । बाबू सुहेल सिंह बिना बात अपने लडके को दीनानाथ और उनके परिवार के और लोगों से बुरी तरह लाठियों से पीटा जाना देखकर भी चुप है, अपनी पत्नी के रोष से भी वे लड़ाई के लिए प्रेरित नहीं हो पाते जबकि वे जानते हैं कि उनके लडके को एकाधिक बार बेबात ही लठियाया गया है । लड़ाई आर्थिक दृष्टि से कमजोर व्यक्ति लड़ ही नहीं सकता, सुहेल सिंह की व्यथा यही है, "दीनासिंह तो यही चाहते हैं कि हम उनसे लड़ें और ऊ मामले मुकदमे का डौल बना कर हम लोगों को पीस डालें ।"[9] सुहेल सिंह इन स्थितियो के बदलने के लिए जी-तोड कोशिश करते हैं ।

हमारे गांवों के नवयुवक शहर या महानगर मे आकर रोजी-रोटी के लिए जो संघर्ष करते हैं, वह भी लेखक की दृष्टि से छूटा नहीं है । 'अंधकूप' और 'एक यात्रा सतह के नीचे' इस कथ्य पर अत्यंत सशक्त कहानियां हैं । किसी भी मार्ग-दर्शन के अभाव में गाव से आया यह युवक किस प्रकार भटकता है, नौकरी और इंटरव्यू के चक्कर में चकरघिन्नी बना घूमता है, इस सबका प्रामाणिक अंकन कहानीकार ने किया है । "उसके जी में आया कि वह एक 'लेक्चर' दे डाले वर्तमान युग पर', आधुनिकता पर और उन तमाम पेचीदगियों पर जिनसे होकर हर नौकरी पानेवाले को गुजरना होता है ।" इंटरव्यू को वह एक ऐसी पंचायत बताता है, "जहां एक बैल को तो नांद मे लगा दिया जाता है और बाकी के चरनी से हांककर एक किनारे कर दिया जाता है ।"[10] अवधू की समस्याएं गांव के प्रायः हर

नवयुवक की समस्या है । आर्थिक स्तर पर ही नहीं, छोटी आयु में ही विवाह हो जाना और फिर जर्जर दशावाले संयुक्त परिवार में पत्नी की एक भी इच्छा पूरी न कर पाने से मानसिक स्तर पर भी उसे क्लेश सहना पड़ता है । वह साबुन की एक बट्टी भी पत्नी को लाकर नहीं दे सकता । ग्राम्य-जीवन के इस कटु-यथार्थ से शिवप्रसाद सिंह गहराई से परिचय कराते हैं ।

गांव में खाते-पीते लोग ही नहीं सामान्य व्यक्ति को भी जिस रूप में कोर्ट-कचहरी भुगतनी होती है, उसका चित्रण भी शिवप्रसाद सिंह कुछ कहानियों में करते हैं । किंतु केवल इसी कथ्य पर उनकी बेहतरीन कहानी 'उस दिन तारीख थी' का नाम लिया जा सकता है। "किसान चाहे कितना ही फटे हाल क्यों न हो, कचहरी के आदमियों को कोई दया-माया उन पर नहीं होती," देवी सिंह के कान में मुख्तार के शब्द थे । मुकदमे के बिगड़ने का अंदेशा था । उनकी आंख में रेल थी, टिकट का किराया था और ऊपर एक लंबा शून्य, नीचे औंधा मनहूस आसमान था । उन्होंने ऊपर देखा और एक सांस खींच कर नोट बढ़ाते हुए बोले, "अच्छा लेते जाइए, देखिए मुकदमा बिगड़े न । गरीब को आप ही का आसरा है ।" गरीब की गरीबी को कचहरी में इसी प्रकार दुहा जाता था । इस कहानी के व्यंग्य के स्तर पर लेखक ने यह भी बताया है कि कोर्ट-कचहरी में वकील जो बहस करता है, वह क्या करता है, वह भी उस गरीब को पता नहीं है जो उसके लिए पैसा देता है । सारी न्याय-व्यवस्था गवाहों पर टिकी है और गवाह ऊंचे से ऊंचे किराये पर चाहे कुछ भी कहने को तैयार हैं। "वे गवाह हैं, यह कहने आये हैं कि फलां आदमी ने घर फूंका। वे संख्या में आठ हैं, चार ने घर जलते देखा है, चार ने बिल्कुल ठीक वैसे का वैसा। हां ! ये काली पोशाकवाले वकील और मुख्तार, इनकी पोशाक काली है तो इससे क्या? ये ही दूध का दूध और पानी का पानी अलग करते हैं । बिल्कुल साफ, सफेद सत्य !" "संक्षिप्ततः कहना चाहें तो ग्राम-पचायत स्तर से लेकर तहसील जिला स्तर तक पुलिस, प्रशासन, न्याय-प्रणाली आदि में फैले उस सब भ्रष्टाचार को शिवप्रसाद सिंह का कहानीकार रेखांकित करता है जो किसान या किसी भी ग्रामवासी को अपनी नित्य की चर्या में भुगतना होता है। जहां कहीं भी अवसर मिलता है, मानवीय मूल्यों के प्रति लेखक अपनी तीव्र चिंता प्रकट करता है, मसलन इसी कहानी में, "वह क्या है, वह कौन-सी चीज है जिसने उनके चारों ओर के लोगों को इतना हृदयहीन, इतना टेढ़ा बना दिया है ।" कभी-कभी मानवीय मूल्य और आदर्शों की बात लेखक पर इतनी हावी भी होती है 'कि वह पारिवारिक सुख की 'वंशीकरण' जैसी पूर्णतः आदर्शात्मक कहानी लिखता है ।

संबंधों की कहानियां शिवप्रसाद सिंह के यहां कम हैं । इस दृष्टि से 'हत्या और आत्माहत्या' के बीच' कहानी का नाम लिया जा सकता है । स्त्री-पुरूष संबंधों में देह-स्तर से ऊपर उठकर भी कोई संबंध हो सकता है, समाज प्रायः इसको मान्यता नहीं देता किंतु ऐसा ही वर्तुल संबंध शोभा बुआ तथा कहानी के नैरेटर मुन्ना के पिता का था, "तुम मेरे और अपने बाबूजी के संबंधों को जानना चाहते हो न ? तो सुनो, तुम विश्वास कर पाओगे,

शायद नहीं, क्योंकि तुम उस जमाने में पले हो, जहां मर्द और औरत के मिलते रहने का सिर्फ एक ही अर्थ होता है, यानी दोनों में नाजायज संबंध। तुम यदि एक-दूसरे के लिए बहुत-बहुत आत्मीयता और निकटता को नाजायज मानते हो तो वह थी। तुम यदि एक-दूसरे के लिए गहरी शुभेच्छा, सचमुच की ईमानदार शुभेच्छा को नाजायज मानते हो तो वह थी। तुम यदि इस इच्छा को, कि यदि कभी जरूरत हुई तो मुझे तुम्हारे बाबूजी के लिए प्राण देने में भी इंकार न होगा, नाजायज मानते हो, तो वह थी । पर हमारे बीच कोई ऐसा संबंध नहीं था, जिसे अवैध या अनुचित कहा जाये ।" शोभा बुआ की आत्महत्या समाज के सामने अनेक सवाल खडे कर जाती है, वस्तुतः समाज ने उसे आत्महत्या के लिए विवश किया, इसलिए इसे हत्या भी कहा जा सकता है । इस प्रकार संबंधों की यह कहानी सामाजिक स्थिति को भी नंगा करती है । हम फिर कहना चाहेंगे कि वस्तुतः शिवप्रसाद सिंह की वे ही कहानियां सशक्त हैं जो संश्लिष्ट रूप में चरित्र और सामाजिक स्थितियों का विश्लेषण करती हैं ।

निर्विवाद रूप से शिवप्रसाद सिंह ग्रामीण जीवन के कथाकार हैं । उनकी अधिकांश कहानियों का कथ्य ग्राम्य-जीवन का ही है । यद्यपि उन्होंने शहरी जीवन पर भी कलम चलायी है किंतु वह उनका प्रकृत क्षेत्र नहीं है इसलिए इस जीवन की कहानियों में वे बुरी तरह असफल होते हैं, यथा 'प्रायश्चित'[12] 'प्लास्टिक का गुलाब' 'जंजीर, फायरब्रिगेड और इसान'।[13] ऐसा नहीं कि ग्रामीण जीवन पर लिखते हुए शिवप्रसाद सिंह असफल नहीं होते हैं, वहां भी 'बेजुबान लोग' जैसी कहानियां हैं जिनमें व्यर्थ की शायरी और दोहा दिया गया है, रोमानी-सी प्रेम कहानियां भी उनके यहां हैं, जैसे 'बरगद का पेड'। वस्तुतः कमज़ोर कहानियां तो बड़े से बडे कहानीकार, प्रेमचंद के यहां भी देखी जा सकती हैं, किंतु किसी कलाकार का मूल्याकन उसके 'श्रेष्ठ' के आधार पर ही होता है, उसकी असफल रचनाओं के आधार पर नहीं।

प्रस्तुत लेख के प्रारंभ में ही कहा गया था कि उनकी अधिकांश कहानियों के केंद्र में कोई पात्र है जो वे अपनी स्मृति से उठाकर लाते हैं। इसलिए इन कहानियों का चरित्र प्रायः संस्मरणात्मक हो गया है । यद्यपि संपूर्ण कहानियों के दोनों संकलनों 'अंधकूप' तथा 'एक यात्रा सतह के नीचे' में कहीं भी किसी कहानी का रचना-वर्ष नहीं दिया गया है (जबकि इस प्रकार के संग्रह में अध्ययन की दृष्टि से यह आवश्यक था) किंतु सचेत पाठक जानता है कि अपनी बाद की कहानियों में भी शिवप्रसाद सिंह इस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो पाते हैं, यथा 'हत्या और आत्महत्या के बीच' कहानी का प्रकाशन जुलाई 1972 ई. की सारिका में हुआ था और उसमें चरित्र ही प्रधान है, जो स्मृति के आधार पर उकेरा गया है। यद्यपि 1977 ई. में प्रकाशित 'भेड़िए' कहानी-संग्रह की भूमिका में लेखक का दावा है, "इन कहानियों में अब स्केच खोजनेवालों को थोड़ी परेशानी होगी क्योंकि अब जीवंत संघर्षरत इंसानों की जिंदगी एक तटस्थ स्केच न होकर आधुनिक दबावों से जूझते हुए व्यक्तियों का सहज दस्तावेज़ बन गयी हैं"[14] किंतु सचाई यह है कि इस संग्रह की भी 'कलंकी अवतार', 'राग

गूजरी', 'धरातल', 'हत्या और आत्महत्या के बीच', 'आदिम हथियार' आदि कहानियों में चरित्र ही प्रमुख हैं, प्रारंभ से ही उनकी वे ही कहानियां बेहतरीन बन सकी हैं जहां चरित्र के साथ-साथ सामाजिक सवालों पर भी गंभीरता से विचार हुआ है । इसलिए निष्कर्षतः मैं कहना चाहूंगा की शिवप्रसाद सिंह की कहानियों की कथ्य की जमीन में समकालीन समय में भी आकर कोई मूलभूत अंतर नहीं आ पाया है। इसे किसी अभाव की तरह नहीं अपितु एक लेखकीय विशिष्टता के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

कहानियों के अभिव्यक्ति पक्ष की बात अभी रह गयी है। वस्तुतः शिवप्रसाद सिंह की कहानियों का सबसे समृद्ध पक्ष यही है । प्रेमचंद के बाद के रचना-समय के गांव के जीवन पर लिखनेवाले बहुत से सशक्त कथाकार आये । जिन्होंने गांव के जीवन और समाज पर लिखा, वे सभी गांवों से ही आये थे, उन्होंने अपनी रचनाओं में आंचलिक शब्दावली, बोली-बानी का व्यवहार भी खूब किया किंतु जिस प्रकार गांव के सस्कार में पूरी तरह पगी भाषा प्रेमचंद लिखते हैं, वैसी शिवप्रसाद सिंह के अतिरिक्त कदाचित् कोई और प्रेमचंद के बाद नहीं लिख सका है । यह महज फतबेबाजी नहीं । सभी लेखकों की कहानी भाषा के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर, पूर्ण दायित्व के साथ, दिया गया निष्कर्ष है । (अभी हिंदी कहानी की भाषा का गंभीर और सुविस्तृत अध्ययन नहीं हो पाया है—मैं ऐसा सोचता हूं)। प्रेमचंद की विशेषता यह है कि उनका पात्र जब जिस लहजे में, जिस शब्दावली में बोलता है, वही उसकी बोली-बानी है, उसमें से एक भी शब्द उठाकर इधर से उधर नहीं किया जा सकता । आपने ऐसा किया नहीं कि पात्र का रूप ही बदल जाता है । शिवप्रसाद सिंह के यहां भी ऐसा ही होता है कि लगता है पात्र सीधा उसी ज़मीन से जुड़ा है । अभिव्यक्ति में उपमान-चयन, तुलना का रूप, लालित्य सभी कुछ गंवई, पूरी तरह ताजा और अछूता-अछूता-सा। एक-एक शब्द इतना अर्थ सक्षम कि लेखक की शब्द चयन-वृत्ति ('कुशलता' नहीं कह रहा हूं क्योंकि उसमें 'प्रयत्न' है, यहां सहजता है) देखते ही बनती है । अलसी-मसूर तो 'उकंठ' जायेंगी में कहने में 'उकंठ' शब्द से पता चलता है कि ये पौधे ज्यादा बारिश में कैसे उकठते हैं । दो मित्रों के बहुत दिन बाद मिलने पर "देस-दुनिया, सौदा-पाटी, जात-बिरादरी की पूरी कहानी चलती रही।"[15] गांव के परिवेश से पूरी तरह परिचित कथाकार ही यह लिखेगा, "कटे जौ की सफेद बालों-सी भूरी खुत्थियों और उनके बीच असहाय विधवा-सी गंगा की धार।"[16] कहीं से भी, कहानी के प्रारंभ, मध्य या अंत में से कोई भी स्थल ले लीजिए शिवप्रसाद सिंह इस अभिव्यक्ति-क्षमता से सर्वत्र प्रभावित करते हैं । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

—"फूफा की आंखें कितनी सीधी थीं, गाय की तरह जिनमें जरा भी शोखी नहीं, रंचमात्र तिर्यकि नहीं ।"

—"ममत्व के स्पर्श से गाय के रोएं खिल उठे, कपास के फूल की तरह।"[17]

—"आंखों में किसी की गज-भर चौड़ी छाती झूल गयी, जिस पर मकोय के रंग के बाल मधुमक्खी की तरह कांपते रहते ।"[18] (क्या मकोय के रंग को किसी और तरह समझाया

जा सकता है ? रंग का एक बिंब बनता है।)

—"...उसकी लंबी बरौनियां बारिश में भीगे तितली के परों की तरह नम और बिखरी थीं। और वह एकटक कहीं देख रही थीं, शायद मन के भीतर किसी बालियों से लदी फसल के ढंके लहराते खेत को, जिसमें किसी ने अभी–अभी जलती हुई लुकाठी फेंक दी है।"[19]

—"ऐसी मुस्कराहट समुदाय विकास के लिए किसी अधिकारी के चेहरे पर किसी विदेशी को आदर्श गांव दिखाते हुए भी शायद ही आयी हो।"[20] (यह अभिव्यक्ति ही सामाजिक विद्रूपता को उघाडने लगती है)।

जिस प्रकार प्रेमचंद के पात्र अपनी बातचीत में नित्य प्रयोग की लोकोक्तियों का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार शिवप्रसाद सिंह के पात्र भी अपनी मनोदशा लोकोक्तियों से सहजता से कह जाते हैं, यथा :

—"बढकर मत बोल देवल। देशी चिरई मरहठी बोल।"[21]

—"शंकर बाबू कुरते की जेब में से कैंची सिगरेट निकालते और डब्बी पर ठुन्ना देकर एक सिगरेट मुंह में दबा लेते, फिर बड़े सलीके से कांटी जलाकर सिगरेट दगाते और धुआ उगल कर हंसते हुए कहते, "खायेंगे गेहूं, नहीं रहेगे एहूं।"[22]

कहानी-शिल्प में भी कुछ प्रयोग शिवप्रसाद सिह ने किये हैं, ये नये प्रयोग कहीं प्रभावित करते हैं तो कहीं निरर्थक-से भी लगते हैं। उनकी अधिकांश कहानियो का प्रारंभ बहुत स्वाभाविक रग में होता है किंतु 'नयी-पुरानी तस्वीरें' कहानी का प्रारंभ वे प्रेमचद की 'मुक्ति-मार्ग' अथवा सुदर्शन की 'हार की जीत' के समान करते हैं तो प्रारंभ अप्रभावी ही रह जाता है। शिवप्रसाद सिंह की कहानी का प्रारंभ इस रूप में होता है, "बाल कक्षा का छात्र अपने दबंग मास्टर से, कर्ज़खोर अपने महाजन से, या भडैत मकान मालकिन से शायद ही उतना डरता हो, जितना मैं बुआ से डरता था।"[23] प्रेमचंद की 'मुक्ति-मार्ग' का प्रारंभ इस प्रकार होता है, "सिपाही को अपनी लाल पगडी पर, सुंदरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे रोगियों पर जो घमड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है।" कहना न होगा कि भिन्न सदर्भ मे शिवप्रसाद सिंह की कहानी में प्रेमचंद का अनुकरण हुआ है, चाहे अनजाने में ही। जहां वे पात्रो का शब्द-रेखांकन (पैन-पिक्चर) प्रस्तुत करते हैं, वहां प्रेमचंद का अनुकरण कर भी शिवप्रसाद सिंह और प्रभावी हो जाते हैं। 'मंजिल की मौत' में बौडम का यह रेखांकन इस बात का प्रमाण है कि शिवप्रसाद सिंह अपने पात्रों को कितने प्रभावी रूप में प्रस्तुत करते हैं, "धूल से सफेद, बिवाइयों से चिथडे पैर, लकड़ी की तरह सूखी काली टागें, गंदी धोती, मांसहीन निर्जीव-सा शरीर, कंधे से लटकती एक चादर, ये सभी उस मूर्ति को आकार देते हैं, जिसे किसी शिल्पी ने निराशा को मूर्तिमान् करने के लिए गढा था। अपने तमाम साधनों का उपयोग करके लडकों की विनोदप्रिय मंडली थक जायेगी, पर धूप और भूख से संतप्त, अधमरे सांप की तरह बौड़म का सिर घुटने की कुंडली से बाहर न निकलेगा।"[24] नयी कहानी में नये शैल्पिक प्रयोग के रूप में जब 'समानांतर कथा शिल्प' का प्रयोग प्रारंभ हुआ तो शिवप्रसाद सिंह ने भी 'महुए का फूल' में इसका सफल

प्रयोग किया (अब यह जानने का साधन हमारे पास नहीं है कि 'महुए का फूल' कब प्रकाशित हुई 'राजा निरबंसिया' से पहले या बाद में, शिवप्रसाद सिंह की कहानियों का रचना-काल नहीं दिया गया है) । मात्र शैल्पिक चमत्कार दिखाने के लिए उन्होंने 'कहानियों की कहानी' जैसी कहानी भी लिखी जिसमें "प्रेमचंद की 'बूढ़ी काकी', प्रसाद की 'मधुवा अज्ञेय की 'रोज' जैनेंद्र की 'जान्हवी' और यशपाल की 'तुमने क्यों कहा कि मैं सुन्दर हूं...' कहानियां ही स्वय इस कहानी में पात्र रूप में आयी हैं।" कहना न होगा कि इस कहानी में सहजता है ही नहीं, कह भी नहीं सकती क्योंकि कहानी लिखते समय सायास पात्रों के नाम फिट करने की जुगत तलाशने में ही रचनात्मकता का क्षरण हो जाता है । किंतु जहां शिवप्रसाद सिंह की कहानी का कथ्य जानदार है, शिल्प स्वयमेव ही कहानी के लिए एक स्वाभाविक माध्यम-सा बन कर आया है । इसलिए प्रयोग की प्रवृत्ति से हटकर उनकी कहानियां शिल्प की दृष्टि से भी पूरी तरह कसी हुई और प्रभावी हैं ।

शिवप्रसाद सिंह की समस्त कहानियों को पढ़कर एक सवाल सहज ही मन में उठता है कि प्रेमचंद के बाद के कहानी-साहित्य में वे गांव पर लिखनेवाले सर्वाधिक समर्थ कहानीकार के रूप में सामने आते हैं, फिर भी वे प्रेमचंद जैसा महत्त्व क्यों नहीं अर्जित कर पाये, अथवा कहें कि स्वातन्त्र्योत्तर कहानी में उनका वह महत्त्व क्यों नहीं बन पाया कि वे सर्वाधिक सशक्त कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित होते । लेखक ने स्वयं अपनी कहानियों के विषय में कहा है, "प्रेमचद के बाद इतने विस्तृत और यथार्थ फलक पर पहली बार ग्राम-जीवन को देखने की चुनौती स्वीकार करने के इस प्रयत्न को उसके सही परिप्रेक्ष्य में वही देख सकता है जो आज के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को देखने की सही दृष्टि रखता है ।" हम इस कथन में केवल इतने अंश से सहमत होना चाहते हैं कि शिवप्रसाद सिह की कहानियों में ग्रामीण जीवन का जितना भी यथार्थ आया है, वह अत्यंत प्रामाणिक है, उसका सशक्त चित्रण हुआ है । वस्तुतः शिवप्रसाद सिंह की कहानियों के यथार्थ में इतनी विस्तृति और वैविध्य नहीं है, उनका फलक विस्तृत नहीं है । प्रेमचंद की कहानियों को पढ कर यह लगता है कि उसमे यथार्थ की इतनी विस्तृति है कि हमारे समाज का एक समग्र चित्र प्रस्तुत हो जाता है । जिस रचना-समय में प्रेमचंद लिख रहे थे, वह युग अपनी समस्त सामाजिक विसंगतियों एवं विद्रूपताओं में उनकी कहानियों में दस्तावेजी रूप में प्रस्तुत होता है । उस समाज की प्रत्येक हलचल से इन कहानियों के माध्यम से परिचित हुआ जा सकता है । किंतु दूसरी ओर शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में ग्राम-जीवन की प्रत्येक हलचल या कहें प्रत्येक सामाजिक गतिविधि का परिचय नहीं पाया जा सकता । उन्होंने समय और समाज की प्रत्येक चिंता को अपनी कहानी में नहीं उतारा है और न ही शिल्प स्तर पर उनकी कहानियों में वैविध्य है । इसीलिए प्रेमचंद प्रेमचंद हैं, शिवप्रसाद सिंह शिवप्रसाद सिंह हैं। यहां इस प्रश्न की चर्चा भी इसलिए की गयी क्योंकि स्वय लेखक ने यह सवाल अपनी कहानियों की भूमिका में उठाया है।[19] इस तुलना से अलग हटकर शिवप्रसाद सिंह स्वातंत्र्योत्तर कहानी-साहित्य के प्रतिष्ठित कथा-पुरुषों की प्रथम पंक्ति के रचनाकार हैं ।

संदर्भ

1. अधकूप—'धरातल'
2. एक यात्रा सतह के नीचे—'नन्हो'
3 अधकूप—'उपहार'
4. वही, 'हीरो की खोज'
5 वही, 'महुवे का फूल'
6 वही, 'देऊ दादा'
7 वही, 'आर-पार की माला'
8 वही, 'बेहया'
9 एक यात्रा सतह के नीचे, 'मेडिए'
10 वही, 'एक यात्रा सतह के नीचे'
11 'अधकूप'—'उस दिन तारीख थी'
12 वही, 'प्रायश्चित'
13 एक यात्रा सतह के नीचे—'प्लास्टिक का गुलाब', 'जजीर, फायर ब्रिगेड और इसान'
14 'मेडिए'—कहानी-सग्रह, भूमिका
15 अधकूप, 'आर-पार की माला, पृ 141
16 वही, पृ 147
17 वही, पृ. 53 तथा 55
18 वही, पृ 177
19 एक यात्रा सतह के नीचे, पृ 28
20 वही, पृ. 359
21 अधकूप , पृ 79
22 एक यात्रा सतह के नीचे, पृ 357
23 अधकूप —'मर्यादा', पृ 52
24 अधकूप, पृ. 83
25 वही, भूमिका

सामंती मूल्यों के विरुद्ध

• *अब्दुल बिस्मिल्लाह*

नयी कहानी आदोलन के शीर्ष कथा-पुरुषों ने कहानी की कुछ ऐसी इंटलैक्चुअल छवि बनायी कि गाव-गिराव के लेखक हाशिए में चले गये। हालांकि हाशिए में बैठकर जो कहानियां लिखी गयी वे मूल कैनवस की कहानियों से कहीं अधिक ईमानदार और विश्वसनीय दिखायी पडती है। इन कहानियो में एक ओर हरिशकर परसाई, भीष्म साहनी, अमरकांत और शेखर जोशी की कहानियां हैं तो दूसरी ओर फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय और शिवप्रसाद सिंह की कहानियां। रूप की दृष्टि से इन कहानियो का विभाजन 'मध्यम वर्गीय कहानियां' तथा 'गांव की कहानियां' के रूप मे भले कर दिया जाये, पर इनका वस्तुगत आधार एक ही है। इनमें एक खास तरह का विद्रोह दिखायी पडता है, जो मनुष्य विरोधी जीवन-मूल्यों के खिलाफ है। शिवप्रसाद सिह की कहानियों का मूल्यांकन इसी दृष्टि से किया जाना चाहिए।

नवजागरण और स्वाधीनता के पश्चात् भी भारतीय समाज सामती मूल्यों की जकडन से पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ। अनेक प्रकार के रीति-रिवाजों और आस्थाओ-मान्यताओं की आड में वे मूल्य छिपे रहे। विशेषत· ग्रामीण जीवन की दुर्गम घाटियों में वे अपेक्षाकृत अधिक गोपनीय ढंग से अपनी भूमिका का निर्वाह करते रहे। उन प्रगतिविरोधी मूल्यों का सर्वाधिक शिकार स्त्रियां हुईं, क्योकि परंपरा और संस्कार के नाम पर स्त्रियों का शोषण अपेक्षाकृत अधिक आसान होता है। निस्संदेह अनेक जागरूक स्त्रियों ने उन मूल्यों के विरुद्ध संघर्ष भी किया और यथाशक्ति पुरुष सत्तात्मक समाज की कलई खोलकर रख दी। शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में भारत की गंवार स्त्री का यह सघर्ष अत्यत जीवंतता और कलात्मकता के साथ चित्रित हुआ है।

यह विचित्र संयोग है कि प्रेमचंद के यहां भी स्त्रियां अपेक्षाकृत अधिक साहसी और क्रातिकारी हैं तथा शिवप्रसाद सिंह के यहां भी। कदाचित् ग्रामीण स्त्री का यह रूप स्वाभाविक भी है और सच्चा भी। स्वाधीनता के उपरांत तो नारी-जागरण-आंदोलन के परिणामस्वरूप उसका क्रांतिकारी स्वरूप और मुखर हो उठा।

शिवप्रसाद सिंह की 'शाखामृग' नामक कहानी में लक्खीलाल खैनी ठोंकते हुए बेलभद्दर के समक्ष अपनी पत्नी के विचारों को इस प्रकार प्रकट करता है।

'कहती है, मुझे भी क्या डफली समझ लिया है कि उंगली नचाओगे और मैं बाजूंगी ?'

एक युग था जब हिंदुस्तान के सामंती समाज में स्त्री पुरुष की उंगलियों पर नाचा करती थी, मगर स्थितियों के बदलते ही उसकी प्रकृति में भी बदलाव आया और न केवल यह कि वह पुरुष के समकक्ष होकर चलने लगी, बल्कि जरूरत पड़ने पर उसे तुर्की-ब-तुर्की जवाब भी देने लगी। शिवप्रसाद सिंह की एक कहानी है—'धरातल'। इसमें एक स्त्री भी विवशताओ का लाभ उठाकर हरिमंगल नामक व्यक्ति उसका दैहिक तथा आर्थिक शोषण करता है। किंतु एक सीमा के बाद स्त्री विद्रोह की मुद्रा में आ जाती है। इस पर हरिमंगल उसे पूर्वकृत तथाकथित 'कुकर्म' की याद दिलाकर पूछता है, कि क्या उस समय तुम्हें शर्म नहीं आयी थी। स्त्री जवाब देती है :

'क्यो हरी, तुम्हें अनेक बार खाना खिलाया होगा, अनेक बार तुम्हारा दुखता सिर भी दाब दिया होगा, अनेक बार इन हाथों पानी भी पिलाया, पर कभी शरम नहीं आयी। फिर एक बार वह भी किया। उसमें ही शरम क्यों ?'

संवाद के इस हिस्से में केवल 'नयी कहानी' लक्षण भर तलाशे जायें तो वे बहुत आसानी के साथ मिल जायेंगे। वे बहुत स्पष्ट हैं। किंतु एक स्त्री के इस कथन में जो व्यंग्य, दुःख, त्रासदी निर्वेद और सचाई की अन्य तमाम पर्तें अंतर्निहित हैं, वे वस्तुत किसी कथांदोलन के लक्षण भर नहीं हो सकती हैं। उन पर्तों के बीच से एक तीखा-तुर्श विद्रोह फूटता हुआ लक्षित होता है—समूचे समाज के प्रति, समूची पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था के प्रति।

'नयी कहानी' के दिनो में स्त्री-पुरुष संबंध और प्रेम-त्रिकोण जैसे विषय अनेक कहानीकारो को बहुत प्रिय थे। निस्संदेह शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में भी प्रेम तथा स्त्री-पुरुष संबंधों की व्याख्या है, किंतु वह शुद्ध गंवई होने के कारण ही कदाचित् नकली और आयातित नहीं प्रतीत होता। उनकी 'महुवे का फूल' कहानी की सत्ता अपने स्वयभू प्रेमी हीरा को खाट से गिरा देती है और उसका शरीर 'बंदर की तरह' झूलने लगता है। फिर वह सीना तान कर कहती है, 'हां, मैंने ऐसा किया...बडा आया है मुहब्बत करने।' यह दीगर बात है कि इस 'अशिष्टता' का दड भी उसे भोगना पड़ा। आखिर समाज का सामंती चरित्र पूरी तरह नष्ट तो नहीं हो गया था न।

समाज के सामंती--बल्कि कहना यह चाहिए कि पतनशील सामंती ढांचे ने स्त्री को एक नहीं अनेक तरह के कष्ट दिये हैं। कन्या के निर्धन पिता को अच्छा लडका दिखा कर अपाहिज वर के साथ बांध देना भी उनमें से एक भयंकर दंड

था। और मजे की बात यह कि ऐसा दंड पिता जान-बूझकर अपनी बेटी के लिए स्वीकार करता था। जान-बूझकर इसलिए, कि दोषी तो हमेशा वही होता है जो आर्थिक दृष्टि से अक्षम है। और संपन्न वर्ग ? 'समरथ के नहिं दोस गुसाईं' नन्हो अपने देवर रामसुभव से कहती है :

'बिगडनेवाली बात को सभी पहले से जान लेते हैं बाबू ! जिनके पास बल है उसे नहीं होने देते, जो कमजोर हैं, उसे धोखा कहकर छिपाते हैं।'

'नन्हो', 'दादी मां', 'कर्मनाशा की हार' और 'मुरदा सराय' शिवप्रसाद सिंह की बहुचर्चित कहानिया हैं। इनमें 'कर्मनाशा की हार' कहानी का महत्त्व इसलिए अलग से है कि स्त्री-शोषण के विरुद्ध यहा एक बूढा पुरुष खड़ा है। जब फुलमती और कुलदीप के तथाकथित पाप का दंड केवल गर्भवती फुलमती को देने की घोषणा की जाती है और समाज उसे बढी हुई कर्मनाशा नदी में फेंक देने का निर्णय सुनाता है तो बूढे पांडेजी निकलकर सामने आते हैं। और जैसे ही वे 'एक-एक के पाप गिनाने' की धमकी देते हैं, समूची जर्जर समाज-व्यवस्था धराशायी हो जाती है। लेकिन इस कहानी का महत्त्व सिर्फ इस बात में निहित नहीं है कि समाज भी पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था को एक पुरुष चुनौती देता है, बल्कि 'पाप' और उसके 'दंड' से उपजी एक ऐसी मार्मिकता इस कहानी को महत्त्वपूर्ण बनाती है जो जीर्ण-शीर्ण सामंती मूल्यो की चूलें हिलाकर रख देती है ! ऐसी ही मार्मिकता अहमद नदीम कासिमी की कहानी 'फूला' और सज्जाद जहीर की 'दुलारी' में दिखायी पडती है। यह सच्ची प्रगतिशील कला-दृष्टि है, जिसने हिंदी उर्दू कहानियों में एक नयी चमक पैदा की। ऐसी कहानिंयां बगैर गहरी सामाजिक प्रतिबद्धता के नहीं लिखी जा सकतीं। यह अलग बात है कि लेखक अपने को 'प्रतिबद्धता' शब्द से जोडता है अथवा मुक्त रखता है।

मार्मिकता का एक दूसरा रूप 'मुरदा सराय' कहानी में दिखायी पड़ता है। कहानी का भिखारी सूरदास अपनी आश्रिता सुलक्खी को गर्भवती कर देता है और इसे 'फैदा की बात' समझता है। जाहिर है कि पैदा हुई संतान का दुखडा रो-रो कर भीख मांगने से धधे में अधिक विश्वसनीयता पैदा होगी। यह विचार मनुष्य के स्वाभाविक उपयोगितावादी मस्तिष्क की उपज है, जिसे सुलक्खी 'ऊ न होवै देब हम सत्यानासी...' कहकर एक झटके में तोड-फोड देती है। और सुलक्खी जैसी एक अति सामान्य स्त्री की यह शक्ति पूरी कहानी की शक्ति बन जाती है।

शिवप्रसाद सिंह को 'फूल' से संबंधित शीर्षक रखना बहुत पसंद है। 'महुवे का फूल' तो है ही, 'केवड़े का फूल' और 'धतूरे का फूल' शीर्षक से भी उन्होंने कहानियां लिखी हैं। निश्चय ही 'फूल' कोमलता का ही प्रतीक है और फूल-जैसे कोमल प्राणी का दुख लेखक से देखा नहीं जाता--चाहे वह 'कबरी' डोमिन ही क्यों न हो। शिवप्रसाद सिंह ने यदा-कदा समाज की कुछ विशिष्ट जातियों को भी अपनी रचना का विषय बनाया है। नटों के जीवन पर आधारित 'शैलूष' नाम

से उन्होंने एक पूरा उपन्यास ही लिखा है। जिस 'कबरी' डोमिन का उल्लेख ऊपर हुआ है, वह 'इन्हें भी इंतजार है' शीर्षक कहानी का एक प्रभावशाली चरित्र है। नट और डोम जैसी अस्पृश्य जातियां भारतीय समाज की तथाकथित उच्च जातियों के लिए मात्र उपभोग की वस्तुएं जैसी रही हैं। गांवों में तो उनकी दशा बद से बदतर रही है। शिवप्रसाद सिंह ने उनके जीवन को निकट से देखा है और उनकी जीवनी-शक्ति को अत्यंत मनोयोगपूर्वक रचा है।

वस्तुतः शिवप्रसाद सिंह उत्तर प्रदेश के ठेठ गंवई कथाकार हैं। किंतु उनकी कहानियों में केवल गांव की मोहक संस्कृति-भर नहीं है, बल्कि देश के समूचे उत्थान-पतन में गांव की स्थिति और गंवई जनों का जीवन-संघर्ष वहां पूरी प्राथमिकता के साथ उजागर हुआ है। 'ताडी घाट का पुल', 'खैरा पीपल कभी न डोले', 'बिंदा महाराज' और 'मास्टर सुखलाल' जैसी कहानियों में चित्रित गंवई जन इसके प्रमाण हैं। यहीं यह बात भी उल्लेखनीय है कि शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में आये हुए गंवई जन जीवंतता और मार्मिकता के साथ-साथ संघर्षशीलता की मिली-जुली प्रतिमूर्ति हैं। उनकी एक कहानी है–'मंजिल की मौत'। शीर्षक तो 'नयी कहानी' के चालू महावरे जैसा है, पर उसका जो एक पात्र है 'बौड़म', वह 'नयी कहानी' के सभी चालू मुहावरों को ध्वस्त कर देनेवाला चरित्र है। कहानी के अनुसार 'बौड़म' 'गांववालों के लिए बिन पैसे का खेल' है। ऐसे पात्र ऊपर से बहुत दयनीय दिखायी पडते हैं; पर उनके भीतर एक ऐसी आग होगी है, जो उन्हें 'बिन पैसे का खेल' समझनेवाली सामंती मनोवृत्ति को भस्म कर डालने की क्षमता रखती है।

एक बातचीत के दौरान शिवप्रसाद सिंह ने 'किसी मूल्य की तलाश' की बात की थी और कहा था कि मूल्य विमूढता के कारण ही कहानी से पाठकों की साझेदारी कम हुई है। निस्संदेह यह एक ऐसे लेखक की ईमानदार चिंता है जो अपने लेखन मे मूल्यों के लिए खटता और खपता रहा है। प्रगतिकामी मूल्यो की स्थापना के लिए मनुष्यविरोधी मूल्यों से लड़ता-भिडता रहा है। शायद यही कारण है कि उनकी कहानियां बहुत विश्वसनीय और आत्मीय लगती हैं। बेशक कहीं-कहीं उनमें शिल्पगत खामियां भी हैं। मसलन 'टूटे तारे' कहानी का अंतिम पैरा शीर्षक को सार्थक करने के उद्देश्य से ही लिखा गया जान पडता है। इसी तरह यत्र-तत्र और भी...पर दृष्टि का पैनापन हर जगह मौजूद है।

जिस बातचीत का उल्लेख ऊपर हुआ है, उसी में काशीनाथ सिह ने कहा था कि किसी संगठन के पचड़े मे न पड़ कर भी शिवप्रसादजी एक प्रगतिशील कथाकार हैं। ठीक से उनका मूल्यांकन नहीं हुआ है। (बातचीत 'सारिका' में प्रकाशित) वस्तुत: शिवप्रसाद सिंह की कहानियों का मूल्यांकन इसी आलोक में होना चाहिए।

'अंधकूप' में नारी

• डॉ. जी. उषा लावण्या

सभ्यता सस्कृति के विकास के आरंभिक चरण में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए निरतर सघर्ष करते हुए गुफा-कदराओं में जीनेवाला व्यक्ति दैनिक अनुभवों से सचित ज्ञान राशि के आधार पर एक-एक कदम आगे बढते हुए प्रस्तर युग से निकल कर अणु युग तक आ पहुंचा है। कहने के लिए यह उसकी विकास यात्रा ही है। पर अब भी उसके अंतर्मन की अंधगुफाओं में निहित बर्बरता-पाशविकता अपने आक्रामक तत्त्वों के साथ समय-समय पर प्रकट होती ही रहती है। जब व्यक्ति मोहावेगों से ग्रस्त होकर अपने आप कर काबू खो बैठता है अथवा स्वार्थपरता के कारण पशुतुल्य आचरण कर बैठता है, तब संयम नियम जैसे शब्द निरर्थक सिद्ध हो जाते है। अपने अमर्यादित आचरण के परिणामस्वरूप विकसित मूल्यरहित स्थितियो के कारण होनेवाले निरर्थकता, खोखलेपन व अकेलेपन के तीव्र अहसास से मुक्त होने की प्रक्रिया में, भय और त्रास की चरम स्थिति में प्राप्त क्षोभ, खीज, आक्रोश, अकुलाहट व झुझलाहट से उबरने के लिए मूल्यों की सही पहचान प्राप्त किये बिना ही आत्ममुक्ति व आत्मविकास के लिए वैयक्तिक स्वतंत्रता को ही एकमात्र साधन मानकर पुन उसी विवेकहीन भोगवादी मनोवृत्ति को अपनाकर झूठी आत्म-संतुष्टि को प्राप्त करने के प्रयत्न में लगा हुआ है। अपने अस्तित्व के विनष्ट होने की आशंका से भयभीत होकर हत्या-आत्महत्या की ओर भी प्रवृत्त होता जा रहा है। विडंबना की बात यह है कि उसके आत्म-तुष्टि के यज्ञ की प्रथम समिधा नारी ही है।

पहले पहल समुदायों में जीनेवाले लोग क्रमश· परिवार व्यवस्था को महत्त्व देकर अपने जीवन को सुंदर और मंगलमय बनाने लगे थे। फिर भी सृष्टि के विकास के आरभ काल से ही अबला नारी पर अपना बल दिखाकर उसे वश में करने की प्रवृत्ति पुरुष में रही। तभी द्रविडों से संघर्ष कर अपना आधिपत्य स्थापित करने के बाद आर्यों ने द्रविड स्त्रियों को भी वश में कर लिया था। यद्यपि आर्यों के पितृसत्तात्मक परिवारों में स्त्री को उचित स्थान प्राप्त था, पर स्त्री का एक ही

पति होता था, पुरुष मगर अधिक पत्नियां रख सकता था। उत्तर वैदिक काल में भी स्त्रियों की उच्च स्थिति बनी रही। पर उस समय भी एक ऐसा रिवाज था जिसके अनुसार जो पति बिना किसी उचित कारण के पत्नी को त्याग देता है, उसे गधे का चमडा ओढकर छ महीनों तक भिक्षाटन करना पडता था। कालांतर में जैन धर्म का विकास हुआ जिसमें इंद्रिय निग्रह पर बल दिया गया । भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग का प्रचार तो किया मगर कालांतर में विकसित हीनयान-महायान की विभिन्न शाखाओं के साथ ही स्त्रियो के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित होने लगे और सामंत सभ्यता के अभ्युदय काल तक आते-आते उसकी दशा और बिगड गयी। स्त्री अब पति की संपत्ति समझी जाने लगी और दहेज-प्रथा भी जारी हो गयी। साथ ही विवाह के लिए नारियों के क्रय-विक्रय की प्रक्रिया शुरू हो गयी, फिर भी प्राचीन परंपराओं के प्रति आदर भाव के कारण नारी जाति को कुछ स्वतंत्रता प्राप्त थी। देश में मुसलमानों के आगमन के साथ ही नारी जीवन में असुरक्षा की भावना व्याप्त हो गयी। बाल-विवाह प्रचलित हुए। दास प्रथा को भी महत्त्व मिलने लगा। परिणामत सुंदर स्त्रियों का (दासियों का) मूल्य बढ़ गया था। परदा-पद्धति के कारण कालांतर में नारी का घर से बाहर निकलना भी कठिन हो गया था।

आधुनिक युग में विज्ञान के विकास से प्राप्त वैज्ञानिक चिंतन-पद्धति के कारण, अग्रेजों की सभ्यता-संस्कृति के प्रभाव के कारण नारी जीवन में काफी बदलाव आया। नारी के अपने दृष्टिकोणों में, मूल्य चिंतन में भी परिवर्तन आया। अब वह भी वैयक्तिक स्वतत्रता की महत्ता को पहचान कर मनोवाछित दिशा मे अग्रसर हो रही है। पर नारी जीवन की यह विडंबना है कि पुरुष सत्तात्मक समाज में पारिवारिक जीवन मे ही नहीं वैयक्तिक जीवन मे भी शोषण का शिकार हुए बिना, अतर्बाह्य यातनाओं से ग्रस्त हुए बिना अपनी कोई विशेष छवि इतिहास के पन्नों पर अंकित करने मे सफल नहीं है, चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित, उच्च वर्ग की हो या निम्न वर्ग की। निरतर मानसिक तनावो व उद्विग्नताओ को झेलना नारी जीवन की नियति बन गयी है। इसी नारी जीवन की सामाजिक-मनोवैज्ञानिक समस्याओ का हृदयस्पर्शी चित्रण श्री शिवप्रसाद सिह की कहानियो मे मिलता है।

यह सर्वविदित सत्य है कि वैज्ञानिक आविष्कारों और यात्रिक प्रगति के कारण मध्यकालीन सभी धार्मिक नैतिक मान्यताएं विघटित हो गयीं। साथ ही मनोविज्ञान की सहायता से भी पुराने विचार-विश्वासों मे आमूलचूल परिवर्तन हुए। मूल्य सक्रमण की इस स्थिति में शहरीय तथा ग्रामीण संस्कृति में भी बदलाव आने लगा और परपरागत मूल्यों पर टिकी हुई समाज व्यवस्था ध्वस्त हो गयी। नव-विकसित स्थितियो के अनुरूप ही नये सामाजिक नैतिक मूल्यों की व्याख्या कलात्मक रचना-प्रक्रिया के स्तर पर भी होने लगी। धर्म, समाज, परिवार, दांपत्य तथा वैयक्तिक यौन आसक्तियों की पुरातन मान्यताओं के प्रति घृणा प्रकट करते हुए

आधुनिक जीवन की असंगति-विसंगतियों में व्यक्ति के द्वारा भोगे हुए आंतर-यथार्थ को चित्रित करने का सफल प्रयास शिवप्रसाद सिंह की कहानियों में भी परिलक्षित है। जैनेंद्र तथा मोहन राकेश जैसे कहानीकारों की तरह शिवप्रसाद सिंह भी यह मानते हैं कि सामान्य व्यक्ति के रूप में जीवन को झेलने का मतलब है, जीवन की हर विभीषिका, अन्याय, अत्याचार को भोगना। आधुनिकता बोध से शहरी जीवन में तो थोडी बहुत सक्रियता पायी जाती है, लेकिन ग्रामीण जीवन में अब भी उन्हीं सड़ी-गली परंपराओं व कूटस्थ रूढ़ियों का संत्रास ही सर्वत्र व्याप्त पाया जाता है। लेखक शिवप्रसाद सिह की कहानियों में वर्तमान भारत की इसी ग्रामीण संस्कृति की विविध संदर्भों में अभिव्यक्ति मिली है। दरअसल भारतीय कृषि प्रधान सभ्यता की पृष्ठभूमि सनातन ग्राम जीवन ही है और गांव का गरीबी के साथ अटूट संबंध बना रहता है। विज्ञान की उन्नति से भी ग्राम जीवन की आर्थिक विषमताओं में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, पर मूल्य और परिप्रेक्ष्य बदल गये हैं। यहां ध्यान रखने योग्य बात यह है कि गांवों में नैतिक मूल्यों का पतन अवश्य हुआ है, मगर एक सीमा तक ही। इस बात को यूं भी कह सकते हैं कि लेखक अपने समन्वयवादी चिंतन के कारण ग्रामीण जीवन की यथार्थता को दर्शाते हुए भी कुछ प्राचीन मूल्यों को अपरिहार्य रूप से स्वीकृति दे देते हैं।

वस्तुत नयी कहानी मानवीय सबंधों के विघटन की अथवा मूल्य विघटन की कहानी है। यह विघटन बाप-बेटे, भाई-भाई, अथवा पिता व पुत्री के सबंधो में हुआ है। युग की आवश्यकताओ के अनुरूप ही सम्मिलित परिवार विभक्त परिवारों मे परिवर्तित हो चुके हैं और युगीन विषमता व विसगति के कारण पति-पत्नी के मधुर संबध भी विच्छिन्न होने लगे हैं। यह आत्म-केंद्रित मनोवृत्ति का परिणाम मात्र ही नहीं है, बल्कि आधुनिक जीवन की विवशता भी है कि नारी अपनी सामान्य से सामान्य आवश्यकता की भी पूर्ति न होते हुए देखकर जिन परंपरागत मूल्य-मर्यादाओं को, सामाजिक नियमों को सिर आंखों पर ग्रहण किये हुए थी, उन्हीं को तोडने की मर्मांतक पीडा को झेलने के लिए भी विवश है। लेखक ने सारे सबंधों के विच्छिन्न हो जाने के कारण अलगावग्रस्त नारी की बेबसी की, उसकी मनोव्यथा की यथार्थ अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है, जिसे वे वैयक्तिकता की सहज परिणति मानते हैं पर नारी जीवन की यह विषमता मात्र वैयक्तिकता की मांग की परिणति नहीं है, सत्ताधिकारी पुरुष-वर्ग के शोषण का नतीजा है। नारी का यह शोषण कभी जमींदारों द्वारा होता था तो कभी ठेकेदारों द्वारा। अपने-पराये सब समान रूप से उस पर अत्याचार करते हैं। पूजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण मानवीय संबंधों को सिक्कों से आंकने की प्रक्रिया का शुभारंभ हो गया, जिससे मानवीय संबधों का अवमूल्यन हो गया। परिणामत· संवेदनशील नारी का हृदय टूट कर रह गया। जीवन के कटु-अनुभवों से उसके मन में जीवन के प्रति

आस्था के बदले घृणा अनिश्चय व अविश्वास जागृत हुआ जिससे वह छटपटाने लगी। इस संदर्भ में लेखक स्पष्ट कर देते हैं कि युग बीत गये, जीवन-जगत् में विकास पाने की सही दिशा की खोज कर व्यक्ति नाना प्रकार के सिद्धांतों व जीवन-पद्धतियों को--कभी उदारवाद कभी मानववाद, कहीं व्यक्तिवाद कहीं समाजवाद को अपनाता रहा। अस्तित्ववाद के कारण जीवन-जगत् की असंगति-विसगतियों को जीवन के अकाट्य अग के रूप में स्वीकार करने की क्षमता आयी तो, मनोविश्लेषणवाद के कारण व्यक्ति के अतर्मन के वास्तविक स्वरूप और व्यवहार के प्रति सहानुभूति जगी। इतना सब कुछ होते हुए भी नारी की दुस्थिति में कोई अंत नहीं आया। अशिक्षित निर्धन व ग्रामीण संस्कृति में पली-बढ़ी नारी अपने नारी सुलभ सस्कारों के विपरीत अथवा मन की इच्छाओं के विपरीत कभी पुरुष-समाज के इशारों पर नाचने के लिए विवश है तो कभी परंपराबद्ध रूढ धार्मिक नैतिक मान्यताओं व अधविश्वासों के सामने सिर झुकाने के लिए मजबूर कर दी जाती है। सचाई यह है कि वह सुविधा प्राप्ति के लिए ही प्रयत्नशील नहीं है बल्कि जिदगी को सार्थक बनाने के लिए तड़पती है—मनुष्य मात्र के रूप मे जी सकने के लिए छटपटाती रहती है। इसके अनुरूप ही लेखक ने भी यही दिखाया है कि पुरुष की अहवादी व भोगवादी मनोवृत्ति के कारण ही नारी अधकूप की गदगी में पड़ी रहकर सड़ती रहने के लिए छोड दी गयी है।

भारतीय जन-जीवन का नियंत्रण सामान्यत' धर्म से होता है। आधुनिकीकरण और आधुनिकता बोध के कारण शहरो की स्थिति गांवों से कुछ भिन्न हो गयी है। ग्रामीण लोग अब भी परंपरागत वर्ण-व्यवस्था को मानते हैं और पारिवारिक जीवन से सबद्ध नैतिक धार्मिक मूल्यों को किसी भी हालत मे त्यागने के लिए तैयार नहीं हैं, चाहे वे कितने ही असगत व निरर्थक क्यों न हों। 'अंधकूप' की नारी भी इन्हीं रूढियों व परंपराओं से जकडी हुई है। इसके मूल मे कहीं अशिक्षा है तो कहीं रूढियों से अपने को अलग न कर पाने की असमर्थता है। ग्रामीण जीवन को अंधविश्वासो व पुरातन सस्कारों से अलग करना असंभव-सा प्रतीत होता है। इन लोकाचारो व मूर्खतापूर्ण सस्कारों के कारण नारी जीवन की आहुति होती चली जा रही है। 'कर्मनाशा की हार' मे विधवा मल्लाह की पुत्री फूलवती और पंडित पुत्र कुलदीप के अवैध शिशु जन्म को बाढ का कारण बताकर माता-शिशु दोनो को उसी नदी मे फेंक देने का निर्णय होता है। लोगों का विश्वास है कि नदी मे बाढ मनुष्य की बलि लेकर उतरती है। अतः जिसने पाप किया उसी को दड देने की पद्धति पर विधवा फूलवती और उसके नवजात शिशु का पानी ठहराकर नदी को समर्पित करने के लिए तैयार है, पर इस पाप का भागीदार होकर भी जो कुलदीप गांव से निकल भागा उसकी ओर तर्जनी उठाने का साहस किसी में नहीं।

इसी प्रकार 'रेती' कहानी की गंगा भाभी भी अत्यंत रूपवती और गुणवती होकर भी शादी के सात साल बाद भी पुत्र को न दे सकने के कारण गांव के सब लोगों की उपेक्षा और अनादर का शिकार हो जाती है। गांव में किसी बीमार व्यक्ति की भी मृत्यु होती अथवा बाढ आदि के कारण फसल नष्ट हो जाती तो लोग उसी की निदा करने लगते हैं। घरवाले भी उसके प्रति हमदर्दी नहीं दिखाते। हर वक्त जली-कटी सुनाते हुए उसका जीना हराम कर देते हैं। लेकिन वही स्त्री जब गर्भ-धारण करती है तो पुत्र (पोते) के होने की संभावना मात्र से खुश हो जाते हैं—उसकी सेवा-सुश्रूषा करने लगते हैं। गंगा भाभी जैसी स्त्रियों की दुस्थिति देखकर मन विचलित होता है तो ग्रामीण लोगों की मूर्खता को देखकर खीज व आक्रोश होने लगता है। ग्रामीण जीवन में व्याप्त इन्हीं अंधविश्वासों को, गरीबी व गंदगी को, दीनता व विपन्नता को, भोगे हुए सत्य की व्यथा को अभिव्यक्ति मिलने के कारण ही उनकी कहानियों में नारी अधिकतर रोती-सिसकती ही नजर आती है। कभी-कभी भीतर-बाहर की यातनाओं को सहते हुए भी एक मुस्कुराहट के साथ सारी विषमताओं का सामना करती है अथवा बेफिक्री का मुखौटा ओढ कर निर्लज्जता का व्यवहार करती है। लेकिन मौका मिलने पर न चाहते हुए भी पूरी व्यवस्था के प्रति और लोगों की घृणित मनोवृत्तियो के प्रति व्यग्य किये बिना अपने को रोक नही पाती है।

लेखक का विचार है कि आज ग्रामीण जीवन के पारिवारिक स्नेह संबंधों मे पहले की ऊष्मता व मधुरता प्राप्त नही होती है। 'दादी मा' जैसी सरल स्नेहशील ममतामयी वृद्ध महिलाओ की पीढी का अंत हो गया है। 'नयी पुरनी तस्वीरें' की बुआ की आत्म-निर्भरता व सेवा-परायणता का वह रूप आज कहीं प्राप्त नहीं है, जो अपने वृद्धत्व के कारण अनादर, तिरस्कार व उपेक्षा सहते हुए भी कभी 'शू' तक नहीं करती, कभी किसी स्थिति के प्रति या व्यक्ति के प्रति शिकायत नहीं करती। अपने जमाने मे घर-गृहस्थी मे राज करते हुए, सब पर रौब जमाते हुए भी सबका ख्याल रखनेवाली दर्पपूर्ण जाज्वल्यमान मूर्ति बुढापे में बहू-बेटे की दया पर उनके दिये हुए टुकडों पर जीने के लिए विवश है। उनकी उपेक्षा-तिरस्कार को वह चुपचाप झेलती जाती है, पर उसके चेहरे पर कभी कोई शिकन नहीं, न क्रोध न प्रतिरोध। अपने सहज क्षमाशील शांत गहन व्यक्तित्व के बल पर जीवन के क्षुद्र आघातों से विचलित न हाते हुए अडिग खड़ी रहती है। लेकिन आज के युग में ऐसी स्नेहशील क्षमाशील महिलाएं कम हैं। कहने का आशय यह बिल्कुल नहीं है कि आज की नारी में वह क्षमता व सहनशीलता है ही नहीं। नारी हर प्रकार से विक्षिप्त, प्रताड़ित, उपेक्षित व शोषित होते हुए भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील है। दरअसल लेखक ऐसे ही व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं "जो अपने सामाजिक और मनोवैज्ञानिक हक के लिए लडते हैं,

हंसते हैं, रोते हैं, और बार-बार गिर कर भी अपने लक्ष्य से मुह नहीं मोडते।" 'धरातल' की मैना, 'बेहया' की सुभागी, 'उपहार' की गुलाबी आदि ऐसे ही स्त्री पात्र हैं जो अपने अधिकारों के लिए, अपनी अस्तित्व-रक्षा कि लिए विविध क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की विरोधी शक्तियो से जूझती रहती हैं।

'धरातल' की असहाय विधवा मैना आर्थिक विपन्नता की स्थिति में अपनो को ही परायो का-सा व्यवहार करते देखकर सोचती है कि जीने का मतलब यह नहीं है। तभी वह तिरस्कार व बेइज्जती का विरोध कर कचहरी मे भी जाकर अपने अधिकारों की मांग करती है। सामान्यत कोई भी आबरूदार औरत अपने सहज सस्कारों के कारण घर से बाहर कदम रखना पसंद नही करती है और अगर मजबूरन निकलती भी है तो सदा इस आशंका से भय विह्वल ही रहती है कि पता नही और कितनी बेपरदगी तकदीर मे लिखी है ! ऐसी नारी को जब घरवालों की मौन घृणा और लोगों के व्यंग्य को स्वीकार करना पडता है, साथ ही हरिमंगल जैसे व्यक्ति का सहारा लेना पडता है, जो परिस्थिति का पूरा फायदा उठाकर उसी को निर्लज्ज कहकर चला जाता है, वह अकेले ही अपनी अभिशप्त नियति से जूझती हुई रह जाती है। मैना के व्यक्तित्व की विशिष्टता उसकी अनुभूतियों की सचाई और गहराई में है जहा उसका मन आतरिक विक्षोभजन्य विद्रोह को लेकर समूची स्थिति पर व्यग्य करने को बाध्य करता है। वह कहती है- "क्यों हरी, तुम्हे अनेक बार खाना खिलाया होगा, अनेक बार तुम्हारा दुखता सिर भी दबाया होगा, अनेक बार इन हाथो पानी भी पिलाया होगा, पर कभी शरम नहीं आयी ! फिर एक बार वह भी किया। उससे ही शरम क्यों ?"

केवल मैना ही नही 'अधकूप' की सारी नारी पात्रों की यह विशेषता है कि वह सकल्प-शक्ति और आत्मविश्वास के साथ परिस्थितियो का डटकर सामना करती है—कटुता, स्वार्थपरता, घृणा व मोह को मानव जीवन का ही अपरिहार्य अग मानकर एक मधुर मुस्कुराहट के साथ सब कुछ झेलना सीख लेती है। जीवन की विषमताओ को, अस्तित्व की सकटमय स्थितियो को भली-भाति समझने के कारण ही अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्वयं-इच्छा के बल पर आत्म-रक्षा करने में सफल हुई है। 'बेहया' की सुभागी क्षमता-बोध और सकल्प बल के आधार पर ही आत्मरक्षा के प्रयत्नो में सफल हुई है। अर्थात् अपनी बेटी को एक परिवार की जिंदगी देने के पवित्र आशय से गांव लौटकर यह कहने पर भी कि अब मै औरत नहीं, बस मां रह गयी हू। लोगो के व्यवहार मे कोई परिवर्तन नहीं आया तो वह हताश हो जाती है। ठाकुर ने उसके नम्रतापूर्ण अनुरोध का तिरस्कार कर मां-बेटी दोनो को अपनी हवस की पूर्ति का साधन बना दिया तो प्रतिकार की भावना से सुभागी भी उसको और उसके पुत्र दोनों को अपना गुलाम बनाती है और जब ठाकुर माता की हालत की बात बताकर पुत्र को मुक्त करने के लिए कहता है

तो वह मानवीय संबंधों की निरर्थकता और तज्जन्य तनावपूर्ण स्थितियों और घृणित मनोवृत्तियों पर व्यंग्य कसते हुए कहती है—"आप जैसे लोगों ने हमें मां रहने कब दिया ? मा के दर्द को समझने की ताकत ही कहां बची है हममें ? अपने पर आती है, बाबू साहब तो मा-बाप के रिश्ते याद आते हैं और दूसरो की इज्जत को रौंदते वक्त आप इन रिश्तों को याद करते हैं जो बाप और बेटी में हाते हैं ?" विडंबना की बात है कि लोग उसकी बेहयायी को ही देखते हैं उसके अंतर्मन की पीड़ा को जानने की, उसकी आत्मा की दर्द-भरी पुकार को सुनने की कोशिश कोई नहीं करता है। लेखक उसके आंतरिक सघर्ष को दर्शाते हुए लिखते हैं कि इस अस्वाभाविक मुहब्बत से उसकी आत्मा उसे धिक्कारती रही, शर्म से उसकी गर्दन झुकी ही रही। वैधव्य की वेदना, वेश्या के अभिशप्त जीवन की व्यथा, आर्थिक विषमता और बदनामी के कारण निरतर मानसिक तनावो व उद्विग्नताओं से ग्रस्त रहकर भी वह 'धरातल' की मैना की तरह अलगावग्रस्त होकर न कुंठित होती है और न विक्षिप्तावस्था का शिकार होती है। समय के घात-प्रतिघातों को सहते हुए 'बेहया' कही जाने पर भी अपनी बेटी को एक परिवार की जिदगी देकर ही संतुष्टि की सास लेती है।

आधुनिक युग की शिक्षित नारी अपने अधिकारों के प्रति सतर्क होते हुए भी स्वाभाविक रूप से सरल स्वभाव की होने के कारण प्राप्ति के प्रयत्न में असफल ही रह जाती है, तो अशिक्षित ग्रामीण और अन्य जन-जातियों की गरीब स्त्रियों की कैसी दुर्गति होती होगी, इसकी आसानी से कल्पना कर सकते हैं। 'आर-पार की माला' की नीरू, 'कर्मनाश की हार' की फुलमतिया, 'बेहया' की सुभागी, 'उपहार' की गुलाबी, 'अधकूप' की छबिया आदि अनेक नारियों की गिनती इस सदर्भ में कर सकते है, लेकिन हर एक ही अलग-अलग समस्याएं, हर एक की अलग-अलग मजबूरिया। दरअसल लेखक यात्रिक सभ्यता के विकास के साथ घटित मानवीय सबधो के विघटन और मूल्य सकट के भयावह परिणामो से अत्यधिक व्याकुल होकर रिश्तो की निरर्थकता के कारण उत्पन्न कटु अनुभूतियो के चित्रण के माध्यम से मानवीय स्नेह सबंधो की गरिमा को सिद्ध करते हुए प्रतीत होते है। स्वातंत्र्योत्तर भारत के व्यापक परिप्रेक्ष्य मे लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि आज हम संक्रमणकालीन मूल्य-संकट की असमंजस स्थितियों से उबर चुके हैं। अब हम समाज को अपने अनुरूप बदलने के लिए प्रयत्नशील हैं, अस्तित्व बोध से अस्तित्व की रक्षा के लिए कटिबद्ध हैं। लेकिन ग्रामीण जीवन मे अब भी ज्यादा परिवर्तन नही हुआ है। अतः शिवप्रसाद सिंह की कहानियों के ग्रामीण जीवन का यह घिनौना रूप ही देखने को मिलता है, जहा कुछ जातिया दीन-दुखी गरीब लोगो की मजबूरियो का, उनके भोलेपन का फायदा उठाकर उनका शोषण करती हैं। लेखक व्यक्ति को विषमताओं से मुह मोड़कर पलायन करते हुए नही देखना चाहते है, बल्कि अपनी तमाम

शारीरिक कमजोरियों और मानसिक दुर्बलताओ के बावजूद भी, जीवन के घात-प्रतिघातों से प्रताड़ित होते हुए भी जीवन-शक्ति को संजोकर लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संकल्पबद्ध होते हुए देखना चाहते हैं। और ये यथार्थता के नग्न रूप को दिखाकर चुप रहनेवाले भी नहीं हैं और न नारी-जीवन की दु:स्थिति के प्रति सहानुभूति जताने मात्र से संतुष्ट है। बल्कि नारी में आत्म-विश्वास जगाकर विरोधी-शक्तियो व विषम स्थितियो के साथ जूझना सिखाते हैं। तभी नारी अपनी रूचि इच्छा व सुविधा के अनुरूप ही आवश्यक जीवन-मूल्यों व पद्धतियों के लिए सघर्ष करने को तैयार हो गयी है। वह भली-भाति जानती है जीवन की सत्रासमय् स्थितियो, अवसादमय अकेलेपन के भयावह परिणामो अथवा सामाजिक आर्थिक विषमताओ का झेलना मानव जीवन की अनिवार्य नियति या परिणति है। मजबूरियों की स्वीकृति का मतलब निष्क्रियता नहीं है। सकटबोध से गुजरने का वास्तविक अर्थ है—मृत्यु के सम्मुख खडे होकर जीवन के रहस्यो को जानना, अथवा जीवन को पूर्णत: जीने की आसक्ति को बना लेना। लेकिन जीना उतना आसान नहीं है। अपने अकेलेपन को भुलाने के लिए व्यर्थता के अहसास से मुक्त होने के लिए वह स्नेह सबंधो को स्थापित करने का प्रयत्न करती है। इसी के लिए अपने आप से और बाहरी दुनिया से भी सघर्ष करती है। उसके ये सारे प्रयास सार्थकता के सही अहसास को प्राप्त करने के लिए ही है। यह सार्थकता कोई बाहरी तत्त्व नहीं है। न धार्मिक नैतिक सास्कृतिक परंपराओं के पालन से, न घर-गृहस्थी के आकर्षणो से और न सेक्स की पूर्ति से प्राप्त शारीरिक सुख व संतुष्टि से प्राप्त होनेवाली है। वह एक ऐसी अदरूनी शक्ति व ताकत है जो उसे जिंदगी की शाश्वत भूमि पर कदम गडाकर जीने की प्रबल इच्छा से युक्त होकर सघर्षशील रहने के लिए प्रेरित करती है। 'उपहार' की बाल-विधवा गुलाबी बिना किसी महान् सकल्प व तमन्ना के ठाकुर के यहां रहती है पर बच्चन के प्रति आकृष्ट होने के बाद उसके साथ घर बसाने का संकल्प करती है और टोकनेवाले ठाकुर को मुहतोड़ जवाब भी देती है। ठाकुर की स्वार्थपरता के कारण वह अपनी खुशियो को न्यौछावर करने के लिए तैयार नहीं है, उसके जुलुम सहने के लिए तो बिल्कुल नहीं। तभी वह कहती है—'जाके अपने घरवाली की खाल खींचो तुम ठाकुर, वही दरबे मे बद मुर्गी की तरह ओठ सिये तुम्हारा जुलुम सहेगी, काहे से कि तुम उसे चारा देते हो। अपना क्या, हाथ-पाव चलाके दो रोटी कहीं से भी कमा लेंगे। तुम्हारी धौंस सहनेवाली कोई और होगी।' लेकिन भारतीय समाज में ऐसी कितनी महिलाएं है जो सुभागी व गुलाबी की तरह डटकर विषमताओं अथवा अन्यायों का विरोध करती हैं और न्याय की माग करती हैं ! अधिकतर तो मक्कारों और व्यभिचारों से भरी इस दुनिया में व्यर्थ ही संतुष्ट जीवन के लिए अथवा कम-से-कम जीवन को जी सकने की सामान्य स्थितियो के लिए चीखती-चिल्लाती व खीजती रहती

हैं। अतः लगता है कि नारी-जीवन में दिव्य व सुदर कहने लायक घडियां बहुत कम हैं।

कभी-कभी ऐसा होता है कि अपनी आवश्यकताओं के प्रति सतर्क रहते हुए भी कुछ भी करते हुए नहीं बनता है अत मानना ही पडेगा कि व्यक्ति परिस्थितियों का गुलाम है। समय की धारा में बहनेवाले तिनके के समान बहते ही जाना उसकी नियति है। इस तथ्य के अनुरूप ही लेखक ने आर्थिक विषमताओ से सत्रस्त नारी को अपनी इच्छाओं की बलि देकर दूसरों के कहे अनुरूप चलते हुए दिखाया है। 'बरगद के पेड़' की शीला शीरी से नफरत करते हुए भी शादी करने के लिए मजबूर है पर उसके व्यक्तित्व की यही विशेषता है कि वह परिस्थितियों के साथ समझौता करने के लिए ही तैयार रहती है, जीवन से पलायन नहीं करती। 'धरातल' की मैना की भी यही विशेषता है कि निर्लज्ज कही जाने पर भी वह अपने दृढ व्यक्तित्व के बल पर आत्मरक्षा करने में सफल होती है। लोगों का कटु व्यवहार सहते हुए परिस्थितियो के प्रति सहनशील बनकर अंतर्मन की दार्शनिक अनुभूतियो की सचाई के साथ जीवन का भार ढोती जाती है।

कथाकार शिवप्रसाद सिंह मानवीय संबंधो के विघटन से अनुभूत होनेवाले विक्षोभ के तीखेपन व कड़वाहट का मर्मस्पर्शी चित्रण अपनी कहानियों में करते हैं। आज मानव-मूल्यों का कोई महत्त्व नहीं रह गया है और संवेदनशीलता के अभाव मे स्नेह सबधो के स्थान पर सौदेबाजी होने लगी है। अब व्यक्तिगत मूल्य-धारणा समष्टिगत मूल्य-धारणा के विपरीत जान पडती है। परिणामस्वरूप परिवार के सदस्यों के बीच ही अनबन होने लगी है। लेकिन लेखक सयुक्त परिवारों में प्राप्त सहज स्नेह व वात्सल्य की महत्ता को स्पष्ट करते हुए बीच की दीवार को तोडने के लिए आतुर हो जाते हैं और पूरी सतर्कता बरतते हुए स्पष्ट करते है कि अतिशय वैयक्तिकता के कारण ही यह दीवार बनती है पर प्राचीन मर्यादा और आपसी स्नेह सबधो की सहज सौम्यता व मधुरता के कारण संबंधों की वह जटिलता प्रभाहीन सिद्ध हो जाती है। विशेषकर ग्रामीण लोग परपरागत संस्कारों को अधिक महत्त्व देने के कारण वैयक्तिक स्वतंत्रता की महत्ता को पहचानते हुए भी पारिवारिक जीवन के सुखमय वातावरण के आगे उसे तुच्छ मानते हैं। 'वशीकरण' मे पति-पत्नी तथा सास-बहू के बीच की अनबन को दिखाते हुए भातृ-प्रेम अथवा देवर-भाभी के स्नेहपूर्ण व्यवहार के माध्यम से परिवार को सारे तनावों से मुक्त कर दिखाया है। 'केवडे के फूल' की अनिता, 'अधकूप' की सोना मनवीय संबंधों की निरर्थकताजन्य वितृष्णा के कारण ही अलगावग्रस्त होकर अंतर्मन पीड़ा को लेकर छटपटाती है। दरअसल सामाजिक-पारिवारिक मूल्यो में परिवर्तन के साथ ही यौन संबधो की नयी व्याख्या होने लगी है। फ्रायड और मार्क्स की विचारधारा के प्रभाव से अब शारीरिक पवित्रता की बाते भी निरर्थक सिद्ध हो गयी हैं। स्थापित

नैतिकता का अनेक स्तरीय विरोध और विघटन भी होने लगा और इसका विशेष प्रभाव नारी-जीवन पर परिलक्षित होता है। अर्थात् पहले नारी जिस किसी की भी पत्नी बनती, उसके साथ जन्म-जन्मांतरो के लिए जुड जाती, दुर्भाग्य से जुल्मी व अत्याचारी पति भी मिले तो उसे अपना भाग्य मानकर चुप रह जाती थी। आधुनिक युग मे नारी को कानूनन कई अधिकार प्राप्त हैं पर अपने संस्कारों से मुक्त न हो सकने के कारण उसकी स्थिति मे कोई परिवर्तन नहीं आया है। साथ ही वह पुरुष-सस्कारो से भी आक्रात है। अत अब जो स्वतंत्रता उसे प्राप्त है, व्यावहारिक रूप से वह कई सामाजिक मनोवैज्ञानिक समस्याओं का कारण बन रही है, क्योंकि भारतीय संस्कृति में पली-बढी नारी यौन मुक्ति नहीं चाहती है, एक सार्थक अनुभूति प्राप्त करना चाहती है अथवा सतुष्ट जीवन बिताना चाहती है, चाहे उसके लिए लाखो अभावो व दुख-दर्दो को ही क्यो न सहना पडे। जब उसकी यह तमन्ना जो असामान्य न होते हुए भी असाधारण अवश्य है, असभव सिद्ध हो जाती तो वह टूटकर रह जाती है और परिस्थितियों के सामने हार मानने के लिए विवश हो जाती है। प्राय विचारो की भिन्नता अथवा आर्थिक विषमताओ के कारण मानवीय संबधो को निरर्थक सिद्ध होते देखते हैं। 'अधकूप' की सोना को ससुराल मे किसी भी व्यक्ति से स्नेह व हमदर्दी प्राप्त नहीं है। इस स्थिति मे किसी अपरिचित व्यक्ति से एक सहानुभूतिपूर्ण शब्द पाकर विचलित होती है और कृतज्ञता ज्ञापित किये बिना नही रह पाती है। लेकिन उसका अकेले मे किसी पराये पुरुष से यूं मिलकर तहेदिल से धन्यवाद देने का गलत अर्थ निकाला जाता है साथ ही वह व्यक्ति भी उसकी विवशता का फायदा उठाकर अपने साथ अन्यत्र कहीं चलने का प्रस्ताव रखता है तो वह अभिमानिनी जीवन की तमाम अडचनों से मुक्त होने के लिए अधकूप मे कूद कर जान दे देती है। इस देश मे ब्याहता सोनी को ही नहीं बिनब्याही छबिया को भी मानवीय सबधो की व्यर्थता से प्राप्त असहनीय व्यथा से मुक्त होने के लिए इन्ही अधकूपो की शरण मे जाना पडता है। इस सदर्भ में समूची स्थिति के प्रति, व्यवस्था की निर्ममता के प्रति व्यग्य करते हुए लेखक प्रश्न करते हैं कि हमारे यहा हर गाव मे एक कुआ क्यो रहता है ? और ये कुए पानी की मिठास या शीतलता के लिए प्रसिद्ध न होकर प्रेतात्माओ के लिए मशहूर क्यों हैं ? पुरुष दिन की रोशनी मे भला आदमी जो करने में संकोच करता है, वह सब करने पर भी उन्मुक्त जीवन बिता सकता है। लेकिन उसके असर में आनेवाली एक-एक नारी दवादारू पीकर मरने के लिए मजबूर कर दी जाती है। छबिया जैसी कोई नारी असहनीय दुख के कारण निर्लज्जता का व्यवहार करती है, ग्लानि-अपमान-बेइज्जती के दुख से लडने के लिए बेफिक्री का मुखौटा डाल लेती है। पर पर्दा उघड जाने के बाद भीतर की घिघियाहट ऊपर आ जाती है और ऐसी नारी अंतत किसी कुए की ही तलाश कर लेती है—यह नारी जीवन की नियति है।

आधुनिक युग के शिक्षित और स्वावलबी स्त्री-पुरुष पाश्चात्यों की तरह उन्मुक्त प्रेम आकांक्षी नहीं हैं। फिर भी परिस्थितिवश अगर कभी कुछ अवांछित अथवा अनचाहा हो जाता तो उस घटना को अनावश्यक महत्त्व देकर अपनी जिंदगी को बरबाद होने से बचाना चाहते हैं। पर विडंबना की बात है कि वैयक्तिक स्वतंत्रता की अभिलाषिणी नारी अब भी पुरुष संस्कारों से आक्रांत है। तभी परंपरागत वर्जनाओं से मुक्त होने की प्रक्रिया में वह कई प्रकार के मानसिक द्वद्वों व तनावों से ग्रस्त हो रही है। तथाकथित आधुनिक विचारोंवाला पुरुष भी स्त्री के स्वतत्र व्यक्तित्व का हिमायती होते हुए भी उसे पूर्णत. मुक्त करने कि लिए तैयार नहीं है। कहने मात्र के लिए स्त्री की आजादी की घोषणा करता है, पवित्रता अपवित्रता संबंधी पुरानी धारणाओं का विरोध करता है। लेकिन अपनी पत्नी का पराये पुरुषो के साथ मिलना-जुलना पसद नहीं करता है और अगर उसे किसी और की बांहो में देखेगा, तो कयामत ही आ जाती है। वस्तुतः सक्रमण की स्थितियो मे उलझा हुआ व्यक्ति पुराने मूल्यों से चिपके रहना नहीं चाहता है पर नवीन मूल्यो को न अपना सकने के कारण द्विधाग्रस्त भी है। इस प्रकार की मूल्य संक्रमण की स्थितियों से उद्भूत नाना प्रकार की विकृतियो से उलझे हुए लोगों की तनावपूर्ण मानसिकता का हृदयस्पर्शी चित्रण 'प्रायश्चित' में मिलता है। अपने पति और पुत्र के प्रेम की अधिष्ठात्री प्रेमगर्विता नारी रचना एक पल की मानसिक दुर्बलता के कारण अपने पति से ही नही पुत्र से भी सदा के लिए अलग होकर रोती रहने के लिए बाध्य हो जाती है। अपराधमार्जन के लिए घोर पश्चाताप करने पर भी उसे पति के तिरस्कार और मूक प्रतिशोधहीन अपमान से विजडित होना पड़ता है। ऐसी नारियों की पीडा को स्पष्ट करते हुए लेखक व्यग्य करते हैं कि कहने और करने की एकता को देखने के लिए आख भी तो चाहिए ! (पोशाक की आत्मा)। पर इस समाज मे कितनो के पास ऐसी दृष्टि है ? दूसरों की मजबूरियों की चीरफाड कर उन पर कीचड उछालने के लिए तो हर कोई तैयार है, मगर किसी की ईमानदारी का—सचाई का बयान देने के लिए नहीं। सबने जो देखा-सुना उसी पर विश्वास कर लिया लेकिन उस स्त्री के मन मे अपने पति के प्रति जो प्रेम है, उसे जानने की किसी ने कोशिश नहीं की। 'अंधकूप' मे तो लोग एक कदम आगे बढ़कर सोना की आत्महत्या के बारे मे पूछताछ के लिए थाने से सिपाहियों के आने पर कसमें ले लेकर कहने के लिए तैयार हैं कि सोना भाभी को दिमाग की बीमारी थी, उन्हें हिस्टीरिया होता था, मिर्गी आती थी ! मगर किसी में उसकी सास की निर्ममता के बारे में बताने की हिम्मत नहीं है। लोगों के इस अमानवीय व्यवहार से हैरान होकर ही लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शायद हमारे गावो में कुए इसीलिए होते हैं।

कानूनन कई अधिकार प्राप्त होने पर भी नारी घर-बाहर कहीं भी सुरक्षित

नहीं है। अस्तित्व संकट की स्थितियों से गुजरते हुए कई दबावों को झेलना पड़ता है और अंततोगत्वा विरोधी शक्तियों के आगे सिर झुकाकर समझौता कर ही लेना पड़ता है। साथ ही पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण मानवीय संबंधों का मूल्यांकन अर्थतत्त्व के आधार पर होने लगा है। संवेदनशीलता के अभाव में नारी अब रिश्तों की निरर्थकता के अहसास के बोझ से दबकर आंतरिक क्षोभ व अकुलाहट को लिये हुए तडपते रहने के लिए छोड दी गयी है। पति के आदेश को शिरोधार्य मानकर वह सब करने को तैयार होती है, जो सामान्यत: एक 'वेश्या' करती है। 'केवडे के फूल' में लेखक ने यही दिखाया है कि परंपरागत मूल्यों के प्रति श्रद्धा भाव के कारण अनिता पति के हुक्म को मानने के लिए तैयार नहीं होती, बल्कि पिता और पति दोनों की ओर से तिरस्कृत होकर जीने का और कोई मार्ग न पाकर उसी असह्य अग्नि में, उसी बदबूदार नरक कुंड में जीवन बिताने के लिए तैयार हो जाती है। अपने पति के अत्याचारों को मूक रूप से सहती जाती है यह सुनने पर भी कि तुम्हारा बाप मेरे पैरों पर नाक रगड रहा है कि मैं तुम्हें बुला लूं क्योंकि उसकी बेइज्जती हो रही है। तुम्हें आना हो, तो आओ, लेकिन याद रखना, तुम्हे मैं पैरों की जूती से अधिक कुछ नहीं समझता। तुम्हें वह सब करना पडेगा, जो मैं कहूगा। तुम्हें अपने को मेरे समाज के लिए बदलना होगा...तुम मेरी ही नहीं, मेरे मित्रों तक के लिए मनोरंजन का साधन हो...सती धर्म की दुहाई देकर तुम मेरी इच्छाओं को रोक नहीं सकतीं।" वैचारिक स्तर पर परंपरागत मूल्य-मान्यताओं के प्रति, सती धर्म के प्रति अपार श्रद्धा के बावजूद भी व्यावहारिक स्तर पर पति की हुकूमत को मानने के लिए अपने आपको बदल लेती है। इससे तथाकथित सभी सामाजिक नैतिक मूल्य ढकोसला सिद्ध हो जाते हैं। पुरुष स्त्री की रक्षा का भार अपने ऊपर लेकर भी उस पर खुद ही अत्याचार करता है तो उसे कोई दंड नहीं दिया जाता है, लेकिन अत्याचारी पति का विरोध करनेवाली नारी के चरित्र को कलंकित करने में किसी को सकोच नहीं होता है। इस स्थिति पर लेखक व्यंग्य करते हैं कि 'अनिता उस केवडे के फूल की तरह है, जिन्हें स्वतत्र खिले रहने दें तो जहरीले सांप इन्हें अपनी गुजलक में लपेट लेते हैं, क्योंकि इनकी मादक गध सही नहीं जाती है, और यदि किसी को निवेदित किये जायें तो भद्र लोग उन्हें तोड़-मोडकर कुएं मे डाल देते हैं क्योंकि इससे पानी खुशबूदार होता है।' वस्तुत: लेखक यहा अंधकूपस्थ नारी-समाज की तमाम समस्याओं की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट करते हैं जहां एक-एक नारी अपनी इच्छा और प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच घटित होनेवाले व्यापक मोहभंग की विडंबनाओं को झेलने के लिए छोड दी गयी है। परपरा और आधुनिकता की विकृतियों से समान रूप से त्रस्त नारी विषम परिस्थिति रूपी अंधकूप में पडकर बाहर निकलने का कोई भी मार्ग न पाकर चीखती-बिलखती रहती है। पर उसकी दर्द-भरी पुकार को सुनने

की फुरसत किसी के पास नहीं है।

आश्चर्य की बात है कि जीवन-जगत् की विद्रूपताओं, ध्वस्त मानव-मूल्यों को दृष्टि में रखकर यथार्थवादी दृष्टिकोण से लेखक ने अपनी कहानियों में नारी के जो चित्र अंकित किये उन पर रोमांटिकता का आरोप लगाया गया है। लेकिन दैनिक समाचार पत्रों से निरंतर संबध रखनेवाला सामान्य बौद्धिक स्तर का पाठक भी यह कह सकता है कि आज घर-बाहर नारी के साथ क्या-क्या हो रहा है। कभी दहेज के कारण, कभी बांझ होने के अथवा अन्य मूर्खतापूर्ण विचारों के कारण नारी सतायी जाती है। कभी शराब के नशे में चूर होकर अथवा अपने पुरुष होने के कारण उस पर अत्याचार करता है। कभी गैर-कानूनी यौन संबंधों के कारण अनैतिक व अमर्यादित आचरण करने का इल्जाम लगाकर उसे बदनाम करता है, साथ ही नारी के इस व्यवहार में निहित कटु सत्य को स्वीकृति न दे सकने की अपनी असमर्थता को दबाकर नारी का शोषण करने लगता है। अपवादस्वरूप एकाध स्त्रियो की स्थिति अच्छी हो सकती है, जिन्हें सहज स्वाभाविक रूप से जिंदगी में हर प्रकार की सुविधा व अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। लेकिन अधिकतर नारियों की जीवन-कथा मे कोई-न-कोई ट्रेजेडी अवश्य घटित होती है, जिसके दुखद परिणामों को मन मे छिपाकर वह कुढती रहती है, समय और स्थिति के प्रहारों को झेलते हुए भी जडवत जीवन बिताने के लिए बाध्य हो जाती है। अतः 'अंधकूप' से सुनायी देनेवाली दर्द-भरी चीखों मे जीवन के सभी क्षेत्रों व आयामों के कटु अनुभवों से प्राप्त असतोष व आक्रोश को, जुगुप्सित परिस्थितियों में बदलाव लाने की प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में जीवन के जटिल संघर्षों को, टूटते-बनते रिश्तों को लेकर कशमकश में पडे हुए मन की स्थिति को, और अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए आवश्यक स्वतंत्रता के अभाव मे अलगावग्रस्त व्यक्तियो की व्याकुल-कुंठित मानसिकता के तीखे स्वर को ही सुन सकते हैं। निष्कर्षत: कह सकते हैं कि 'अधकूप' की लगभग सभी कहानियों में नारी जीवन की विषमताओं का मार्मिक चित्रण हुआ है साथ ही तथाकथित आधुनिकता और कहीं-कहीं तथाकथित आधुनिक व्यक्ति पर भी करारा व्यंग्य किया गया है। पुरुष की पैशाचिक प्रवृत्तियों, पंकिल मनोवृत्तियों का पर्दाफाश करते हुए नारी मात्र के प्रति सहानुभूति दिखाने के लिए कहानीकार विवश कर देते हैं। लेखक की इस विश्लेषण क्षमता के कारण ही नारी के मन को—कथनी और करनी के बीच की एकता के जानने मे, उसके होंठों पर खिली हुई उदास मुस्कुराहट के मर्म को, आंखों की नमी में निहित पवित्रता को पहचानने के लिए आवश्यक अतर्दृष्टि को स्वीकार करने में पाठक को सहायता मिली है।

कहानीकार शिवप्रसाद सिंह : पक्षधरता का सवाल

• *रवि रंजन*

सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी साहित्य चिंतक जार्ज लुकाच ने कहानी को एक 'शुद्ध कलात्मक रूप' बताते हुए लिखा है कि "यह सपूर्ण कलात्मक सृजन के अंतिम अर्थ को मनोवस्था के रूप में सृजन-प्रक्रिया के कथ्य एवं वास्तविक भाव के रूप में व्यक्त करती है।... यह विसंगति को उसकी पूरी आवरणहीन और अनलंकृत नग्नता में देखती है, और इस दृष्टिकोण की भयमुक्त करने की शक्ति, बिना भय या आशा के, उसे रूप की प्रतिष्ठा प्रदान करती है, अर्थहीनता के रूप मे रूप बन जाती है, चूकि यह रूप द्वारा समर्थित होती है, ऊपर उठाई जाती है और विमुक्त की जाती है इसलिए यह शाश्वता प्राप्त कर लेती है।" (उपन्यास के सिद्धात, पृ 67)

हिंदी के बहुचर्चित कहानीकार डॉ शिवप्रसाद सिंह के रचना-संसार से गुजरते हुए उनकी अनेक कहानियो में हम लुकाच द्वारा उपरिकथित विसंगति को उसकी पूरी आवरणहीन और अलकृत नग्नता में देख सकते हैं शिवप्रसाद सिह हिदी के उन गिने-चुने ठेठ कथाकारों में से एक हैं जिनकी बहुसख्यक कहानियो की विषयवस्तु सदियो की सडी-गली और चरमराती सामाजिक व्यवस्था है। हालाकि उनकी अनेक रचनाए 'मै' शैली मे लिखित हैं पर रचनाकार वर्णन-विवरण के क्रम मे खुद को लाये बिना पाठकों को कथा में ही दत्तचित रचने में सिद्धहस्त है। दूसरे शब्दो मे यदि कहें तो उनकी कहानियों में विभिन्न पात्रों और उन पात्रो की जीवन-स्थितियों के सामने रचनाकार नितात महत्त्वहीन प्रतीत होता है और यही किसी रचनाकार के महत्त्वपूर्ण होने की शर्त भी है। कहना न होगा कि आज हिंदी की अनेक कहानियों से गुजरते हुए हमे उनके रचनाकार कहानियों में चित्रित जीवन से बडे दिखते है और हमें बार-बार यह तीक्ष्ण एहसास होता रहता है कि कही कहानी की जगह हम कहानीकार को तो नहीं पढ रहे हैं।"

समकालीन हिंदी कहानी के व्यापक परिदृश्य का एक पहलू यदि अपने समय के तेजाबी यथार्थ को झुठलाती 'पूर्वग्रह' 'मार्का' कहानियों के अतिरिक्त अज्ञेय

के दुखवाद का नया व्यावसायिक रूप 'बोसीदनी' या 'होंठों के नील फूल' (प्रियंवद) जैसी कहानियों के द्वारा उजागर हो रहा है तो दूसरा पहलू उन तथाकथित प्रतिबद्ध रचनाकारों की अनेकानेक कहानियों में देखा जा सकता है जो प्रगतिवाद, जनवाद एवं नव्य जनवाद की पूंछ पकड़ कर लाभ लोभ के व्याकरण के अनुसार जीवनयापन करते हुए किसी भी तरह से रचनाधर्मिता की वैतरणी पार कर जाने को व्याकुल है। वस्तुत: इन कहानीकारों के पास साहित्य एवं सामाजिक जीवन दोनों के अनुभवों की भयकर बौद्धिक दरिद्रता है और अपनी इसी पूंजी से वे शोषक बनाम शोषित, ठाकुर बनाम हरिजन तथा अगडा बनाम पिछडा आदि की एक श्वास अंतवाली कहानियां लिख रहे हैं । इन दोनों ही प्रकार की अतिवादिता से परहेज करते हुए जिन चंद रचनाकारों ने अपनी जनसांस्कृतिक परिबोधक से लैस कहानियों के द्वारा हिंदी की जातीय कथा-यात्रा को वास्तविक प्रगतिशील दृष्टि से पुष्पित-पल्लवित करने का महत् प्रयास किया है, उनमें शिवप्रसाद सिंह भी एक हैं ।

शिवप्रसाद सिंह की कहानियों की विषय-भूमि अत्यंत व्यापक है तथा उनमें जीवन के विविध शेड्स संपूर्णता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं । उनकी अनेकानेक कहानिया चरित्र प्रधान हैं और जाहिर है कि रचनाकार ने अपने अधिकांश चरित्रों का चयन ग्रामीण परिवेश से ही किया है । ये चरित्र कहीं तो सामंती शोषण के शिकार ग्रामीण हैं तो कहीं एक लंबे अर्से से दमन चक्र में पिसने के आदी वे निम्नवर्गीय पात्र (कजर, नट, मुसहर आदि) हैं जो व्यवस्था का नरक भोगते-भोगते उससे ऊब गये से प्रतीत होते हैं । दलितों के भीतर की यही 'ऊब' वस्तुतः किसी शोषणमूलक सामाजिक व्यवस्था का वह प्रस्थान बिंदु होता है जिससे दमन, उत्पीडन एवं इसके लिए जिम्मेदार लोगों के खिलाफ शोषितों के भीतर प्रतिकार की भावना जन्म लेती है और एक हद तक इसकी अभिव्यक्ति को शिवप्रसाद सिंह की बाद की रचनाओं विशेषत' 'शैलूष' जैसे उपन्यास में संपूर्णता के साथ लक्षित भी किया जा सकता है ।

मधुरेश ने 'समीक्षा' (जनवरी–मार्च, 1990) मे प्रकाशित अपने एक निबंध मे शिवप्रसाद सिंह के 'शैलूष' को अप्रामाणिक एवं प्रायोजित रचना का उदाहरण बताते हुए आक्षेप किया है कि उपन्यासकार की नटों के प्रति भावनात्मक सहानुभूति अपनी प्रकृति में ऊपरी और बाह्य है और इसी कारण यह उसके समग्र प्रभाव को परिसीमित करती है। उनका कहना है कि "निम्न और शोषित वर्ग के संघर्ष को लेकर यह लेखकीय सहानुभूति बहुत महत्त्वपूर्ण है लेकिन सिर्फ उसी में निम्न उपेक्षित और शोषित वर्गों पर लिखने की पात्रता नहीं आ जाती। उपेक्षित वर्गों और जातियों के संघर्षपूर्ण जीवन का यथार्थ अंकन, उसकी सारी थरथराहट और आतरिक लय के साथ, या तो उसी वर्ग का कोई लेखक कर सकता है या फिर

कोई ऐसा लेखक जो अपने को वर्ग विमुक्त डि-क्लास करके उस जीवन का ही हिस्सा बन चुका हो ।" (पृ 27) कुल मिलाकर उनके कथन की ध्वनि यह है कि शिवप्रसाद सिंह न तो उपेक्षित वर्ग एवं जाति के है और न ही उन्होंने अपने को डि-क्लास ही किया है और इस प्रकार उनकी कलम से 'शैलूष' की रचनावस्तु पर उपन्यास लेखन का कोई अर्थ नहीं है। मधुरेश के कथन में जो ध्वनि छिपी है, उससे उनकी उस प्रवृत्ति का साफ पता चलता है जिसे डॉ नामवर सिंह ने 'टुटपुंजिया मध्यवर्गीय जलन' कहा है। फिर भी विद्वान् आलोचक ने इस संदर्भ में जो तर्क दिया है, उसे एक हद तक स्वीकार किया जा सकता है। पर इसे सपूर्णता मे स्वीकारना न केवल वास्तविकता से मुंह मोड़ना होगा अपितु शोषितों के प्रति उपन्यासकार की उस ईमानदार लेखकीय सहानुभूति का मजाक भी उडाना होगा जिसे खुद मधुरेश भी बहुत महत्त्वपूर्ण मानते है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिंदी में शोषित-पीडित जनता के दुख-दर्द को लेकर न जाने कितनी कहानियां एव उपन्यास आदि लिखे जा चुके हैं। चिता का विषय यह है कि इनके लेखको मे बड़ी सख्या मे वे यथार्थदर्शी रचनाकार शामिल है जिनमे यथार्थ कीं जगह यथार्थ सबधी स्वप्निल कल्पना का आवेश अत्यत तीव्र है। ऐसे लेखक'प्राय' रचनाक्रम में विभिन्न चरित्रों को हथियारबंद विद्रोही के रूप मे उभार कर अपने कर्तव्य की इति समझ लेते हैं। इनसे विलग शिवप्रसाद सिह का रचनाकार अपने समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने मे विश्वास रखता है। उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि हथियार उठाना ही क्रांति नहीं है और अनेक बार तो यह क्राति नकली एवं आवेशजनित होती है जो रचनाशीलता के क्षेत्र मे यात्रिकता को हवा देती है। इसके साथ ही वे इस बात से भी पूरी तरह वाकिफ हैं कि जमीन पर बंदूक से लडी जानेवाली लडाई कहानी मे कैसे लडी जानी चाहिए। कहना न होगा कि रचना मे लडाकू चरित्रो का चित्रण उस जटिल प्रक्रिया से गुजरे बिना नहीं होना चाहिए, जिससे मनुष्य अपने सस्कारो, अतर्विरोधों और कई तरह के दबावों से मुक्त होकर हथियार उठाने की मनःस्थिति में आता है। इस प्रकार यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि शिवप्रसाद सिह के कथाकार ने अपने समय के साथ गहरे अर्थों मे जुड़कर केवल राजनीति तक स्वय को सीमित न रखते हुए संपूर्ण जनसास्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया को रचनात्मक ढग से अभिव्यक्त किया है। उन्होने एक स्थान पर लिखा है कि "समय के प्रति लेखक की प्रतिबद्धता, युगबोध के प्रति सचेत अभिज्ञान में निहित है।" उनके इस 'सचेत अभिज्ञान' और दृष्टि की व्यापकता का पता इससे भी चलता है जब वे जीवन को समझने-समझाने के क्रम मे सामाजिक ही नहीं, मनोवैज्ञानिक मूल्यो का भी उपयोग करते हैं और इससे उनकी रचनाओं मे गहराई बढ़ी है। सभवत इन्हीं कारणो से कथा-रचना मे निरतर कथा-रस के अकाल की इस वेला में

शिवप्रसाद सिंह की कहानियां हमें कुछ राहत देती हैं। भले ही वे घोषित रूप में प्रतिबद्ध लेखक न हों पर अपनी रचनाओं में उन्होंने पक्षधरता की शर्त का निर्वाह अवश्य किया है और इसी कारण उनकी रचनाएं विचारधारा की परिधि में तो पूरी तरह उठ नहीं पातीं पर वे सामाजिक मनुष्य के अंत:स्वभाव एवं बाह्य संघर्ष को संपूर्णता के साथ रेखांकित अवश्य करती हैं।

हिंदी के सुप्रसिद्ध रचनाकार एवं आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहानी की रचना-प्रक्रिया पर विचारते हुए लिखा है कि "कथानक का विन्यास बोध के सूत्र से होता है। एक तर्क सारणी होती है जिससे स्थितियां सटाई जाती हैं और कहानी भी अन्ततोगत्वा जानकारी देती है। वह चरित्रों और स्थितियों की गहरी अनदेखी जड़ों और उन जडों की अंतरसंबंधता की खोज करती है। x x x सादृश्यविधान के द्वारा किसी स्थितिविशेष को दृश्य बनाना एक बात है और फैंटेसी प्रतीक के ढाचे में कहानी को कस देना दूसरी बात।" जाहिर है कि डॉ. शिवप्रसाद सिंह अपनी कहानियों में सादृश्यविधान का उपयोग दृश्यता के लिए करते हैं। उनकी कहानियों का अत आकस्मिक झटके से न होकर सहज स्वाभाविक रूप में ही होता है। कितु कहानी का यह सहज-स्वाभाविक अंत पाठक को यातना के बोध एवं संवेदन के उस चरम बिंदु पर लाकर छोडता है, जहां कहानी का पाठक तत्काल उसका पाठक मात्र न रहकर वहां चित्रित विभिन्न घटना स्थितियों का तत्क्षण मनोभागी हो जाता है। उनकी कहानियों के तमाम चरित्र, चाहे वह 'नन्हो' हो या 'तिउरा' (धारा) या विशालाक्षी (काला जादू) अथवा 'कर्मनाशा की हार', 'मुर्दासराय' एव 'आदमखोर पैंथर' जैसी कहानियों में जीवतता के साथ चित्रित विभिन्न घटना-स्थितिया हैं, सब की सब पाठक को एक ऐसी सवेदनात्मक गहराई में उतार ले जाती है, जहा मानवीय करुणा जागृत हुए बिना नहीं रह सकती और यही किसी रचना की सफलता का रहस्य भी है। इब्सन के 'ए डौल्स हाउस' में नायिका 'नोरा हेलमेर' की मार्मिक स्थिति अथवा प्रेमचंद की 'पूस की रात' कहानी के अंत में चित्रित हलखू की मन:स्थिति एव 'गोदान' मे होरी की मृत्यु से संबंधित जिन घटना-स्थितियो आदि का वहा सयोजन हुआ है, वे भी प्रभावान्विति की दृष्टि से इसी कोटि के है। इस सदर्भ में सातवें दशक में प्रकाशित उनके कहानी सकलन 'मुर्दासराय' की 'धारा' शीर्षक कहानी पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

शिवप्रसाद सिंह की अनेकानेक कहानियों की तरह 'धारा' कहानी में भी एक 'मै' है जो कहानीकार के शब्दों में समय के प्रति उसकी निजी प्रतिबद्धता का साक्षी है, जिसके द्वारा वह जीवन के प्रत्येक अक्स को सही ढंग से देखना चाहता है। (भूमिका, पृ. 20) किंतु इस चरित्र प्रधान कहानी में 'तिउरा' का चरित्र ही मुख्य है जिसके 'आइडिया' में बदल जाने की बात रचनाकार ने खुद की है। गभीरता से विचारने पर स्पष्ट होता है कि इस कहानी का एक सिरा यदि

परपरालोचन से जुडा है तो दूसरा सिरा आधुनिकतालोचन से संबद्ध है । हालांकि कहानीकार ने इस संकलन की भूमिका में अपनी रचना-प्रक्रिया पर विचार करने के क्रम मे कदाचित् इस रचना के शीर्षक की सार्थकता का प्रतिपादन करते हुए 'धारा' को आधुनिक सस्कृति की धारा के रूप में व्याख्यायित किया है परंतु मेरी समझ से इस कहानी मे कहानीकार द्वारा उपरिकथित धारा के बजाय भारतीय सामाजिक जीवन मे घटित परपरा एव आधुनिकता के बीच की संक्रमणकालीन स्थितियो के तनाव की त्रासदी का अत्यत महत्त्वपूर्ण एवं यथार्थ चित्रण हुआ है। इसी त्रासदी की शिकार बनती है इस कहानी की मुख्य पात्र 'तिउरा'।

रचना के आरभ में कहानीकार ने पेड का एक रूपक खड़ा कर जिस प्रकार परपरा एवं आधुनिकता को क्रमश उसकी जडो एव शाखाओ के रूप मे चित्रित किया है, वह इसकी सभ्यतालोचन संबंधी वैज्ञानिक दृष्टि एवं गहरी सूझ-बूझ का परिचायक है । किसी पेड की शाखाए तभी तक हरी-भरी एवं पत्र-पुष्पों से लदी रह पाती है, जब तक जड से उनका लगाव-जुडाव बना रहता है । अन्यथा उस पेड के पत्र-पुष्प विहीन ठूंठ मे तब्दील हो जाने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता । कहने की आवश्यकता नही है कि भारत मे अपनी जातीय परपराओं से विच्छिन्न होकर जो विदेशज आधुनिकतावाद एक अरसे तक छाया रहा उसने साहित्यिक सास्कृतिक क्षेत्र मे किन-किन विकृतियो को जन्म दिया । वस्तुत स्वस्थ आधुनिकता किसी देश की अपनी जमीन की उपज होती है जो वहा की जातीय परपराओ की कुक्षि से ही उद्भूत होती है और इसके प्रभावस्वरूप संपूर्ण सामाजिक-सास्कृतिक एव राष्ट्रीय जीवन प्रगतिशीलता के पथ पर दिनानुदिन अग्रसर होता जाता है। जाहिर है कि शिवप्रसाद सिह का कथाकार विदेशज आधुनिकतावाद की जगह अपनी रचनाओं में हमेशा से स्वदेशज आधुनिकता-बोध का हिमायती रहा है ।

अतिम बात यह है कि इस कहानी का 'मैं', 'आबादी' और 'जोत' के बीच जिस परती एव उसके छोर पर स्थित झोपडी को देखता है, वह कहानीकार के शब्दो मे "आधुनिक सस्कृति की धारा के बीच कुछ ऐसे द्वीप है जो उसमें पूरी तरह घुलमिल नहीं सके।" कुल मिलाकर लेखक यह कहना चाहता है कि आधुनिक युग में सामाजार्थिक प्रगति एव मूल्यगत परिवर्तन की प्रक्रिया से हमारे समाज का निम्नवर्ग अछूता ही रह गया है । 'तिउरा' इसी निम्नवर्गीय परिवार मे जन्मी एक निश्छल बालिका है जो पास के कस्बे की एक आढत में काम करती है । अपने इर्द-गिर्द की पारिवेशिक विकृतियो से अनजान यह भोली-भाली ग्रामीण किशोरी जब मुनीम द्वारा फैलाये गये सामान्य प्रलोभनों के जाल में फंसकर यौन शोषण का शिकार बनती है और गर्भवती हो जाती है तो मुनीम उसे छोड देता है । कहानी मे आगे यह वर्णित हुआ है कि एक निम्नवर्गीय अभिभावक ऐसी स्थिति

में किस प्रकार और किस सीमा तक अपनी संतान को शारीरिक यातना आदि देकर मर्यादित करने की कोशिश करता है और अंततः थोथी सामाजिक मर्यादा के आगे बेबस होकर निर्ममतापूर्वक उसे त्याग देने से भी बाज नहीं आता । ऐसी स्थिति में 'तिउरा' जैसी लडकी के सामने भिक्षावृत्ति के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं बचता । यहा 'तिउरा' वस्तुत ऐसी स्थितियों में जीने को अभिशप्त उन तमाम लडकियों की प्रतिनिधि पात्र के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है जो हालात की वजह से भीख मांगकर जीवनयापन करने को बाध्य हैं ।

सवाल यह उठता है कि आधुनिक युग में विशेषतः स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अपने देश मे गठित तथाकथित समाजवादी एवं लोकतांत्रिक सरकार की विभिन्न विकास परियोजनाओ एवं लोककल्याणकारी कार्यक्रमों के बावजूद 'परती' के 'आबादी' और 'जोत' मे शामिल न हो पाने का मूल कारण क्या है ? इस रचना मे शिवप्रसाद सिह की 'तिउरा' द्वारा बिना कुछ बोले-कहे भी कहीं न कहीं प्रच्छन्न रूप से इस प्रश्न को उठाया गया है जो न केवल किसी प्रबुद्ध पाठक के मन-मस्तिष्क को मथ देने के लिए काफी है अपितु यह रचनाकार के सामाजिक सरोकार की भी साफ झलक दे जाता है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचारने पर स्पष्ट है कि सामंती समाज व्यवस्था मे जो वर्ग सर्वाधिक दमन एव उत्पीडन का शिकार रहा वह पूजीवादी आधुनिकीकरण के दौर मे न केवल सामाजिक-आर्थिक विकास की तमाम योजनाओ के लाभ से वंचित रहा है अपितु इसकी विकृतियों से सर्वाधिक ग्रसित होते हुए आज अधोगति को पहुच चुका है । दूसरे शब्दो मे यदि कहें तो सामतो के लात-मुक्के खानेवाले वर्ग मे से जिन लोगो ने नगर, महानगर अथवा उसके आसपास स्थापित कलकारखानो मे मेहनत-मजूरी करना बेहतर समझा वे आज झोपडपट्टियों मे रहते हुए पूजीवादी व्यवस्था का नरक भोगने को अभिशप्त हैं। पूजीवादी आधुनिकीकरण की तमाम विकृतियों (सस्ते मादक द्रव एवं नशीले पदार्थो का सेवन, लाइलाज बीमारिया, जुआ, वेश्यावृत्ति आदि दुर्व्यसन) से ग्रस्त यह वर्ग दिनानुदिन पतन के गर्त मे गिरता चला जा रहा है। इनसे विलग देहाती क्षेत्रों मे रहनेवाले शेष निम्नवर्गीय जन अपने मालिको से नाममात्र का पारिश्रमिक पानेवाले खेत मजूर अथवा अनेकानेक स्थानो पर बधुआ मजूर के रूप मे यातना भोगने पर विवश हैं। इससे बहुत अच्छी स्थिति छोटे कस्बो में मेहनत-मजूरी करनेवाले लोगो की भी नहीं है। सामंती समाज व्यवस्था के पूंजीवादी समाज व्यवस्था मे सक्रमण के दरम्यान जो तीसरा वर्ग बडी तेजी से उभरा वह है मध्यवर्ग। जाहिर है कि यह निम्नवर्ग का निकटतम वर्गीय है पर मौका पाकर उसका खून चूसने से बाज नहीं आता।

विवेच्य कहानी में 'मुनीम' द्वारा 'तिउरा' को छोटे-छोटे प्रलोभन देकर फंसाना, उसका यौन शोषण करना एव अततः गर्भवती हो जाने पर उसे उसकी

नियति पर छोड देना आदि कथा-प्रसंगों के माध्यम से कहानीकार ने यदि एक ओर निम्नवर्ग की विडंबनापूर्ण जीवन स्थिति का चित्रण किया है तो दूसरी ओर मध्यवर्गीय लोगों के कमीनेपन एव उनके चारित्रिक स्खलन को बेनकाब करने की पेशकश की है। यह हमारे समाज का मध्यवर्ग ही है जो निम्नवर्ग को अनेक स्थितियों में न घर का रहने देता है न घाट का और उसकी इन कारगुजारियों का परिणाम है, अंतत अपने माता-पिता तक से परित्यक्त होकर किसी 'तिउरा' का दुधमुंहे बच्चे को गोद मे लिये सार्वजनिक स्थान पर भीख मांगना ।

निष्कर्षत यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि शिवप्रसाद सिंह की यह कहानी अपनी प्रभावान्विति मे अत्यत मार्मिक है । कहना न होगा कि इस मर्म का भेद रचनाकार द्वारा 'तिउरा' को किसी क्रांतिकारिणी अथवा विद्रोही स्त्री के रूप में न दिखाकर विभिन्न परिस्थितियो मे सचाई के साथ उसका चित्रण किये जाने की कला मे निहित है । दूसरे शब्दों मे यदि कहे तो कहानीकार ने यहा सामाजिक सत्य को सीधे-सीधे प्रक्षेपित नहीं किया है जैसा कि आये दिनों चंद तथाकथित महान् आलोचको की बासनुमा कलम से उछाले जा रहे विभिन्न जनवादी कथाकारो की सत्य-कथाओं मे दिखायी देता है। वस्तुत 'धारा' कहानी हिंदी की यथार्थवादी कहानियों की परंपरा की ही एक कडी है जो अपने पाठको को गुदगुदा कर रह जाने के बजाय कुछ सोचने-विचारने को बाध्य करती है । इस रचना के अंत तक पहुचने के क्रम मे कहानीकार जिस मार्मिक सृजनात्मक प्रक्रिया से गुजरा है, इससे यह सिद्ध होता है कि वह पीडितो के साथ विचारधारात्मक उत्साह एव आवेश की जगह सवेदनात्मक गहराई के साथ जुडना कहीं अधिक श्रेयस्कर समझता है।

डॉ शिवप्रसाद सिह के कथाकार से हिंदी पाठको को अभी और उम्मीदे है। यह सुखद है कि उनकी रचनाशीलता मे आज भी नैरतर्य बना हुआ है । उनकी कथा-यात्रा एक लंबे समय का साक्ष्य प्रस्तुत करती है जिसका बिना किसी पूर्वग्रह के सपूर्णता के साथ समुचित मूल्यांकन का कार्य आधुनिक हिंदी साहित्य के हित मे अपेक्षित ही नही अपरिहार्य है ।

सतह के नीचे : विद्रूप का मूल्यवान दस्तावेज

• डॉ. मधु धवन

डॉ शिवप्रसाद सिंह समकालीन कहानी विशेषकर ग्रामीणाचल के कथाकारों में सशक्त हस्ताक्षर है । अपने आपको प्रेमचद परपरा के अंतर्गत माननेवाले शिवप्रसाद सिह की कहानियो में भारतीय ग्रामीण जीवन के वैविध्यपूर्ण आयामो की प्रामाणिकता वैचारिक धरातल पर चित्रित हुई है। शिवप्रसाद सिंह का सिद्धहस्त कलाकार जीवन के कठोर यथार्थ को प्रतिच्छायित करनेवाली सशक्त साहित्यिक विधा कहानी के माध्यम से पाठक को भारतीय ग्रामीण जलवायु के अंतर्गत जीवन की जटिलता-विद्रूपता के सूक्ष्म एवं विशद रूप से भेट करवाने में सक्षम है । वह आदर्शों एव नीति का पाठ पढा एक नये मानव की रचना की परंपरा का उपक्रम न कर जीवन की समस्त विद्रूपताओं एवं भयावह यथार्थ से पूर्ण परिचित करा कर उन परिस्थितियो पर चोट करता है, जो इन विद्रूपताओं और यथार्थ की भयावहता के लिए उत्तरदायी है तथा 21वीं शताब्दी की ओर अग्रसर पाठकीय चेतना पर भी दस्तक करता है ।

प्रस्तुत आलोच्य कहानी संग्रह, एक यात्रा सतह के नीचे सक्रमणकालीन भारतीय समाज का एक मूल्यवान दस्तावेज है । इस सग्रह की प्रथम कहानी 'एक यात्रा सतह के नीचे' को पढने से ऐसा आभास नही मिलता कि कहानी किसी परंपरा विशेष को ओढकर चल रही हो, अपितु निजत्व को दस्तक देती हुई सामाजिक मूल्यो-मान्यताओ-व्यवस्थाओं का पुनर्मूल्यांकन करने की अर्ज करती हुई प्रतिबिंबित होती है । अत' नि'संकोच कहा जा सकता है कि प्रेमचंद परंपरा मे गण्य कथाकारो की अपेक्षा शिवप्रसाद सिंह की प्रस्तुत कहानी में जीवन-यथार्थ, आतरिक ऊर्जा की खटक, आवेग, आक्रोश, मूल्यों से गहरे जुडे मन की गहरी टूटन, भुक्तभोगी विभीषिकाओं की चोट-कचोट ज्यादा मात्रा में परिलक्षित होती है । 'एक यात्रा सतह के नीचे' कहानी परिवेश से जुडे हुए अवधू के वैयक्तिक मन की चेतना का कच्चा चिट्ठा है ।

स्वातंत्र्योत्तर बदलाव के परिप्रेक्ष्य में जिस बेहतर जीवन की आशा थी वह

कालांतर में बेरोजगारी की समस्या का मूर्त रूप ग्रहण कर भारतीय जीवन फलक पर उभरती है । नौकरी के लिए शहर से गांव और गांव से शहर भटकते हु व्यक्ति की टूटन तथा साथ ही गति के विपरीत ठहरे हुए वर्तमान ग्रामीण जीवन-मूल्यो एव व्यवस्था के प्रति आक्रोश है। कथाकार का कलाकार वर्तमा जीवन की विसंगतियो का वर्णन करना आवश्यक समझता है । अवधू जैसे आ आदमी की लाचारी उसका पौरुषविहीन दुविधात्मक ऊर्जाहीन चित्र को अपन तूलिका से अभिव्यक्ति प्रदान करता है जिसमें अवधू के मन के तथ्यों की संपुष्टि हुई है । अवधू मे अभावजन्य कुठा के अतिरेक से अवचेतन की विरोधात्मक प्रक्रिय उत्पन्न होती है, जो गहन वर्तुल उस परिवेशगत चेतना को उभारती है जिस वह अपाहिज-सा पडा निजत्व की बेबसी पर छटपटा रहा है ।

परिवेशगत परिवर्तन के चलते अवधू अपने अस्तित्व का ह्रास होता देखत है । उसे ऐसा लगता है कि शिक्षा-व्यवस्था और सचारादि साधनों के विकास व बावजूद भी नौकरशाही-दफ्तरशाही व्यवस्था की मार से आदमी भीतर ही भीत द्विधाग्रस्त, दुर्बल, खोखला, क्षण-क्षण कटता, छटता, बटता खडित होता जा रह है । ऐसी स्थिति मे शिवप्रसाद सिंह का कलाकार अत्यत कलात्मकता र रामाज-व्यवस्था के भोगे यथार्थ की अभिव्यक्ति, वह जिन जीवन-संघर्षों से गुजर हे उसका कटु-तिक्त अनुभव देता है कि आज बौद्धिक साधन स्रोत कारुणिक ढग से सीमित है, यही कारण है कि अवधू चाह कर भी रसोईघर की ओर मुडक नही देख पाता । कर्तव्यो, आदर्शों और मूल्यो की सतह के नीचे कसमसाता र जाता है उसे एहसास होता है कि बाहरी व्यवस्था यदि कुछ नही देती तो अपन कहे जानेवाले परिवार ने उसे क्या दिया उपेक्षा...झिझक...घुटन ? अवधू क अभावग्रस्त जिदगी आज के व्यक्ति की त्रासदी है । इटरव्यू की क्यू मे खडे-खर ही जीवन घट जाता है किंतु फिर भी वह जीवन की सश्लिष्टता को खट नह पाता । मा के स्नेहसिक्त आचल मे पलनेवाली भोली-भाली जिदगी किस कद एकाएक आख की किरकिरी बन जाती है । व्यक्ति अपने होने का दम भी नह भर सकता ।

इटरव्यू के द्वार की दस्तक के निरर्थक होते ही जब वह ग्राम के स्टेशन पर रीते हाथ उतरता है, तो उसे सब बदला-बदला-सा लगता है। शरीर, मन इद्रिया सभी वही होते हुए भी उसे अपना कहने को कुछ भी नही लगता। इज की मनहूस आवाज सुन उसे लगा कि वक्र गति से मुड़कर गाडी नहीं उसकी जिदग मायावी झुरमुटो मे खोनेवाली है। आर्थिक क्षमता के अभाव मे उपेक्षा की समस्य सभवत सभी युगो सामाजिक-वैयक्तिक धरातल पर भोगी जाती रही है कि वर्तमान स्थितिया एक नयी अर्थवत्ता मागती है।

नौकरी को लेकर अवधू जिस तनाव, पीडा एव एकाकीपन का अनुभव करत वह अत्यत सवेदनशील है। अवधू की कसमसाहट की सतह के नीचे सस्पर्श क

अनिवार्यता, संबंधों को सार्थक करने का आग्रह है—"शोभा होती तो बवंडर दब जाते, ये बगूले शांत हो जाते। शोभा के ठंडे-चिकने बदन में वह ताकत है कि वह उसके शरीर में फैले सारे जहर को सोख सकता है।" शिवप्रसाद सिंह की कहानी का कथानक-गठन में एक वैशिष्ट्य है जो उसमें जीवंतता...एक ऊर्जा भर देता है। कथाकार चित्रात्मक-दृश्यात्मक भाषा का प्रयोग करते हुए मुख्य पात्रों की मानसिकता और उनकी अंतर्व्यथा का उद्घाटन करता है।[1] अवधू के आत्मान्वेषण के माध्यम से वह विगलित जर्जरित परंपरा पर व्यंग्य करता है।[2]

कथ्य की प्रतीकात्मक सक्षम अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति चित्र कहीं-कहीं स्पष्ट रुप से मानसिक उद्वेलन को बडी खूबी से प्रस्तुत करते हैं—"सहसा शाम हो आयी। हवा की थिरकन से पानी की सतह पर वृत्त बनने और मिटने लगे। हलचल तेज होगी तो सतह में छिपे जलकुंभी के फूल फिर अपनी गरदन उठाकर हिलकोरे खाने लगेंगे और तब पूरा तालाब एक अजीब तरह की धुंधवाती आग मे जल उठेगा।"[3]

'एक यात्रा सतह के नीचे' कहानी में कथाकार का कलाकार यह भी दिखाना चाहता है कि सचेतन मन की क्रियाओ का स्वरूप चाहे जो रहे किंतु उसका मूल स्रोत अवचेतन मे छिपी स्थिति होती है। सहनशीलता की मूर्ति बनी शोभा क्रुद्ध हो बिफर पडती है।[4] इसी तरह अवधू के हृदय में भी एक कुढन आ जाती है, जब अजिया पूछती है कि नौकरी लगने पर शहर से मेरे लिए क्या-क्या लायेगा ? "उसके जी मे आया कि वह एक 'लेक्चर' दे डाले वर्तमान युग पर, आधुनिकता पर और उन तमाम पेचीदगियों पर जिनसे होकर हर नौकरी पानेवाले को गुजरना होता है।" आधुनिकता के नाम पर आज व्यक्ति को मिलती है—घुटन, बेबसी, उपेक्षा, कुठा, तनाव, अवसाद। इस कहानी मे इनकी परिणति अवधू की उपेक्षा एवं सहचर्य के अभाव की आत्मपीडा—सतह के नीचे की पीडा मे अत्यत कलात्मकता से दिखलायी गयी है।

कहा जा सकता है कि शिवप्रसाद सिंह का कलाकार अपने क्षेत्र मे अपना कोई सानी नहीं रखता।

संदर्भ

1 एक यात्रा सतह के नीचे, पृ 12.14
2 वही, पृ 16
3. वही, पृ 23
4. "जा तो रही हू , दिन-भर तो चूल्हा-चक्की लगी ही है।"—एक यात्रा सतह के नीचे, पृ. 24

अंधकूप : समाजवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में

• *मोहम्मद दानिश सैफी*

सामाजिक अत क्रियाओ से सपृक्त होकर रचा गया साहित्य दीर्घजीवी होने के अतिरिक्त प्रभावपूर्ण भी होता है, क्योकि साहित्य-सृजन के आरंभिक चरण से लेकर अतिम बिंदु तक पहुचने के लिए समाज को आवश्यकता महसूस करता है। रचना-प्रक्रिया के दौरान अनुभव विषय अथवा कथानक के रूप मे या फिर व्यक्ति की चेतना को जागृत करनेवाले घटक के रूप मे समाज की उपस्थिति बनी रहती है। रचना-प्रक्रिया के उपरात समाज सबोध्य रूप मे उभर कर सामने आता है, क्योंकि रचना समाज के लिए होती है। यह आवश्यक नही है कि समाज मे व्याप्त विभिन्न सामाजिक समस्याओ का विश्लेषण समाज वैज्ञानिक ही करे, लेखक एव साहित्यकार भी अपनी पैनी दृष्टि से इनका विश्लेषण करने का प्रयास करते है। शिवप्रसादजी भी इसी श्रेणी के साहित्यकार है। उनकी कहानियो में अभिव्यक्त जीवन के विविध पक्षो, मानवीय अत क्रियाओ और सामाजिक परिदृश्य को समझने और उनके सामाजिक धरातल की व्याख्या करने हेतु उनकी कहानियो को समाज वैज्ञानिकता के निष्कर्ष पर कसना ही, उसके साथ न्याय होगा, क्योकि बकौल शिवप्रसादजी "मेरी कहानियो पर अब तक बहुत कुछ लिखा गया है, पर प्राय आचलिक कहकर पिड छुडाने की कोशिश की जाती रही है। प्रेमचद के बाद इतने विस्तृत और यथार्थ फलक पर पहली बार ग्राम जीवन को देखने की चुनौती स्वीकार करने के इस प्रयत्न को उसके सही परिप्रेक्ष्य मे वही देख सकता है। जो आज के सामाजिक, राजनैतिक और सास्कृतिक अतर्विरोधो को देखने की सही दृष्टि रखता है" लेखक ने आचलिक कहकर पिड छुडानेवाली बात जो कही है, यह बहस का अलग मुद्दा हो सकता है। क्योकि 'अधकूप' की अधिकाश कहानियां, (कुछ को अपवाद के रूप मे छोडकर) बिहार प्रदेश के सीवान क्षेत्र के ताने-बाने पर केंद्रित है। उनमे आचलिकता का पुट तो निश्चय ही है। साथ ही इससे भी इकार

नहीं किया जा सकता कि अचल विशेष का भी अपना एक समाज होता है। वहां भी पारिवारिक बंधन, रीति-रिवाज, आपसी सौहार्द, वैमनस्य, सामाजिक विसंगतियां, शोषण आदि सब कुछ प्राप्त होता है। (अंधकूप) की कहानियां इसका प्रमाण हैं।

शिवप्रसादजी की कहानियों में सामाजिक रूढियों के प्रति आक्रोश स्पष्ट नजर आता है। भारतीय समाज कम उम्र विधवाओं के प्रति हेय दृष्टिकोण अपनाता है, जिसके कारण उन्हें दयनीय दशा में जीवनयापन करना पडता है। 'धरातल' के ग्रामीण परिवेश में इसी समस्या को उकेरने के साथ-साथ इसका समाधान भी प्रस्तुत किया है–अपने हक के लिए लडना। हक की इसी लड़ाई को समाज वैज्ञानिक, सामाजिक परिवर्तन का रूप मानते हैं। कथा-नायिका नैना के शब्दों में–"कम उम्र विधवा औरत, और हक, यह जैसे बहुत कडवा पेय था, जो लोगो के हलक से उतरता ही ना था। मैंने यदि हमउम्र बहुओं या अनुभवी सासों की राय मान ली होती, तो जाने कब की बिक चुकी होती। मैं अपनी जिद पर कायम थी।" भारतीय समाज महिलाओं को दूसरे दर्जे में रखता है, अर्थात् भारतीय समाज पुरुष प्रधान समाज कहा जाता है। पुरुष नारी पर कितना ही अत्याचार कर ले, पर नारी का धर्म 'पति ही परमेश्वर' है, शिवप्रसादजी की एक और कहानी 'अन्धकूप' की सोनी भाभी अपने पति और सास के अत्याचार झेलती है, पर वह सोमू की ओर आकृष्ट नहीं होती। वह जानती है कि सोमू से अवैध संबंध का अर्थ - एक तरफ कुआं तो दूसरी तरफ खाई है। उसका यह कथन–"मैं दु:खी हूं, बेशर्म नहीं हू"। एक आदर्श भारतीय नारी की छवि प्रस्तुत करता है, तात्पर्य यह कि पर्याप्त सामाजीकरण के फलस्वरूप ही व्यक्ति स्वेच्छा से सामाजिक आदर्शों और परपराओं का पालन करता है, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि सोनी भाभी की तरह इन तथाकथित आदर्शों को ओढकर अंधकूप में समाधि ले ली जाये। समाज के इन खोखले आदर्शों के विरुद्ध आवाज बुलद करना भी साहित्यकार का ही कर्तव्य है। क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होने के साथ-साथ उसका नियामक और निर्माणक भी होता है। शिवप्रसादजी की कहानियों मे भी नारी जागरण का स्वर स्पष्ट दिखायी देता है। भारतीय नारी अब समझ चुकी है कि आदर्शों की दुहाई देकर उस पर प्रहार करने के लिए आज तक उसे ही हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जाता रहा है। शिवप्रसाद सिंह के नारी पात्र, पुरुष सत्तात्मक समाज के विरुद्ध मोर्चा लेकर प्रहार करने की मुद्रा मे खडे दिखायी जान पडते हैं। 'पोशाक की आत्मा' में कुसुम का चरित्र इसी सामाजिक परिवर्तन को दर्शाता है–"डॉक्टर, वही औरतों की सबसे बड़ी कमी है। जिसका फायदा पुरुष उठाते रहे हैं। गोया औरत की इज्जत पुरुष से ज्यादा महत्त्व की है...तुम्हारी मक्कारी का पर्दाफाश करने में मेरी इज्जत गयी तो क्या हुआ ? आज तक तुम औरत को अपनी आत्मा की पोशाक कहते थे ना, आज पोशाक की आत्मा भी देखो।" 'आज

पोशाक की आत्मा भी देखो' संवाद ना सिर्फ कहानी की आत्मा बन गया है, वरन् बरसों से सतायी जानेवाली नारी के जागरण की आत्मा है। नारी जागरण का यही स्वर 'भग्न प्राचीर' की पात्र सुशीला के चरित्र में भी दृष्टिगोचार होता है।

समाज में सतुलन, दृढता और एकरूपता बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि सब कुछ व्यवस्थित ढग से हो। इस व्यवस्था को संचालित करने मे सामाजिक नियंत्रण महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समाज में रहकर व्यक्ति अधिक से अधिक अधिकार एव सुविधाए प्राप्त करना चाहता है, इसके लिए कभी-कभी वो अनुचित या समाज विरोधी तरीके भी अपनाता है, जिससे समाज में अव्यवस्था फैलती है। इस सबसे बचने के लिए सामाजिक नियत्रण आवश्यक है। शिवप्रसाद सिह का कथा-साहित्य इसके प्रति सजग है। भारतीय समाज व्यक्ति को अपनी इच्छाओ के आधार पर स्वेच्छाचार की अनुमति नहीं देता, वरन् उन्हें सामाजिक बधनों मे बाधकर रखता है। 'कहानियो की कहानी' की जाह्नवी के शब्दों में "यह स्वच्छद वातावरण भला कहा से पाऊंगी, यहा तो आत्मा घुटकर मर जाती है। बधन ऐसे है कि हम जिसे तन देती है, उसे मन नही दे पाती, और जिसे मन दिया उसे समाज तन देने की इजाजत नहीं देता।" परपराए ही हमारी संस्कृति की धरोहर एव रक्षक है। इस निधि की सुरक्षा सामाजिक नियत्रण के द्वारा ही संभव है। इसके अभाव मे सामाजिक मूल्यो एव आदर्शों की भित्ती चरमरा कर गिर जायेगी। सामाजिक दबाव के कारण ही परपराओ की अवहेलना पाश्चात्य सस्कृति से प्रभावित तथाकथित भारतीय भी नहीं कर पाते। यही कारण है कि 'पोशाक की आत्मा' का डॉक्टर, जो औरतो को महज एक खिलौना समझता है, और कई औरतो की असमत से खेल भी चुका है, कुसुम के द्वारा अपने कच्चे चिट्ठो की सप्रमाण पोल खुलते देख बौखला उठता है। सामाजिक भय और अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए डॉक्टर अपनी थ्यौरी के विपरीत कुसुम से शादी करने को राजी हो जाता है।

राजनैतिककरण ने हमारे सामाजिक मूल्यो को ना केवल प्रभावित किया है अपितु उन्हे परिवर्तित करने का कुप्रयास भी किया है। केवल राजनैतिक सफलता ही लक्ष्य है, जिसके आगे पारिवारिक मूल्यों और सामाजिक आदर्शों का कोई औचित्य नहीं रह गया, यह भावना पश्चिमी संस्कृति से प्रेरित है। 'केवडे के फूल' मे अनीता को उसके पति द्वारा लिखे पत्र के इस अश –"तुम्हारा बाप मेरे पैरों पर नाक रगड रहा है कि मैं तुम्हे बुला लू क्योकि इसकी बेइज्जती हो रही है।...तुम्हे अपने को मेरे समाज के लिए बदलना होगा...तुम मेरी ही नहीं, मेरे मित्रो तक के लिए मनोरजन की साधन हो...सती धर्म की दुहाई देकर तुम मेरी इच्छाओ को रोक नहीं सकती।" मैं 'मेरे समाज' का अर्थ साफ तौर पर पश्चिमी सभ्यता से है, जहा मनोरजन हेतु मित्र एक-दूसरे की पत्नी का उपभोग कर लेते हैं। भारतीय

समाज 'लेखनी, पुस्तकम् दारा पर हस्ते गता-गता' का दृष्टिकोण अपनाते हुए इसके प्रति निषेध करता है।

"ऐसा नहीं कि आज का ग्राम जीवन सिर्फ अंधकूप की ही संज्ञा पा सकता है। उसमें अब भी वैसा बहुत कुछ है, जो जीवन में आलोक बिंदु का कार्य कर सकता है।" शिवप्रसाद सिंह जी का यह कथन 'कर्मनाशा की हार' बेहया, 'संपेरा' आदि कथाओं में आलोक स्तंभ की भांति ही लक्षित होता है। 'संपेरा' नामक कहानी तो प्रेमचंद के 'मंत्र' की याद दिलाती है। इसी पृष्ठभूमि पर लिखी 'संपेरा' कथानक की दृष्टि से तो 'मंत्र' के सामानांतर चलती है। पर प्रभावान्विति में, ठाकुर के छोटे-छोटे बच्चों का ख्याल कर उन्हें मारने के लिए चलाये नाग को वापस बुलाने के लिए बशीर अपनी मुट्ठी समय से पूर्व खोल देता है, बीच से लौटा सांप चलानेवाले को ही आ डंसता है। और 'नट छिपकर दुश्मन से बदला नहीं लेता' कहते हुए बशीर के प्राण त्यागने के कारण, 'मंत्र' से एक फर्लांग आगे निकल जाती है।

सार्थक संवेदन का सजीव रचना-कौशल

• डॉ. उमेशप्रसाद सिंह

'सार्थक सवेदन' ! आप सोच सकते है थोडी देर के लिए कि यह एक अजीब और ऊटपटांग बात की शुरुआत है। सवेदन स्वय मे पूर्ण भाव सज्ञा है। दार्शनिक शब्दावली में इसी को निरपेक्ष कहा जाता है। इससे महिमा-मडित और कुछ नहीं होता, न ही हो सकता। यह एक ऐसा श्रद्धास्पद आलोक-पुज है, जिसके सम्मुख आखे मुदकर नत हो जाती है। फिर झुकी हुई मुदी आखो मे जो कुछ दिखता है, वह सत्य हो यह कतई जरूरी नही होता। तभी उसी बिंदु से खतरा और गडबड की शुरुआत हो जाती है। आप कह सकते है कि सवेदन तो साहित्य की आत्मा है। अस्तित्व का सवाहक है। अत सत्ता का, अस्तित्व का, बुनियादी सवाल है। यदि सवेदन को विशेषता के आधार पर पहचानने का कार्य होगा तो साहित्य-सर्जन की मान्यता का कार्य कठिन हो जायेगा और यह कठिनाई साहित्य के लिए होने और न होने के सकट से जुड जायेगी। ऐसा ही होगा इसमे कोई शक नहीं। मगर यह बात खतरनाक होकर भी बुरी नही। हा, आलोचना की समझदारी और सफलता तो इसी मे है कि खतरनाक जगहो को बचाते हुए गाडी निकाल ली जाये। आखिर इस काम के लिए ही न बुद्धि होती है। यदि आप यह बुद्धि-कौशल देखना चाहे तो हिंदी-समीक्षा के सफल आलोचक आपको निराश नही करेंगे। यदि आप समकालीन समीक्षा मे चाहें तो 'बरउ सम्भु न त रहउं कुवारी' के व्रतधारी समीक्षको को बखूबी पहचान राकते है। वे तो पहले से ही सकल्पबद्ध हैं कि अमुक कवि या अमुक लेखक ही सशक्त है, अत' लिखना है तो उसी पर। जो लेखक उनके नही है, उनकी तरफ वे वैसे ही आखे नही उठाते जैसे पतिव्रता हिदू नारी पर-पुरुष की तरफ। चाहे वे जितने स्वस्थ हों, सुदर हों, प्रियदर्शन हो। तो ऐसे में संवेदन की सार्थकता का सवाल जरूर ऊटपटाग है। मगर उतना नहीं कि आप क्षमा कर सके।

दरअसल निजी तौर पर हर सवेदन सार्थक होता है। मगर यह भी तय है कि हर संवेदन सृजन का स्रोत नहीं बनता। अत हर सवेदन-कला सृजन का

कारक नहीं है। केवल कुछ 'विशिष्ट' क्षणों की बेधक अनुभूति के प्रखर सत्य का सवाहक संवेदन ही कला-सर्जना का बीज तत्त्व है। यह 'विशिष्ट' नैसर्गिक या प्राकृतिक ही नहीं होता। यह बोध व्यक्ति की निजी रुचि, शिक्षा, संस्कार और जीवन-शैली के आधार पर अवलंबित होता है। यह बात वस्तुओं और व्यक्तियों के बीच के उसके मान्य अंतःसंबंधों की भी पहचान कराती है। यही संवेदन की सामाजिक एवं सापेक्ष्य मूल्यवत्ता की पहचान जरूरी बन जाती है।

अपने संवेदन समूह में लेखक किनको 'विशिष्ट' मानकर सर्जना का समारंभ करता है, यह गौरतलब बात है। इसमे निजी व्यक्ति इकाई का भोग प्रधान है। खासकर नवलेखन के संदर्भ में, यही उसकी मूल नवीनता है। अतः व्यक्ति इकाई का भोग अधिक से अधिक सार्वजनीन या कम-से-कम बहुसंख्यक व्यक्ति-समूह का प्रामाणिक भोग बन सके, यह रचनाकार के चयन (संवेदन के संदर्भ में) की कुशलता का एक महत्त्वपूर्ण मापदंड है। यह जनजीवन के साथ संपृक्ति और उसकी रचनात्मक प्रतिबद्धता का भी अपने आप मे प्रमाण है। यहीं होनेवाला फर्क मूल कला-चेतना का बुनियादी फर्क है। यहीं से कला का जनपक्षीय स्वरूप और अभिजात्य-बोध का स्वरूप अलग हो जाता है। यहीं रचनाकार की पीड़ा का विस्तार और गहराई तथा उसका अपना पक्ष भी साफ होता दिखता है। वह किस जनवर्ग के किन हितों का पक्षधर, प्रवक्ता और प्रहरी है, यह स्पष्ट होता है। यही बिंदु सापेक्ष्य संवेदन के स्वरूप का उज्ज्वल प्रमाण है और उसकी सार्थकता की कसौटी है।

जब वातावरण में हवा सांस लेने के लिए ही नाकाफी हो तो उसके अवशीलन और भंडारन की भावना का पोषण अमानवीय गुनाह है। जब आंखों की रोशनी इतनी क्षीण हो कि हाथ कि रेखाएं ही स्पष्ट न दीखें तो कल्याणकारी और समृद्धि-प्राचुर्य की भविष्यवाणी निंदनीय प्रवंचना है। धरती पर पाव टिकाने की परवाह किये बगैर या उसे उपेक्षित छोडकर आकाश बांधने का आश्वासन क्रूर-विश्वासघात है। मन के भीतरी तह मे व्यक्तिगत स्वार्थों की दुर्ललित लालसा को ढंककर सामूहिक हित और उत्कर्ष की उद्घोषणा आपराधिक षड्यंत्र है। सारी कूटस्थ पुरानी रुढियों, भ्रमों और संस्कारों के पुजारी होकर वैर-विभेद और घृणा के वशीभूत रहकर पारस्परिक प्रेम, समत्व और सौहार्द के खोखले नारे देना निंदनीय दोगलापन है। पत्थर के देवता की तरह आदर, अधिकार और समर्पण का ढोंग करके उसके हिस्से का सारा प्रसाद स्वयं गप्प कर जाना एक ढोंगपूर्ण जालसाजी है। स्वतंत्रता के उत्तर-पूर्व का भारतीय समाज लगभग इन सारी असंगतियों का कारुणिक भोक्ता रहा है।

यह भोग तत्कालीन भारतीय जनता का प्रधान भाग है। खासकर श्रमजीवी वर्ग के ईमानदार जीवन का लगभग यही संपूर्ण भोग है। इसी प्रधान भोग से व्यक्ति

इकाई यानी कि रचनाकार की निजी पीडा का भोग मेल खाता है तो वह समय सापेक्ष है। इन्हीं समय सापेक्ष्य जन-वर्ग के प्रधान भोग की पीडापरक परिस्थितियों से उद्वेलित संवेदन को जो रचनाकार अपनी सर्जना का आधार बनाता है, उसका संवेदन ही सार्थक संवेदन हो सकता है। लेकिन केवल सार्थक संवेदन को रचना का आधार बनाने मात्र से ही कोई रचनाकार नहीं हो सकता। व्यक्तिगत अनुभूति को इस प्रकार उपस्थित करना कि सभी उसमें अपनी अनुभूति पहचान सकें, सृजन की सजीवता है, जो रचना-कौशल की अनिवार्य और सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। यही रचनाकार की मूल्यवत्ता का सबसे उत्तम मापदंड है।

कथाकार शिवप्रसाद सिंह के सदर्भ मे यह सुखद संयोग है कि उनकी कृतियो में सवेदन की सार्थकता और सजीव सर्जना का रचना-कौशल अपने सुष्ठु स्वरूप मे साकार मिलता है। हिदी के कथाकारो में यह सयौग बहुत विरल है। प्रेमचद मे बहुत गहरी अन्वीक्षण शक्ति है। उनके संवेदन की सार्थकता भी निर्विवाद रूप मे बहुत व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित है । प्रेमचंद अपने रचनात्मक सवेदन को सजीवता प्रदान करने की प्रक्रिया मे मनोवैज्ञानिक सूत्रों का केद्रीय शक्ति के रूप में इस्तेमाल करते हैं । इसलिए उनकी कथा-रचनाओं में प्रकारांतर से व्यक्ति प्रधान हो जाता है, परिस्थितियो, जमीन, हवा और निजी विशेषताएं धीरे-से उसे छोड देती है, या उससे छूट जाती है । फलस्वरूप उनके पात्र कभी-कभी विश्वसनीयता से कुछ दूर स्वाभाविक और अस्वाभाविक परिणतियों तक पहुंचने के लिए एक प्रकार से विवश हो जाते है। अज्ञेय के भीतर रचनात्मक-कौशल बेमिसाल है । वे रचाव की कला मे अपना जोड नहीं रखते। बारीक से बारीक सवेदन को भाषा की किस शक्ति से सजीव बनाया जा सकता है, अज्ञेय से बढिया इसे दूसरा व्यक्ति नहीं समझ सकता। सवेदनों की सार्थकता के संदिग्ध होने के बावजूद कला-सर्जना की श्रेणी मे अज्ञेय अप्रतिम है, अद्भुत हैं। उनके पात्रों की निजी विशेषताए जैसे उद्भासित होती हैं, अन्यतम है। वे उनकी पकड़ की गहराई का सबूत तो देती ही हैं, प्राण-प्रतिष्ठापना की संजीवनी शक्ति को भी बखूबी प्रमाणित करती हैं। शब्दों की प्राण-शक्ति की पहचान और उस दु:साध्य साधना से शक्ति को साधन बनाकर सफल सजीव सर्जना की अनुक्रिया का कौशल अज्ञेय मे समवेत रूप मे विद्यमान मिलता है। मुझे ऐसा लगता है कि प्रेमचंद के सार्थक संवेदन की विशाल जमीन की उर्वरा शक्ति और अज्ञेय की सजीव सर्जना की वैभवशाली कुशलता को शिवप्रसाद सिह ने बड़े यत्न से जोडकर हिंदी कथा-साहित्य मे एक तीसरी धारा और नितांत भिन्न तथा नवीन किस्म के सर्जक-व्यक्तित्व को अस्तित्व प्रदान किया है । चाहे जब भी हिंदी जगत् इस अस्तित्व को ठीक से पहचानेगा उसे शिवप्रसाद सिंह की रचनात्मक शक्ति का वास्तविक परिज्ञान अवश्य होगा । खैर...

शिवप्रसाद सिंह सामान्य जमींदार परिवार से टूटकर खाटी मध्यवर्गीय संयुक्त परिवार की शक्ल में ढलने की अवस्था में उपजे हुए रचनाकार हैं। उनकी स्मृति में अमानवीय उत्पीडन की आपराधिक अवस्थाएं भी हैं और चेतना में साक्षात् करुण विपन्नता की बेधक स्थिति भी। यदि वे प्रतिक्रियावादी चिंतक होते तो शायद टूटे हुए जमींदार परिवार के वारिसो के प्रति उनके मन में करुणा की जगह क्रूरता का भाव होता। किंतु यह मानवीय न्याय नहीं है कि बाप का पाप बेटा के खाते चढा दिया जाये। अतः उनके मन की करुणा उन्हें एक प्रकार से यथार्थ की जमीन के ज्यादा निकट खड़ा करती है। भारतीय समाज मे मध्यवर्ग का अस्तित्व इतना जटिल वैविध्यपूर्ण, परस्पर विरोधी और घोर असंतुलित है कि उसे समझना बहुत ही कठिन हो जाता है। यह कठिनाई प्रेमचद के साथ भी थी, मगर शिवप्रसाद सिंह के साथ वह और उलझ कर बढ़ जाती है, हमारी पीढ़ी के साथ यह जटिलता और कडी चुनौती के रूप में ललकार रही है। शिवप्रसाद सिंह ने अपनी कलात्मक शक्ति के भरपूर उपयोग से इसे सुलझाने का सार्थक प्रयास किया है। जो लोग ठीक से इस तथ्य को नहीं समझ पाते उन्हें शिवप्रसाद सिंह अतीतग्रही और भावुक तथा कल्पनाप्रिय लगते हैं। 'दादी मा' और 'देऊदादा' जैसी कहानियां इस आरोप की पुष्टि के लिए उदाहृत की जाती हैं ।

बहुत सामान्य-सी बात है कि जो थोड़ा भी समझदार और इतिहास चेतना से युक्त मानवीय विकास की गति का अध्येता है, वह काल के अविच्छिन्न क्रम को खंडित करने की मूर्खता नहीं कर सकता । ऐसी स्थिति में वह अतीताग्रही हो न हो अलग बात है, मगर अतीतद्रोही नहीं होता। यही बात शिवप्रसाद सिंह के साथ भी है, वे अतीतद्रोही नहीं हैं। जो कुछ था वह सारा का सारा बुरा ही नहीं था। उसमे जो कुछ अच्छा था उसका वरण कम-से-कम मूर्खता तो नहीं ही है ऐसा वे मानते हैं। 'दादी मां' को शापभ्रष्ट देवी कहना लेखक का मोह नहीं यथार्थ की परख है । पूज्य का पूजन चापलूसी नहीं मानवीय कर्तव्य है। 'देऊदादा' के भीतर का विशाल, उदार किंतु अडिग चरित्र हमारे वर्तमान को प्रेरक शक्ति प्रदान करता है । ऐसे चरित्र का सान्निध्य हर गांव के चेतन व्यक्ति की स्मृति मे सुरक्षित है।

आर-पार की माला इस संग्रह की अनेक दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट कहानी है। सामती सस्कृति कितनी लोलुप, भ्रष्ट और आत्मनिष्ठ सीमाओं में सड़ांध की दुर्गंधि से बजबजा सकती है, इस कहानी के गौड़ जमींदार चरित्र से देखी जा सकती है। श्रमजीवी जाति की विवशता, किस तरह उसके नाश की आहुति में घी बन जाती है, मटरू के माध्यम से इसे महसूसा जा सकता है। भूख की भयानक ज्वाला में सारी मानवीय नैतिकताओं को लाख (लाक्षा) के तरह भस्म होते देखकर चकरा जाना अस्वाभाविक नहीं है। मटरू और नीरू के संक्षिप्त और सांकेतिक

घटना-चक्रों से सचमुच लेखक ने यथार्थ की जिस नयी जमीन पर जैसी बेधक करुणा, ग्लानि, क्षोभ का समवेत संवेग उद्दीप्त किया है, वह नितांत प्रशंसनीय है। साथ ही अमानवीय अत्याचार के लिए ठाकुर के प्रति पाठक के मन में पैदा होनेवाला असह्य आक्रोश, घृणा, प्रतिशोध का भावोदय कहानी की संश्लिष्टता के साथ ही सवेदन की सार्थकता और सजीव संरचना की सफलता का उज्ज्वल प्रमाण भी प्रस्तुत कर देता है।

डॉ शिवप्रसाद सिंह के सवेदन का क्षेत्र अपेक्षित विस्तार के साथ पर्याप्त गहरा भी है । उनके पात्र वर्गगत विशेषताओं के अतिरिक्त अपनी निजता भी कायम रखते हैं। यह एक तरह के चरित्र निर्माण मे साधारणीकरण को खुली चुनौती है। एक ही परिवार के बुझारथ और विपिन की दिशाएं न केवल भिन्न बल्कि परस्पर विरोधी भी हैं। इसी प्रकार सुरजूसिंह और जग्गन मिसिर की गढ़न अपने-अपने तरह की है। हरखू सरदार और सरूप भगत और घुरबिनवा की बनावट एकदम एक ही वर्ग जैसी नहीं है। उसी तरह सिरिया, हरिया, कल्पू और देबू में समानता से वैषम्य ही अधिक है। यह यथार्थ का अधिक स्वच्छ और स्वस्थ दृष्टिकोण तो है ही, वैयक्तिक अस्मिता की पहचान का भी महत्तम दायित्व निर्वाह है । (अलग-अलग वैतरणी से संबद्ध)

शिवप्रसाद सिंह की सवेदना का क्षेत्र व्यापक है । स्वतत्रता की नयी रोशनी मे उनकी नजर सदियों की गुलामी प्रवंचना, अभाव और जलालत के भार से दबी जिदगियों की दहलीज पर जाकर बडी आत्मीयता से संवेदना जोडती है । 'इन्हे भी इंतजार है', 'आर-पार की माला', 'धारा', 'बिंदा महराज', 'कलंकी अवतार', 'अधकूप', 'हत्या' और आत्महत्या के बीच', 'चेन' आदि ऐसी कहानियां हैं, जिनके लिए स्वतत्रतापूर्ण जीवन ही कोई दुर्लभ सपना है । वे आदमी होने के बुनियादी हको से ही कुटिलतापूर्वक व्यवस्था के कुचक्रों से वंचित है । ये कुचक्र नयी रोशनी मे नये रूप ग्रहण कर वैसे ही काबिज हैं, इस बात को लेखक कुशलता से केंद्रीय पक्ष के रूप मे उभारता है।

शिवप्रसाद सिंह की लगभग सभी कथा-रचनाओ मे सामाजिक मान्यताओ यानी विधि-निषेधों और व्यक्ति के आतरिक प्रवृत्तिपरक संवेगों में बराबर एक सार्थक टकराहट के साथ मूल्यवान परिणति की दिशा का सकेत स्पष्ट मिलता है । वे अर्जित मूल्यो, विश्वासों की जगह स्वानुभूत सत्य को वरीयता प्रदान यथार्थ को मजबूती प्रदान करने के साथ व्यक्ति की मूल्यवत्ता को भी जोरदार तरीके से स्थापित करते है । 'कर्मनाशा की हार', 'नन्हो', 'एक यात्रा सतह के नीचे', 'अंधकूप' आदि कहानिया इस मान्यता को पुष्टि प्रदान करती हैं ।

शिवप्रसाद सिंह के संदर्भ मे जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात है वह यह कि वे

व्यक्ति की अस्मिता और उसकी अनंत आत्मशक्ति के केवल पक्षधर बल्कि एक हद तक उपासक भी हैं । उनके पात्रों में अद्भुत जिजीविषा है । वे कहीं भी प्रतिक्रियावादी और निराशाबोध के शिकार नहीं होते । गतिशील व्यक्ति और जड समाज के द्वंद्व में हमेशा व्यक्ति विजयी होता है । शिवप्रसाद सिंह की संवेदनात्मक ईमानदारी और कलात्मक संयम की अमूल्य उपलब्धि यह है कि जहां और जगह समाज में थोड़ा-सा असहमत होकर पात्र विद्रोही और समाज बहिष्कृत हो जाते हैं, वहीं इनके यहां समाज में अपनी तार्किक और न्यायिक असहमति रखते हुए भी पात्र समाज-स्वीकृत हैं । उनकी सामाजिक मूल्यवत्ता तनिक भी क्षरित नहीं होती । उदाहरण के लिए अलग-अलग वैतरणी के जग्गन मिसिर, विपिन, देवनाथ, शशिकांत, पटनहिया भाभी, पुष्पा और कनिया को देखा जा सकता है । सचमुच चेतना के धरातल पर यह अद्भुत रचना-कौशल है ।

अपनी कथा-रचनाओं में कथाकार ने जिस जिंदगी को उठाया है, वह पूरी तरह से स्वाभाविक है । अलंकरण रहित सहजता का जो निरावृत्त सौंदर्य होता है, वह शिवप्रसाद सिंह की रचनाओं के गांव में मिलेगा । ऐसा लगता है कि उनकी लेखनी के स्पर्श से पूर्वांचल की गवई जिंदगी एकदम जाग कर नाच उठी हो । यह इसलिए कि लेखक केवल पात्र को नहीं उठाता क्योंकि उसकी मान्यता है कि मनुष्य परिवेश से एकदम अलगाया नहीं जा सकता । अत: वे आदमी को उसकी जमीन, हवा, बोली और व्यवहार के साथ यानी उसकी समग्र सत्ता के संपूर्ण स्वरूप के साथ उठाकर वैसे ही जीवंत रूप में पुनः प्रतिष्ठित कर देते हैं । इस कार्य मे सर्वाधिक मदद वे वातावरण या परिवेश के निर्माण से और भाषा की सर्वोत्तम शक्ति के खूबसूरत इस्तेमाल से करते है । शिवप्रसादजी कभी भी परिवेश को निरपेक्ष ढंग से चित्रित नहीं करते। वह हमेशा कथा-विकास के लिए सापेक्ष्य भूमिका मे आता है । अतः परिवेश और कथा-क्रम में एक अंतरंग रिश्ता जो स्वतः क्रियाशील रहता है, वे हमेशा कायम रखते हैं । यही कारण है कि जो प्राकृतिक दृश्य और स्थितियां रेणु रोमेंटिक बनने को मजबूर कर देती है, वे ही शिवप्रसाद सिंह के यथार्थबोध को तीव्रता प्रदान कर सतेज निखार प्रदान कर देती हैं । मनुष्य और प्रकृति की यह सापेक्ष्य स्थिति एवं उनका सहचरण यहां हमें शोभन रूप में मिल जाता है । कहीं-कहीं यह शैली अत्यंत संश्लिष्ट और संगुंफित होकर प्रतीकात्मक पद्धति का भ्रम पैदा कर गूढ़ार्थ ग्रहण की मांग करती हुई-सी लगने लगती है, मगर पाठक के साथ इसे लेखक की ज्यादती किसी भी हालत में नहीं कहा जा सकता । अधिकतर हम भाषा के विषय मे बात करते समय उसकी तत्सम या तद्भव धर्मी शब्दावलियो की परख में ही उलझकर रह जाते हैं । हालांकि भाषा के संदर्भ में यह निहायत फालतू नजरिया है । भाषा की आंतरिक शक्ति की यानी ध्वनि

की महत्ता का बोध और आंतरिक भावों के साथ उसकी संतुलित संगति का संयोजन ही रचनाकार की सृजन क्षमता का मूल रहस्य है । यह कहने में किंचित भी संकोच नहीं है कि शिवप्रसाद सिंह के भीतर यह क्षमता अपूर्व रूप में विद्यमान है । 'नन्हो', 'आर-पार का माला', 'कर्मनाशा की हार', 'पापजीवी' और 'अलग-अलग वैतरणी' में पचासों जगहो पर इसका उत्कृष्ट स्वरूप देखा जा सकता है । उदाहरण के लिए नन्हो के बारे में लेखक की टिप्पणी—उसने किवाड़ तो बंद कर ली मगर सांकल न चढा सकी । पूरे नन्हो के चरित्र और द्वंद्व की पीड़ा का मुकम्मल बयान है । पटनहिया भाभी के प्रसंग भी भाषा की इस जादुई शक्ति से खूब चमत्कृत हुए हैं ।

अपनी सार्थक संवेदना की सजीव सर्जना में शिवप्रसाद सिंह कृती कथाकार के रूप में अग्रिम पंक्ति में नेतृत्त्व की जगह पर प्रतिष्ठित हैं। मैं यह कहने के लिए विवश हूं कि हिंदी ग्राम-कथा का द्वितीय उत्कर्ष शिवप्रसाद सिंह की कलम पकडे उनके साथ खड़ा है । वे अपने पूरे दौर के अकेले सामर्थ्यशील सम्राट हैं—ग्राम-कथा सम्राट । यही वजह है कि शिवप्रसाद सिह ग्राम-कथा के विकास के लिए एक अटल चुनौती की तरह रास्ता रोककर खड़े हैं । उन्हे अतिक्रमित किये बगैर इस दिशा में नयी यात्रा असंभव है ।

कथाकार शिवप्रसाद सिंह की भाषा

• डॉ. कृष्णावतार 'करुण'

डॉ शिवप्रसाद सिह ग्राम कथाकार हैं। उन्होने ग्रामीण जीवन के स्पंदन को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करने का बहुत सफल प्रयास किया है। ग्रामीण घर-आंगन मे बोले जानेवाले शब्दों के सार्थक प्रयोग से ग्रामीण वातावरण ही हमारे समक्ष सजीव रूप में उपस्थित हो जाता है। उनका ग्राम्येतर कथा-साहित्य सास्कृतिक काशी मे विचरण करता है—चाहे 'गली आगे मुडती है' हो या 'नीला चांद' । काशी मे स्थानीय बोली भोजपुरी के पूर्वी तथा पछाही दोनो रूपों का प्रयोग होता है। ठेठ काशीवासी लोग पछाही भोजपुरी का प्रयोग करते है। ऐसे स्थलों पर शिवप्रसादजी ने सयत्न दुरूह प्रयोगों से बचने का प्रयास किया है, किंतु फिर भी अन्य क्षेत्रीय अथवा आचलिकता से जरा भी दूर आधुनिक लोगो के लिए कही-कहीं कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इस लघु निबध मे विस्तार से शिवप्रसादजी की भाषा पर विचार करना सभव नही है। अत यहां उनकी प्रमुख कहानियो तथा उपन्यासो से उद्धृत कुछ उदाहरणो के आधार पर उनकी साहित्यिक, ग्रामकथाओं की गवई तथा काशी की बनारसी भाषा पर विचार किया जा रहा है, किंतु आवश्यकतानुसार बाहर से भी उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

1.(क) "रंजना को लगा कि उसके हृदय मे जमी बर्फ पिघल कर उसकी रगो मे बहने लगी है, जिसके अत्यंत सर्द प्रभाव के कारण उसका अग-अग शिथिल होता जा रहा है। उसका शरीर जल रहा था और होंठ पीड़ा से कांप रहे थे । वह एक झटके से खड़ी हो गयी। डॉक्टर उसके सामने ही बैठा था, पशु की तरह घृणित और अपदार्थ। वह मारे क्रोध के कांप रही थी, पर कुछ बोल न सकी । डॉक्टर ने इस परिवर्तन को लक्ष्य किया और चुपचाप उठकर चला गया । रंजना ने उसके जाते ही दरवाजा बंद कर लिया; पर वह शायद देख न सकी कि बगल की खिडकी से दो आंखें उन्हें देख रही थीं।"[1]

(ख) "अभी-अभी सूरज निकला था । ताजा, लाल-लाल। नये-नये जन्मे बच्चे की तरह कलकता हुआ। उषा के मायूस सांवले मुंह पर पल-भर के लिए

सुनहरी आभा छा गयी थी, बच्चे को जनने के बाद जैसे हर मां के पीड़ा से सांवले पडे चेहरे पर छा जाती है। रूखी अलकों की तरह पूरबी दिशा में फैली हुई वंसवरियों से उषा के चेहरे का उल्लास झांकने लगा था, चिडिया चहक उठी थीं, काली भुचंगे ने अपनी आखिरी ठनकार तक लुटा दी। तभी भोर में कांपते पेड़ के पत्ते एक झटके से कांप उठे थे । तेज हवा के साथ ही सारा आसमान मुर्दे की आंखों की तरह निस्तेज उदास बादलों से भर गया ।"[2]

2. (क) "अरे मइया रे मइया", सुलक्खी जाने क्या सोचकर फिर रो पडी, "एक तो अइसै हाथगोड नहिनी, फिर, अब ई सब कइसे सम्हरिहैं रे बप्पा !"

"एम्मे रोवै ळ का बात है रानी, इ तो अउर फैदा बात ह। *लरिका* होई । ओहकर दुखडा रोय-रोय कै अउरो भीख मिलि है। आंय..."

xxxx"दाढीजार, कमीना तैं हर बात में आपन नादै भरै क बात सोचत है। हमार इ हाल करिकै अब तै लरिकवौ पर नजर गडाय रहा है," वह हांफती हुई बोली, "ऊ न होवै देव हम सत्यानासी, गांठ बाधिले । ओका दिखाय के भीख मांगै के पहिलै हम नदी-कुइया में डूब मरिबै, समझैव कि नाहीं?"[3]

(ख) "जाने दीजिए मिसिर चाचा । जाने दीजिए । साला मुहफट है । जो मुंह में आता है बक देता है । जे बा से नादान है। माफ कर दीजिए।"[4]

3. (क) "आप सभे जगा रहे, बडा तेज पानी बढा आय रहा है भइया जी, कोठी चारों ओर से जलमग्न हुई गई है । दरवज्जे से भीतर भी पानी घुसि रहा है।"[5]

"ओह ससुरा से हमार का वास्ता। आप लोग न होते तो हम तो मनौती करते गंगा मैया से कि उमड-उमड के पलट दो महारानी ई अधरम के किला ही..."[6]

(ख) "हाय मोरी मैया, ई का होवै है।" xxx "अब का करौं रे दैया ई ससुरा दैव मो दुखियारी पे टूट पडा नासपीटा।"[7]

(ग) "दोख केहू का भी नहीं है रामजी," साधु ने कहा, "दोख देखै के आदतै मे बडा दोख है। मान लो रामजी कि तू आज ई आतमहत्या करि डारते तो उहि बेचारी के सोचे के पडत कि हमरे कारन एक निर्दोख जान गई । तोहरे आतमहत्या के बात के पच लोग पगुराय-पगुराय के अइसा बानक बनाय देते कि तू मरे के बाद भी पाप की कहानी छोड जाते अपने पीछे । है कि ना ?"[8]

(1) ध्वनि-विचार

(क) **आग :** मिश्र=मिसिर, जलमग्न=जलमग्न, नहीं=नाहीं, ऐसे=अइसै, पूर्व=पूरब, न=ना, दरवाजे=दरवज्जे, रो-रो कर=रोय-रोय कै।

(ख) **लोप :** फायदा=फैदा, क्या=का, की=क, कर=कै, है=ह, बात=बा, हमारा=हमार, इसमें=एम्मे, सोचता=सोचत।

(ग) **विपर्यय :** वहां=हुवां[9], पागल=पगला[10], यहां=हियाँ[11]।

(घ) **संधि :** जयपाल=जैपाल[12], नयना=नैना[13]।

(ङ) **समीकरण :** मार डाला=माड़ डाला[14]।

(च) **घोषीकरण :** डॉक्टर=डागदर[15],यह=जे, लोक=लोग, यदुवंशी=जदुवंशी[16]।

(छ) **अघोषीकरण :** शायद=शाइत[17]।

ध्वनिचित्र मूलकता :

"आ, आ, पुच्...चच्च...चच्च..."[18]
"डिम्-डिम्-डिम्-तड़क्-तडक् ।"[19]
"अं-एँ-एँ-यें-अ-एँ-एँ-यें"[20]

(2) संज्ञा

शिवप्रसादजी के कथा-साहित्य में विभिन्न स्वरांत तथा व्यजनांत पुल्लिग और स्त्रीलिंग सज्ञा शब्दों का प्रयोग हुआ है। कुछ प्रमुख उदाहरण इस प्रकार हैं :

व्यक्तिवाचक संज्ञा : रजना, सूरज, सुलक्खी ।

जातिवाचक संज्ञा : चिडियां, पेड़, बादल, साधु ।

भाववाचक संज्ञा : खिसियाहट,[21] बचपन,[22] चंचलता[23] ।

साहित्यिक भाषा मे सर्वत्र कारकीय चिह्नों का सम्यक् प्रयोग किया गया है, किंतु ग्रामीणाचल की भाषा में ये चिह्न शब्दो के विकृत रूप में ही आ गये है अथवा चिह्न-प्रयोग मे आचलिक प्रभाव के कारण शिथिलता दृष्टिगोचर होती है । यथा--"तू तो हर बात मजोकै करत हो तिवारी बाबू।"[24]

"तूं तो भइया एतनो कर दियो कि इन्हें खबर मिल गई।"[25]

(3) सर्वनाम

सर्वनाम के सभी रूप शिवप्रसादजी की भाषा में प्राप्त होते है। ये भेद निम्नवत् हैं :

(क) **पुरुषवाचक :** हम, तू, तूं, तैं, वह, हमार, तोहार, हमसे आदि तीनों ही पुरुषों में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे :

(i) **उसका** शरीर जल रहा था X X X **वह** मारे क्रोध के काप रही थी। XXX **वह** शायद देख न सकी।

(ii) ओह ससुरा से **हमार** का वास्ता।

(iii) **तू मरे के बाद** भी पाप की कहानी छोड़ जाते अपने पीछे।

(ख) **निश्चयवाचक :** वह, ऊ, उ इत्यादि दूरवर्ती तथा यह, ई, इ आदि निकटवर्ती दोनो ही प्रकार के सर्वनामों का प्रयोग किया गया है। जैसे :

"**ऊ** न होवै देव हम सत्यानासी।" (दूरवर्ती)

"**इ** तो अउर फैदा के बात है ।" (निकटवर्ती)

(ग) **संबंधवाचक :** इसमें जो, जौनो, जौन, जिसने, जिसका आदि का प्रयोग हुआ है। यथा :

"उसकी जगह **जो** शर्मा आप देख रहे हैं, वह एक बेजान मशीन का पुर्जा है..."[26]

"ऐसा कोई काम नही कर सकता, **जिससे** अम्मा को तकलीफ हो।"[27]

(घ) **नित्यवाचक :** इसमे 'वही' आदि का प्रयोग किया गया है । जैसे :

"**वही** बक्सा ले गया।"[28]

"जो कुछ ए जी आफिस मे हुआ, **वही** अन्यत्र भी होगा।"[29]

(ङ) **प्रश्नवाचक :** इसमे कौन = को, काहे, का, कइसे आदि का प्रयोग हुआ है। यथा

"अब ई सब **कइसे** सम्हरिहै रे बप्पा ।"

"अब तोहे का बतावै कि **काहे** नौकरी छोडा।"[30]

"**को** है रे जमुना...? आवाज बडी बुलंद थी।"[31]

(च) **अनिश्चयवाचक :** शिवप्रसाद सिंह जी ने 'कोई', 'कुछ', 'कुछ और' आदि अनिश्चयवाचक सर्वनाम शब्दो का यत्र-तत्र प्रयोग किया है। जैसे :

"यहा **कुछ** छिपा नहीं है रामजी ।"[32]

"तुम किसी से नहीं टकराओगे तो भी **कोई** आकर तुमसे टकरा सकता है ।"[33]

(छ) **निजवाचक :** इसमें अपना, अपने, अपनी, अपने को, अपनै, आपन आदि का प्रयोग किया गया है। यथा :

"तैं हर बात मे **आपन** नादै भरै क बात सोचत है।"

(ज) **समुदायवाचक :** इसमे सब, सगरो, सारी आदि का प्रयोग हुआ है । जैसे :

"मैंने दादा की बात सुनकर भी तुमसे सकेतत: **सब** कह दिया।"[34]

"**सबको** भष्म कर दूगा मै..."[35]

"मैने देबू को पकडा और **सारी** बाते बताईं।"[36]

(4) विशेषण

शिवप्रसाद सिंह जी की भाषा में सभी प्रकार के विशेषणों का प्रयोग हुआ है। जैसे

(क) गुणवाचक :

"लगता है कि आप भी **लड़कियों वाली** राजनीति में मुब्तिला हैं ।"[37]
"उसके चेहरे पर एक **नया रंग** दौड़ा ।"[38]
"मुझे सदेह की इस **चिपचिपी** वार्निश से सख्त नफरत है।"[39]
"**रूखी** अलकों की तरह पूरबी दिशा में **फैली हुई** बंसवरियों से उषा के चेहरे का उल्लास झाकने लगा था-"काली-काली भुचंगे ने अपनी **आखिरी** ठनकार तक लुटा दी।"

(ख) परिणामवाचक :

"कहो नदू बेटा, **इतना** गाजा कहां से ले आये ?"[40]
"हरी चाचा ने कह दिया था कि इतने **रुपये** किसी कदर इकट्ठा नहीं हो सकते।"[41]

(ग) संख्यावाचक :

"मुझे **साढे आठ** बजे घर पहुचना है ।"[42]
"मै इस मकान मे **पांच-छह** साल से रह रहा हूं ।"[43]
"देवनाथ के **तीनों** दोस्त मुझे खालिस गुंडा प्रतीत होते हैं ।"[44]

(घ) सार्वनामिक विशेषण :

"मै **यह** प्रश्न सुनकर वाकई धक्क से रह गया ।"[45]
"पर यह आप कहेंगे, मुझे **ऐसी** उम्मीद नहीं थी।"[46]
"मरो, मरो, **इसी** कबूतरखाने में मरते जाओ।"[47]
"हमार **इ** हाल करिके अब तैं लरिकवौ पर नजर गडाय रहा है।"

(5) क्रिया

क्रिया का अकर्मक और सकर्मक दोनो ही रूपों में प्रयोग किया गया है। जैसे :

अकर्मक :

"जुलूस आ रहा है।"[48]

"**तबीयत** ठीक नाहीं है तिवारी बाबू ।"[49]

"रात मे ठीक नींद नहीं आयी थी ।"[50]

सकर्मक :

"उसने साकल खोल दी ।"[51]

"देबू की बात तुमने सुन ली।"[52]

"मैं उसके चरण चांपने लगा।"[53]

प्रेरणार्थक क्रियाओं के भी प्रयोग द्रष्टव्य हैं :

"कहने लगे, मेरे पास तो है, **ढुंढवानी** पडेगी, सुबह आ जाओ, जयंती से कहकर **खोजवा दूंगा** ।"[54]

"तुमने तो नपुंसकों की तरह उसकी इज्जत **लुटवा ली**।"[55]

नामधातुओ तथा कृदतो का पर्याप्त प्रयोग किया गया है :

ललक = ललकती रही[56], जप=जपती है[57], भूल=भुलाना[58], लहर=लहराना[59], टक्कर=टकराना[60], पागल=पगलाना।[61]

कृदतो के प्रयोग :

"तै हर बात मे आपन नादै भरै क बात सोचत है।"[62]

"आपका नाम **सुनते ही** वह बोली-"[63]

"मैने आरती को **खींच कर** चारपाई पर बैठा दिया ।"[64]

"तू सभे **जाने के** का करिहौ ।"[65]

संयुक्त क्रियाओं के अतर्गत अतिशयताबोधक (**जाने दीजिए** मिसिर चाचा।), शक्यताबोधक (वैसी सती नारी का दुख **देखा नहीं जाता...**[66]), बारंबारता बोधक (वह खुद **टूट-टूटकर बिखर गया**।[67]), प्रक्रिया बोधक (मै रात के अंधेरे मे **ताकता रहा**।)[68] आदि विभिन्न रूप भी प्राप्त होते है।

(6) अव्यय

शिवप्रसाद सिह जी की भाषा मे सभी प्रकार के अव्ययों का प्रयोग हुआ है। यथा :

(क) क्रियाविशेषण :

"**अब** इ सब कइसे सम्हरिहै रे बप्पा।"

"**अभी-अभी** सूरज निकला था ।"

"तू मरे के बाद भी पाप की कहानी छोड जाते अपने **पीछे**।"

"दोख केहू का भी **नहीं** है रामजी ।"

(ख) **संबंधबोधक :**

"वे रह-रह कर **मेरी ओर** देखतीं..."[69]
"आइंदा से **बिना** सबूत के कोई नोट न दिया करें ।"[70]

(ग) **समुच्चयबोधक :**
"उसने आंखें फेर लीं **और** गरबा का वर्तुल गतिचक्र पुनः चालू हो गया ।"[71]

(घ) **विस्मयादिबोधक :**

"**हाय** मोरी मैया, ई का होवै है।"
"अरे **वाह** ! इसपेक्टर शुक्ला !"[72]
"**हाय** माड़ डाला ।"[73]

(ङ) **बलात्मक :**
"दोनों **एक ही** गत बजा रहे थे ।"[74]
"...सिर्फ **आप ही** मेरा साथ दे सकते है।"[75]

(च) **आदरसूचक :**
"...बडा तेज पानी बढ़ा आय रहा है **मैया जी।**"
"दोख केहू का भी नहीं है **राम जी**.."

(7) शब्द-समूह

शिवप्रसाद सिंह जी का शब्दकोश बहुत विशाल है । उन्होने अपने कथा-साहित्य में तत्सम, तद्भव, अरबी, फारसी, अंग्रेजी, देशज-भदेस, गुजराती, बंगला आदि शब्दो का यथास्थान सार्थक और सटीक प्रयोग किया है। ग्रामीण अंचल की भाषा में अपशब्दों तथा नाम के संक्षिप्त रूपों का प्रयोग हुआ है।

(क) तत्सम : हृदय, प्रभाव, शिथिल, घृणित, अपदार्थ, क्रोध, लक्ष्य, उषा, आत्मा आदि।

(ख) तद्भव : हाथ, लोग, सूरज, रूखी, सांवले, मुंह, जलामग्न, ससुरा, अधरम, आतमहत्या आदि ।

(ग) अरबी-फारसी : बर्फ, रग, सर्द, दरवाजा, शायद, बगल, ताजा, आखिरी, हवा, आसमान आदि'

(घ) अंग्रेजी : डाक्टर[76], मिडिल[77], स्कूल[78], बस[79], मास्टर[80], पैसेंजर[81] आदि।

(ङ) गुजराती : बहारबटिया[82], दीकरी[83], एनो[84], होडली[85], कीधो छे[86]

आदि।

(च) बंगला : छेलेटि[87], तोमार[88] आदि ।

(छ) विकृत भदेस तथा देशज : एम्मे, हाथगोड, मनसायन[89], ओङ्चा[90] डांट[91], पाह[92], ठहर[93], खरमेटाव[94], बाभन[95] आदि ।

(ज) अपशब्द : दाढीजार, कमीना, सत्यानासी, साला, ससुरा, नासपीटा आदि।

(झ) संक्षिप्त नाम : शिवचंद्र=सिचन्ना[96], कल्पनाथ=कल्पू[97], विपिन=विप्पी[98] देवनाथ=देबू[99]।

(8) वाक्य-रचना

शिवप्रसादजी ने अनेक प्रकार से वाक्य-रचना की है। पदों के क्रम में परिवर्तन से वाक्यो की प्रभावान्विति मे अभिवृद्धि हुई है। कर्ता और क्रिया दोनों का ही क्रम परिवर्तित होता रहा है। कही-कहीं लोप भी हुआ है । यथा :

कर्ता का क्रम :

"**आप** विपिन को समझातीं क्यो नहीं ?"[100]
"फुरसत से **मैं** आपको बता दूगा ।"[101]
"**इसके** सात पुस्त को जानते है हम ।"[102]

क्रिया का क्रम :

"**चलें** चाचा, जरा सुरजू भाई के बइठके मे।"[103]
"कहा **चल दिये** ऐसी दुपहरी में ।"[104]

कर्ता का लोप :

(i) ताश खेलता था । (ii) गालिया बकता था ।[105]

लिंग, पुरुष, वचन और रूप के अन्वय के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । जैसे:

"हरिया **अधजली सिगरेट** फेक कर नयी दागता और **नोकीले मुंह वाले बूट** के तल्ले मे जडी **बटन बराबर कीलों** से गलियों के कंकडों को रगड़ता, ठोकर मारता चल देता ।"[106]

शिवप्रसादजी की भाषा मे सरल, मिश्रित तथा सयुक्त तीनो ही प्रकार के वाक्य मिलते है ।

(क) **सरल वाक्य :**

"भाभी चुप थीं ।"[107]
"तुम जादू भी जानती हो मायारानी ?"[108]

(ख) **मिश्रित वाक्य :**

"डेरे से थोड़ा हटकर एक युवक नट लेटा था, जिसकी स्याह आंखें आसमान की सियाही में टिकी थीं.."[109]

(ग) **संयुक्त वाक्य :**

"सांसों की रफ्तार साधारण हो गयी थी, किंतु उनकी गर्मी का अनुभव अब भी था ।"[110]

(9) लोकोक्तियों तथा मुहावरो का प्रयोग

शिवप्रसाद सिह जी ने लोकोक्तियो तथा मुहावरो का सार्थक, सटीक और सुंदर प्रयोग किया है। इससे उनकी भाषा अत्यंत सशक्त, प्रभावपूर्ण और 'अनियारी'–मर्मभेदक हो गयी है।

उनके विशाल भडार से कुछ रत्न प्रस्तुत हैं :

(क) **लोकोक्तियां :**

कर सेवा तो खा मेवा ।[111] देसी चिरई मरहठी बोली ।[112] बाप न मारी मेढकी बेठा तीरन्दाज ।[113] हम चरायें दिल्ली दिल्ली, हमें चरायें घर की बिल्ली ।[114] खाली पेट शैतान का डेरा ।[115]

(ख) **मुहावरे :**

लोहा लेना ।[116] दांत पीसना ।[117] नौ दो ग्यारह होना ।[118] नमक-मिर्च लगाना।[119] घड़ों पानी पड़ना ।[120] एड़ी-चोटी का पसीना एक करना ।[121]

इनके अतिरिक्त शिवप्रसाद सिंह जी ने अपने कथा-साहित्य में यत्र-तत्र रामायण की चौपाइयों, लोकगीतों, श्लोकों तथा गजलों का भी प्रयोग किया है, जिससे भाषा रोचक, सरस और प्रभावशाली हो गयी है । जैसे :

चौपाई :

पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा ।
सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा ।।[122]

लोकगीत :

मोरीधानी चुनरिया इतर गमके ।
धनि वारी उमरिया नइहर तरसे ।।[123]

श्लोक :

रासे हरिमिह विहित विलासम ।
स्मृति मनो ममकृतपरिहासम् ।।[124]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि डॉ शिवप्रसाद सिह जी की भाषा अत्यत सशक्त, दोषहीन, सार्थक एव प्रभावपूर्ण है । उसमें संप्रेषणीयता के लिए आवश्यक सभी विशेषताएं विद्यमान है । वह पाठको को आह्लाद तथा चेतना प्रदान करने मे समर्थ है । शिवप्रसादजी का भाषा पर पूर्ण प्रभुत्व रहा है। भाषा उनके इगित पर भावों को अभिव्यक्त करती दिखायी देती है ।

संदर्भ-संकेत

इस निबध के आरभ मे दिये गये उद्धरणो मे आये उदाहरणो का उल्लेख यहा नहीं है । यहा केवल उन्हीं सदर्गों को सकेतित किया जा रहा है, जो इस निबध से बाहर से लिये गये है । 'अलग अलग वैतरणी' तथा 'गली आगे मुडती है' के सक्षिप्त सस्करणो का उपयोग किया गया है।

1 'अधकूप' कहानी-सग्रह मे प्रायश्चित कहानी, पृ 172
2 'एक यात्रा सतह के नीचे' कहानी-सग्रह मे 'सुबह के बादल' से, पृ 84
3. वही, मुरदासराय, पृ 393
4. अलग-अलग वैतरणी, पृ 64
5 गली आगे मुडती है पृ 48
6. वही, पृ 49
7 वही, पृ 50
8 वही, पृ 171-172
9 वही, पृ 173
10 अलग अलग वैतरणी, पृ 37
11. गली आगे मुडती है, पृ 49
12 अलग-अलग वैतरणी, पृ 23
13 'अधकूप' सग्रह मे 'धरातल' कहानी पृ 11
14 गली आगे मुडती है, पृ 151
15 अलग-अलग वैतरणी, पृ 203
16 वही, पृ 158
17 वही, पृ 260
18 गली आगे मुड़ती है, पृ 199
19 अलग-अलग वैतरणी, पृ 66
20 वही, पृ. 171
21 गली आगे मुड़ती है, पृ 14
22 वही, पृ. 26
23. वही, पृ 47

24. गली आगे मुड़ती है, पृ. 23
25. वही, पृ. 52
26. वही, पृ 113
27 वही, पृ 143
28 वही, पृ. 142
29 वही, पृ 65
30 वही, पृ. 63
31 वही, पृ 178
32. वही, पृ 166
33 वही, पृ 147
34 वही, पृ 270
35. वही, पृ 221
36 वही, पृ 205
37 वही, पृ 204
38 वही, पृ 7
39 वही
40 वही, पृ 16
41 वही, पृ 25
42 वही, पृ 148
43 वही, पृ 39
44 वही, पृ 55
45 वही, पृ. 60
46 वही, पृ. 68
47. वही, पृ 79
48. वही, पृ 83
49 वही, पृ 82
50. वही, पृ 83
51 वही, पृ. 101
52 वही, पृ. 160
53. वही, पृ 174
54 वही, पृ. 180
55 वही, पृ. 236
56. वही, पृ. 252
57. गली आगे मुड़ती है, पृ. 251
58. अलग-अलग वैतरणी, पृ. 287
59 'एक यात्रा सतह के नीचे' कहानी-संग्रह की 'अरुंधती' कहानी, पृ. 210
60 गली आगे मुड़ती है, पृ. 85
61 अलग-अलग वैतरणी, पृ. 37
62 एक यात्रा सतह के नीचे की 'मुरदासराय' कहानी, पृ 393
63 गली आगे मुड़ती है, पृ. 207
64 वही, पृ 213
65 वही, पृ 212
66 वही, पृ. 17
67 वही, पृ 113
68 वही, पृ. 232
69. वही, पृ 36
70 वही, पृ 68
71 वही, पृ 59
72 वही, पृ 72
73 वही, पृ. 151
74 वही, पृ 69
75 वही, पृ. 118
76 अलग-अलग वैतरणी, पृ. 244
77 वही
78. वही
79. वही
80. वही, पृ. 245
81. वही, पृ 246
82. गली आगे मुड़ती है, पृ 73
83. वहीं, पृ 261
84. वही
85. वही, पृ 56
86. वही, पृ. 261
87. वही, पृ. 21

88. 'एक यात्रा सतह के नीचे' कहानी सग्रह की 'धतूरे का फूल' कहानी, पृ 115
89 अलग- अलग वैतरणी, पृ. 259
90 वही, पृ 14
91 वही, पृ 125
92 वही, पृ 126
93 वही, पृ 141
94 वही, पृ 127
95. वही, पृ 169
96. गली आगे मुड़ती है, पृ 48
97 अलग-अलग वैतरणी, पृ 102
98 वही, पृ 59
99 वही, पृ 296
100 वही, पृ 77
101 वही, पृ 57
102 वही, पृ 70
103. वही, पृ 75
104 वही
105 वही, पृ 72
106 वही, पृ 75
107 'अधकूप' कहानी सग्रह की 'रेती' कहानी, पृ 245
108 वही
109 वही, 'सपेरा' कहानी, पृ 222
110 वही, 'वशीकरण' कहानी, पृ 197
111 अलग-अलग वैतरणी, पृ 233
112. 'अधकूप' सग्रह की 'देऊ दादा' कहानी, पृ 79
113 अलग-अलग वैतरणी, पृ. 170
114 वही, पृ 159
115 वही, पृ 160
116 वही, पृ 277
117 वही पृ 227
118 वही, पृ 243
119 वही, पृ 238
120 वही, पृ 221
121 गली आगे मुडती है, पृ 175
122 'अधकूप' सग्रह 'बेहया' कहानी, पृ 258
123 वही, 'बिदा महाराज' कहानी, पृ 327
124 'एक यात्रा सतह के नीचे' सग्रह की 'अरुधती' कहानी, पृ 320

कीर्तिलता का महत्त्व

• डॉ. रामविलास शर्मा

इस सदर्भ में विद्यापति की कीर्तिलता का महत्त्व असाधारण है । यह उस कवि की रचना है जो अपभ्रश भी अलावा देशी भाषा में रचना करता है । इससे पहले प्राकृत और अपभ्रंश के कवि देशी भाषाओं का उल्लेख मात्र करते थे । बहुत से बहुत कुछ देशी शब्दो की सूची दे देते थे । विद्यापति देशी भाषा का उल्लेख ही नहीं करते, उसमे रचना भी करते हैं । यदि मैथिली में उनकी रचनाएं सुलभ न होतीं तो विद्वान् अवश्य कहते कि मैथिली अभी अपभ्रंश के गर्भ में है। सौ-दो सौ साल तक उसका उद्भव रुका रहता। किंतु विद्यापति ने मैथिली में कविता करके इस संभावना का नाश कर दिया।

प्राकृत-अपभ्रंश-आधुनिक-आर्य भाषाओवाली सीढी इतनी सुगम है कि विद्वान् उसे छोडकर आधुनिक भाषाओं के विकास-सूत्र अन्यत्र नहीं खेजना चाहते। इसलिए विद्यापति की अपभ्रश और मैथिल का समकालीन अस्तित्व देखते हुए भी वे इसी अपभ्रंश से—विद्यापति की अवहट्ट से—मैथिल के उद्भव की कल्पना छोड नही सकते। डॉ बाबूराम सक्सेना के अनुसार, "कीर्तिलता के अपभ्रश को मैथिल अपभ्रंश कहना उचित होगा।" (कीर्तिलता, संपादक बाबूराम सक्सेना, काशी, द्वितीय सस्करण, संवत् 2010, पृष्ठ 20)। कीर्तिलता की भाषा का विवेचन करने के बाद निष्कर्ष रूप मे उन्होंने लिखा है, कीर्तिलता की भाषा आधुनिक मैथिली और मध्यकालीन प्राकृत के बीच की है' (उ., पृष्ठ 23)। विद्यापति ने लिखा था :

देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
त तैसन जम्पओं अवहट्टा।

यहां देशी भाषा को अपभ्रंश मानकर जिन लोगों ने विद्यापति की पंक्तियों की व्याख्या की, उनकी उचित आलोचना शिवप्रसाद सिंह ने कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा में की है (इलाहाबाद, 1955 ई., पृष्ठ 32-33; उन्होंने पंक्तियों को जिस रूप मे उद्धृत किया है, वही रूप यहां दिया गया है ।) उन्होंने ठीक लिखा है : अवहट्ट के साथ

विद्यापति ने जिस 'देसिल बयन' का नाम लिया है, उसका संकेत मैथिली की ओर है और उसे व्यापक अर्थ में अपभ्रंश की तुलना में सभी आधुनिक आर्य भाषाओं के लिए अभिधेय मान सकते हैं। इसलिए अवहट्ट और 'देसिल बयन' को तदेव सिद्ध करने का आग्रह निराधार और व्यर्थ है।" (उप, पृष्ठ 38; यहां बअन परिवर्तित बयन रूप में दिखायी देता है।) शिवप्रसाद सिंह का अनुसरण करते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल ने कीर्तिलता के अपने संजीवनी व्याख्यावाले संस्करण (चिरगाव, झांसी, 1962) में अवहट्ट और मैथिल को अलग माना है "पुस्तक का अधिकांश भाग अवहट्ट में है और कुछ भाग विद्यापति की समकालीन प्राचीन मैथिली भाषा में है जिसे विद्यापति ने 'देसिल वयणा' कहा है।" (पृष्ठ 62)। कीर्तिलता की भाषा को उन्होंने भी परवर्ती अपभ्रंश माना है , उसे "अपभ्रंश भाषा से आगे विकसित होनेवाली 'अवहट्ट', भाषा कहा है (उप, पृष्ठ 44) आगे लिखा है : "ज्ञात होता है कि अवहट्ट और प्राचीन मैथिली एक-दूसरे के अति निकट आ गयी थीं और व्याकरण की दृष्टि से दोनों ने एक-दूसरे को बहुत प्रभावित किया था।" (उप, पृष्ठ 75)। इस वाक्य से ऐसा लगता है कि डॉ अग्रवाल के लिए अवहट्ट वैसे ही बोलचाल की भाषा थी जैसे मैथिल । इसीलिए दोनो एक-दूसरे को इस तरह प्रभावित करती है जैसे दो पडोसी जनपदीय भाषाए एक-दूसरे को प्रभावित करती है । यदि मिथिला की बोलचाल की भाषा मैथिल थी तो इस बोलचाल की भाषा को एक कृत्रिम साहित्यिक भाषा कैसे प्रभावित करेगी ? दरअसल बोलचाल की भाषा मैथिल ही कृत्रिम भाषा अपभ्रश को प्रभावित करेगी । इससे यह धारणा पुष्ट होती है कि अपभ्रश-परवर्ती और पूर्ववर्ती दोनों प्रकार की अपभ्रश-देशी भाषाओं से प्रभावित प्राकृत है । अनेक प्राकृत-अपभ्रश ग्रंथों के समान कीर्तिलता का भाष्य भी संस्कृत में लिखा गया । यद्यपि कीर्तिलता मे ही अपभ्रश के साथ मैथिल विद्यमान है, अपभ्रश के गर्भ मे नहीं, उसके बाहर निज रूप में विद्यमान है, फिर भी शिवप्रसाद सिह ने परंपरागत धारणा की पुष्टि करते हुए मैथिल आदि भाषाओं को परवर्ती अपभ्रश के गर्भ मे स्थित माना है "परवर्ती काल में अपभ्रंश बहुत कुछ प्राकृत प्रभावों को झाडने लगा था और उसमें देश भाषाओं का मूल ढांचा विकसित हो रहा था, जो एक तरह अपभ्रंश से भिन्न जनभाषाओं में नया रूप ग्रहण कर रहा था।" (कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृष्ठ 50)।

शिवप्रसाद सिंह ने कीर्तिलता की भाषा को परवर्ती अपभ्रंश माना है, इसलिए उसके साथ संदेश रासक, चर्यागीत आदि को भी अपने विवेचन का आधार बनाया है। इसी धारणा का अनुसरण करते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल ने प्राकृत पैङ्गलम् मे प्राप्त हम्मीर रासो की भाषा को 'उत्तरकालीन अपभ्रश या अवहट्ट' माना है। 12वीं सदी मे रचे हुए पृथ्वीराज रासो को वह अवहट्ट प्रधान शैली में रचा हुआ ग्रंथ मानते हैं। विद्यापति ने कीर्तिलता 15वीं सदी में लिखी किंतु देशी भाषाओं में--अवहट्ट

प्रधान शैली में—रचना दो-तीन सौ साल और पहले होने लगी थी। 12वीं सदी में हेमचंद्र ने अपभ्रंश का व्याकरण लिखा, और इसी 12वीं सदी में देशी भाषाएं साहित्य का माध्यम बनने लगी थीं। वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस संदर्भ में लिखा है "इसी शती के मध्य भाग में दो प्रवृत्तियां देखी जाती हैं। एक तो भाषा के अवहट्ट रूप में भाषा की अधिकाधिक प्रकृति (अर्थात् अपभ्रंश में देशी भाषाओं के अधिक तत्त्व मिलाने की प्रवृत्ति) और दूसरे प्राचीन प्रादेशिक भाषाओं के अलग विकास की प्रवृत्ति । इस समय का प्रामाणिक साहित्य अभी प्रकाश में नहीं आया। किंतु जान पड़ता है कि इन दोनों शैलियों का विकास अलग-अलग और मिलकर भी होता गया, जैसे बारहवीं शती के अंत में चंद कवि ने जो 'पृथ्वीराजरासो' लिखा वह अपभ्रंश या अवहट्ट प्रधान शैली को अपनाकर ही लिखा गया था।" (कीर्तिलता, पृष्ठ 71)

दो शैलियों की बात पढ़ कर मणिप्रवालम् शैली याद आ जाती है। केरल की बोलचाल की भाषा मलयालम थी, संस्कृत नहीं। अवहट्ट मे जनपदीय भाषाओं के तत्त्व मिलाये गये हैं, ये जनपदीय भाषाएं ही जनसाधारण के दैनिक व्यवहार का माध्यम थीं, अवहट्ट नहीं। अपभ्रंश और संस्कृत में मौलिक अतर यह था कि संस्कृत एक समय बोलचाल की भाषा रह चुकी थी और शिष्टजनों की भाषा बहुत दिनो तक रही पर अपभ्रंश (या प्राकृत) कभी भी बोलचाल की भाषा नहीं थी, न शिष्टजनो की भाषा थी। होती तो संस्कृत में भाष्य लिखने की नौबत न आती। वासुदेवशरण अग्रवाल ने यह मत प्रकट किया है कि बारहवीं सदी में प्रादेशिक भाषाओं मे साहित्य रचा जाता था। यह बात सही है।

विद्यापति ने अवहट्ट मे लिखा, संस्कृत में लिखा और सौभाग्य से मैथिल मे भी लिखा। उन्होने "संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ट और देशी इन चार भाषाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। ये उनके समय में साहित्यिक माध्यम के रूप में प्रचलित थी" (उप., पृष्ठ 62)। यह परंपरा बहुत दिनों से चली आ रही थी किंतु अन्य कवियों ने देशी भाषाओं का उल्लेख मात्र किया, उनमें काव्य रचा तो वह प्रकाश में नहीं आया । अपभ्रंश का व्यवहार करनेवाले महाकवि कालिदास भी थे । अपभ्रंश के श्लोक उन्हीं के रचे हुए है, इस धारणा का समर्थन करते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि विक्रमोर्वशीय के चौथे अंक में "प्रयुक्त रगमंच सबंधी निर्देशनों से ज्ञात होता है कि ये श्लोक प्राय चर्चरी नृत्य के साथ गाये जाते थे। चर्चरी एक लोकनृत्य का नाम था जिसे जायसी ने 'चांचरि' कहा है। ज्ञात होता है कि अपभ्रश और प्राकृत के इन प्रत्युक्ति और अन्योक्ति श्लोकों की रचना करते समय कालिदास एकदम ठेठ लोक के धरातल पर उतर आये" (उप., पृष्ठ 65) । अपभ्रंश के मात्रिक पद सस्कृत का छंदविधान भग करते हैं, अन्त्यानुप्रास की प्रवृत्ति भी जहा-जहां परिलक्षित है। जो लोग इन अपभ्रंश पद्यो को कालिदास विरचित मानते

हैं, उनके भावविह्वल होने का कोई कारण नहीं है। यह अपभ्रंश लोक-भाषा नहीं है और आभीरों की भाषा से उसका संबंध उतना ही है जितना सरहपाद की भाषा का।

अन्य ग्रंथों की अपभ्रंश के समान कीर्तिलता की अपभ्रंश में भी अनेक देशी भाषाओ के तत्त्व मिलते हैं । उसे चाहे परवर्ती अपभ्रंश कहा जाये, चाहे पूर्ववर्ती अपभ्रश, है वह अपभ्रंश, और उससे मैथिल भाषा का जन्म नहीं हुआ है, मैथिल भाषा मे उसके समानांतर साहित्य रचा जा रहा था । उसमें संयुक्त व्यंजनों की प्रचुरता और मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप उसी प्रकार हेमचद्र व्याकरण के अपभ्रश पद्यों में है । कित्तिवल्लि, खेलत्तणें, कव्व, सव्व, विज्जावइ, छइल्ल, मइल्ल रूपों की भाषा न तो मैथिल है और न पूर्वी प्रदेशों की अन्य कोई भाषा। इसमें णकार-बहुलता वैसे ही है जैसे प्राकृत में । पचीसों शब्द ण् से आरंभ होते है । फारसी शब्दो का जो अपभ्रशीकरण हुआ है, वह काफी रोचक है । उज्जीर (वजीर), खाण (खान), तवेल्ला (तवेला), पइज्जल्ल (पैजार, जूते), पाइग्गह, (पायगह, घुड़सवार), फरमाण (फर्मान), वल्लीअ (बाली), मुलुक्का (मालिक), सुरताण (सुल्तान) आदिं कर्ताकारक मे पश्चिमी भाषाओ, के 'ने' का प्रयोग 'जेन्ने' रूप मे अनेक बार हुआ है। पूर्वी प्रदेश के लोगो को इस 'ने' से अभी तक परेशानी होती है। यह निश्चित है कि विद्यापति के समय में इसका प्रयोग मैथिल भाषा में न होता था। विद्यापति ने एक जगह तुरुकाणनों अथवा तुरुकाणऒं रूप का प्रयोग किया है। इसमे संबंध-सूचक 'नो' गुजराती भाषा में प्रयुक्त होता है हिदी क्षेत्र की पूर्वी या पश्चिमी किसी भी बोली में उसका व्यवहार नहीं होता। इसी तरह उन्होने जीअना, भोअना, बटुराना जैसे क्रियार्थी सज्ञा रूपो का प्रयोग किया है जो पश्चिमी बोलियों की विशेषता है। अनेक सर्वनाम, अनेक कारक चिन्ह अथवा परसर्ग यहा वही है जो तुलसीदास की रचनाओं मे मिलते हैं। इनमें अनेक ऐसे है जिनका प्रयोग मैथिल या पूर्वी बोलियों मे नहीं होता। अत इस 'परवर्ती' अपभ्रंश का कोई विशेष सबध मैथिल से नहीं है ।

['भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं' से अनुमति पूर्वक]

कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा

• राधा जनार्दन

[तमिल भाषी हिंदी कवयित्री राधा जनार्दन का संक्षिप्त वक्तव्य हिंदी की कालजयी रचनाओ के महत्त्व को रेखांकित करता है।]-संपादक

जो प्राचीन है उस पर विचार करना सहज नही किंतु आवश्यक और श्लाघ्य दोनो है। डॉ शिवप्रसाद सिंह ने इस कठिन कार्य को 1955 मे ही आवश्यक समझकर श्लाघ्य रूप में संपन्न किया था । 'कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा' पर उनके गभीर एव रोचक अनुसंधान के इस पुस्तक रूप ने 1988 में तृतीय संस्करण की सार्थकता निरूपित की है ।

पद्रहवीं शताब्दी के राजाश्रयी रसिक कवि विद्यापति रचित 'कीर्तिलता' राजा कीर्तिसिह के चरित्र का यशोगान है । इसमें प्रयुक्त अवहट्ट भाषा हिंदी की अग्रजा तथा अपभ्रश की अनुजा होने के नाते सक्रांतिकालीन विशिष्टताओ से युक्त है । स्वयं विद्यापति ने इसे 'देसिल वयना सब जन मिट्ठा' कहकर एक रागात्मक उन्नयन प्रदान कर दिया था । लेखक ने इसी अवहट्ट भाषा का संतुलित विश्लेषण प्रदान करते हुए 'कीर्तिलता' के विवादास्पद अंशों का पाठानुसधान प्रस्तुत किया है ।

पुस्तक की सामग्री दो खंडो मे विभक्त है । प्रथम खंड में अवहट्ट के प्रारभिक रूप, इतिहास, विकास, मैथिली-पिंगल-देशी आदि भाषाओं के साथ उसका सबध, तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियां आदि पर मतानुमत के आधार पर लेखक ने मौलिक विश्लेषणात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किये है । 'राउर वेल' आदि अवहट्ट की कृतियो का परिचय, शौरसेनी अपभ्रश को अवहट्ट की जननी मानते हुए अवहट्ट भाषा तथा कीर्तिलता दोनों की भाषाई विशिष्टताओ का सुव्यवस्थित एवं क्रमिक उद्घाटन, जिज्ञासु सुधी जनों के लिए आनंद का विषय बन पडा है ।

दूसरे खंड में कीर्तिलता के नव-संस्करणों में जो अर्थ संबंधी नव-उपलब्धियां है, वे बहुचर्चित स्तंभ तीर्थ (बीकानेर) प्रति तथा संस्कृत टीका द्वारा प्राप्त

नव-आलोक के साथ, पल्लव क्रम मे प्रस्तुत हैं । कीर्तिलता के वस्तु वर्णन तथा साहित्यिक मूल्यांकन का भी महत् कार्य लेखक ने किया है । संपूर्ण प्रक्रिया में शोधात्मक विश्लेषण की स्फूर्ति है जो लेखकीय निष्कर्ष के लक्ष्य को रोचक बनाये रखती है। अवहट्ट भाषा के इतिहास एवं विद्यापति के साहित्य को तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का फलक प्रदान कर लेखक ने अपने कार्य को उचित व्यापकता दी है ।

छात्र तो छात्र, हर जिज्ञासु पाठक के ज्ञान नेत्र को यह पुस्तक खोलती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी का प्राण-स्पंदन ऐसे विज्ञ सेवकों की मुट्ठी में ही बंद है ।

उत्तरयोगी : नकार से उत्पन्न प्रतीति की उपलब्धि

• डॉ. बी. डी. मिश्र

हिंदी कथा-क्षेत्र में डॉ शिवप्रसाद सिंह एक जाना-पहचाना नाम है, किंतु एक रचनाकार और प्राध्यापक होने के नाते समीक्षा, निबंध और जीवनी आदि अन्य क्षेत्रों में भी उन्होंने अपनी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है । वे जहां भी गये हैं, अपनी रचनात्मक क्षमता के साथ गये हैं । जीवनीकार के रूप में तो वे एक ऐसी छाप छोडते हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ है । जीवनीकार के रूप मे भी वे अपने उपन्यासकार को सजग रखते है ताकि डिटेलों के बीच अनचाही अरोचकता न प्रविष्ट कर जाये । 'उत्तरयोगी' श्री अरविद की एक ऐसी जीवनी है जो महर्षि के अत्यंत गुरु-गंभीर मान लिये गये व्यक्तित्व को इतने सहज एव रोचक ढंग से प्रस्तुत करती है कि डॉ सिह की ही तरह अरविंद को अगम्य मान नकारनेवाले मुझ जैसे के लिए पहली बार महर्षि अरविंद बोधगम्य हुए और उनके तेजस्वी व्यक्तित्व की एक गहरी छाप पडी । इसके पहले एकाध प्रयास के बाद ही मैंने अरविंद-दर्शन को असहज मानकर छोड़ दिया था। 'उत्तरयोगी' के लेखक का मैं आजीवन कृतज्ञ रहूंगा और निवेदन करूंगा कि पाठक इसे पढें और अपने निर्णय दें। दुखद यह है कि इतनी अच्छी जीवनी की जैसी चर्चा होनी चाहिए थी, नही हुई । क्यों ? फिलवक्त यह विचारणीय प्रश्न मैं पाठकों पर ही छोडता हू।

'उत्तरयोगी' की रचना-प्रक्रिया मे उतरने से पहले जरूरी है कि हिंदी में जीवनी-साहित्य की स्थिति पर विचार कर लिया जाये । श्रेष्ठ जीवनियों और जीवनीकारों का हिंदी में अभाव है, इस सचाई को नकारा नहीं जा सकता । कारण, जीवनी न तो स्मरण-चित्र है, न ही ऐतिहासिक विवरण । स्मृतियां और विवरण तो वे तथ्य हैं जो जीवनी को प्रामाणिक आधार भर प्रदान करते हैं । 'एक आवारा मसीहा' जैसी कुछ ही जीवनियां हैं, जो सही अर्थों में व्यक्तित्व को मयकृतित्व के प्रस्तुत करके उसकी शक्ति और सीमा का उद्घाटन करती हैं। जीवनी-लेखन कठिन कर्म है। सारी सामग्री एकत्रित करने की दुरूह प्रक्रिया से गुजरने के बाद उसके माध्यम से उस व्यक्ति की व्यक्तित्व बनती मानसिकता से जुड़ना होता है । साहित्य में परंपरागत

शब्द तादात्म्य इसी जुड़ाव को ध्वनित करता है । इस तादात्म्य की प्रेरणा उसी व्यक्ति के प्रति होती है, जिसको जानने और समझने में हम अपना विकास मानते हैं । हमारे लिए आदर्श बनकर वह मानसिक क्षितिज पर उतरता है । फिर ऐसे व्यक्ति के प्रति आदर-भाव स्वतःस्फूर्त होकर अततोगत्वा स्थायी भाव बन जाता है । किंतु स्वार्थवशीभूत आज आदर-भाव ओढा भी जाता है और फिर सामग्री संकलित कर उसे स्थायित्व प्रदान करने की चेष्टा की जाती है। किंतु पारखी आखे इसे बखूबी पहचान लेती हैं, कि आदर-भाव के स्थायित्व की प्रक्रिया क्या है ?

डॉ शिवप्रसाद सिह चूकि अरविंदी दर्शन की प्रक्रियानुसार अपनी यात्रा नकार से आरभ करते है, इसलिए महर्षि के प्रति उनके आदर का स्फुरण अदर से होता है । 'उत्तरयोगी' उनकी पहली जीवनी है, जो ठेठ अर्थों में जीवनी है भी नहीं । कहें तो कह सकते हैं, जो अधिक तर्कसम्मत होगा, कि यह लेखक का अरविंद की जीवन-यात्रा की राह चलकर उन्हे समझने का प्रयास है । इसके पहले उन्होने 'शाति निकेतन से शिवालिक तक' के सपादक रूप में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व को समझने का सुदर प्रयास उसी ग्रथ में प्रकाशित अपने छोटे लेख 'विरूपीकरण' मे किया था । उसमे भी उनके प्रश्नाकुल मन की झलक के साथ आचार्य के असाधारण व्यक्तित्व की खोज का स्पष्ट सकेत है । आचार्य द्विवेदी उनके गुरु रहे जिन्होने उनको साहित्य की दीक्षा दी थी । किंतु उनके काशी आगमन का इतिहास बहुत सुखद नही है । उसके साथ अनेक प्रवाद संलग्न है । काशी की विद्वन्मडली मे द्विवेदीजी को नकारात्मक नजरिए से देखा गया । 'विरूपीकरण' में इसका स्पष्ट उल्लेख नही है, पर अप्रत्यक्ष सकेत है । कहना न होगा कि द्विवेदीजी को जाचने-परखने की प्रेरणा उन्हे परिवेशगत नकार से ही मिली । प्रत्यक्ष और प्रवाद के तनाव मे ही व्यक्तित्व का सही मूल्याकन होता है । अन्यथा सब कुछ एकपक्षीय हो जाता है । या तो निंदात्मक स्वर जोर-शोर से सुनायी पडते है या स्तुतिगान की भरमार हो जाती है । वस्तुपरक जीवनी का आशय यही है कि उससे जो गुणात्मक तस्वीर उभरे वह सच्ची और तथ्यों पर आधारित हो, केवल कल्पना-प्रसूत नहीं । इसीलिए नकार से उत्पन्न स्वीकार की प्रतीति असरदार होती है और जीवनीकार को भी प्रभावित करती है ।

यही शिवप्रसादजी के 'जीवन-यज्ञ' के अतर्गत लिखे गये प्रोक्त लेख और 'उत्तरयोगी' के अंतर को समझ लेना भी उपयुक्त होगा । लेख के पुरुष आचार्य द्विवेदी का प्रत्यक्ष व्यक्तित्व लेखक के लिए आदरणीय था, लेकिन उनसे सलग्न प्रवाद अप्रत्यक्ष । यहां आदरभाव को नकारनेवाले तत्त्वो की छानबीन से उसे पुष्ट और प्रमाणित करने का उपक्रम है । कह सकते हैं कि स्थापित मूर्ति को उसे खंडित करनेवाले तत्त्वो से रक्षित करने का प्रयत्न 'विरूपीकरण' की आधारभूमि है । गो कि यह प्रयास कम दुस्साध्य नहीं होता । इसके विपरीत 'उत्तरयोगी' की रचना-प्रक्रिया का

प्रस्थान-बिंदु ही नकार है । यहां अरविंद की कोई छाप लेखक पर है तो यही कि उनका दर्शन कठिन ही नहीं अबोधगम्य है । और इसीलिए वह वायवीय और अप्रासंगिक है । कहने की आवश्यकता नहीं कि अरविंद-दर्शन के खंडन और आलोचना की जिज्ञासा से ही डॉ. सिंह ने उन्हें जानने का प्रयास शुरू किया । इस प्रक्रिया में जो उपलब्ध हुआ वह स्वयं लेखक के लिए विस्मयकारी था । नकार के माध्यम से गुजरकर जो स्वीकार भाव उन्हें मिला उसने अतिमानस की दिशा मे उनकी आंखें खोल दीं । न-कुछ से आरभ कर पायी गयी अरविंद की प्रतीति की यह प्रक्रिया कितनी कठिन है, इसका अंदाज खुद पाठक लगा सकते है । अरविंद के साथ तादात्म्य की इस उपलब्धि की प्रशसा इसलिए भी करनी होगी कि द्राविड प्राणायाम से लिखी जानेवाली ऐसी जीवनियों का सर्वथा अभाव है । डॉ रामविलास शर्मा रचित 'निराला' और विष्णु प्रभाकर रचित 'एक आवारा मसीहा' जैसी कुछ ही जीवनियां गुणात्मक प्रभाव डालती है । कारण जीवनी अपनी प्रामाणिकता उपलब्ध करती है, व्यक्तित्व के विकास के साथ, जिसका साक्ष्य 'उत्तरयोगी' है । पाठक स्वयं 'उत्तरयोगी' से गुजरकर इसकी जांच कर सकते है ।

'उत्तरयोगी' का प्रकाशन वर्ष सन् 1972 ई है । संभवतः सन् 1957 में लेखक को अपने अनुजतुल्य शिष्य डॉ कृष्णबिहारी मिश्र से 'द लाइफ डिवाइन' मिली थी, पर हिदी कविताओ में अरविंद-दर्शन की दुर्गति से क्षुब्ध होकर उन्होने पुस्तक पर ध्यान ही नहीं दिया । अरविद को जानने की जिज्ञासा उनमें जगी प्रो जीन हर्बर्ट के लेखो से । 'पायनियर आफ सुप्रामेंटल एज' (स जय स्मिथ) को पढकर डॉ सिंह ने लगभग दस-बारह वर्षों मे जो ज्ञान-यात्रा तय की, उसका साक्षात्कार है 'उत्तरयोगी' । यहीं डॉ सिह की यह टिप्पणी भी विचारणीय है—"शायद भारतीय बौद्धिक की खासियत है कि वह अपने देश की बडी से बडी विभूति को तब तक स्वीकार करने की स्थिति में नहीं होता, जब तक उसकी प्रशसा मे विदेशी बौद्धिको की एक कतार न खडी कर दी जाये ।" (उत्तरयोगी, पृ 445) ग्रियर्सन से लेकर हर्बर्ट तक पश्चिमी-विद्वानो द्वारा हमें सचेत किया जाना इस बात का स्पष्ट संकेत है कि भारतीय विद्वान् चितकों मे आत्मविश्वास की कमी रही है, जिसे हटाने का महत्त्वपूर्ण कार्य विवेकानद तथा अरविंद जैसे महर्षियो ने किया । इस कडी मे अरविंद का योगदान अद्यतन श्रेष्ठतम है जिसके अनेक साक्ष्य 'उत्तरयोगी' के पृष्ठों मे अंकित हैं । गो कि भारतीय अध्यात्म को जानने की जिज्ञासा उनमे भी पश्चिम के माध्यम से ही पैदा हुई थी क्योंकि पिता उन्हें विलायती बनाना चाहते थे । लेकिन सही मायने मे अध्यात्म को उन्होंने उसके मूल पाठ से ही जाना । इसीलिए वे बडे से बडे पश्चिमी दार्शनिकों इमर्सन, रसेल आदि का खडन कर सके और उनकी दृष्टि पर चढ़े अहं के चश्मे को उतारने में सफल रहे । पश्चिमी दर्शन में भी अहंविसर्जन का नाटक कम नहीं हुआ, पर कुल मिलाकर उसका अंत या तो ख्रिस्टी उदारवाद मे हुआ या भौतिकवाद

में । जबकि भारतीय अध्यात्म दर्शन 'अहं' को 'सोह' बनाने में विश्वास करता है; कारण वह आत्मसत्ता से परे भी एक मानसिक सत्ता में विश्वास करता है । स्वातंत्र्य का नारा देनेवाले पश्चिम की साम्राज्यवादी लिप्सा एवं जातीय गर्व ने भी उन्हें हमेशा विश्वबंधुत्व का सही साक्षात्कार नहीं करने दिया । अपने अनुभव से उपलब्ध डॉ. सिंह की टिप्पणी इस बात का भी स्पष्ट सकेत करती है कि हमें भारत को उसके मूल में देखने तथा समझने की चेष्टा करनी चाहिए । पश्चिमी निर्णयों को आंख मूंदकर नहीं स्वीकारना चाहिए ।

'उत्तरयोगी' का कलेवर विस्तृत है जिसका विभाजन सत्रह अध्यायो में किया गया है और सबको सटीक शीर्षक दिये गये हैं । 'मैंने श्री अरविंद को नकारने की कोशिश की' पुस्तक का अतिम प्रकरण है, जिसका उद्धरण पीछे दिया जा चुका है। यह प्रकरण पुस्तक की विश्वसनीयता को बंढाता है और साथ ही लेखक को अरविंदीय चितन-प्रक्रिया से जोडता है । मूल पाठ से बाहर पडने के कारण इसे अत में दिया गया है । 'तेरा तुझको सौंपते का लागत है मोंहि' के अनुरूप लेखक अरविंद द्वारा उपलब्ध नकार से अपने नकार को परिपुष्ट करने का इसमें प्रमाण प्रस्तुत करता है । इन अध्यायों के अतिरिक्त उपलब्ध सामग्री की अनुक्रमणिका दी गयी है और चित्र-सूची भी जो लेखक के गहरे प्रयत्न की बोधक है ।

समीक्ष्य ग्रथ का पहला ही निबंध है–'उत्तरयोगी' जो ग्रंथ का शीर्षक भी है । हिदी लेखकों की इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल, जिसके तहत वे शीर्षक तो बडे सूक्ष्मअर्थी एवं चित्ताकर्षक रखते हैं कितु उसकी प्रासगिकता को व्याख्यायित करने से कतरा जाते है, डॉ सिह 'उत्तरयोगी' की गभीर व्याख्या करते है और महर्षि अरविंद को परपरागत योगियो से अलग प्रमाणित करते है । निस्सदेह अरविद को उत्तरयोगी प्रमाणित करने का साक्ष्य उन्हें अरविद दर्शन के गहन मथन से ही उपलब्ध हुआ । समूची पुस्तक का संश्लिष्ट स्वर यही है कि अरविंद का दर्शन अतिमानस और भौतिक शरीर को जोडकर जिस तरह एक नये योग का सूत्रपात करता है, वैसा पिछले युगो मे कभी नहीं हुआ । योगी ऊर्ध्व मे जाकर फिर अधोमुखी होने को पतन मानते रहे। जबकि उनके समक्ष वैदिक ऋचाए साक्ष्य रूप में प्रस्तुत थीं जिनमें अध्यात्म तथा भौतिकता का सुदर समजन था । आज की अतिभौतिक चेतना को अतिमानसिक चेतना से जोडना कितना जरूरी है, इसका पूरा प्रमाण 'उत्तरयोगी' देता है ।

अरविंदीय योग की पहली शर्त यही है कि "निरंतर अपने आंतरिक पुरुष को दिव्य-चेतना की ओर उन्मुख किया जाये जिसकी अवस्थिति मन से बाहर होती है, न कि मन के भीतर । सतत गतिशील इस उन्मुखता को ही अरविंद खुलना कहते हैं । इस प्रक्रिया में चैत्य-पुरुष (Psychic) धीरे-धीरे अवचेतन से ऊपर आकर जीवन के नियत्रण का कार्य अपने हाथो में ले लेता है । फिर वातावरण और संस्कार निर्मित मनुष्य के मन-बुद्धि के स्थान पर दिव्य-चेतना के प्रतिनिधि चैत्य-पुरुष का शासन

आरभ होता है।" (उत्तरयोगी, पृ 15-16) बुद्धि के बल पर सब कुछ कर सकने का दभ भरनेवालो के लिए अरविंद दर्शन एक चेतावनी है, जो दिव्य-चेतना (ईश्वर) को नकारते हैं । कारण, उन्होंने कभी खुलने की चेष्टा नहीं की । उनका चैत्य-पुरुष अवचेतन में ही बंद रह जाता है । चैत्य-पुरुष को अवचेतन की अंधी कारा से निकालने के लिए अहं के विसर्जन तथा पूर्ण समर्पण की ईमानदार कोशिश आवश्यक होती है। कहना न होगा कि भौतिक साधनों पर निर्भर और उसके तर्कजाल में बुरी तरह उलझे हुए आधुनिक व्यक्ति के लिए समर्पण आत्महत्या का पर्याय बन गया है । अरविंद ने उसकी भ्रांति के निवारणार्थ ही अपने दर्शन को नितांत आधुनिक बनाने का प्रयत्न किया । 'ईश्वर की मौत' की घोषणा करनेवाले पश्चिम की अहंग्रस्त वैज्ञानिकता पर कटु प्रहार करते हुए उन्होंने सहज ढंग से स्थापना दी कि ईश्वर है और वह कभी मर नहीं सकता । उन्होंने ईश्वर को देखा था, उसका साक्षात्कार किया था । उसे देखने के लिए अनुभव की आंख खोली थी । उस प्रक्रिया से गुजरे थे जिस पर चलने के लिए पहली शर्त है—दिव्य-चेतना के प्रति आस्था । जहां तक साधना का प्रश्न है वह चैत्य-पुरुष के जागृत होने तक ही कठिन होती है । "चैत्य-पुरुष के उदय के बाद संपूर्ण जीवन ईश्वरीय निर्देशन में उसी के द्वारा निर्धारित कार्यों को पूरा करने का यत्र बनने लगता है ।" (वही, पृ 15) यंत्र-संकट की भयावहता मनुष्य को ईश्वरीय क्रियाओ को पूरा करनेवाला यंत्र बनाकर ही कम की जा सकती है, अन्यथा नहीं । सबसे बडी बात तो यह है कि इस साधना को कैसे भी किया जा सकता है, बशर्ते आप उसके लिए उद्यत हों । लेखक के शब्दों में—"इन (योग) स्तरों का कोई नियमित क्रम नहीं है, साधक की अपनी बनावट के अनुसार किसी एक स्तर पर रूपांतरण की क्रिया आरंभ हो जाती है, किंतु जब तक सभी स्तर रूपांतरित नहीं हो जाते दिव्य-चेतना का चरमोत्कर्ष अप्राप्य ही रहेगा ।" (वही, पृ.15) यानी आप बौद्धिक, प्राणिक, मानसिक किसी स्तर से आरंभ करके सभी स्तरो को जोड़ सकते हैं । शर्त बस इतनी कि आपमे रूपांतरण के प्रति गहरी आस्था एव निष्ठा हो ।

इस प्रकार 'उत्तरयोगी' के लेखक ने पहले ही अध्याय में वह पीठिका निर्मित की है कि उससे गुजरने के बाद आप अरविंद के प्रति आस्था रखने लगते हैं और अरविद का योग आपके लिए महज कल्पना-लोक नहीं रह जाता और न ही आप उस पर पलायनवाद का कोरा आरोप लगा सकते हैं । अरविद को जानने तथा उनके संघर्ष को समझने की आपकी जिज्ञासा तीव्र हो जाती है । एक कथाकार ही जीवनी-लेखन का यह विधान रच सकता है जो छूटते ही जिज्ञासा जाग्रत कर दे ।

इसके बाद शुरू होता है सिलसिला अरविंद के विकास-क्रम का जो उनके जन्म से लेकर मृत्यु तक के संघर्ष को प्रस्तुत करता है । जीवनी के हर अध्याय को उसी क्रम से रखा गया है, जिस क्रम से अरविंद की चेतना निरंतर विकसित होती हुई दिव्य-चेतना का अंग बनी । संपूर्ण संरचनात्मक योजना में जीवनीकार का एकमेव

लक्ष्य यही रहा है कि अरविंद को उनके संघर्ष के संदर्भ मे समझा जाये, न कि अवतार का मुलम्मा चढ़ाकर उन्हें सामान्य जीवन से दूर कर दिया जाये । महापुरुषों को लेकर यह आस्थावाद ही है जो उन्हे असामान्य कहकर बराबर जन-जीवन से दूर करता रहा है । नकार से शुरू करने के कारण ही डॉ सिंह को यह सुविधा रही है कि वे अरविंद दर्शन और जीवन को मानवीय चेतना के सघर्षात्मक उन्नयन के परिप्रेक्ष्य में भली-भाति समझने तथा समझाने में सफल हुए हैं ।

'जन्म से प्रवासी' के अतर्गत लेखक ने अरविंद के जन्म तथा बचपन के विवरणो से पूर्व ही 'प्रवास' की मीमासा की है । पाश्चात्य दर्शनो के सदर्भ मे ऋग्वेद की एक ऋचा को केंद्र मे रखकर जिसका आशय है—'दो में विभक्त होकर एक साथ चलते हुए भी वह हमेशा प्रवास मे रहता है', लेखक का विवेचन अरविंद के जन्मजात प्रवासी स्वभाव को गहराई से रेखाकित करता है, जिसके अभाव में संभवत: वे महर्षि अरविंद न बन पाते । लेखक के शब्दो में ही एक जायजा लें—"अस्तित्ववादी चितक जीवन के बोध के लिए उसका पूर्वनिर्मित वातावरण के प्रति अहंपूर्ण अलगाव (कीर्केगार्द), अस्वीकृति (नीत्से), निर्वासन (यास्पर्स), नास्तिभाव और शून्यता का भय (हिडेगर), विदीर्णता विभक्ति (कापका), मूल्यदायी एकांत (कामू) तथा बोधपूर्ण अलगाव (सार्त्र) का दृष्टिकोण रखना आवश्यक मानते हैं। श्री अरविंद इनमे से नीत्से को छोडकर किसी से परिचित नहीं थे। हम पश्चिम के इस सर्वाधिक चर्चित दर्शन के माध्यम से श्री अरविंद के व्यक्तित्व के कुछ पक्षों को समझने की कोशिश कर सकते है । यद्यपि उनके सपूर्ण व्यक्तित्व को समझने के लिए अस्तित्ववाद अपर्याप्त है ।" (वही, पृ 37-38) कारण, दोनो दर्शन प्रवास की अवधारणाओ की भिन्नता के साथ सिरे के ही एक-दूसरे के विरोधी हैं । अस्तित्ववाद में दिव्य सत्ता का सर्वथा अस्वीकार है, जबकि अरविंद उसे स्वीकृति देते है । फिर भी लेखक को दोनों में 'एक प्रीतिकर साम्य' दिखता है कि दोनो प्रवास-तत्त्व को पहचानते है । दोनों ने वैयक्तिक अनुभूति को पहचाना है ।

'प्रवासी तत्त्व' के तात्त्विक विश्लेषण के बाद लेखक ने अरविद के जन्म से प्रवासी बचपन में प्रवेश किया है और उनके लंदन प्रवास तथा अध्ययन के बीच उनके प्रवासी तत्त्व को पहचानने की कोशिश की है । इसी के वे आई.सी.एस. बनने से जान-बूझकर विरत हुए और उन्हें सास्कृतिक प्रवास देने के प्रति दृढ उनके पिता भी उन्हे आजीवन प्रवासी छोडकर गोलोक के प्रवास पर चले गये । स्थितियो का कुछ ऐसा विधान हुआ कि वे वैदिक ऋचा के अनुरूप बनने की दिशा मे प्रेरित हुए। विद्वान् रचनाकार ने उद्धरण और तथ्य इस तरह संयोजित किया है कि जन्म से प्रवासी होने की उनकी नियति तथा संघर्ष दोनो का मणिकांचन योग उपस्थित हुआ है । देखिए ये पक्तियां - "पिता रहे नहीं, मा ने पहचाना नहीं । जिंदगी का वह ऐसा मोड था जहां अरविंद प्रवास से लौटकर भी प्रवासी रह गये । पश्चिम छोडकर चले थे

तो उनके मन में इंग्लैंड के प्रति कोई मोह नहीं रहा । भीतर और बाहर दोनों से प्रवास, दोनों से मुक्ति ।" (वही, पृ 58)

'परिवेश की पहचान' शीर्षक अध्याय तनिक विस्तार के साथ इंग्लैंड से आये प्रवासी युवा के नये परिवेश से परिचित होने के संघर्ष की प्रक्रिया का द्योतक है जिससे उसे अपरिचित रखने का हठात् प्रयत्न किया गया था । अरविंद की भारतविषयक जिज्ञासा ने उन्हें उस देश की तत्कालीन राजनीतिक हलचल से गहराई से जोड़ दिया जिसकी किसी भाषा तक का ज्ञान उन्हें न था । वे बड़ौदा कॉलेज में उच्च वेतन प्राप्त प्राध्यापक थे, लेकिन साधु का सामान्य जीवन जी रहे थे । उस समय उनका मुख्य लक्ष्य आजादी था जिसके बिना आदमी जीवित मुरदा होता है । झूठे न्याय और दंड भय पर टिका हुआ साम्राज्यवादी शासन उनकी साधना में बाधक था, इसलिए उनकी पहली चिंता देश के परिवेश को जानने तथा उसे जीवनानुरूप बनाने की थी। राजनीतिक आजादी के बिना यह असंभव था । अरविंद ने अहिंसा का विरोध और हिंसक आंदोलन का समर्थन किया क्योंकि जिस तरह का दमन-चक्र चल रहा था उसके संदर्भ में उन्हे यानी युवा अरविंद को वह अच्छा और प्रासंगिक लगा। बनिस्पत उस प्रस्तावोवाली नरम दल की अहिंसक दीनता के उन्होंने कांग्रेस के गरम दल का समर्थन किया । क्रांतिकारियों को प्रेरणा और शरण दी, पर आत्मबल के संचयन पर भी निरंतर बल देते रहे । यही कारण था कि खुद को उन्होंने उन आध्यात्मिक सांस्कृतिक चिंतनों से जोड़े रखा जिनसे भारत की शक्ति एवं एकता के जीवनसूत्र मिलते थे । आगे चलकर राजनीति से विरक्ति उन्हें इसीलिए हो पायी क्योंकि राजनैतिक स्वार्थों की उस लड़ाई से कोई सुखद परिणाम पाने की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी । विद्वान् लेखक ने अरविंद के जीवन के विवादास्पद मुद्दों को बड़े तर्कसंगत ढंग से उभारा है । उसका ध्येय अरविंद को अवतार साबित करना नहीं एक ईश्वरीय मशीन साबित करना रहा है जो सफलता-असफलता के मीठे-कड़ुए अनुभवों के बीच बनती है । इस संदर्भ मे उसे गिरिजाशंकर राय जैसे विरोधियों से टकराना भी पड़ा है । अरविंद के सर्वांगीण जागरूक व्यक्तित्व की गहरी पहचान इस अध्याय में करायी गयी है । साक्ष्यों के समुचित उपयोग के कारण ऐसा नहीं लगता कि लेखक कहीं से अतिशय भक्तिभाव में तथ्यों को तोड़-मरोड़ रहा हो या उनको अनदेखा कर रहा हो । जन्म से प्रवासी अरविंद के मन के लिए परिवेश की जांच में भी सुविधा रही है और लेखक के लिए प्रवास के तात्त्विक ज्ञान के कारण उसे जांचने मे सफलता मिली है ।

परिवेश की गहरी पहचान के कारण ही अरविंद के लिए राजनीति में उतरने के अलावा कोई रास्ता न था । लेखक के शब्दों में "बहरहाल बंगाल में क्रांतिकारी आंदोलन भ्रष्ट हो गया । कुछ तो आतंकवाद के सस्ते और निष्प्रयोजन रास्ते को अपनाने के कारण और कुछ भावुक क्रांतिकारियों की जल्दबाजी के कारण ।"(वही,

पृ 128) ऐसी स्थिति में बंगाल को राजनैतिक मार्ग-दर्शन की कितनी आवश्यकता थी ? अरविंद के सिवा वह मार्गदर्शन और किससे मिलता जो परोक्षतः ही सही क्रांतिकारी आंदोलन के समर्थक थे । अतः वे राजनीति में कूद पड़े। 'स्वराज्य के बलिपंथी' में लेखक ने सारी स्थितियों के परिप्रेक्ष्यों में उनके बलिपंथी कदम को, उनकी तेजस्विता तथा स्वराज्य-प्रेम को गहराई से रेखांकित किया है । इसी अध्याय में हम अरविंद की लेखनी के जादू से वाकिफ होते हैं और उन प्रयत्नों से भी जिनके कारण फूट एवं वैयक्तिक ईर्ष्याग्रस्त क्रांतिकारियों में एकता स्थापित हुई, भले ही वह टिकाऊ नहीं बन पायी । इसी अध्याय मे सूरत कांग्रेस का वह लोमहर्षक दृश्य भी है जिसके निर्देशक अरविंद थे और जिसने कांग्रेस को विभाजित कर दिया । उसके दोनों दल—गरम और नरम—अलग हो गये। भला ब्रिटिश सरकार अरविंद की इस भूमिका को कैसे सहन कर सकती थी । इसका अंत तो काल कोठरी में पहुंचकर ही हो सकता था। किंतु यही काल कोठरी उनके लिए रोशनी का वातायन बनी । लगभग एक वर्ष तक 'अंडर ट्रायल' कैदी रहकर उन्होने ब्रिटिश सरकार के न्याय-नाटक को देखा और साथ ही उस नाटक को भी जो उनके अतर्जगत में चल रहा था । लेखक ने भौतिक स्थितियों के संदर्भ में अरविंद के अध्यात्म की ओर जाने की यात्रा-प्रक्रिया को बडी मनोवैज्ञानिक सूझ के साथ उकेरा है ।

कैद से छूटने की आशा अरविंद को कतई न थी क्योकि शासन की नृशंसता एवं न्याय-व्यवस्था की पक्षधरता से वे भली-भांति परिचित थे । किंतु इस सोपान पर पहुचकर जो बलिपथ का अंतिम सोपान होता है, वे बिल्कुल निराश न थे जैसा कि ऐसी स्थिति में प्रायः होता है । अतः उन्होंने मानवीय अस्तित्व के उस धरातल के बारे में सोचना आरभ किया जहा पहुंचकर जीवन-मृत्यु में अभेद हो जाता है । उनका अध्ययन निरतर गतिशील रहा और चिंतन भी । योग की झलक उन्हे पहले ही मिल चुकी थी और उसके प्रभावों से वे परिचित थे । अतएव जेल जीवन के अंधेरे मे ही उन्हे उपलब्ध उस शक्ति को आजमाने का सुअवसर मिला और उससे अपूर्व धैर्य एव शक्ति संवलित हो सकी । अपने आतरिक सघर्ष से उन्हें वह रास्ता मिला जिसके सहारे वे सारी भौतिक सीमाए लांघकर उस क्षेत्र में प्रवेश कर सके जहां पहुंचकर उन्हें मानव ही नहीं समस्त जड-चेतन के प्रति समभाव की प्रतीति हुई । उनके मानसिक सघर्ष का तथ्यात्मक आकलन और विवेचन 'काल कोठरी में रोशनी का वातायन' मे किया गया है । जेल जीवन में ही उन्हें भगवान से तीन शिक्षाएं मिलीं, जिनका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—(1) मन की दृढ अवस्था होने पर सकट में मनुष्य के जन्म-तत्त्व की सही व्याख्या हो सकती है और उस व्याख्या का निष्कर्ष होगा अमानुषिक निठुराई को हटाने का दृढ़ संकल्प, (2) भगवान ने भयानक निर्जन स्थान में रखकर मुझे उसके भय से मुक्त कर दिया । जो आदमी योग-साधना करना चाहता है, उसे जनता और निर्जनता एक समान होनी चाहिए, (3) तीसरी शिक्षा यह मिली कि योग

साधन केवल किसी व्यक्ति के अपने प्रयत्न से सफल नहीं हो सकता। इसके लिए भगवान के चरणों में समर्पित होना आवश्यक है । (वही, पृ 178-79) निश्चय ही 'पांचवें क्षितिज' की अनुभूति के साक्षात्कार का प्रमाण है, उपर्युक्त शिक्षाएं। फिर तो अरविंद को उसकी स्थायी उपलब्धि की दिशा में बढना ही था ।

'पाचवा क्षितिज' में इसी दिशा मे बढने के साक्ष्य प्रस्तुत किये गये हैं । जेल से छूटकर अरविंद ने 'धर्मरक्षिणी सभा' में अपना पहला भाषण दिया जिसमें पांचवे क्षितिज के अनुभव को ही व्यक्त किया गया है । 'उत्तर पाडा अभिभाषण' से अभिहित यह ऐतिहासिक भाषण अरविंद का अंतिम सार्वजनिक भाषण साबित हुआ जिसे जीवनीकार ने लगभग पूरा उद्धत किया है । उसे पढकर ही अरविंद की आध्यात्मिक अनुभूति का आत्मसात किया जा सकता है क्योकि भाषण का एक-एक वाक्य श्रोताओं के लिए नितांत नूतन अनुभव था और भौतिक रक्षा के प्रति भयाकुल हम सबके लिए आज भी नया है । इसका एक अश द्रष्टव्य है "हम जिसे हिंदू धर्म कहते हैं, वह सनातन धर्म है, क्योंकि वह वैश्विक धर्म है जो सभी को अपने मे मिला लेता है। यदि धर्म वैश्विक नही हो सकता तो सनातन भी नहीं हो सकता । एक संकुचित धर्म, एक साप्रदायिक धर्ममात्र, कुछ लोगो मे सीमित धर्म, सिर्फ सीमित समय के लिए, सीमित प्रयोजन के लिए, जीवित रह सकता है । यही एक धर्म है जो भौतिकवाद पर विजय पा सकता है, क्योंकि इसी मे वह क्षमता है कि वह विज्ञान की खोजों और आगामी सभावनाओ को और दर्शन की धारणाओं को आत्मसात कर ले ।" (वही, पृ 199) क्या इन पक्तियो को आप अप्रासंगिक कह सकते हैं ? यह है अध्यात्म क्षमता की अनुभूति जिसके बल पर हिदू और हिदुस्तान आज भी विश्वबंधुत्व की भावना से हीन नहीं हुआ है । अधुनातन वैज्ञानिक उपलब्धियों की भयावहता से कंपित विश्व को भयमुक्त करने की दिशा में किया गया अरविंद का योग-प्रयत्न उनके दर्शन के रूप में प्रसिद्ध हुआ, जिसे सर्वसुलभ बनाने की दिशा मे वे आजीवन संलग्न रहे और इसमे सफल हुए ।

लेकिन उनकी सफलता भी प्रश्नचिन्हित बनी रही । योग द्वारा मानव जीवन को शांतिपूर्ण तथा सुखद बनाने का जो रहस्य वे जान पाये थे, उसे सर्वसुलभ बनाना अभी शेष था । और यही उनके योगी का लक्ष्य भी था । इसके लिए उन्हें स्वतत्रता चाहिए थी, हर प्रकार के उन बंधनों से जो उन्हे पूर्ण प्रवासी होने से रोकते थे । इसका प्रमाण है 'जीवनी' मे उद्धत अपनी पत्नी के नाम उनके पत्र । ये पत्र उस योगी का परिचय देते हैं जिसने अपनी पत्नी को भी अपनी साधना में सहचरी बनाने का प्रयास किया । वे न बन पायीं, यह दीगर सवाल है । अतएव ब्रिटिश भारत छोड़कर उनका पाडिचेरी आना और उस 'मृत नगर में दिव्य-जीवन का पीठ' स्थापित करना—भयवश देश-त्याग का प्रमाण नहीं, साधना के लिए सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार दृढ योगी की संघर्षशीलता का प्रमाण है । इसी निश्चय के कारण उन्हें राजनीति स विरत

होना पडा और वे देश के सर्वोच्च राजनीतिक नेता होने के श्रेय से वचित रह गये। पुस्तक में अरविंद की कठिनाइयों और उनके संघर्ष के प्रभूत प्रमाण मौजूद हैं। अपनी अनथक साधना में ही उन्हे 'नील ध्वज और पद्म चक्र' का साक्षात्कार हुआ। समुद्री सांझो में उन्होने ओस डूबी चिट्ठियां लिखीं जो पठनीय हैं। कोशिश की और राह सुझाई कि मनुष्य को 'प्रकृति की सर्वोच्च प्रयोगशाला' बनने में सहायता मिले। पृथ्वी की यात्रा मे साथ चलते हुए उन्होने समूचे जीवन को योगरूप में परिभाषित तथा चरितार्थ किया।

पाडिचेरी का उनका आजीवन प्रवास कटको से भरा था। यदि वे साक्षात्कारी ने होते तथा ईश्वर के प्रति उनकी दृढ आस्था न होती तो वे भी आधुनिक बाबाओ की तरह चमत्कारो की धूम मचाकर भाग खडे होते। जिस अतिमानस को उन्होने उपलब्ध किया था उसे अपने उन प्रबुद्ध शिष्यो को उपलब्ध कराना था जो देश-विदेश से उसी निमित्त एकत्र हुए थे और जो प्रश्नाकुल भी थे क्योकि अब तक उनके हाथ कुछ नहीं लगा था। अपनी प्रश्नाकुलता मे अक्सर वे शिष्य व्यग्यो के बाण चलाते थे जो धीर-गंभीर अरविंद को भी वेध जाते थे। श्री मा का आगमन भी प्रवाद बना था जिसके कारण उनके निकटवर्तियो मे भी क्षोम की लहर पैदा हो गयी थी। श्री मा का विदेशी होना और अरविद के प्रति उनका पूर्ण समर्पण कोई सामान्य घटना न थी। उससे परपरा पीडित भारतीय मानसिकता मे प्रवाद के ज्वार का उठना भी कोई असाधारण बात न थी, लेकिन वह प्रवाद पीडाजनक तो था ही। अरविद ने सब कुछ बडे धैर्य से सहा। वे एकात साधना के लंबे प्रवास मे गये और वह उपलब्ध किया जो उनका अभीष्ट था। भारतीय योगी के खान-पान, रहन-सहन तथा आचार-व्यवहार को लेकर बने शास्त्रीय बधनो को तोडना भी कम कष्टकारक न था, कितु उन्होने सब कुछ तोडा और उनकी निरर्थकता भी प्रमाणित कर दी। इस कष्टसाध्य जीवन-यात्रा का बडा ही तथ्यात्मक विवरण जीवनी मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है और मर्मस्पर्शी बन पडा है।

इतना कुछ करते हुए भी अरविंद की कविता निरंतर जागृत रही और वे 'सावित्री' जैसा महाकाव्य लिखने में समर्थ हुए, जिसकी विश्वख्याति है। यह महाकाव्य अरविद की साधना का सच्चा ग्राफ है। सावित्री की कथा को अपने योग मार्ग के अनुरूप ढालकर आगे की पीढी के लिए उन्होने उसे उपलब्ध ही नहीं कराया, उस कथा की चिरतनता प्रमाणित कर दी। निस्संदेह वे भविष्यत् कविता के मात्रिक थे। निस्संदेह भारत को उन्होने 'नयी मानवता का अतरिक्षयान' बनाकर ही छोड़ा। 'उत्तरयोगी' अरविद की साधना का प्रामाणिक ग्रथ बनकर दिमाग को मथ डालने में समर्थ है, बशर्ते उसे पूर्वग्रहमुक्त होकर पढा जाये।

लेखक ने प्रयत्न किया है कि विवरणो ओर प्रमाणो के माध्यम से अरविंद के उन गुणो के सघर्षात्मक पक्ष को उभारा जाये, जिनके बल पर ही वे भारतीय अध्यात्म

का झंडा बुलद कर सके । प्रखर बुद्धि और तीव्र अंतर्भेदिनी दृष्टि के साथ उन्होंने विशाल निर्मल हृदय भी पाया था । अत भौतिक एवं आधिभौतिक दोनों स्थितियों का गंभीर आकलन करके उन्होने जो ईश्वरीय आस्था उपलब्ध की थी, वह दृढ और अडिग थी । इसके लिए उन्होने अपने को निरंतर शिक्षित ही नहीं, प्रशिक्षित भी किया । मानवीय सस्कृति की भयमुक्त तथा शांतिपूर्ण जो अवधारणा उन्होंने अपने यौगिक प्रयोगो से स्थापित की है, उसके लिए तन और मन दोनों को तन्मय होना चाहिए। विरोधों में सामंजस्य की ऐसी सफल प्रस्तुति शायद ही कहीं और मिले । पुस्तक के 'जिदगी का नमक' अध्याय मे दृष्टव्य है कि अपनी धीर-गंभीर साधना के बीच वे किस तरह निर्मल हास्य तथा चुभते व्यंग्य के लिए अवसर निकाल लेते थे । उनकी प्रार्थना सभाए तो अनौपचारिक पाठशालाए हुआ करती थीं । दूसरों को शिक्षा देने वालों को तो अरविंद की शिक्षण विधि से बहुत कुछ सीखना चाहिए । पुस्तक में इस सचाई को गहराई से रेखाकित किया गया है कि शिष्य दिल से जीते जाते हैं, दिमाग से नहीं ।

स्थानभय से यहा इससे अधिक व्याख्या में जाना समीचीन नहीं होगा । 'उत्तरयोगी' जीवनी-साहित्य का मानदंड है—इस बात पर बल देते हुए चाहूंगा कि इस ग्रथ की ओर समीक्षको का ध्यान आकर्षित हो और जीवनियो को प्रेरक तथा प्रामाणिक बनाने की दिशा में सकेत किये जायें । जैसा पीछे सकेत किया जा चुका है, जीवनी के माध्यम से गुणात्मक व्यक्तित्व सामने आना चाहिए । गुण-दोष के बीच रास्ता बनाते हुए, सघर्ष करते हुए, ही ऐसा व्यक्तित्व दृश्यमान होना चाहिए । साथ ही लेखकीय विवेचन एकपक्षीय न हो कि उससे भक्तिभाव का सरलीकृत प्रदर्शन हो। अरविद पर लेखो का अबार है, जिनमे उनके जीवन से सबद्ध छोटी से छोटी घटना पर टिप्पणिया की गयी हैं और विवेचन प्रस्तुत किये गये है । इस अबार में से समुचित एवं युक्तिपरक को छाटकर एक विकसनशील आध्यात्मिक व्यक्तित्व को साकार करने मे डॉ शिवप्रसाद सिह को अनथक परिश्रम करना पड़ा होगा । चूंकि वे अरविद को जानने के लिए कृतसकल्प थे, अत तन-मन से उसमें 'इन्वाल्व' हो गये । कहना न होगा कि इस 'इन्वाल्वमेट' अथवा तादात्म्य के बिना जीवनी रोचक एवं पठनीय नहीं.हो सकती । इसी तादात्म्य ने जीवनी को औपन्यासिक बना दिया है ।

जीवनी लेखन की यह तकनीक शिवप्रसाद सिह की मानसिक यात्रा के अनुरूप है । हर अध्याय का आरभ उन्होने वेद अथवा इतर प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथों के सूत्र-सदर्भ देकर किया है और हर सदर्भ अध्याय के शीर्षक को ध्वनित करते हुए अत में महर्षि के जीवनवृत्त के परिप्रेक्ष्य मैं अपनी चरितार्थता प्राप्त करता है । इससे अरविंद का अध्यात्म-प्रेम और भौतिक संघर्ष दोनो एकाकार होकर स्थापित होते हैं । कहना युक्तिसंगत होगा कि लेखक की बौद्धिक क्षमता तथा सहृदयता का प्रमाण है—'उत्तरयोगी' । अस्तु ।

उद्‌भवकालीन हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में डॉ. शिवप्रसाद सिंह का अवदान

• *डॉ. वासुदेव सिंह*

डॉ. शिवप्रसाद सिंह एक मूर्धन्य कथाकार, सुधी समीक्षक, श्रेष्ठ निबंधकार एव हिंदी साहित्य के गंभीर अध्येता के रूप में सुविख्यात हैं । हिंदी साहित्य की सतत सेवा के लिए वह अनेक संस्थाओं के द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत भी हो चुके हैं। किंतु उद्‌भवकालीन हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में उनका क्या अवदान है ? इससे हिंदी जगत् बहुत कम परिचित है । इस दृष्टि से उनकी दो कृतियां उल्लेखनीय हैं—(1) कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा तथा (2) सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य ।

'कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा' उनके द्वारा सन् 1953 में एम ए परीक्षा के एक प्रश्न-पत्र के स्थान पर लिखे गये 'लघु शोध प्रबंध' का प्रकाशित रूप है और 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' पी-एच.डी उपाधि के लिए लिखित शोध प्रबंध है। विद्यापति रचित कीर्तिलता कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है । भाषा की दृष्टि से इसका महत्त्व है ही, छंद, काव्य, रूप तथा गद्य आदि की तत्कालीन स्थिति पर भी इससे बहुत प्रकाश पडता है । डॉ. शिवप्रसाद सिह जी ने 'कीर्तिलता' की 'अवहट्ट' कही जानेवाली भाषा के स्वरूप के विस्तृत विवेचन के साथ ही उसके मूल पाठ के प्रामाणिक रूप के अनुसंधान का भी भरसक प्रयास किया है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में लेखक ने भाषा संबंधी विवेचना के साथ पाठ-शोध का जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वह भाषा और साहित्य की कई उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने में सहायक होगा। (प्रस्तावना, पृ. 12)

प्रस्तुत ग्रंथ मे श्री सिंह ने 'अवहट्ट' भाषा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अपभ्रंश, मिथिलापभ्रंश, डिंगल-पिंगल, पुरानी हिंदी, देसिल बयना आदि से उसके साम्य-वैषम्य का भी उद्‌घाटन किया है । इस संबंध में उन्होंने 'अवहट्ट' की मुख्य विशेषताओ का विवेचन करते हुए 'कीर्तिलता' का भाषा शास्त्रीय अध्ययन किया

ही है, आलोच्य कृति के पाठ की जटिलताओं और अर्थ की समस्याओं के निराकरण के साथ ही उसका साहित्यिक मूल्यांकन भी किया है । उनका यह कार्य इतना गंभीर और विद्वतापूर्ण है कि सहसा विश्वास ही नहीं होता कि एम. ए कक्षा का एक छात्र इतना अध्ययन-परायण, अनुसंधान-निष्ठ एवं संतुलित-विवेचक हो सकता है ।

भाषा शास्त्रियो मे 'अवहट्ठ' शब्द को लेकर काफी मतभेद रहा है। उसे किसी ने मैथिल अपभ्रंश, किसी ने सक्रांतिकालीन भाषा और किसी ने 'पिंगल' का पर्याय माना है। डॉ शिवप्रसाद सिंह के विचार से अवहट्ठ परवर्ती अपभ्रंश का वह रूप है जिसके मूल में परिनिष्ठित अपभ्रंश यानी शौरसेनी है । व्यापक प्रचार के कारण इसमें कई रूप दिखायी पड़ते हैं ।[1] इस संदर्भ में उन्होने अवहट्ठ के समानार्थी अवभंस, अवहंस, अवहत्थ आदि शब्दों पर भी विचार किया है। उनकी यह भी मान्यता है कि अवहट्ठ राजस्थान में पिंगल नाम से प्रसिद्ध था ।[2] इसे पुरानी ब्रजभाषा भी कहा जा सकता है । इस प्रकार डॉ सिंह अवहट्ठ पिंगल और पुरानी ब्रजभाषा को पर्यायवाची मान लेते हैं। और 'डिंगल' को 'पिंगल' का परवर्ती तथा उसी की अनुकृति पर गढा हुआ शब्द मानते हुए कहते हैं कि "डिगल नामकरण राजस्थानी भाषा के लिए निश्चित ही पिगल के आधार पर दिया गया। संभव है कि पूर्वी या मध्यदेशीय राज दरबारो मे पिगल के बढते हुए प्रभाव और यश को देखकर राजस्थानी चारणो ने अपनी बोली मारवाड़ी का एक दरबारी या साहित्यिक रूप बनाया जिसे उन्होंने डिंगल या पिगल नाम दिया।"[3] उनके अनुसार पिगल शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग गुरु गोविंद सिह के दशम ग्रंथ (1723 के आसपास) मे दिखायी पड़ता है, जब कि 'डिगल' शब्द का सबसे पहला प्रयोग उसके लगभग डेढ सौ वर्ष बाद जोधपुर के कवि राजा बांकीदास के 'कुकवि बत्तीसी' नामक ग्रंथ में 1872 सवत् मे हुआ । वस्तुतः 'डिगल' शब्द का प्रथम प्रयोग 19वीं शताब्दी मे नहीं हुआ था अपितु मेवाड के चारण-कंठ से लगभग 15वीं-16वी शताब्दी से ही सुनायी पडने लगा था कि 'डिंगल गजब डोकरी डाकी, पिंगल पूगल नाजूक नार।"[4] इस पक्ति से जहां डिंगल-पिंगल की प्राचीनता का संकेत मिलता है, वहीं पर यह भी ध्वनित होता है कि 'डिंगल' एक बीर बाला के समान थी और 'पिंगल' एक नाजुक नारी के तुल्य अर्थात् 'डिंगल' में ओजगुण का प्राधान्य रहता था जबकि 'पिंगल' में माधुर्य का प्राचुर्य। जहां तक दोनो के क्षेत्र और स्वरूप का प्रश्न है डिगल पश्चिमी राजस्थानी (जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, सिरोही, अजमेर, मेवाड, किशनगढ) के साहित्यिक रूप का अभिधान था जबकि पूर्वी राजस्थानी के ब्रज मिश्रित रूप के लिए 'पिंगल' नाम चलता था । चारणो ने प्राय. डिंगल मे ही काव्य-रचना की है । उनके द्वारा द्वित्व पर अधिक जोर दिया गया, इसीलिए इसमें कुछ बनावटीपन आ गया और यह राजस्थान की लोक भाषा से कुछ भिन्न हो

गयी। 'डिंगल' की अपेक्षा 'पिंगल' मे छदशास्त्र के नियमों का पालन अधिक सतर्कता से होता था । इसका क्षेत्र न केवल राजस्थान या गुजरात था बल्कि पश्चिमी हिंदी के क्षेत्र में भी इसका प्रयोग होता था। कबीर तक की रचनाओ में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। ब्रजभाषा के उत्थान के साथ-साथ इसका राजस्थानी अंश दबता गया और एक समय ऐसा आया जब कि ब्रजभाषा ही पूरे क्षेत्र पर हावी हो गयी। सूरजमल के 'वश भाष्कर' असादूत की 'हसावली' और श्रीधर के 'रणमल्लछद' को पिंगल भाषा की रचना माना जा सकता हे। इस तथ्य को डॉ सिह ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है- "मध्य काल के अतिम स्तर पर शौरसेनी अपभ्रश का परवर्ती रूप यानी अवहट्ठ विकसित साहित्यिक भाषा के रूप में सारे उत्तर भारत मे छा गया था । बगाल के सिद्धो के दोहे इसी भाषा की प्रचलित रचनाए है।"[5] इस प्रकार उनके अनुसार "अवहट्ठ नाम सपूर्ण ऊपरी भारत की सक्रातिकालीन भाषा का एकमात्र सही नाम हो सकता है"।[6]

यदि भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि सातवी शताब्दी से बारहवी शताब्दी या इसके बाद पायी जानेवाली समस्त अपभ्रश रचनाओ की भाषा एक जैसी नहीं है । कुछ ग्रथो की भाषा शिष्ट अपभ्रश है, कुछ की लोक भाषा । पउमचरिउ, हरिवश पुराण, महापुराण, जसहरचरिउ, णायकुमार चरिउ भविसयत्तकहा, करकण्डचरिउ आदि की भाषा का जो स्वरूप है, परमात्मप्रकाश योग सार सावयधम्म, दोहा पाहुड दोहा और सिद्धो की रचनाओ की भाषा उससे भिन्न है । इसमे जो भाषा-भेद है, वह सहज ही परिलक्षित हो जाता है । प्रथम वर्ग की कृतियो की भाषा प्राकृत के अधिक निकट है, जब कि दूसरे वर्ग की रचनाओ की भाषा अपेक्षाकृत हिंदी के अधिक निकट है । इसी दूसरे वर्ग की रचनाओ को प चद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी कहा था । उन्होने स्पष्ट रूप से कह भी दिया था कि "पुरानी अपभ्रश, सस्कृत और प्राकृत से मिलती है, पिछली पुरानी हिंदी से ।"[7] डॉ शिवप्रसाद सिह जी ने भी गुलेरीजी की मान्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "इस परवर्ती अपभ्रश को वे पुरानी हिंदी कहना चाहते है । इसलिए यह समझना निराधार है कि वे समूचे अपभ्रश को पुरानी हिंदी मे खींच लेना चाहते थे।"[8]

इस प्रकार भाषा के जिस रूप को गुलेरीजी 'पुरानी हिंदी' और डॉ शिवप्रसाद सिह सपूर्ण उत्तरी भारत की सक्रातिकालीन भाषा, कहते है, परवर्ती हिंदी का विकास उसी से हुआ है । भाषा के इसी रूप को स्वयभू ने 'देशी भाषा' विद्यापति ने 'देसिल वयना', कबीर ने 'भाषा बहता नीर' और गोस्वामी तुलसीदास ने 'भाषा-भणिति कहा था । हेमचद्र का 'देसी नाम माला' इसी लोक भाषा का कोश है । राहुल साकृत्यायन ने भी इसी को 'देसी भाषा' कहा है ।

कीर्तिलता के भाषाशास्त्रीय विवेचन के अतिरिक्त डॉ शिवप्रसाद सिह ने

उसका साहित्यिक मूल्याकन भी किया है और कीर्तिलता के आधार पर विद्यापति का काल-निर्णय करने का भी प्रयत्न किया है। वह कीर्तिलता को एक ऐतिहासिक काव्य मानते हैं। उनका कहना है कि "मध्य काल के तमाम चरित काव्यों मे कीर्तिलता का स्थान इसलिए विशिष्ट है कि लेखक ने कल्पना और अतिरजना का कम-से-कम सहारा लिया है. ऐतिहासिक घटनाओं की यथातथ्यता के प्रति जितना सतर्क विद्यापति दिखायी पडते हैं, उतना उस काल का दूसरा कोई कवि नही।"[9] कीर्तिलता से दो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओ का पता अवश्य चलता है :

(1) चैत्र मास कृष्ण पक्ष पचमी लक्ष्मण सं 252 में मलिक असलान ने राजा गणेश्वर का वध करके राज्य अपने अधीन कर लिया ।

(2) जौनपुर के बादशाह इब्राहिम शाह की सहायता से कीर्ति सिंह ने तिरहुत का पुन उद्धार किया ।

कितु इस लक्ष्मण सवत् ने विद्वानों को बहुत उलझन मे डाला है । कीलहार्न, डॉ जायसवाल, डॉ समद्र झा, श्री नागेंद्रनाथ गुप्त आदि ने इसके भिन्न-भिन्न निष्कर्ष निकाले है। कीलहार्न के अनुसार लक्ष्मण संवत् ई सन् 1119 में प्रारंभ हुआ था।[10] इस प्रकार गणेश्वर की हत्या वि सं 1428 मे हुई । विद्यापति के पिता गणपति ठाकुर राजा गणेश्वर के दरबारी थे। कहा जाता है कि विद्यापति अपने पिता के साथ राजा गणेश्वर के दरबार में कई बार गये थे । उस समय उनकी अवस्था आठ-दस साल के लगभग अवश्य रही होगी। डॉ शिवप्रसाद सिह का अनुमान है कि यदि राजा गणेश्वर के वध के समय विद्यापति दस-बारह साल के थे तो उनका जन्म लक्ष्मण संवत् 242 (वि स. 1418) के आसपास हुआ होगा।[11] श्री नागेद्रनाथ गुप्त ने 'विद्यापति पदावली' की भूमिका में विद्यापति का जन्म लक्ष्मण सवत् 241 माना है। तिरहुत पर असलान का अधिकार हो जाने पर विद्यापति तथा उनके पिता निराश्रय हो जाने के कारण कुछ समय तक कष्ट में रहे होंगे। और कीर्ति सिंह भी अल्पायु होने के कारण बहुत दिनो तक इधर-उधर भटकते रहे होंगे। कुछ वर्षों बाद उन्होंने इब्राहिम की सहायता से तिरहुत का पुन उद्धार किया। इतिहास-ग्रंथों में सन् 1401 (सं. 1458) के आसपास शमशुद्दीन इब्राहिम शाह शर्की का बडे भाई मुबारक शाह की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठना लिखा है। गद्दी पर बैठने के कुछ दिनों बाद ही उसके कन्नौज-युद्ध के लिए प्रयाण करने की बात कही गयी है। 'कीर्तिलता' के भी अनुसार सेना पूर्व के लिए तैयार हुई, किंतु पश्चिम की ओर प्रयाण किया। उसके साथ दोनों भाई कीर्ति सिंह और वीर सिह भी थे ।[12] तत्कालीन इतिहास से पता चलता है कि उसने कन्नौज पर दो बार चढाई की । वह प्रथम प्रयास में विफल रहा। दूसरी बार सफलता मिलने पर उसका साहस बढ़ गया और वह सं 1464 में दिल्ली-विजय के लिए चला

गया। किंतु परिस्थिति अनुकूल न होने से उसे जौनपुर वापस आना पडा। यदि कन्नौज के प्रथम विफल-अभियान से वापस आने पर ही सुलतान ने तिरहुत पर चढ़ाई की तो यह घटना लगभग सं. 1459 की हो सकती है। किंतु विद्यापति ने सुलतान के पश्चिमी अभियान का और उसके साथ कीर्ति सिंह और वीर सिह के कष्टों का इतने विस्तार से वर्णन किया है जिससे अनुमान होता है कि पश्चिम से दूसरी बार लौटने के बाद ही सुलतान ने तिरहुत पर चढ़ाई की होगी । इससे तिरहुत का उद्धार स. 1465 के लगभग प्रतीत होता है । किंतु मलिक असलान के तिरहुत का शासक होने की बात इतिहास से सिद्ध नहीं होती । डॉ ईश्वरी प्रसाद के अनुसार सन् 1394 ई (स 1451) में महमूद तुगलक ने ख्वाजाजहां को 'मलिक अस-शर्क' (पूर्व का स्वामी) की उपाधि देकर कन्नौज से बिहार तक का शासन प्रबध उसके अधीन कर दिया। ख्वाजाजहां दोआब तथा इटावा के विद्रोहियों का दमन करते हुए जौनपुर पहुच गया। उसने शीघ्र ही कन्नौज कडा, अवध, सडीला, डलमऊ, बहराइच और तिरहुत के विद्रोही हिंदू जागीरदारो को पराजित करके उनकी जागीर अपने अधीन कर ली।[13] इसमें दो बाते ध्यान देने योग्य है :

(1) स 1451 मे तिरहुत हिंदू शासक के अधीन था ।

(2) स 1452-53 के लगभग तिरहुत को जौनपुर राज्य मे मिला लिया गया।

कीर्तिलता के अनुसार स 1428 मे राजा गणेश्वर की हत्या करने के बाद मलिक असलान ने तिरहुत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था । कीर्ति सिह ने इब्राहिम की सहायता से तिरहुत का उद्धार किया । वस्तुत मध्यकालीन इतिहास इतना उलझा हुआ है कि किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुचना बडा कठिन है । उस समय निरंतर युद्ध होते रहते थे और शासक सिहासनारूढ और सिहासनच्युत होते रहते थे ।

गणेश्वर-वध और तिरहुत-उद्धार मे जो 31-32 वर्षो का अतराल है, वह भी अनेक प्रकार की शकाओ को जन्म देता है । क्या कीर्ति सिह इतनी लंबी अवधि तक निराश्रय भटकते रहे ? राजा गणेश्वर के वध के 31-32 वर्षो के बाद इब्राहिम के जौनपुर के शासक होने पर ही कीर्ति सिंह सहायतार्थ क्यो गये ? उन्होंने इब्राहिम के पूर्ववर्ती शासक मुबारक या ख्वाजाजहा से सहायता क्यों नहीं मांगी ? इस सबध मे डॉ. शिवप्रसाद सिह का कथन है कि "राजा गणेश्वर की मृत्यु 1371 ई मे हुई और कीर्ति सिह इब्राहिम शाह को 1402 ई में तिरहुत ले आये, इसमें कोई गडबडी नहीं है। 31 वर्ष के मध्यांतरित समय मे कीर्ति सिह कुछ कर नहीं सकते थे क्योंकि वे उस समय काफी छोटे रहे होंगे और फिर कुछ कर सकने के लिए अवसर की भी अपेक्षा होती है।"[14] किंतु कीर्तिलता में गणेश्वर-वध तत्काल बाद ही कीर्ति सिह के जौनपुर जाने का उल्लेख है । उसके 11-12 वर्ष पूर्व ही

(सं 1416-17) फीरोज तुगलक ने अपने चचेरे भाई मुहम्मद जूना के नाम से जौनपुर या जूनापुर को बसाया था। बहुत संभव है कि राजा गणेश्वर के वध के रामय फीरोज तुगलक की ओर से इब्राहिम नामक कोई शासक जौनपुर का शासन कर रहा हो । कीर्ति सिंह ने उसी से सहायता ली हो। यदि इस संभावना में सत्य हो तो 31-32 वर्षों का व्यवधान समाप्त हो जाता है । मलिक असलान के इतनी दीर्घ अवधि तक तिरहुत का शासन करने का प्रश्न भी नहीं रह जाता है और ऐतिहासिक असगति भी नहीं रह जाती है । इसके अनुसार तिरहुत का उद्धार स 1433 के पूर्व हो जाना चाहिए, क्योंकि स. 1433 से जौनपुर का शासन-प्रबंध मलिक बहरूज सुलतान के हाथ आ गया था । किंतु उस समय विद्यापति की आयु अधिक से अधिक पद्रह वर्ष की रही होगी । क्या पद्रह वर्ष का बालक ऐसा काव्य लिख सकता है ? अत· यह विद्यापति की प्रथम कृति नहीं हो सकती। डॉ शिवप्रसाद सिह भी कीर्तिलता को विद्यापति की प्रथम रचना नहीं मानते।[15]

वस्तुत· कीर्तिलता में ऐतिहासिक तथ्यो का पालन किस सीमा तक हुआ है, इसका निर्णय करना अत्यत कठिन है, क्योंकि अपने देश में इतिहास का वह अर्थ ही नही लिया जाता था, जो मुस्लिम देशो या यूरोप में मान्य था । इसीलिए यहा जो ऐतिहासिक काव्य लिखे गये, उन पर धर्म या कल्पना का ऐसा आवरण मढ़ दिया गया कि उसमे आधुनिक दृष्टि से माने जानेवाले इतिहास के तत्त्व आ ही नही सके हैं । इसी वैशिष्ट्य का सकेत करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ''भारतीय कवियो ने ऐतिहासिक नाम भर लिया है, शैली उनकी वही पुरानी रही, जिसमे काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था, विवरण-संग्रह की ओर, कल्पना-विलास का अधिक मान था, तथ्य-निरूपण का कम, संभावनाओ की ओर अधिक रुचि थी, घटनाओ की ओर कम ; उल्लसित आनंद की ओर अधिक झुकाव था, विलसित तथ्यावली की ओर कम।''[16] विद्यापति ने भी 'कीर्तिलता' के रूप मे एक ऐसी कहानी कहने का दावा किया है जिसके श्रवण से पाठकों को पुण्य-लाभ हो– 'सुपुरिस कहाणीं हौ कहउं जसु पत्थावे पुन्न ।' इससे प्रतीत होता है कि 'कीर्तिलता' में भी काव्य अधिक है, इतिहास कम ।

उद्‌भवकालीन भाषा और साहित्य के अनुसधान और उद्धार में डॉ. शिवप्रसाद सिह का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है– 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' शीर्षक शोध प्रबध । वह आचार्य रामचद्र शुक्ल के इस वाक्य कि ''सूर सागर किसी चली आती हुई गीत काव्य परपरा का–चाहे वह मौलिक ही रही हो–पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है'' – सूरदास से पूर्ववर्ती प्रचलित ब्रजभाषा और उसके साहित्य के अनुसंधान में लग गये और राजस्थान के विभिन्न स्थानों के शास्त्र भंडारों में सुरक्षित हस्तलेखों और गुटकों से विपुल सामग्री खोज निकाली और उसके आधार पर लगभग दसवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक की ब्रजभाषा और उसके साहित्य

की त्रुटित शृंखला को जोड़ दिया । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उनके इस कार्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "विभिन्न ज्ञात-अज्ञात भंडारों से सूरपूर्व ब्रजभाषा की सामग्री ढूंढ़ना और फिर उसका भाषा और साहित्य शास्त्र की दृष्टि से परीक्षण करना एक अत्यंत श्रम-साध्य कार्य था । शिवप्रसादजी ने केवल नयी सामग्री ही नहीं ढूंढ़ निकाली है, पुराने हिंदी साहित्य और भाषा-विषयक अध्ययन को नया दृष्टिकोण भी दिया है।"[17] उनके इस कार्य का तीन दृष्टियों से विशेष महत्त्व है :

(1) कई प्राचीन कवियों और रचनाओं की खोज ।

(2) ब्रजभाषा के पूर्व रूप की संतुलित विवेचना ।

(3) उद्‌भवकालीन अनेक काव्य-रूपों की मीमांसा ।

विभिन्न शास्त्र-भंडारों से उन्हें लगभग बीस अप्रकाशित रचनाएं प्राप्त हुईं। उनमें प्रमुख हैं – सधार अग्रवाल का प्रद्युम्न चरित, जासू मणियार का हरिचंद राण, कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्‌मावती कथा, डूंगर बावनी, मानिक कवि की बैतालपचीसी, छिताई वार्ता, मेघनाथ की गीत-भाषा, चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा, धर्मदास का धर्मोपदेश, छीहल की रचनाएं तथा वाचक सहजसुंदर का रतन कुमार रास आदि । इस सामग्री का सम्यक् परीक्षण करके उन्होने ब्रजभाषा के उद्‌भव और विकास संबधी अनेक नये तथ्यों का उद्‌घाटन किया है । कितु उनका यह कार्य न तो अंतिम है और न विभिन्न ग्रथागारो और शास्त्र-भडारों में बद समस्त हस्तलेखों का प्रकाशन। वस्तुत प्रत्येक व्यक्ति की कुछ सीमाए होती हैं। उन सीमाओं के अदर डॉ. शिवप्रसाद सिह ने स्तुत्य कार्य किया है। देश के विभिन्न पुस्तकालयो, मंदिरों और शास्त्र-भंडारों में बंद विपुल साहित्य अब भी प्रकाश में लाने की प्रतीक्षा में पडा है । सन् 1957-58 मे 'अपभ्रश और हिंदी मे जैन-रहस्यवाद' विषय पर शोध-कार्य करते समय मुझे भी जयपुर जाने का अवसर मिला था । वहां मैंने आमेर शास्त्र-भडार, दिगंबर जैन मंदिर का बडा तेरह पंथियो का शास्त्र-भंडार, लूणकरण जी पाड्या मंदिर का शास्त्र-भंडार और ठोलियों के मंदिर के शास्त्र-भंडार को देखा । इन मंदिरों के शास्त्र-भंडारों में न जाने कितनी सामग्री विभिन्न गुटकों और हस्तलेखों मे बंद कीड़े-मकोडों का आहार बन रही थीं, यह देखकर मुझे बहुत दुःख हुआ । यह जानकर संतोष भी हुआ कि जयपुर के ही एक गभीर अध्येता और खोजी श्री कस्तूरचंद कासलीवाल उक्त जैन शास्त्र-भंडारों के ग्रंथों की सूची बनाने में संलग्न हैं । कुछ वर्षों बाद राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की ग्रंथ सूची (चार भागों में) शीर्षक से यह सूची प्रकाशित भी हो गयी । इस दिशा में श्री मोतीलाल मेनारिया और श्री उदय सिंह भटनागर ने भी बहुत श्रम किया है और उनके द्वारा तैयार सूची-ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके हैं ।

मुझे अपने अनुसधान कार्य में कई नयी रचनाएं प्राप्त हुईं, जिनमें प्रमुख हैं- आनंदतिलक का 'आणंदा', लक्ष्मीचंद्र का 'दोहाणुकहा', महपंदिण मुनि का 'दोहा पाहुड', रल्ह कवि की 'जिनदत्त चौपाई', विनयचंद्र सूरि की 'नेमिनाथ चउपइ', जिनपद्मसूरि का 'सिरिथूलभद्र फागु' आदि । डॉ शिवप्रसाद सिह को छीहल की चार रचनाओं– आत्मप्रतिबोध जयमाल, पच सहेली, छीहल बावनी, पथीगीत –का पता चला था । इनके अतिरिक्त मुझे छीहल की तीन अन्य छोटी रचनाएं--रे मन गीत, उदर गीत और जग सपना गीत–प्राप्त हुई हैं। इन कृतियों में ब्रजभाषा के प्रारंभिक और विकसित दोनों रूप विद्यमान हैं । ऐसी ही अभी और न जाने कितनी रचनाए हैं, जिनके प्रकाश में आने पर ब्रजभाषा और साहित्य की प्राचीनता तथा व्यापकता का पता चल सकेगा।

डॉ शिवप्रसाद सिंह जी ने आरंभिक ब्रजभाषा का जो शास्त्रीय विश्लेषण किया है, उसकी कुछ चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं । उन्होंने अपने शोध प्रबंध में प्राचीन ब्रज के काव्य रूपों के उद्गम, स्रोत और विकास पर भी श्लाघनीय कार्य किया है। इस सदर्भ मे उन्होने चरित, कथा, वार्ता, रसिक, बावनी, लीला, विवाहलो, वेलि आदि प्रमुख काव्य रूपों के अध्ययन द्वारा मध्यकालीन काव्य रूपों के अध्ययन को नयी दिशा प्रदान की है । वस्तुत· हिंदी साहित्य का उद्भव-काल काव्य रूपों की दृष्टि से अत्यत उर्वर कहा जा सकता है । अनेक जातियो का संगम, नाना प्रकार की संस्कृतियों का समागम, भाषा की सक्रातिकालीन स्थिति तथा नयी भाषा-विभाषाओं के जन्म के कारण इस युग में अनेक प्रकार के काव्य-रूपों का उद्भव दिखायी पडता है । अपभ्रंश नये काव्य-रूपों की सृष्टि का अक्षय स्रोत है ही, राजस्थान की बहुमुखी लोक-परंपरा ने अनेक काव्य रूपों को जन्म दिया है । इस युग में यदि एक ओर प्राकृत-अपभ्रंश से आगत-परपरा से रास, रसिक, चरित काव्य, कथाकाव्य, वेलि, मगल, फागु, चर्चरी आदि काव्य रूपों को अपनाया गया तो दूसरी ओर राजस्थान के लोक जीवन के वैविध्य तथा साहित्यिक परंपराओं से ख्यात, बात, विगत, पीढी, वंशावली, रासो, विलास, प्रकाश, रूपक, वचनिका आदि न जाने कितने काव्य रूपों का उद्भव और विकास हुआ । डॉ. शिवप्रसाद सिह जी ने इनमें से अनेक काव्य रूपों के उद्भव और विकास की प्रक्रिया पर गहराई से चितन किया है । एक प्रकार से उन्होने उद्भवकालीन भाषा और साहित्य के अध्ययन को नयी दिशा प्रदान की है । अभी उनके कार्य को और आगे बढ़ाने की नितांत आवश्यकता है ।

संदर्भ

1. कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ 7
2. वही, पृ. 12
3. वही, पृ. 16
4. उदयसिंह भटनागर—राजस्थान मे हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथो की खोज (तृतीय भाग), पृ. 6
5. कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ. 18
6. वही, पृ 25
7. पुरानी हिंदी, पृ. 11
8. कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ 23
9. वही, पृ 202
10. इंडियन एन्टिक्वैरी (भाग 12 सन् 1820), पृ 7
11. विद्यापति, पृ 39
12. कीर्तिलता (तृतीय पल्लव), पृ. 48-49
13. डॉ ईश्वरी प्रसाद--मिडिवल इंडिया, पृ 316
14. कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, पृ 197
15. वही
16. हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ. 76
17. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—भूमिका, पृ 8

सत्याग्नि के स्पर्श का प्रयास : उत्तरयोगी

• *डॉ. सुरेशचंद्र त्यागी*

शिवप्रसाद सिंह की पुस्तक 'उत्तरयोगी' पर समीक्षात्मक लेख के आग्रह ने मुझे उलझन में डाल दिया है । बरसों पहले इस पुस्तक को पढ़ा था लेकिन मात्र पाठक की दृष्टि से ही । समीक्षात्मक लेख लिखने का कोई विचार लेकर 'उत्तरयोगी' का अध्ययन कभी नहीं किया था। 'उत्तरयोगी' का प्रथम संस्करण मेरे पास है, उसे पढता भी रहा हूं लेकिन उस पर लिखना शुरू करते ही उलझन आ खडी हुई है । पुस्तक-समीक्षा के बारे में किसी ने कहा था कि मैंने सौ पुस्तकें पढी है और समीक्षा डेढ सौ की की है ! फिर भला मैं 'उत्तरयोगी' की समीक्षा को ही गंभीरता से क्यों लूं ? पर मेरी उलझन इसकी समीक्षा को लेकर तो है ही नहीं । वह तो इस प्रश्न को लेकर है कि श्री अरविंद की जीवनी लिखने के किसी प्रयास की सफलता क्या असदिग्ध हो सकती है ? इसे पढते हुए श्री अरविंद का और श्री अरविंद पर अन्य लेखको का समस्त लेखन अपनी विराटता मे मेरे सामने आ गया है । श्री अरविंद पर लिखना जितना कठिन है, उतना ही कठिन है उन पर लिखे की समीक्षा करना क्योकि दोनो ही स्थितियों मे सामना तो श्री अरविद से ही होता है । श्री अरविंद के जीवन-काल में भी कुछ महानुभावो ने उनकी जीवनी लिखने का प्रयास किया था । उन्होने एक जीवनी-लेखक को एक पत्र में लिखा था--"मैं देखता हूं कि तुम जीवनी लिखने में दृढतापूर्वक लगे हुए हो --क्या यह सचमुच आवश्यक या उपयोगी है ? तुम्हारा प्रयत्न अवश्य ही असफल होगा क्योंकि मेरे जीवन के बारे में कुछ भी न तो तुम जानते हो, न कोई और ही जानता है, यह ऊपरी-तल पर नहीं रहा है कि मनुष्य इसे देख सकें ।" (श्री अरविद--अपने तथा माताजी के विषय में, पृष्ठ 205)

इस चुनौती और चेतावनी की गंभीरता वे लेखक-चिंतक भली प्रकार समझ सकते हैं जो श्री अरविंद के बहुआयामी व्यक्तित्व और बहुविध कृतित्व से परिचित हैं । शिवप्रसाद सिंह जैसे सजग लेखक की इस आत्मस्वीकृति का अर्थ समझना कठिन नहीं है--"श्री अरविंद की जीवनी लिखना असंभव कार्य है । यह जानते

हुए भी सत्य की जलती अग्नि को छूने की कोशिश करना मानवीय दुर्बलता है। इसमें गरमाहट भी मिली है, जलन भी पर सब कुछ करते एक असीम शांति और क्रियार्थकता का बोध भी हुआ है जो लेखक की सर्वोत्तम उपलब्धि है । नये से नये आदमी के लिए श्री अरविंद एक चुनौती हैं और जो भी सत्य के लिए जरा भी अभीप्सा रखता है, इस चुनौती को दरकिनार नहीं कर सकता।" (उत्तरयोगी पुरोवाक्, पृष्ठ 7)

जीवनी और आत्मकथा ऐसी साहित्यिक विधाए हैं जिनमे सतुलन की सर्वाधिक अपेक्षा होती है । यदि जीवनी-लेखक जीवन विषयक तथ्यो और तिथियो का सग्रह भर कर देगा तो जीवनी शुष्क लेखन का उदाहरण बनकर रह जायेगी और यदि आत्मकथा मे लेखक स्वय को ही प्रोजेक्ट करने में व्यस्त हो जायेगा या ईमानदारी और सचाई को थोडी देर के लिए भी छोड देगा तो ऐसी आत्मकथा आत्मप्रशंसा की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकेगी ? अपनी विशिष्टताओ के कारण 'उत्तरयोगी' ने अलग पहचान बनायी है, इसमे संदेह नही ।

श्री अरविंद का समस्त लेखन अंग्रेजी में है--कुछ बगला रचनाओ को छोडकर। उनके गद्य का अनुवाद हिंदी में हुआ है । विद्यावती 'कोकिल' ने अनेक वर्षों के प्रयास से 'सावित्री' महाकाव्य का भी हिंदी अनुवाद कर दिया है । व्यापक और गंभीर दृष्टिवाले लेखक ही श्री अरविंद की ओर मुड सकते हैं । ज्ञान की विभिन्न सरणियों में श्री अरविंद का व्यापकतर होता प्रभाव हिंदी लेखको को आकर्षित तो करता रहा है लेकिन श्री अरविद की अंग्रेजी तथा वैचारिक जटिलता को जानने-समझने का प्रयास कौन करे और क्यों करे ? हिंदी में गिने-चुने लेखको ने श्री अरविंद पर लिखने का साहस जुटाया है । सुमित्रानंदन पंत ने यत्र-तत्र श्री अरविंद के बारे मे गभीरतापूर्वक लिखा है । दिनकर भी ऐसे हिदी लेखक है जिन्होंने श्री अरविंद को गहराई से समझकर 'चेतना की शिखा' पुस्तक लिखी और कुछ कविताओं का अनुवाद भी किया । इन दोनो कवि-मनीषियों का श्री अरविंद आश्रम से सपर्क बना हुआ था । आश्रम की हिंदी पत्रिका 'पुरोधा' तथा 'अग्निशिखा' के माध्यम से हिंदी पाठकों को श्री अरविंद तथा आश्रम से परिचित होने का अवसर मिला है । पहले वहीं से प्रकाशित 'अदिति' ने यह काम किया था । पर जो कुछ भी हुआ, वह हिंदी की व्यापकता को देखते हुए बहुत कम है। 'उत्तरयोगी' के रूप में किया गया शिवप्रसाद सिंह का प्रयास स्तुत्य ही माना जायेगा। बहुत से हिदी लेखको को उनका यह आत्मकथ्य अहंकार-प्रेरित लग सकता है पर उनका समस्त लेखन दृष्टि में रहे तो इसकी सचाई आह्लादित भी करती है --"मैं दुर्भाग्यवश हिंदी का ऐसा साहित्यकार रहा हूं जो साहित्य को एक सर्वसत्ता संपन्न क्षेत्र मानकर अपने कूप को ही मडूक की तरह समुद्र नहीं मान लेता। मै शुरू से दर्शन का विद्यार्थी रहा हूं और तर्कशास्त्र में कभी विशेष योग्यता भी प्राप्त

की थी इसलिए जो औरों के लिए फैशन हो सकता है--अस्तित्ववाद, सार्त्र, कामू, काफ्का आदि या फिर रसेल, ह्वाइटहेड वगैरह या फिर एंजेल्स, कांट, हीगेल या सोरोकिन, ममफोर्ड, कामटे आदि वे मेरे लिए सहचर रहे हैं, व्यक्तित्व की खोल या खाल नहीं।" (उत्तरयोगी, पृष्ठ 447)

श्री अरविंद के जीवन को मुख्यत: तीन चरणों में बांटा जा सकता है। प्रथम चरण प्रारंभिक शिक्षा तथा इंग्लैंड मे ज्ञानार्जन का है। दूसरा चरण बड़ौदा और कलकत्ता के जीवन का है, जिसमें वे भारतीय राष्ट्रीयता के अग्रदूत के रूप में दिखायी देते हैं। तीसरा चरण पांडिचेरी के जीवन को है जो उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों से संपन्न है ।

श्री अरविंद के सपर्क में आये साधकों-विद्वानों ने जो सामग्री जुटा दी है, वह प्रामाणिक है और श्री अरविंद पर लिखने के लिए अनिवार्य भी। सर्वश्री ए बी. पुराणी, एम. पी पंडित, दिलीप कुमार राय, ऋषभचंद, नीरदवरण, अमल किरण (के डी. सेठना), नलिनीकात गुप्ता, के आर श्रीनिवास आयगर आदि ऐसी ही विभूतिया हैं। ए बी पुराणी ने 'लाइफ ऑफ श्री अरविंद' लिखकर एक आधार तो दिया ही था, उन्होने 'श्री अरविद इन इंग्लैड' पुस्तक से इंग्लैंड प्रवास का प्रामाणिक विवरण अलग से भी प्रस्तुत किया । मनोज दास ने गहरी खोज के बाद 'श्री अरविंद इन द फर्स्ट डिकेट ऑफ द सेन्चुरी' मे उनके राष्ट्रवादी रूप को विस्तार से दिखलाया है। डॉ. आयगर का कार्य तो श्री अरविंद के जीवन को जानने का अपरिहार्य स्रोत ही है। इस क्रम में आर आर दिवाकर की पुस्तक 'महायोगी' का भी महत्त्व है। श्री अरविंद के जीवन पर लिखनेवालो के लिए ये सब प्रमुख आधार हैं । शिवप्रसाद सिंह ने पुस्तक लिखते समय तक उपलब्ध सभी स्रोतो का उपयोग किया है। श्री अरविद आश्रम का पुरातत्त्व विभाग अब तक भी अज्ञात सामग्री प्रस्तुत कर रहा है। किसी लेखक से--विशेषत: हिंदी के जीवनी-लेखक से--यह आशा करना उचित नहीं है कि वह श्री अरविद के जीवन के बारे में कोई मौलिक अनुसंधान करे। यह अनुसंधान अभी प्रक्रिया में है अत किसी प्रयास को अंतिम नहीं कहा जा सकता। इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले लेखक की विशिष्टता इसमे ही है कि वह उपलब्ध सामग्री को प्रभावी ढंग से सजो दे। शिवप्रसाद सिह की लेखनी सशक्त है अतः 'उत्तरयोगी' में उनकी सफलता का मूल्यांकन इसी से होना चाहिए कि उन्होंने प्राप्त सामग्री को ढंग से प्रस्तुत किया है या नही ? निस्संदेह उन्होंने यह कार्य सफलतापूर्वक किया है। लगभग साढे चार सौ पृष्ठों मे विस्तृत 'उत्तरयोगी' केवल जीवनी नहीं है, हिंदी के माध्यम से श्री अरविंद के बहुआयामी व्यक्तित्व-कृतित्व को समझने, उनके चिंतन को जानने का आवश्यक स्रोत भी है ।

मेरा आग्रह है कि आप 'उत्तरयोगी' का अध्ययन सत्रहवें (यानी अंतिम) अध्याय

से शुरू करें अर्थात् 'मैंने श्री अरविंद को नकारने की कोशिश की' से। सेमिनारिस्ट तर्कप्रिय बुद्धिजीवी दूसरों को नकार कर अपने महत्त्व की प्रतिष्ठा करने के अभ्यस्त होते हैं। दूसरों के महत्त्व की स्वीकृति उनके अहंकार की प्रतिष्ठा में बाधक होती है। इस अध्याय में शिवप्रसाद सिंह का आत्मविश्लेषण ऐसे बुद्धिजीवियों को अहंकारमुक्त करने का प्रयास है। श्री अरविंद के बारे में यत्र-तत्र कुछ पढ़कर शिवप्रसाद सिंह ने तय किया कि "मैं श्री अरविंद को ठीक से पढ़कर भावुकता रहित होकर उन्हें नकारने की कोशिश करूगा ।" और यह भी कि वह 'श्री अरविंद के जादुई माहौल को तोडने की गरज से उनके मानसिक जगत् में' प्रवेश करेंगे। वह श्री अरविंद के साहित्य के सहारे शंकाओं का समाधान ढूढने लगे और पांडिचेरी पहुंच गये । वहां श्री अरविंद के प्रिय नीरदवरण से खरी और सीधी बातचीत की। भीतरी-बाहरी खोज का अतिम निष्कर्ष निकला–"मैंने जब भी श्री अरविंद को पढा है, उनके मानस-जगत् की यात्रा की है, मुझे लगा है कि मैं पहले से अधिक स्वस्थ, अधिक संपन्न होकर निकला हू।" (पृष्ठ 462) 'उत्तरयोगी' के द्वारा शिवप्रसाद सिंह ने अपने पाठकों को भी श्री अरविद के मानस-जगत् की यात्रा के आनद का अनुभव कराया है। तर्क के रास्ते श्रद्धा तक जाने का यह सुख बुद्धिहीन या अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त लोगो के पल्ले नही पड सकता। प्रत्येक यात्रा में संतुलन तो अनिवार्य है ही ।

श्री अरविंद के लिए 'उत्तरयोगी' शब्द का चुनाव भी लेखक की सूझ-बूझ का उदाहरण है । तमिल योगी नगाई जप्ता ने अपने शरीर-त्याग से पूर्व यह भविष्यवाणी की थी कि दक्षिण भारत मे शरण खोजते हुए एक उत्तरयोगी इधर आयेंगे। नगाई जप्ता ने उत्तरयोगी की जो पहचान बतलाई थी, वह श्री अरविंद की ओर ही संकेत करती थी। श्री अरविंद ने स्वयं लिखा है कि "उत्तरयोगी मेरा ही नाम था जो मुझे एक प्रसिद्ध तमिल योगी की बहुत पहले की भविष्यवाणी के आधार पर दिया गया।" शिवप्रसाद सिंह ने 'उत्तर' शब्द की 'अनेकोन्मुखी अर्थगर्भिता' का उद्‌घाटन करते हुए श्री अरविंद के संदर्भ में इस शब्द की सार्थकता का प्रतिपादन प्रथम अध्याय में बहुत प्रभावी ढग से किया है। विभिन्न अर्थों को श्री अरविद के कृतित्व से जोडते हुए उन्होने निष्कर्ष दिया है– "वे क्रांतिकारी थे, राज्याधिकारी नहीं, वे महान् विद्वान् पर अहंकारी नहीं, वे बहुत बडे चिंतक थे, चिंतित नहीं, वे परमगंभीर थे पर उन्हे व्यंग्य-विनोद से चिढ नहीं थी; वे योगी थे पर संन्यासी नहीं थे, वे आध्यात्मिक थे पर चमत्कारी नहीं, वे कवि थे, पर प्रचारी नहीं, वे अनेक शिष्यो से घिरे थे पर सर्वाधिकारी नहीं, वे प्राचीन की सारी विभूतियो को बटोरकर वर्तमान मे स्थित हो उन्हें विकसित करते रहे और अंतत: भविष्य में अतिक्रात कर गये। इसी अर्थ मे वे सचमुच के उत्तरयोगी थे।" (पृष्ठ 35)

'जन्म से प्रवासी' अध्याय में श्री अरविद की इंग्लैंड से वापसी तक की

घटनाओं का उल्लेख है । शिवप्रसाद सिंह ने यह ठीक ही लिखा है कि इंग्लैंड में रहकर श्री अरविंद ने पश्चिमी परिवेश को जानने-पहचानने का प्रयास किया तो बड़ौदा में रहकर भारतीय परिवेश को। बड़ौदा के लगभग साढे तेरह वर्षों के जीवन में श्री अरविंद ने भारतीय प्राचीन वाङ्मय तथा आधुनिक भाषाओं का अध्ययन किया ।

'परिवेश की पहचान' अध्याय में लेखक ने दिनेंद्रनाथ राय (श्री अरविंद के बगला शिक्षक), आर एन पाटकर (श्री अरविद के विद्यार्थी) आदि के संस्मरणों द्वारा बड़ौदा जीवन की झाकी करायी है । इसी अध्याय में भारतीय पुनर्जागरण का परिचय दिया गया है । शिवप्रसाद सिंह का मानना है कि "भारतीय पुनर्जागरण, या 'इंडियन रेनेसा' कहने से एक गुरुगंभीर शब्दार्थ का बोध भले होता हो पर पश्चिम से उधार लिया हुआ यह शब्द तत्कालीन भारतीय परिवेश को उसकी संपूर्ण गरिमा में समेट पाने में असमर्थ है ।" (पृष्ठ 66) उन्होंने विभिन्न विद्वानों के उद्धरण देकर राजा राममोहन राय, देवेंद्रनाथ ठाकुर, केशवचंद्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, दयानद, एनी बेसेन्ट आदि का महत्त्व रेखांकित किया है और पुनर्जागरण के संबंध मे श्री अरविद की दृष्टि का भी परिचय दिया है । 'इंदुप्रकाश' में प्रकाशित 'पुराने की जगह नये दीये' लेखमाला का उल्लेख भी इसी अध्याय में है । अपनी पत्नी मृणालिनी देवी के नाम लिखे पत्र मे श्री अरविंद ने जिन तीन पागलपनों की चर्चा की थी, उनका परिचय शिवप्रसाद सिंह ने कुशलता से कराया है ।

श्री अरविंद के आंतरिक जीवन-विकास को छोड दें तो भी उनके जीवन की बाह्य घटनाए कौतूहल से भरी हैं । 'भवानी मदिर' की पूरी योजना आज भी रोमाचक लगती है । बडौदा की सात सौ रुपये मासिक से अधिक की नौकरी छोडकर कलकत्ता के राष्ट्रीय महाविद्यालय की मात्र डेढ सौ रुपये मासिक की नौकरी स्वीकार करना 'श्रेयस् के लिए प्रेयस् का बलिदान' ही कहा जा सकता है । 'स्वराज्य के बलिपंथी' अध्याय मे शिवप्रसाद सिंह ने बहुत सही निष्कर्ष दिया है—"उत्तरयोगी श्री अरविंद की यह विशेषता है कि वे गुफा गह्वर में ब्रह्म को ढूढनेवाले योगी नहीं बल्कि योग के लिए सबसे बडी शर्त स्वतत्रता के लिए प्राणों को हथेली पर लेकर संघर्ष करनेवाले सेनानी भी थे । भारत के प्राचीन इतिहास में इस प्रकार का समन्वय सिर्फ श्री कृष्ण के व्यक्तित्व में दिखायी पडता है जो एक साथ योगेश्वर, दार्शनिक, गुरु और राजनीतिज्ञ की कई भूमिकाएं समन्वित ढंग से निभाते हैं ।" (पृ 131) 'वंदेमातरम्' का प्रकाशन, सूरत कांग्रेस और उसके बाद की स्थिति का विवरण इसी अध्याय में है। श्री अरविंद के राजनैतिक जीवन के बारे में गिरिजाशकर राय चौधरी के निष्कर्षों को अनेक नेताओं-विद्वानों के मतों से काटते हुए शिवप्रसाद सिंह ने स्पष्ट किया है कि "इतिहास कभी भी क्षुद्र अहंग्रस्त तुच्छ बुद्धि के निष्कर्षों को ढोता नहीं फिरता क्योंकि वह कभी भी व्यक्तिगत

नहीं होता।" (पृष्ठ 166)

कारावास की अनुभूतियां और अदालत के नाटक का विवरण बहुत रोचक है। जेल से छूटने के बाद श्री अरविंद का भाषण लेखक ने पूरा ही दिया है। यह 'उत्तरपाडा अभिभाषण' श्री अरविंद की जीवन-धारा का उल्लेखनीय मोड़ है। यह 'आध्यात्मिक राष्ट्रवाद' का दस्तावेज है। 'पाचवां क्षितिज' अध्याय में इस भाषण के साथ-साथ 'कर्मयोगी' और 'धर्म' की संपादन-कथा और चंदरनगर होते हुए पांडिचेरी की ओर प्रस्थान का विवरण है।

पाडिचेरी का जीवन श्री अरविंद की जीवन-कथा का बहुत महत्त्वपूर्ण अश है। 'मृत नगर मे दिव्य जीवन का पीठ' अध्याय मे पाडिचेरी पहुंचने पर आयी विपत्तियो, मीरा (बाद मे श्री मा) से भेंट, 'आर्य' के प्रकाशन का क्रमबद्ध लेखा है। श्री मां के परिचय के बिना श्री अरविद का परिचय पूर्ण नहीं हो सकता अत: 'नील ध्वजा और पद्मचक्र', अध्याय में श्री मा के जीवन का विस्तृत उल्लेख है। इसी में सिद्धि दिवस (24 नवबर, 1926) के महत्त्व तथा आश्रम की गतिविधियों का भी सकेत है।

पत्र-लेखक के रूप मे श्री अरविद के महत्व पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। नीरदवरण, अमल किरण और दिलीप कुमार को लिखे पत्र तो प्रसिद्ध ही है, आश्रम के अन्य साधनो को लिखे पत्रो की सख्या भी हजारो मे है। छोटी से छोटी जिज्ञासा का भी समाधान उन्होने सच्चे गुरु के रूप में बहुत धैर्यपूर्वक किया था। अब तक भी उनके अप्रकाशित पत्र मिल रहे है। हाल मे ही आचार्य अभयदेव के नाम उनके अनेक पत्र मुझे प्राप्त हुए थे जो मैंने उनकी (आचार्य अभयदेव की) आत्मकथा 'एक योग यात्री' में प्रकाशित करा दिये हैं। पत्रों की तरह ही महत्त्वपूर्ण हैं श्री अरविद से हुई वार्ताए जो उनके शिष्यो ने--विशेषत: अनिलवरण और पुराणी ने -अंकित की है। श्री अरविद के व्यक्तित्व के असाधारण वैविध्य को समझने के लिए पत्रो और वार्ताओ की असंदिग्ध उपयोगिता है। 'समुद्री साझें और ओस डूबी चिड़िया' अध्याय में उनके इसी रूप का परिचय है। शिवप्रसाद सिंह ने यह ठीक ही लिखा है कि "ये सध्या वार्ताए और पत्र श्री अरविद और उनकी योग-साधना को समझने के लिए न सिर्फ अनिवार्य उपादान है बल्कि अपेक्षाकृत अधिक सुगम और सरल भी। उनके महत् दर्शन-ग्रंथो मे जिनका खुला प्रवेश नही है, और कम ही का होता है, उन्हे इन पत्रो को अनिवार्य सहायक तत्त्व के रूप में हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।" (पृ 301)

श्री अरविंद के व्यक्तित्व का विनोदी पक्ष (उनके विनोद को लेखक ने 'अदभुत सूर्याभिमुखी विनोद' कहा है) 'जिदगी का नमक' अध्याय में सामने आता है। श्री अरविद विनोद को जिदगी का नमक कहा करते थे। शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है कि "श्री अरविद इस अर्थ में सचमुच के उत्तयोगी थे कि उन्होंने कृत्रिम मौन

और नकली सन्यास की उपलब्धि आडंबरपूर्ण गुरु-गंभीरता को नहीं, व्यंग्य-विनोद और हास-परिहास को जीवन का आवश्यक तत्त्व बताया।" (पृ. 360) महर्षि और महायोगी के साथ विनोदी रूप में श्री अरविंद की असाधारण साधारणता का बेजोड प्रमाण है।

श्री अरविंद दर्शन को किसी पुस्तक के एक अध्याय में नहीं समेटा जा सकता। इतने मे तो उसके प्रमुख तत्त्वों को भी समाहित कर देना कठिन है । शिवप्रसाद सिंह ने श्री अरविंद के आरोहण-अवरोहण सिद्धात को 'मनुष्य प्रकृति की सर्वोच्च प्रयोगशाला' अध्याय मे स्पष्ट किया है । उनका सूत्रबद्ध निष्कर्ष है कि "श्री अरविंद ने एक नये आध्यात्मिक मनोविज्ञान की स्थापना की ।" और यह भी कह दिया है कि "उसे सक्षेप मे उपस्थित करना असंभव है।" मानवीय चेतना—मानसिक और अतिमानसिक—की अद्‌भुत व्याख्या श्री अरविंद ने की है । अतिमानसिक चेतना के विभिन्न स्तरो की खोज उनकी साधना की पद्धति और लक्ष्य है । 'पृथ्वी यात्रा पर है' अध्याय मे शिवप्रसाद सिंह ने धर्म और अध्यात्म का भेद स्पष्ट किया है। उनका निष्कर्ष है कि "श्री अरविंद कभी भी धार्मिक व्यक्ति नहीं रहे है । वे धर्मों की सीमा मे बधनेवाले दार्शनिक नही थे ।" (पृ. 328)

श्री अरविंद की योग-साधना का सूत्र है– सारा जीवन ही योग है। श्री अरविंद की योग-पद्धति की विशेषताएं और योग-समन्वय की संक्षिप्त व्याख्या 'समूचा जीवन ही योग है' अध्याय मे मिलती है ।

श्री अरविद की काव्य-साधना का परिचय 'भविष्यत् कविता के मात्रिक' अध्याय मे दिया गया है । इसी में उनके अनुवादो की भी चर्चा है । शिवप्रसाद सिह ने लिखा है कि "मेघदूत का उनका अनुवाद जिसे अंग्रेजी के तेर्जा रीमा छद मे किया गया, अपने ढंग का अद्‌भुत अनुवाद है ।" (पृ. 381) मेरी जानकारी में यह अनुवाद अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है । श्री अरविंद के एक पत्र में यह उल्लेख तो मिलता है कि 'मेघदूत' का अनुवाद किया था । महाकाव्य 'सावित्री' का परिचय भी इसी अध्याय में अपेक्षाकृत विस्तार से हुआ है । श्री अरविंद का काव्य और काव्य-दर्शन अपने मे बहुत व्यापक विषय है इसीलिए शिवप्रसाद सिंह ने कहा है– "उनकी कविताएं, नाटक तथा काव्यशास्त्र और अन्य कलाशास्त्रों पर उनके विचार इतने महत्त्वपूर्ण और विविध-आयामी हैं कि उन्हें पूर्णत: उपस्थित करने के लिए अलग से प्रयत्न करना होगा। मैंने उनके साहित्यिक-सांस्कृतिक योगदान को यथासंभव विस्तृत ढंग से परिचित-परीक्षित करने का इरादा किया था और उसके लिए सामग्री भी एकत्र की थी किंतु स्थानाभाव से वह इस पुस्तक मे अंट नहीं पा रही है । उस पक्ष पर कभी फिर ।" (पृ. 401) इस महत्त्वपूर्ण पक्ष पर शिवप्रसाद सिंह लिखें तो यह हिंदी पाठको के लिए लाभदायी होगा ।

श्री अरविंद की भारत-विषयक मान्यताओं को समझाने के लिए 'भारत

नयी मानवता का अंतरिक्ष यान' अध्याय अलग है। इसमें उनका 15 अगस्त, 1947 का महत्त्वपूर्ण संदेश भी है, जिसमें उनके पांच स्वप्न हैं।

श्री अरविंद के देह-त्याग की घटना का भी मार्मिक विवरण लेखक ने एक अध्याय में प्रस्तुत किया है। उस समय विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं ने जो प्रतिक्रियाएं दी थीं, वे भी इसमें हैं।

मैंने शुरू में ही कहा था कि श्री अरविंद के जीवन-चिंतन पर किसी कृति की मौलिकता इस तथ्य पर आधारित है कि उपलब्ध सामग्री को लेखक ने कितनी कुशलता से प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से 'उत्तरयोगी' हिंदी की मौलिक कृति है क्योंकि इसमें श्री अरविंद के जीवन और कार्य की प्रभावशाली प्रस्तुति है।

इस संस्करण की प्रति में छापे की अशुद्धियो पर निशान लगाते-लगाते मेरी प्रति काफी रंगीन हो गयी है लेकिन उन्हें गिनवाने के लिए मैंने 'उत्तरयोगी' का पाठ नहीं किया है। केवल बाईस अशुद्धियो का शुद्धिपत्र अंत में अवश्य दिया गया है जो अशुद्धियों की संख्या देखते हुए हास्यास्पद ही लगता है। पुस्तक के अंत मे श्री अरविंद के साहित्य की सूची है लेकिन अन्य सहायक ग्रंथों की (जिनका उपयोग किया गया है) कोई सूची नहीं है। पाद-टिप्पणियों में लेखको के नाम हैं तो पुस्तकों के नहीं हैं, पुस्तको के है तो लेखकों के नहीं हैं। पाद-टिप्पणिया, अग्रेजी ग्रंथों या उद्धरणों की भी, देवनागरी में दी गयी हैं। कहीं-कहीं अंग्रेजी में भी हैं। यह खटकता है। बंगला उद्धरण देवनागरी लिपि में बंगला भाषा मे दिये हैं (पृ 154 तथा 164) पर उनका हिंदी अनुवाद नहीं दिया है। श्री अरविद के उद्धरणो का या कविताशों का अनुवाद शिवप्रसाद सिंह ने स्वयं किया है। संभव है कि बाद के संस्करण में सुधार हुआ हो।

निष्कर्षत 'उत्तरयोगी' उन जिज्ञासुओं के लिए एक पठनीय कृति है जो श्री अरविंद के व्यक्तित्व और चितन को हिंदी माध्यम से समझना चाहते है। इसके लिए हिंदी जगत् लेखक का ऋणी रहेगा।

घाटियां गूंजती हैं : अंतःसाक्ष्य का सच

• *देवराज*

'घाटिया गूजती है' की पार्श्वभूमि में डॉ शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है--"आज संपूर्ण एशिया मे मनुष्य की स्वतत्रता, देशों की अखंडता, जनता का सुख-चैन, विश्वास-आस्था, धर्म-कर्म, न्याय-नियम तथा सस्कृति-सभ्यता सकट में है । चीनी शासक जानते हैं कि उनके सर्वग्रासी अभियान में कोई अवरोध खडा कर सकता है तो भारत ही । इसलिए वे किसी प्रकार भारत को विकसित होते नहीं देख सकते ।"[1]

यह नाटक सन् 1963 में प्रकाशित हुआ--भारत पर चीनी आक्रमण के कुछ ही दिनो बाद । उसी वर्ष 'अपनी धरती' (रेवतीसरन शर्मा), 'नेफा की एक शाम' (ज्ञानदेव अग्निहोत्री) आदि नाट्य-कृतिया भी प्रकाशित हुईं। ये चीनी आक्रमण को केंद्र मे रख कर रची गयी थीं और रोमानी शैली के राष्ट्रवाद--जो तत्कालीन परिस्थिति की स्वाभाविक उपज था, को सामने रखती थीं। नाट्य-समीक्षकों ने इनके मूल्याकन में भूल-चूक नहीं की। उन्होने इनके तात्कालिक महत्त्व को रेखाकित करते हुए इन्हें इतिहास के गंदे-घिसे कपडेवाले बस्ते में बाध कर एक तरफ सरका दिया। किंतु जब 'घाटियां गूजती है' की बारी आयी तो लगा कि समीक्षकों ने सब धान बाईस पसेरी के ढेर के साथ ही इस कृति को भी निबटा देने का काम कर डाला है । इस तथ्य में किसी प्रकार के परिवर्तन का अवकाश नही है कि 'घाटियां गूजती हैं' उसी दौर में रचा गया, जब विदेशी आक्रमण के सामने मुंह की खाने के बाद भारतीय चेतना मे राष्ट्रवाद की लहर उठ रही थी। अवकाश इस सत्य में भी परिवर्तन का नहीं है कि इसकी विषय-वस्तु चीनी आक्रमण और उससे जुडे विविध पक्ष हैं, किंतु हिंदी नाटक की समीक्षा से जुडे लेखकों की उन धारणाओं के प्रति संदेह उत्पन्न होने का पर्याप्त अवकाश है, जिनके चलते इस नाट्य-कृति को आदर्शवादी-देशानुराग या फिर स्त्री-पुरुष संबंधों की मर्यादित समीकरण से जुड़ी रचनाओ की कोटि में फेंक दिया गया। हिंदी में नाटक-साहित्य पर स्वतत्र रूप से विचार करनेवाले लेखकों या

विश्वविद्यालयों से पी-एच.डी और डी.लिट् लेनेवाले शोधार्थी विद्वानों, दोनों ने ही इस व्यामोह से परे हट कर सोचने का प्रयास नहीं किया कि डॉ शिवप्रसाद सिंह का यह नाटक आदर्शवादी राष्ट्रीय भावना का परिणाम है । डॉ. नरेंद्रनाथ शर्मा ने इसकी कोटि निर्धारित करते हुए कहा– "विवेच्य नाटक की मूल प्रकृति देशानुराग की है । अपनी इसी चेतना के कारण इसमें स्त्री-पुरुष संबंधों का आधार देश-भक्ति को भी माना गया है ।"[2] डॉ श्याम शर्मा ने अपने अध्ययन का निष्कर्ष देते हुए कहा--'डॉ शिवप्रसाद सिंह का 'घाटियां गूंजती हैं' राष्ट्रीय भावनाओं से युक्त आदर्शवादी नाटक है।"[3] डॉ विजयकांतधर दुबे ने अपना मत इस प्रकार दिया-"सन् साठ के पश्चात् हुए चीनी एव पाकिस्तानी आक्रमण ने राजनैतिक गतिविधियो के बीच नयी चेतना का अंकुरण किया । भारतीय जनमानस मे राष्ट्रीयता की लहर पैदा हुई । नये नाटको में इन विदेशी आक्रमणो, हिसा, अराजकता और खूखार मानव-प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया स्वरूप उपजी देशभक्ति एवं तथाकथित आदर्शो का वर्णन किया गया है । शिवप्रसाद सिंह कृत–'घाटिया गूजती है,' रेवती रारन शर्मा का, 'अपनी धरती' तथा ज्ञानदेव अग्निहोत्री प्रणीत 'नेफा की एक शाम' इसी परपरा से जुडे नाटक हैं।"[4] डॉ दशरथ ओझा ने विदेशी आक्रमणो से उत्पन्न परिस्थितियो के सबध मे प्रकाश मे आये नाट्य-लेखन की चर्चा करते हुए कहा–"विगत पचीस वर्षो मे भारत को तीन बार विदेशी आक्रमणो से जूझना पडा । सीमावर्ती भाग उजड गये । सहस्रो युवतियां विधवा हो गयीं। वृद्ध माताए अपने लालों के बलिदानों से निरवलंब हो गयीं। देश का कितना भू-भाग विदेशी शक्तियों के हाथों मे चला गया । शत्रुओ के इस प्रकोप की कहानी पर कतिपय अच्छे नाटक लिखे गये। स्वातत्र्योत्तर नाटक के इतिहास में उनका एक विशेष स्थान रहेगा। ऐसे नाटको की सख्या यद्यपि अत्यल्प है, कितु इनसे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो पर प्रकाश पडता है । रामकुमार वर्मा, शिवप्रसाद सिंह, ज्ञानदेव अग्निहोत्री आदि कतिपय नाटककारो ने भारत-चीन और भारत-पाकिस्तान के युद्ध को नाटक का आधार बनाया है।"[5]

इस प्रकार के विचार और भी अनेक विद्वानों ने व्यक्त किये हैं । वस्तुत समीक्षा और मूल्यांकन की एक चालू परिपाटी के प्रभाव में ऐसा कहा गया है । इस प्रकार की रीतिबद्धता मे सुविधा यह रहती है कि किसी नाटक की ऊपरी कथा से समीक्षक अपने कथन या निष्कर्ष की संगति बडी आसानी से बैठा लेता है और उसे अधिक मेहनत भी नही करनी पडती। 'घाटियां गूंजती हैं' के सदर्भ को ही लें–इसकी कथा-योजना के अनुसार विवेक नामक पत्रकार भारत-चीन युद्ध की रिपोर्टिंग के लिए तेजपुर पहुचता है, जहा उसे महान् भारत के प्रहरी हिमालय और भारत की दिव्य प्रकृति के दर्शन होते हैं। होटल का गोपाल शर्मा नामक बेयरा देवलोक से भी सुदर इस प्रकृति की महिमा का गायन करता है ।

इसी बीच बोमदि-ला कस्बे पर चीनियो का कब्जा हो जाता है। विवेक और रोज (जो अपने पिता को लेने विवेक के साथ ही बोमदि-ला गयी हैं), के सामने विनाश के भयानक दृश्यों के साथ मुकुल नाम का एक ऐसा पात्र भी आता है, जो बोमदि-ला के पतन के लिए वास्तविक रूप से जिम्मेदार लोगों का प्रतिनिधि है । शीकू और क्यूला के कारण उसका भेद खुल जाता है। शीकू ऐसा देशभक्त पात्र है जो राष्ट्र-प्रेम के समक्ष अपने ही छुरे से अपने पुत्र दूरां की हत्या कर देता है। विवेक उसकी महानता के प्रति नत-मस्तक हो जाता है। कथा का अत हिमालय की बर्फीली पर्वत-श्रेणियों मे घायल भवरों की भांति मंडरा रहे, गोपाल शर्मा के गीत-स्वर से होता है।

कथानक के इस घटनाक्रम के सहारे किसी के लिए भी यह कहना सरल है कि यह नाटक युद्ध की पृष्ठ-भूमि पर उभरे राष्ट्र-प्रेम के भावादर्श को प्रस्तुत करता है। अपने कथन की पुष्टि में वह सहज रूप से विविध प्रसंगों को भी सामने रख सकता है । लेकिन बहुत महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि क्या लेखक को भारत पर चीन के आक्रमण ने केवल इतनी छोटी-सी प्रभाव सीमा में ही घेरा था ? यदि इस सवाल का गभीरतापूर्वक सामना किया जाये तो पता चलेगा कि नाटककार ने भारत पर चीन के हमले को केवल एक सैनिक हमले के रूप में ही नहीं देखा था और न इस हमले ने उसके भीतर केवल क्षणिक-उच्छ्वास की पीडा का सृजन भर करके मुक्ति पा ली थी। लेखक ने इस हमले को उच्च सांस्कृतिक आदर्श से सपन्न लोकतंत्र एवं भाईचारे व विश्वमैत्री का पूरा मूल्य चुकानेवाले देश पर कुत्सित साम्राज्यवादी व्यवस्था के फासिस्ट हमले के रूप मे देखा था । इसीलिए इस विश्वासघात का परिणाम इतना गहरा था कि लेखक जीवनपर्यंत उसकी पीडा को नही भूल पाया । सन् 1970 मे अपने एक निबंध में उसने लिखा- "चीनी आक्रमण ने हमारी प्रतिष्ठा, जो कुछ भी रही-सही थी, चूर-चूर कर दी।"[6]

'घाटिया गूजती है' के कथानक का सर्वाधिक प्रभावशाली अंश वह स्वप्न है, जो विवेक देखता है । नाटककार ने इस स्वप्न के माध्यम से ही चीनी साम्राज्यवाद और चीन के तथाकथित साम्यवादी शासको के असली चेहरे से नकाब हटाया है । इसी के माध्यम से उसने मार्क्सवाद के प्रयोक्ताओ द्वारा मार्क्सवाद की हत्या की अबूझ समीकरण को भी खोला है । विवेक का स्वप्न शुरू होता है और "घने अंधेरे में एक ओर से एक ठिगना व्यक्ति प्रवेश करता है । उसका सारा शरीर काले लबादे में ढंका हुआ है । सिर छोटा और गंजा है । मूंछें लंबी-लंबी पतली रस्सी की तरह दोनों ओर झूलती हुई । एक हाथ में वह टिन के कुछ डिब्बे लिये है । दूसरे मे हड्डी का एक टुकड़ा । स्टेज पर वह इस तरह चलता आता है, जैसे हवा में उड रहा हो।"[7] यह जादूगर है । इन्हीं विशेषताओं वाला, किंतु आकार में उससे छोटा और पतला उसका शिष्य है । जादूगर के पास छोटे-बड़े तीन

डिब्बे हैं । इन्हीं में से बड़े डिब्बे में से वह छिपकली से मिलता-जुलता सांप के आकार का एक जानवर निकलता है। यह ड्रैगन है । जादूगर इसी ड्रैगन की ताकत की झलक अपने शिष्य को दिखाता है। वह ड्रैगन को झटकता है । स्टेज पर धुआं छा जाता है और क्षण-भर में ही कन्फ्यूशियस की आत्मा का अवतार होता है । जादूगर का शिष्य घुटने झुका कर बैठ जाता है। कन्फ्यूशियस उसे आशीर्वाद देता है कि उसकी तीन शिक्षाएं उसका (अर्थात् शिष्य का) कल्याण करें । किंतु शिष्य को तो कन्फ्यूशियस की तीन शिक्षाएं याद ही नहीं हैं । वह उन्हें जानने की इच्छा प्रकट करता है । कन्फ्यूशियस अपनी तीन शिक्षाएं बताते हुए कहता है–"मेरी तीन शिक्षाएं ये थीं पुत्र कि प्रत्येक दिन तीन बार सोचो कि क्या तुम दूसरों के साथ व्यवहार में सदा सत्य का पालन करते हो ? क्या तुम अपने मित्रों के साथ हमेशा ईमानदारी का आचरण करते हो ? क्या तुम जो दूसरों के लिए उपदेश रूप में कहते हो उस पर खुद अमल करते हो ?"[8]

कन्फ्यूशियस की शिक्षाएं सुनते ही जादूगर ठठाकर हसता है और कहता है–"अरे भाई, यह बीसवी सदी है । इसमे बाबा आदम के जमाने की बातें नहीं चलेगी ? ईमानदारी मूर्खों का ढकोसला है । सत्य कायरो का प्रलाप है और आचरण ? यह एक दुधारी तलवार है । मेरे भाई, यह शत्रु पर भी वार करती है और मित्र पर भी । कृपा करके इन बे-अर्थ शब्दों का जाप बद करे।"[9] कन्फ्यूशियस की अवज्ञा उसी के देश में, उसी के देश के व्यक्ति द्वारा, उसी व्यक्ति द्वारा जिसके लिए कन्फ्यूशियस ने अपना जीवन खपा कर तीन सत्य पाये थे । यह अवज्ञा इतने पर ही नहीं ठहरती, कुछ क्षण में धृष्टता मे बदल जाती है और जादूगर कहता है–"तुमको हम खूब समझते हैं कन्फ्यूशियस! तुम चीन के सबसे बडे प्रतिक्रियावादी थे । तुम्हीं ने हमारे चीन को निकम्मा और कायर बनाया. । तुम परले दरजे के पाखडी थे, बोर्जुवा, बेवकूफो के सरदार।"[10] इतना सुनकर कन्फ्यूशियस को अनुभव हो जाता है कि उसके महान् चीन के लोग ईश्वर, आस्था, सदाचार, नम्रता, विवेक आदि के स्थान पर अवसरवाद और असत्य के उपासक बन गये हैं । चीन की शासन-सत्ता जिन लोगो के हाथो मे चली गयी है, उनके लिए न कला का महत्त्व है, न परंपरा का । वे केवल अहम् की कठपुतलियां भर रह गये है । कन्फ्यूशियस दुख भरे स्वर में चेतावनी देता है–"मेरे बच्चो, चगेज और हलाकू की परंपरा मे अपने को मत गिनाओ । चीन की महान् सभ्यता, संस्कृति और कला को कलंकित मत करो। अपने देश और जाति के सदियों के कमाए ज्ञान पर मत थूको। तुम उस प्राचीन वैभव पर मुंह उठाकर थूकोगे, तो तुम्हारा चेहरा भी साफ नहीं बचेगा।"[11]

.सोचने का विषय यह है कि कन्फ्यूशियस की यह अवमानना क्या अचानक जन्मी थी या स्वयं कन्फ्यूशियस भी इसके लिए कहीं न कहीं जिम्मेदार था। नाटककार ने इसकी चीर-फाड नहीं की है । उसने कन्फ्यूशियस को एक महान्

विचारक का दर्जा देकर प्रसंग से अवकाश ले लिया है । फिर भी जादूगर और कन्फ्यूशियस के वार्तालाप से यह जिज्ञासा अवश्य पैदा होती है कि आखिर कन्फ्यूशियस की विचारधारा क्या थी ? यह जिज्ञासा इसलिए स्वाभाविक है कि सदियों तक चीन और कन्फ्यूशियस एक-दूसरे के पर्याय रहे हैं । इससे यह समझने मे भी सुविधा मिलेगी कि चीनी शासकों के वास्तविक चारित्रिक गुण क्या हैं ?

कन्फ्यूशियस (ईसा पूर्व 551-479) का चीनी नाम कुङ्फुत्जू (आचार्य कुङ या स्वामी कुङ्) था । वह ऐसा विचारक हुआ, जिसने अपने देश की जनता को सबसे अधिक प्रभावित किया । वास्तव में कन्फ्यूशियस ने अपने उपदेश भद्र व्यक्तियों के लिए प्रसारित किये । इन्हें वह 'चुंतजू' संज्ञा से पुकारता था । ये राज्य-व्यवस्था से जुड़े हुए लोग थे । कन्फ्यूशियस के अनुसार राजा को अपने निजी लाभ के स्थान पर मानवता और राज्य के कल्याण की व्यापक दृष्टि से शासन करना चाहिए तथा सत्य, ईश्वर और सद्-व्यवहार में आस्था रखनी चाहिए ।

एक ओर उसके ये उपदेश थे, दूसरी ओर उसकी यह विचारधारा थी जिसने चीनी शासकों के संपूर्ण व्यवहार को परिवर्तित कर दिया । वह विचारधारा थी--स्वामी की भक्ति और बदला । कन्फ्यूशियस ने 'जैसे को तैसा' वाले सिद्धांत का घोरतम रूप में प्रतिपादन किया । एक शिष्य ने उससे पूछा--यदि कोई आपको हानि पहुंचाता है तो क्या आप उस पर दया करेंगे ? कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया--यदि हानि का बदला दया से दिया जायेगा तो फिर दया का बदला किससे दिया जायेगा ? याद रखो, हानि का बदला न्याय से देना चाहिए और दया का दया से । उसने एक बार अपने शिष्यों से कहा--मेरी शिक्षा में केवल एक सिद्धात है जो मेरे सारे शब्दो में मिलेगा। एक शिष्य, सेङ्जू ने कहा--जब कन्फ्यूशियस अपना कमरा छोड़ कर चला गया, तो शिष्यों ने सेङ्जू से पूछा कि गुरु का क्या मतलब था ? सेङ्जू ने उत्तर दिया कि हमारे गुरु की शिक्षा केवल यही है--वफादारी और बदला ।"[12]

मोत्जू (कन्फ्यूशियस के बाद पैदा हुआ चीनी विचारक) ने कन्फ्यूशियस की इस विचारधारा के स्थान पर मानववादी चिंतन का प्रचार करना चाहा । उसने कहा कि विचारकों के उपदेश सर्व-साधारण के लिए होने चाहिए न कि केवल 'चुतजुओ' के लिए । उसने युद्धवादी धारणा का खंडन करके शांतिवादी विचारधारा का प्रचार भी करना चाहा, किंतु कन्फ्यूशियस के प्रधान शिष्य, मेंशियस ने इस नयी विचारधारा को उखाड़ फेंका और चीन को कन्फ्यूशियसवादी मार्ग पर बढ़ने को विवश कर दिया। इसी का परिणाम हुआ कि वही चीनी सम्राट इतिहास में गौरवशाली स्थान सुरक्षित रख पाया, जिसने युद्ध किये और साम्राज्य की सीमाओं को बढाया । सन् '62 के आक्रमण में इस संपूर्ण विचारधारा के दर्शन किये जा सकते है । इसीलिए स्वयं नाटककार को कहना पड़ा--"चीनी शासक न केवल

तानाशाह, निरंकुश और क्रूर हैं, बल्कि विकट रूप से छल-छद्म में भी प्रवीण हैं । वे बडी आसानी से सच को झूठ और झूठ को सच में बदल देते हैं ।"[13] ऐसे शासकों के प्रतीक जादूगर ने यदि कन्फ्यूशियस को अवमानित करके कोने में खडा कर दिया, तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए।"

जादूगर ड्रैगन को दुबारा झटकारता है । इस बार तथागत बुद्ध की आत्मा विराट् आदमकद प्रकाश-पुंज के रूप में अवतरित होती है, किंतु जादूगर उसे नहीं देख पाता। वह अदृश्य छाया-मूर्ति को प्रत्यक्ष होने का आमत्रण देता है। इस पर बुद्ध की प्रकाश-छाया कहती है--"मुझे देखने के लिए सत्य की आंख चाहिए, करुणा भरा हृदय चाहिए । मैं अंगुलिमाल जैसे राक्षसों को दिखायी पडा था, क्योकि वे अत्याचारी भले ही थे, पर तुम्हारी तरह धोखा और छल नहीं करते थे ।"[14] जादूगर तथागत के इस सत्य कथन को सहन नही कर पाता। वह पूछता है कि क्या बुद्ध को ड्रैगन की शक्ति का भय नहीं व्यापता ? तथागत को भला भय कहां ? दुख और भय तो साधारण मनुष्यों को नचाते है बुद्ध को नहीं । यह जान कर जादूगर के भीतर का सर्प फन उठाकर खडा हो जाता है और वह ऐंठता हुआ कहता है--"देख लूगा (ऐंठता हुआ) अभी तो आप भी उस जाहिल बूढे के पास खडे हो।"[15]

नाटक में जादूगर और तथागत का प्रसंग मात्र सात छोटे-छोटे सवादो मे संपन्न हो जाता है । कारण यह कि बुद्ध की आत्मा का पहला उत्तर ही जादूगर को भीतर तक छलनी कर जाता है । वह इतना असमर्थ, इतना बौना हो जाता है कि बुद्ध की आत्मा को देख भी नहीं पाता । शायद उसके अंदर कुछ खौलने लगता है और वह उसे तुरंत एक ओर खडा कर देता है । क्या इससे यह सकेत नही मिलता कि चीन की साधारण जनता ने बुद्ध और उनकी शिक्षाओ को जितना आत्मसात किया था, चीनी शासक उससे उतना ही दूर थे । यद्यपि ईसा की पहली शताब्दी मे चीन के हान सम्राटो ने बौद्ध धर्म अपना लिया था । बाद में तातारो और मंगोलों ने बौद्ध धर्मावलबी बन कर चीन में बुद्ध की विचारधारा को सरक्षण दिया, किंतु इस ऐतिहासिक सत्य से आंखे बद नहीं की जा सकती कि चीन के राजदरबारो मे हमेशा बौद्ध धर्म के प्रति विरोध भाव बना रहा । वाइ वंश के राजा वू-सू (सन् 446 ई) चाऊ वश के राजा वू-सुङ (सन् 574 ई) थाङ् वशी सम्राट (सन् 845 ई) और सम्राट ची-सुड् (सन् 955 ई) आदि के काल में बौद्ध धर्म को अपार बाधाए झेलनी पडीं । बौद्ध मठ नष्ट किये गये और भिक्षुणियों को बलात् गृहस्थ धर्म में वापस भेजा गया । इतना ही नहीं, यह प्रचार भी किया गया कि बौद्ध धर्म के माध्यम से चीन का भारतीयकरण किया जा रहा है, इसलिए इस धर्म को देश-निकाला दे दिया जाना चाहिए । बौद्ध धर्म की गहरी जडों के कारण उसे चीन से मिटाया तो नहीं जा सका, लेकिन वह पहले की तरह भारत-चीन

सबधों का पुष्ट आधार भी नहीं बना रह सका । सन् 1015 के पश्चात् कोई भारतीय बौद्ध-भिक्षु चीन नहीं गया, जिसके कारण चीन के साथ भारत के संबंध अत्यंत शिथिल हो गये । इनमे नये सिरे से चेतना तभी आयी, जब सन् 1924 ई में रवींद्रनाथ ठाकुर चीन की यात्रा पर गये और भारतीय लोगो ने फिर से चीन में रुचि लेनी शुरू की ।

सबधों के इतिहास की इस तह मे जाने का लक्ष्य यही है कि सन् 1962 मे भारत पर हुए चीनी आक्रमण और चीन के साम्राज्यवादी चरित्र को यथार्थ धरातल पर समझ लिया जाये। भारतीय लोगों में बौद्ध धर्म और चीन के संबध को लेकर बडी भावुक धारणाएं आज भी प्रचलित हैं । इतिहास की इसी कच्ची समझ के कारण 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' के नारे को परवान चढते देर नहीं लगी थी—किंतु नतीजा क्या निकला ? चीनी भाई ने हिंदी भाई की पीठ में छुरा मार दिया । बुरा न माने तो कहू, यह छुरा कन्फ्यूशियसवादियो द्वारा बुद्ध की पीठ में भोंका गया था । चीन के साम्राज्यवादी शासको ने तथागत पर एक बार फिर धौंस जमाई थी "देख लूगा. !"

जादूगर ड्रैगन को तीसरी बार झटकारता है। इस बार लाल रग के धुएं से जो छाया उभरती है, वह बिल्कुल लाल है · लाल लबादा, सुनहरी दाढी । यह मार्क्स की आत्मा है ![16] जादूगर मार्क्स को पहचानता-सा लगता है, किंतु निश्चय नही कर पाता । उसे पूछना ही पडता है कि वह कौन है ? मार्क्स को हल्का आश्चर्य होता है--उसकी मानस-सतान ही उससे उसका परिचय पूछ रही थी । वह अपने बारे मे बताता है कि वह मार्क्स है, कार्ल मार्क्स । जादूगर खिल पडता है, कहता है --"आइए, आइए, मै तो मन ही मन आपको ही गुंहार रहा था । इन मूर्खो को (कन्फ्यूशियस और तथागत की ओर संकेत करता है) आप ही कुछ सिखा सकते हैं ।"[17] अपने स्वभाव के अनुसार वह मार्क्स का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करना चाहता है। वह, यह भी भूल जाता है कि विचार और संस्कृति की परंपरा के जिन वाहको के विरुद्ध वह मार्क्स को हथियार बना देना चाहता है, स्वय मार्क्स उनके प्रति की गयी असभ्यता को सहने के लिए तैयार नहीं है—"मार्क्स परंपरा का द्रोही नहीं, सस्कृति और सभ्यता का द्रोही नहीं । मार्क्स की बडी शिक्षा ही यह थी कि सत्य और असत्य के निर्णय में सभ्यता और शिष्टाचार को नहीं झुठलाना चाहिए, तानाशाही भाषा में बाते नहीं करनी चाहिए ।"[18]

जादूगर तो मार्क्स और मार्क्सवाद के उत्तराधिकारी के रूप में अपनी छवि का वर्षो से आनद ले रहा था—कुछ इस प्रकार का विमोहक आनद कि वह मार्क्स की विचारधारा का भाष्यकार होने का भ्रम भी पाले हुए था उसने वर्षों पहले मार्क्स के नाम पर ही अपने देश की साधारण जनता का भाग्य-विधाता होने का प्रमाण-पत्र हासिल किया था । इसलिए उसे मार्क्स की आत्मा का प्रतिरोध असमंजस

में डाल देता है। वह पूछता है कि क्या वह मार्क्सवादी नहीं है ? मार्क्स उसे उसका असली चेहरा दिखा देता है, कहता है–"तुम ? तुम अपने को मार्क्सवादी कहते हो, पर बात तानाशाहों जैसी करते हो । तुम अपने को जनता का सेवक कहते हो, पर गला उसी का काटते हो । तुम अपने को समाजवादी कहते हो, पर हिटलर और मुसोलिनी से स्पर्धा करते हो । तुम अपने को पचशील और सह-अस्तित्व का निर्माता कहते हो, पर युद्ध को मार्क्स के लिए अनिवार्य बताते हो । तुम लाल लिबास में जल्लाद हो, तुम क्रांति के नाम को कलंकित करनेवाले लुटेरे हो, तुम बोर्जुवा युद्ध लोलुपों का विरोध करनेवाले स्वयं सबसे बडे युद्ध-लोलुप हो । यानी एक शब्द मे तुम ड्रैगन नहीं गिरगिट हो।"[19] इन शब्द-बाणों से मार्क्सवादी-जादूगर के चेहरे पर थुपे कृत्रिम चेहरे की चिंदिया उड़ जाती हैं । वह अपने असली रूप मे आ जाता है, तमतमा उठता है–इतना अधिक कि उसके हृदय की वास्तविकता खुल जाती है, कहता है–"बस चुप करो, मैं किसी से उपदेश नही सुनना चाहता। मार्क्सवाद की टेक हमने इसलिए नहीं पकडी कि तुम्हें अच्छा समझते थे। हमे तो चियाङ्-काइ-शेक और उसके पूजीवादी सहायकों को मुंह की खिलाने के लिए तुम्हारा नाम लेकर कम्युनिस्टो का सहयोग चाहिए था। . चीन को किसी से सीखने या किसी को मानने की जरूरत नही । चीन वीर सम्राटो की भूमि है। हम शक्ति का महत्त्व और उसका उपयोग दोनो जानते हैं । चलो तुम भी उधर कोने में खडे जो जाओ ।"[20]

यह है चीनी शासको का असली चेहरा, जिस पर साम्यवाद की लौह परते चढी है, किंतु जिसका निर्माण निर्मम तानाशाही और फासीवादी विचारधारा के ततुओं से हुआ है । नाटककार ने स्पष्ट कर दिया है कि चीनी शासक तानाशाही प्रवृत्तिवाले, जनता का गला काटनेवाले, फासिस्ट राजनैतिक आस्थावाले, युद्ध के समर्थक, लुटेरे और गिरगिट हैं । अपनी इन प्रवृत्तियो के ऊपर उन्होंने मार्क्सवाद का पालिश चढाया हुआ है, वास्तव मे मार्क्सवाद से उनका कोई संबध नही है। मार्क्स की विचारधारा में तो न युद्ध का कोई स्थान है और न साम्राज्यवाद का। मार्क्स ने समाजवादी समाज का जो कुछ भी विवरण दिया है, उस सबसे यही प्रकट होता है कि तब युद्धों का अत हो जायेगा । प्रत्येक देश मे उत्पादन और वितरण का संगठन जब समाजवादी आधार पर हो जायेगा तब किसी भी देश मे कोई ऐसा गिरोह नहीं बचेगा, जो दूसरे देशों को जीतने की जरा भी इच्छा रखता हो ।"[21] इतना ही नहीं, मार्क्स ने यह इच्छा कभी भी प्रकट नहीं की कि उसकी विचारधारा को 'वाद' की सीमाओ से घेर कर विकासशील मार्ग से हटा दिया जाये। मार्क्स की एकांत आस्था है–परपरा और प्रयोग। अविच्छन्न परंपरा के क्रम में प्रयोगों का नैरतर्य ही उन निष्कर्षों तक पहुंचने का मार्ग खोजेगा, जो मानव-समाज के कल्याण का मार्ग होगा । मार्क्स के विचारों का अध्ययन करने

पर "यह मानने की बडी भारी गुंजाइश है कि स्वयं मार्क्स अपने विचार को शास्त्रीय विचार की केवल एक दिशा भर मानते थे । उसको वाद या इजम में परिणित करने की उनकी इच्छा नहीं थी । स्वयं मार्क्स का एक वाक्य है : थैंक्स गॉड, आइ एम नॉट ए मार्क्सिस्ट ।"[22]

क्या चीनी शासकों ने मार्क्स के इन विचारों को अपनी आत्मा में बसा कर कभी युद्ध और सीमा-विस्तार का विरोध किया ? चीन का पिछले दो हजार से भी अधिक वर्ष पुराना इतिहास सिर्फ युद्धों का इतिहास है । उसकी युद्धप्रियता में कभी कमी नहीं आयी, न मार्क्सवादी होने से पहले न बाद में । उसने हमेशा विनाशक युद्ध लडे। सन् '62 के युद्ध में इस धरती पर जो विनाश-लीला हुई, वह रोंगटे खडे कर देनेवाली है। विवेक कहता है—"आंसू ! आंसू चारों तरफ आसुओ की नदी उमड रही है बोमदि-ला, गार्डेन सिटि, फूलों की बस्ती (लंबी सांस खींचते हुए) विदेशी आततायी शत्रुओ के पैरों से रौंदी जा रही है ।"[23] इस युद्ध मे चीनियों ने बौद्ध लामाओं का वेश धारण करके भारतीय बस्तियों में पैशाचिक विनाश-लीला की थी । इस प्रसंग का सर्वाधिक भयानक पहलू यह है कि तवाड् विहार पर कब्जा करने के बाद चीनियों ने सचमुच के लामाओं को भी अपने पक्ष में कार्य करने को विवश किया । नाटककार ने ऐसे ही एक लामा की आत्मिक पीडा को अनुभव करते हुए कहा है—"मैं तो उस बौद्ध-भिक्षु की तडपती हुई आत्मा की पीडा को सोच रहा हूं । करुणा और अहिंसा के व्रती उस भिक्षु की मानसिक पीडा को सोचो। युद्ध का यह जघन्य रूप उसके ऊपर क्यों लादा गया ? युद्ध मे एक विवश निरपराध व्यक्ति की मृत्यु वह भी मर लेता, जैसा अनेक करेगे, किंतु एक कृतघ्न, धर्म-द्रोही, देशद्रोही व्यक्ति की मृत्यु स्वीकार करने में उसे कितना दुख हुआ होगा ।"[24]

युद्ध से जुडे एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष पर जरा विचार करें कि चीन ने यह युद्ध किसके साथ लडा ? उसके साथ, जिसने उसके लिए दुनिया-भर के राजनैतिक शक्ति-सतुलन के बिगडने-संवरने की परवाह नहीं की । जिसने उसे संसार के सामने सिर ऊचा करके बातें करने का मौका दिया । जिसने उसके साथ पंचशील के उपवन मे मैत्री और विश्व-भाईचारे के शांतिकामी स्वप्न देखे । विवेक कहता है—"कैप्टेन, इन्हें कोई पूछता नहीं था, तब हमने आदर दिया, सम्मान दिया.. 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' के नारों से धरती और आकाश भर दिये। और इन्होंने ? इन्होंने हमारी सचाई और शिष्टता को हमारी कमजोरी मान कर हमें ठोकर मार दी ।"[25] यही होता है फासिस्ट लोगों का मूल चरित्र । ऐसे लोगो द्वारा शांति और मैत्री जैसे भारी-भरकम शब्द, कभी-कभी किसी खास स्वार्थ की पूर्ति के लिए, किसी खास समारोह में प्रयोग किये जाते हैं। इनके दैनिक व्यवहार में युद्ध और दमन का बोलबाला बना रहता है । मुसोलिनी ने फासीवाद की प्रकृति का

बयान करते हुए एक बार कहा था–"फासीवाद सदा शाति की जरूरत या फायदेमंदी में विश्वास नहीं करता । इसलिए वह शाति को ठुकराता है, क्योकि इसमें सघर्ष से इन्कार और कुर्बानी के मौके पर लाजिमी बुजदिली के ऐब छिपे हुए हैं । युद्ध और सिर्फ युद्ध ही ऐसी चीज है, जो इन्सानी शक्तियो को हद दर्जे के खिचाव पर उठा देता है और जिन कौमो मे युद्ध कबूल करने का साहस होता है, उन पर अपने बडप्पन की छाप लगा देता है । बाकी सब आजमाइशें नकली हैं, वे व्यक्ति के सामने मौत और जिदगी का सवाल नहीं रखती।"[26] उसके इन शब्दों की तुलना जादूगर के उस कथन से करे कि चीन वीर सम्राटो की भूमि है और कि चीनी लोग शक्ति का महत्त्व और उपयोग दोनों जानते हैं । दोनो कथनो के साम्य से स्पष्ट हो जायेगा कि साम्यवाद के नाम पर चीन मे फासिस्ट-चरित्र का ही विकास हुआ था ।

और यदि मानवाधिकार की कसौटी पर चीन को कसा जाने लगे, तो पता चलेगा कि उसके फासिस्ट रवैये ने उसे कभी इस दिशा में सोचने का भी मौका नहीं दिया। माओत्से-तुड् ने 6 नवबर, 1938 को साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति मे अपना जगत् विख्यात सिद्धात प्रस्तुत किया था--राजनीतिक सत्ता बदूक की नली से पैदा होती है। स्वाभाविक रूप से यह मानवाधिकार विरोधी राजनैतिक सिद्धात था । उसी समय इससे चीन के भावी साम्यवादी शासको की मानसिकता स्पष्ट हो गयी थी । यह तो सारा ससार ही जानता है कि चीन 1 अक्तूबर, 1949 को जनवादी गणतत्र घोषित हुआ और सन् 1959 मे उसने तिब्बत को हडप लिया। उसके बाद वहां तिब्बतियो के साथ जो कुछ घट रहा है, वह मानवाधिकारो के हनन की लोमहर्षक गाथा है । इस सदर्भ मे चीन ने अपने मूल नागरिको को भी कोई छूट नही दी । उसने 4 जून,1989 को प्रसिद्ध थ्येनआनमन चौक पर अपने देश के ही उन छात्रों पर गोलिया चलवाई, जो वहां लोकतत्र की मांग को लेकर जमा हुए थे एव शांतिपूर्ण सत्याग्रह के मार्ग पर चल रहे थे । डॉ राममनोहर लोहिया ने चीनी शासको के इस स्वभाव के प्रति बहुत पहले ही सचेत किया था। उन्होने भारतीय ससद मे तिब्बत के प्रश्न पर बोलते हुए कहा था–"अगर मंत्री महोदय कभी संयुक्त राष्ट्र मे जाये, तो वहां मानवीय अधिकारों की बात न करे। फिजूल है चीनियो से मानवीय अधिकारो की बात करना । चीनी तिब्बत मे क्या मानवीय अधिकार देगे, जो अपने घर के अदर ही मानवीय अधिकारो का यह हाल बनाये हुए हैं कि यह पता ही नहीं कि वहां का राष्ट्रपति कौन है, ल्यू-शाओ-ची है या कोई और है । वह बेचारा पीकिड् में है और उसकी बीवी शंघाई मे है। क्या मत्री महोदय ऐसे लोगों से मानवीय अधिकारो की बात करेगे ?[27] यह वक्तव्य सन् 1967 मे दिया गया था। 'घाटिया गूजती हैं' के जादूगर ने उससे चार साल पहले ही अपने शिष्य के हाथ मे तलवार देकर कहा था कि वह उसे एक ही बार

में कन्फ्यूशियस, तथागत और मार्क्स की छाती में भोंक दे और जब शिष्य ने उन तीनों आत्माओं का अपराध पूछा तो जादूगर ने वही तलवार उसकी छाती में भोंक दी । उसकी दृष्टि में यह कोई अपराध नहीं हुआ, क्योंकि शिष्य पहले ही मार्क्स आदि का अपराध पूछ कर अमेरिका का एजेंट हो गया था–"अपराध ? तुम ऐसा प्रश्न पूछते हो ? इतनी हिम्मत ? शायद तुम भी अमेरिका के एजेंट हो, क्रांतिद्रोही, कुओमिण्टांङ् के एजेंट ?"[28] इसके बाद सन्1989 मे निहत्थे छात्रों पर गोली चलाने की भूमिका अपने आप ही बन गयी थी । इस पर भी आश्चर्य क्यों होने लगा कि इस घटना के बाद चीन के शीर्षस्थ नेता तङ्-श्याओ-फिङ् छात्र-आंदोलन को कुचलनेवाले सैनिक कमांडरो को दूरदर्शन के माध्यम से बधाई दी ।"[29] क्या इस घटना से जनवादी गणतंत्र के शासकों के मानवाधिकार संबंधी दावों की पोल नहीं खुल जाती ? और क्या इससे नाटक के जादूगर का असली रूप सामने नहीं आ जाता ?

'घाटिया गूजती है' का जादूगर मार्क्स की अवहेलना करते हुए एक बहुत महत्त्वपूर्ण सकेत मार्क्स के उपयोग का करता है । वह कहता है कि उसने मार्क्सवाद का जाप कम्युनिस्टों का सहयोग पाने के उद्देश्य से किया ताकि चीन की जनता को अपने पक्ष मे किया जा सके । अपने इस षड्यत्र में वह सफल हुआ । चीन पर उसका आधिपत्य हो गया–"आज देखते हो, (सीना तन जाता है) हमारे पास चीन जैसा विशाल देश है, पैंसठ करोड जनता है। आज हम किसी से कम नहीं, किसी के अधीन नहीं--तुम्हारे भी नहीं, कम्युनिस्टो के भी नहीं। हम आप ही तुम्हे दूध से मक्खी की तरह निकाल कर फेक देंगे ।"[30] यह कथन चीन मे मार्क्सवाद की यात्रा सहित विश्व के अधिकाश देशो मे उसके साथ किये गये व्यवहार की कलई खोलता है ।

चीन मे साम्यवाद के पैर जमाने में महान् चीनी नेता सन-यात-सेन की महत्त्वपूर्ण भूमिका है । यद्यपि वे किसी भी प्रकार साम्यवादी नहीं थे, तब भी उनके चरित्र मे उदार समाजवादी व्यक्ति की विशेषताए विद्यमान थी । वे प्रारभ मे अपने देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए अमेरिका और इग्लैंड जैसे देशों से सहायता पाना चाहते थे, किंतु जब इन देशो ने अपने आर्थिक हितों को प्राथमिकता देते हुए चीन की सहायता नही की, तो सन-यात-सेन ने रूस की ओर दोस्ती का हाथ बढाया। बोरोदिन नामक बोलशेविक इसी क्रम मे डॉ. सन का सलाहकार बन कर चीन आया और उसने कुओ-मिन-ताङ् दल को जनव्यापी आधार देने का काम किया । चीन के जो लोग मार्क्सवाद से प्रभावित थे, और छिपे-छिपे साम्यवाद के लिए काम करते थे, उन्हें बोरोदिन के असर से ही कुओ-मिन-ताङ् की सदस्यता नसीब हुई । यही वह घटना थी, जिसका यह परिणाम हुआ कि चीन में साम्यवाद तेजी से फैलने लगा। किसानों और मजदूरों के संघ कायम

हुए तथा राष्ट्रीय सरकार के निर्माण का अभियान संभव हुआ । सन् 1926 में च्याङ्-काइ-शेक ने दक्षिण-पंथी शक्तियों के हितों की रक्षा करते हुए साम्यवादियों को दल से बाहर निकालना शुरू किया और वामपंथियों की विवशता का लाभ उठाते हुए सत्ता-विस्तार आंदोलन भी चलाया । वह च्याङ्-काइ-शेक ही था, जिसके कारण अनेक साम्यवादियों के साथ ही राष्ट्रवादी सन-यात-सेन की विधवा को भी देश निकाला दे दिया गया । उस समय उसने बड़े दुख के साथ कहा था कि "जंगखोरों व दूसरे लोगों ने चीन की आजादी की खातिर किये गये उसके पति के महान् काम की पीठ में छुरा भौंक दिया। तुर्रा यह कि ये जंगखोर डॉ. सेन के तीन मशहूर उसूलों की दुहाई देते रहते थे । ये उसूल थे--राष्ट्रीयता, लोकतत्र और समाजी न्याय।"[31] आगे चल कर जब साम्यवादियों का मौका पडा तो इसी हथियार का प्रयोग च्याङ्-काइ-शेक और उसके सहयोगियों के विरुद्ध बडी सफलता से किया गया । सत्ता-लोलुप मार्क्सवादियों ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहां डॉ सेन के राष्ट्रवाद का सहारा लिया, वहीं मार्क्स के नाम पर किसान-संघों की सहानुभूति भी अर्जित की । और जब सत्ता पर माओ का अधिकार हो गया तो उसने अपने ढंग से मार्क्सवाद का एक अलग किला तैयार किया। इस नये चीनी-मार्क्सवादी किले की दीवारें इतनी मोटी थीं कि इन्हें भेद कर ससार की कोई आवाज भीतर नहीं जा सकती थी । इनके भीतर बंद माओ और उसके सहयोगी मार्क्स की विचारधारा को अपने लक्ष्य एवं हित के अनुसार व्याख्यायित करने को स्वतंत्र थे । जादूगर ने ठीक ही कहा था कि चीन को किसी से सीखने की आवश्यकता नहीं है । ऐसे लोगों ने मार्क्स को सचमुच दूध में से मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिया ।

यदि 'घाटियां गूंजती हैं' के जादूगर के इस संकेत को थोड़ा और विस्तार दिया जाये तो यह समझ में आ जायेगा कि मार्क्स के साथ जो व्यवहार चीन में हुआ लगभग वही दूसरे अनेक देशों में भी हुआ । फिलिप स्प्रैट ने दुनिया-भर की कम्युनिस्ट पार्टियों का अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला कि "प्रथम, कम्युनिस्ट पार्टियों के सदस्यों का विश्वास है कि उनका सिद्धांत सर्वव्यापक है, जो उन्हें कुछ भी करने का न्याय-संगत आधार देता है और यह विश्वास उत्पन्न करता है कि अन्ततोगत्वा विजय उनकी होगी। द्वितीय, वे अपने सिद्धांत को अन्य सब सिद्धांतों से सर्वोपरि मानते हैं।. तृतीय, उनमें संदेह की गुंजाइश नहीं रहती, क्योंकि वे अपने सिद्धांतों को पूर्ण मानते हैं और उन्हीं से प्रेरणा लेते हैं ।"[32] यह कथन नाटककार द्वारा साम्यवाद की विश्व-यात्रा और मार्क्स का माला-जाप करनेवालों के संबंध में किये गये संकेत-निष्कर्षों की पुष्टि करता है ।

और अत में यह कह देना भी आवश्यक है कि 'घाटियां गूंजती हैं' का मुकुल चीनी आक्रमण से कुछ ही पहले शीकू के पुत्र टूरां को बहका कर देश-द्रोही बनाने

में सफल हो जाता है, फिर वह अरुणाचल की बस्तियों के आदिवासियों में पर्चियां बांटकर कहता फिरता है कि "घर-बार छोड़कर भागने की ज़रूरत नहीं । चीनी सैनिक आक्रमण करने नहीं, तुम लोगों को मुक्त करने आ रहे हैं । घबराओ मत, ये चिटें दिखाने से वे तुम्हारे साथ अच्छा बरताव करेंगे । तुम्हें मुफ्त गल्ला और कपड़ा देंगे।"[33] चीनी शासकों का यह व्यवहार 1926 की घटना की याद दिलाता है, जब चीन में एक ही राष्ट्रीय सरकार कायम करने के लिए युद्ध अभियान पर निकली कैप्टन की सेना के आगे-आगे प्रचारकों की एक टोली चलती थी, जो किसानों व मजदूरों के संघ कायम करती जाती थी और उन्हें समझाती थी कि कैप्टन-सरकार के राज में उन्हें क्या-क्या फायदे मिलनेवाले हैं।"[34] इस सेना और टोली मे जो सत्ता-लोलुप शामिल थे, उन्हीं के स्वप्नों को साकार करने के लिए उन्हीं के वशजो ने सन् 1962 में भारत पर आक्रमण किया था । यह तथ्य भी आलोच्य नाटक के सृजन-लक्ष्य की ओर ही संकेत करता है ।

संदर्भ

1 डॉ शिवप्रसाद सिह घाटिया गूजती है (पार्श्व भूमि), पृ 7
2 डॉ नरेद्रनाथ त्रिपाठी · साठोत्तरी हिंदी नाटको मे स्त्री-पुरुष सबंध , पृ. 200
3 डॉ श्याम शर्मा आधुनिक हिंदी नाटको मे नायक की भूमिका , पृ. 135
4 डॉ विजयकातधर दुबे साठोत्तरी हिंदी नाटक, पृ. 67
5 डॉ दशरथ ओझा नाट्य निबध, पृ. 205
6. डॉ शिवप्रसाद सिह · नव लेखन स्थिति और समस्याए साहित्यिक निबध, सपादक—
डॉ. त्रिभुवन सिह, पृ. 1096
7 घाटिया गूजती हैं (रगमचीय सकेत), पृ. 54
8 वही, कन्फ्यूशियस, पृ. 57
9. वही, जादूगर, पृ. 57
10 वही, पृ. 58
11 वही, कन्फ्यूशियस, पृ. 59
12 जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी : विस्तारवादी चीन के दो हजार वर्ष, पृ. 22
13 डॉ शिवप्रसाद सिह . घाटिया गूजती हैं (पार्श्व भूमि), पृ. 6
14. घाटिया गूजती हैं : बुद्ध की प्रकाश छाया, पृ. 60
15 वही, जादूगर, पृ. 60
16 वही, (रगमंचीय सकेत). पृ. 61

17. वही, जादूगर , पृ. 61

18 वही, मार्क्स, पृ. 61

19 वही, मार्क्स, पृ. 61-62

20. वही, जादूगर, पृ. 62

21. एमिल बर्न्स . मार्क्स क्या है ?, पृ 67

22. दत्तोपत ठेगडी कम्युनिज्म अपनी ही कसौटी पर, पृ. 36

23. घाटिया गूजती हैं, विवेक, पृ. 80

24. वही, पृ. 94

25 वही, पृ. 26

26 मुसोलिनी इतालवी विश्वकोश (प जवाहरलाल नेहरू द्वारा 'विश्व इतिहास की झलक,' दूसरा खड), पृ. 1149 पर उद्धृत

27 डॉ राममनोहर लोहिया द्वारा 14 जुलाई सन् 1967 को तिब्बत के सबध मे ससद मे दिये गये वक्तव्य का अश (तिब्बत बुलेटिन, सपा—अर्नेस्ट अल्बर्ट, डिपार्टमेट ऑफ इन्फ़र्मेशन एण्ड इटरनेशनल रिलेशज, केद्रीय तिब्बती सचिवालय, गगचेन किशैड, धर्मशाला के अक 12, वर्ष 3 अगस्त-सितबर, 1991 के पृ. 4 पर उद्धृत

28 घाटिया गूजती है, जादूगर, पृ. 63

29. त्रिनेत्र जोशी के लेख 'चीन की राजनीति बदूक से हाकी जाती है' जनसत्ता, 23 जून, 1989, पृ. 6 से उद्धृत

30 घाटिया गूजती है, जादूगर, पृ. 62

31 प जवाहरलाल नेहरू विश्व इतिहास की झलक, दूसरा खड, पृ. 1160

32 फिलिप स्प्रैट साम्यवाद के पार पृ. 22

33 घाटिया गूजती है, कैप्टेन, पृ. 101

34. प, जवाहरलाल नेहरू विश्व इतिहास की झलक, दूसरा खड, पृ. 1156

• आमने-सामने

साक्षात्कार : एक

[डॉ. शिवप्रसाद सिंह के साथ डॉ. प्रेमचंद जैन का साक्षात्कार]

○ *गुरुजी मै ये विशेष रूप से जानना चाहता हू क्योंकि आपकी कथा, निबध, कहानी, नाटक इन पर तो बहुत कुछ लिखा-पढ़ा गया है । समीक्षाएं हुई हैं, सामने आती रही है । लोग जान रहे है, और जानेगे भी । लेकिन मेरी दृष्टि से ऐसा लगता है कि आपसे आपके शोधग्रंथ के विषय मे बहुत कम लोग जानना चाहते हैं। आपने उस पर अथक श्रम और उन ग्रंथ भंडारों में खोज करके उसे निकाला है, मेरा आशय 'सूरपूर्व ब्रजभाषा से है । तो ऐसा कैसे कर पाये आप ? वैसा कैसे आपने सोचा ?*

□ यह सही है कि 1953 मे एम.ए. करने के बाद जब आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने 'सूरपूर्व ब्रजभाषा' पर काम करने का आदेश दिया तो बहुत से विद्वानों ने हतोत्साहित किया कि सूर के पहले ब्रजभाषा क्या रही होगी ? यह एक मिथ्या कल्पना है । इस भ्रमजाल के पीछे क्यों दौड रहे हो । पहली चीज यह कि मैंने वो विषय लिया उस समय उसकी व्यापकता, उसकी अनुपलब्धता ये सारी चीजें मेरे सामने थीं । फिर भी एक ऐसा काम कि आचार्य शुक्ल संकेत कर गये थे कि सूरदास जैसा सशक्त कवि अचानक नहीं पैदा हुआ होगा। उसके पहले कोई-न-कोई परपरा रही होगी। उस शृंखला की कोई खोज, कोई शृंखला आज तक नहीं जोडी जा सकी थी, तो वो विषय सही अर्थों में शोध का विषय था। और इसके लिए मुझे राजस्थान और पाटन तक के भंडारों मे जाना पड़ा। उससे मेरा आत्मविश्वास ही बढा और सामग्रियों को देखने-समझने की एक नयी दिशा भी मिली । इसलिए वो काम मैंने इस हिसाब से उठाया ।

○ *एक ओर तो आपने सूरदास पर कार्य किया, दूसरी ओर विद्यापति को आप प्रकाश मे लाये । उनके बारे में बहुत से सशोधन और उनकी भाषा के विषय में भी आपने विस्तार से बताया तो सूरदास और विद्यापति में कैसा और कहां साम्य या वैषम्य है ?*

□ इसमें कोई शक नहीं कि हिंदी के सगुण कवियों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान सूरदास

का है। सूरदास ने कृष्ण भक्ति का जितना विस्तार संभव हो सका, बहुत कुछ भागवत् से कथा लेकर और बहुत कुछ लौकिक तत्त्वों को अपनी ओर से जोड़कर उसे एक अजीब रूप प्रदान किया। जिसको हम न सही आगरे का किला कहें, वो आगरे का ताजमहल जैसा तो है ही उनका पूरा साहित्य। लेकिन मेरे मन में विद्यापति के गीतों की घुमडन कुछ दूसरे प्रकार की थी। वो थी लोक धुनें जिन पर विद्यापति ने पहली बार बहुत ध्यान दिया। आपको मालूम होगा कि, हालांकि वो दूसरे पक्ष पर बात है लेकिन इस प्रसंग में कह दूं कि 'भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएं' पुस्तक में रामविलास शर्मा ने 'कीर्तिलता' पर चार-पांच पेज लिखे हैं। और उसको बहुत महत्त्वपूर्ण इसलिए माना कि उसमें पहली बार देसी भाषा शब्द का प्रयोग किया गया था। उसमें साफ था कि देसी भाषा बहुत मीठी है, देसी भाषा संस्कृत और प्राकृत से मीठी है इसलिए मैं उस देसी अपभ्रंश में या अवहट्ट में अपना ग्रंथ लिखता हूं। तो विद्यापति में जो लोक-जीवन की भाषा ग्रहण करने की प्रवृत्ति थी उसने मुझे बहुत आकृष्ट किया। यह सही है कि विद्यापति मैंने लिखा लेकिन यह भी जान लेना चाहिए कि विद्यापति मैंने सूर पर काम करने के पहले लिखा। 'विद्यापति' हमारी पुस्तक, पदावली पर समीक्षा तो 1955 में ही आ गयी थी। और वो किताब भी बहुत ज्यादा पूर्वांचल वगैरह में अपना एक स्थान रखती है। लेकिन विद्यापति की कीर्तिलता को जब मैंने अपने शोध का विषय बनाया तो साफ बात यह थी कि मेरे सामने यह जानने की प्रवृत्ति थी क्योंकि पूर्वांचल में भक्ति का पूरा का पूरा स्वरूप पश्चिम की भक्ति से अलग था। जैसे अब विद्यापति, तो विद्यापति की शृंखला में ब्रजबुली चलती है। वो गयी बगाल तक। वहा चंडीदास और कई कवि हुए थे। वो आगे बढी आसाम तक तो वहा माधवदेव और शंकरदेव जैसे कवि हुए। फिर उड़ीसा तक चला गया वो गौरांग महाप्रभु। आंदोलन तो बहुत ज्यादा व्यापक था—एक रूप उसको वहां भक्ति का मिला लेकिन सबसे बडी विशेषता यह रही कि विद्यापति ने अपने पदों के लिए, कभी भी उन सगीत शैलियों का प्रयोग नहीं किया, जिनका सूर ने किया। यानी सूर के जितने भी पद मिलते हैं हालाकि कहा जाता है कि पद उन्होंने सवा लाख लिखे। लेकिन जो पद अब भी मिलते हैं साढ़े पांच हजार के करीब। जो असली सूरदास के पद कहलाते हैं। उनमें भी राग-रागनियां दी हुई हैं। एक एडीशन कीर्तिलता का मिल चुका था। महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री ने कीर्तिलता पर काम किया था बगला भाषा में, उसका अर्थ भी दिया था। हमारे यहां भी हिंदी में बाबूराम सक्सेनाजी ने उस पर काम किया था लेकिन दोनों ही अपूर्ण थे। अपूर्ण इस दृष्टि में कि दोनों को ही यह नहीं पता था कि इसमें कितना गद्य है; कितना पद्य। एक खास ऐसा छंद था विद्यापति में जिसको पकडने में हमारे ये दोनों आदरणीय पूर्वज असफल हुए। पाच पंक्तियों का कोई छंद होगा, उनको यह मालूम

ही नही था। लेकिन जब रड्डा छंद के बारे में पांच पंक्तियों वाली बात मैंने पढ़ी, यह प्राकृत पैंगलम में पढी, और कई जगह भी पढ़ी, पिंगल के ग्रंथ हैं या इस तरह के छंदों के ग्रंथ हैं। उस स्थान पर देखकर के हमने कि यह पांच-पांच पंक्तियो का यानी एक पंक्ति, उसके बाद एक उल्लाला या इसी तरह का छंद इसके बाद अत में उन्होंने दोहा एक दिया। यह पांच पंक्तियों का छंद है, यह गद्य नहीं है। वे पाच पक्तियों का गद्य बनाकर इसको छापते रहे। कुछ थोडे से पद जो दोहे कहलाये थे, उसने उनको छंद में रखकर बाकी सब गद्य के रूप में छापा। दोनों ने यही काम किया। हमारे सामने प्रश्न था कि हमको भाषा वैज्ञानिक अध्ययन करना है और भाषा वैज्ञानिक अध्ययन काल्पनिक टैक्स्ट पर नहीं हो सकता। जो टैक्स्ट रॉ मैटीरियल के रूप में मिल रहा है, बहुत स्पष्ट नहीं है। उस पर मैं इन्डैक्सिग करूं और उस पर भाषा वैज्ञानिक... क्योंकि भाषा वैज्ञानिक एक ऑब्जैक्टिव स्टडी है। ...और शायद एक निबंध तो यहां भी आया होगा क्योंकि यह प्रश्न मुझसे उठाया था खुद ही उदयनारायण तिवारी ने। "क्यों जी वो सूरपूर्व ब्रजभाषा और कीर्तिलतावाले शिवप्रसाद और अलग-अलग वैतरणीवाले शिवप्रसाद एक ही हैं। "बहुत अचंभा मुझे उस समय हुआ था। मैंने कहा कि "जी। वो मुजरिम मैं ही हूं, मैंने ही दोनों काम किये हैं।" तो मेरे मन में... एक हो रहा है कि मैं वैरिफिकेशन या सत्यापित करना जिसे कहा जाता है, उसके लिए मैं सब कुछ करने को तैयार रहता हु। मेरा सबसे अधिक इंटर मीडियट तक जो प्रिय विषय था वो--गणित--गणित की असंगता जो है। गणित में दो-दो चार ही होंगे लेकिन साहित्य मे दो-दो पांच भी हो सकता है, दो-दो तीन भी हो सकता है। हम उसको अपने हिसाब से तोड-मरोड कर उसका अर्थ निकाल सकते हैं। इन भाषा वैज्ञानिक कार्यों में हमें दो चीजें नजर आयीं। एक तो ऐसे-ऐसे पंडितों से मिलने का सौभाग्य मिला जो शायद मैं कोई और विषय लेकर के दो साल मे थीसिस लिख करके कहीं न कहीं से पी-एच.डी. पा लिया होता। और जिन लोगों से मैं मिला उन महान् आत्माओं से मुझे मिलने का कहां अवसर मिला होता? खासकर मुनि जिनविजय जी से। उनसे मैं जयपुर में मिला। बहत्तर वर्ष की आयु में उनकी एक आंख की रोशनी बची थी, तो भी पांडुलिपि के पृष्ठ को तिरछा करके आंख के पास सटाकर पढते थे (हाथ के संकेत से बताते हैं)। हमने कहा था, तुमसे एक बार...।

○ *हां जी, 7 मार्च, '91 की शाम दूरदर्शन पर बातचीत दिखायी थी।*

□ हां, तो ये मुनि जिनविजय जी, चैनसुखदास जी आदि वहां रहन-सहन और विविध जैन भंडारों से संबद्ध लोगों का प्रेम व्यवहार अद्भुत अनुभव था। वे लोग उन ग्रंथों को धर्मग्रंथ मानकर उनको आदरपूर्वक रेशमी वेष्टन में सुरक्षित रखते हैं। खोलते समय धीरे-धीरे वेष्टन हटाना और एक-एक पृष्ठ सावधानीपूर्वक

उलटना—जिससे वे फटे नहीं, उनसे नोट करना । तो ये सब काम चलता रहता था और उस समय उसमें हमें रस भी मिलता था । जब मैं 25 दिनों को जयपुर में हूं तो मैंने वहां मुनि जिनविजय जी के अंदर चलनेवाले शोध-केंद्र को देखा और वहां से आमेर के लिए चला तो बाहर राजस्थान की जादुई झील अपनी ओर खींचती है । तो मैंने शोध के साथ-साथ उस पर भी लिखा । तो ये सब चलता रहा, अब इस सबमें मुझे कोई अंतर नहीं लगता ।

○ *गुरुजी अब मैं अंतिम और एक व्यक्तिगत प्रश्न कर रहा हूं । अपने विद्यार्थी काल से आपको देखता, सुनता और पढ़ता आ रहा हूं । श्री रवींद्रनाथ, श्री अरविंद, स्वामी विवेकानंद और पूज्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी मे से आपको किसने अधिक प्रभावित किया है ? इन चारों महान् विभूतियों में से किसी एक की विशिष्ट मुद्रा जो मुझे अच्छी लगती है, वह मैं बाद में बताऊंगा । यह मेरी बालसुलभ जिज्ञासा है । क्षमा करेंगे ।*

□ एक अष्टकोणी या ऐसा ही शीशा होता है, जिससे उलट-पुलट कर आप देखें तो अलग-अलग रंग की तस्वीर दिखायी देगी । इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है, ये सब आप अपने हिसाब से देखते हैं । मेरे लिए विवेकानंद, अरविंद, रवि बाबू यहां तक कि गुरुवर हजारीप्रसाद द्विवेदी—ये सब ऐसी मंजिलें हैं, ऐसे आदर्श हैं, जिन तक पहुंचना मैं ध्येय तो मानता हू लेकिन उनको उपलब्ध कर चुका हू या उनमें से किसी को आत्मसात कर चुका हू—ऐसी गलतफहमी कभी नहीं हुई । बहुत से लोग और एक बार जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी कहा था । वहां लोग मुर्गे के अडे के साथ टोस्ट-वोस्ट खा रहे थे । 'बटर-टोस्ट खा रहा था । उन्होंने कहा, वो खाओ न । हमने कहा, हम नहीं खाते । वे बोले, अजीब आदमी हो । मैंने कहा, मैं मोटा होता जा रहा हूं, लोग कहते हैं डाइटिंग करो । उन्होने कहा कि कौन कहता है, मूर्ख ...(हंसी...) क्या तुम विवेकानंद की तरह नहीं लगते ? हमने कहा, आप हद कर रहे हैं, विवेकानद जिनको मैं सौ जन्म मे भी नहीं पा सकता । उन तक नहीं पहुंच सकता, हम विवेकानद जैसे लग रहे हैं ? इसी तरह से कई लोग कई तरह के सवाल करते हैं । ये हमारे प्रिय साहित्यकार हैं, इसीलिए इनको इसी दृष्टि से देखता हूं ।

साक्षात्कार : दो

[*डॉ. शिवप्रसाद सिंह के साथ डॉ. सत्यदेव त्रिपाठी का साक्षात्कार*]

○ *षष्ठीपूर्ति के संदर्भ में आया हू तो बात वहीं से शुरू करू, साठ साल पूरे करने पर आपको कैसा लग रहा है ?*

□ साठ वर्ष का होना मेरे लिए कोई मायने नहीं रखता । मैं हमेशा, हर स्थिति में तटस्थ रहा हू और इधर अब तो मैंने अपनी पुस्तकों की भूमिकाओं में अंत में 'विदा पुनर्मिलनाय' लिखना भी बंद कर दिया है, क्योंकि पता नहीं मिलना हो, न हो। वैसे मेरी इच्छा-शक्ति तो कहती है कि यात्रा लंबी है ।

○ *1974 से '84 तक आपने कुछ नहीं लिखा । इस चुप्पी के बारे मे आप कुछ कहना चाहेगे ?*

□ कारण का तो क्या है, थोडा और इतजार करिए । और अधिक विस्तार के साथ आयेगा। किंतु मुझे अचंभा होता है कि बहुत से लोग इस बात से खुश थे कि अब सृजन क्षेत्र में मेरी वापसी नहीं होगी और कुछेक तो संसार से अलग (शायद संन्यासी) होने की भेंट के रूप मे रुद्राक्ष की माला वगैरह भी दे गये । ऐसे में अपनी ढेर सारी समस्याओं-चिंताओं के साथ इस चोट को भी मैं चुपचाप सह गया।

इस संदर्भ मे एक बार शिवानीजी ने अपने घर पर बडे नेक ढंग से एक पते की बात कही थी । उन्होंने कहा था—किसी लेखक का लेखन यदि छह महीने के लिए भी रुक जाये तो अपनी पुरानी शैलियों को पाने में उसे बडे श्रम की आवश्यकता होती है । मैंने उसका खूब-खूब अनुभव किया ।

○ *क्या ऐसा लगता है आपको कि इस साल की सृजनात्मक निष्क्रियता से बहुत कुछ छूटा, नहीं तो आज आपके लेखन का रूप कुछ और ही होता ?*

□ नहीं, ऐसा बिल्कुल नहीं लगता । उन दिनों शिवप्रसाद सिंह का जो कुछ छूटा, उसके मुकाबले शिवप्रसाद के लेखक का कुछ छूटना बिल्कुल मायने नहीं रखता। वह (बेटी मंजु) तिल-तिल कर मरती रही और परिणाम जानते हुए भी मैंने कर्ज जुटाये, सब किया। लोग आश्चर्य करते थे कि बेटी के लिए अपना सब-कुछ दाव पर लगा रहे हैं । किंतु इसी का संतोष आज मुझे उबार सका है वरना पुनः लेखन

मे प्रवृत्त होना कदाचित् संभव न हो पाता ! 'मजुशिमा' में मैंने इन स्थितियों से उपजी बातों को कतिपय सदर्भों में प्रस्तुत किया है जो शीघ्र ही सामने आयेगा।

○ *आपने कर्ज जुटाने की बात की । क्या सरकार या और कहीं से किसी प्रकार की सहायता वगैरह नहीं मिली या आपने ठुकरा दी ?*

□ नहीं साहब, कहीं से कुछ नही । यहा सारी मान्यताएं व्यक्ति को ध्यान में रखकर बनायी जाती हैं जो दूसरे व्यक्ति के संदर्भ में बदल जाती हैं । श्रीकांत वर्मा की मां को अशोक वाजपेयी लाखों रुपये दिलवा सकते हैं, पर शिवप्रसाद सिंह और उनके परिवार को अलग-अलग समझा जाता है । शायद वह मेरी दुर्बलता भी है कि मै आज के जमाने के लिहाज से व्यावहारिक या 'सोशल' नहीं बन पाया कि इधर-उधर करके, सबको खुश करके अपने लिए सब तरह के सरंजाम जुटा सकू । कुछ दिमागी बुनावट ही ऐसी है कि सबके सामने मैं खुल नहीं पाता । बहुत थोड़े लोगों के साथ मन की बातें हो पाती हैं । मै भीड़ में खो नही सकता।

○ *दस-बारह साल के अतराल के बाद इधर आपका जो लेखन आया है, उसमे ग्रामीण जीवन से हट कर अन्य सदर्भों की बाते भी काफी आ रही हैं । जैसे पिछले दिनो 'सारिका' मे 'सुनो परिक्षित सुनो ..*

□ हा, 'सुनो परीक्षित...' मे आणविक शक्तियों से होनेवाली विनाश की भयंकरता की बात की गयी है । इस फंतासी की बात महाभारत के अर्जुन-अश्वत्थामा युद्धवाले प्रसग से मेरे मन मे आयी जहां अश्वत्थामा को अर्जुन की तरह ब्रह्मस्त्र वापस लेने की विद्या तो नही आती, पर वह छूटे हुए ब्रह्मस्त्र की दिशा मोड सकता है । अब बताइये यह आज का 'गाइडेड मिसाइल' या 'रिमोट कट्रोल मिसाइल' नही है ? फिर ब्रह्मस्त्र से अधिक बार वहा इसके लिए 'ब्रह्मशिर' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे मुझे 'न्यूक्लियर वार हेड' का खयाल आया और यह लिखा गया। वैसे इसके परीक्षित को भी आज के संदर्भों में देखिए तो और भी रोचक बाते दिखेंगी।

○ *साहित्य का उससे संबधित जनजीवन से क्या सरोकार हो पाता है ? जैसे कबीलाई जीवन जीते लोग तो जान भी नही पाते कि उनके जीवन पर किसी ने 'शैलूष' लिखा है । ऐसे मे साहित्य तो मात्र पढे-लिखों का बुद्धि-विलास बनकर रह जाता है।*

□ यह तो सच है । किसी भी देश-काल को देख लो, साहित्य उस निचले तबके तक नहीं पहुंच पाता । यह इस माध्यम (साहित्य) की सीमा है । 'शैलूष' भी नटों तक पहुचेगा नहीं । लेकिन इसे पढकर मिर्जापुर के तमाम लोहियाइट लडके वहां के नटो को इसकी कहानी बताते हैं और इसमे आये पात्रों की तरह उन्हें भी अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत होकर सघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं । तो इस प्रकार सरोकार बनाये जा सकते हैं ।

○ *लोहिया का संदर्भ निकल पड़ा है। क्या आप भी अपने लोहियावादी मानते हैं ?*

□ लोहियावादी तो क्या मानूं। मैं उनसे प्रभावित हुआ हूं। बहुत हुआ हूं। वैसे लोग कहते हैं मुझे लोहियावादी, जैसे 'अलग-अलग वैतरणी' पढ़कर मेरे घनिष्ठ मित्र विजयदेव नारायण साही ने लिखा था कि मैंने अपने चौबीस घंटे 'अलग-अलग वैतरणी' को दे दिये। इसलिए नहीं कि तुम भी मेरी तरह लोहियावादी हो, बल्कि इसलिए कि इस कोटि का उपन्यास हिंदी में लिखा ही नहीं गया। खैर, मेरे मित्र, बद्रीप्रसादजी ने मुझे लोहियाजी से मिलने के कई अवसर दिये। राजनीतिक होते हुए भी वह आदमी पचासोत्तरी कथाकारों को शिक्षा देनेवाली नयी भाषा का प्रयोग कर रहा था। उनकी बातें किसी भी लेखक के लिए चुनौती हो सकती हैं, जैसे—'जिंदा कौमें पाच साल तक इंतजार नहीं करतीं', 'मैं चट्टान तो तोड़ नहीं पाया, पर उसमें दरारे डाल दी हैं' आदि...'

○ *अरविंद और उनके दर्शन से भी आप बहुत प्रभावित रहे हैं और इस पर एक इतनी बडी पुस्तक भी लिखी, पर आपने कहीं अपने लेखन में उसका उपयोग नहीं किया ?*

□ मैने जान-बूझकर ऐसा किया। मैंने अरविंद-दर्शन या अस्तित्ववाद, जिस पर भी लिखा, उसका सीधा प्रभाव अपने लेखन पर नहीं आने दिया। फिर अरविंद-दर्शन इस तरह का है भी नहीं कि मार्क्सवाद की तरह उसे साहित्य का जामा पहनाया जाये।

○ *अब तक के इस 60 सालो के जीवन को आप किस रूप में देखते है ?*

□ छटपटाहट और खुशी का दर्द तो मिला, पर मैं अब भी प्यासा हूं—अवधूत के उपन्यास 'मरुतीर्थ हिंगलाज' के पात्रो की तरह जो बलूचिस्तान (जहां पुजारी मुसलमान व दर्शनार्थी हिंदू होते हैं) के रेगिस्तान में चिल्लाते रहे—'पानी चाई, पानी चाई...'

अपने पिछले जीवन को देखते हुए मै उसे ठीक ही कहूंगा। यदि बहुत अच्छा नहीं रहा, तो खराब तो बिल्कुल नहीं रहा। मैंने अध्यापक और लेखक के रूप में अपनी जो जगह बनायी है, पूरे विश्वास व ईमानदारी के साथ बनायी है, अध्यापक का पेशा मेरे लिए हमेशा महत्त्वपूर्ण रहा है। हालांकि इस क्षेत्र में न्याय या तो मेरे साथ हुआ नहीं या तो फिर बहुत देर से हुआ क्योंकि मैं तीन-तिकडम नहीं जानता। ठीक यही हाल मेरे लेखक का भी है।

(धर्मयुग, 21 अगस्त, '88 से साभार)

साक्षात्कार : तीन

[डॉ. शिवप्रसाद सिंह के साथ डॉ. कृपाशंकर चौबे का साक्षात्कार]

○ *'नयी मानवता अभियान' का विचार आपके दिमाग मे कैसे आया और इसका लक्ष्य क्या है ?*

□ मानव स्वाधीनता, समता, समाजवाद, विश्वशांति और विश्वचेतना - इन पाच लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए ही 'नयी मानवता अभियान' का सूत्रपात हुआ । मेरे मन मे इसका विचार तो काफी पहले से था, किंतु यह विधिवत् शुरू पिछले वर्ष 19 मई को ही हो पाया । सिर्फ दस-ग्यारह माह हुए है इस आदोलन को शुरू हुए, लेकिन परिणाम काफी उत्साहजनक आ रहे है । अब तो अभियान के मुखपत्र 'सरोकार' का प्रकाशन भी हो रहा है । जहा तक लक्ष्य की बात है, तो हमारे आदोलन का प्रथम लक्ष्य है 'मानव स्वतत्रता' । हम मनुष्य की स्वतत्रता को कहीं से भी, किसी तरह भी प्रतिबंधित नहीं देखना चाहते । हम मानव व उसकी नियति को पूर्ण स्वतत्र रखने के पक्षधर है । विवेकानंद ने कहा था कि स्वाधीनता का अर्थ व्यक्ति को ब्रह्माड से जोडना है। आज ब्रह्माड तो दूर, एक आदमी का हिस्सा दूसरे हिस्से से नहीं जुड पाता। धर्म, देश, राष्ट्र ये सीमाए हैं जो मनुष्य को अलगाती हैं। अर्थ-वैषम्य बुरा है, तो भाव-वैषम्य भी बुरा है । इसलिए भाव-क्षेत्र में भी आजादी होनी चाहिए, परिवर्तन के बाद नयी ज्योति जगाना ही नयी मानवता है। नित्य परिवर्तित होती मनुष्यता ही सत्य है। इस परिवर्तन में व्यर्थवाला भार कम कर नयी ज्योति जगाने के लिए चिंतन को उभारना होगा। स्वतंत्रता से बडे व्यक्ति के लिए व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं होता। हमारा दूसरा लक्ष्य समता है। मेरे विचार से भौतिकता को विज्ञान से और विज्ञान को विश्व मानवता से जोडना ही समता है। हमारा तीसरा लक्ष्य समाजवाद की स्थापना है यानी मानव का मानव द्वारा और समाज द्वारा समाज मे होनेवाले हर तरह के शोषण का अंत। हमारा चौथा लक्ष्य विश्वशाति है और पाचवा विश्वचेतना। वास्तविकता तो यह है कि नयी मानवता अभियान निरतर मानवचित्त में चल रहा है ।

○ *इधर आपकी रचनाओं में, विशेषकर कहानियों में पहले जैसा तेवर दिखायी नहीं पड़ रहा है ? क्यों ?*

□ यह बात सिर्फ मेरे ऊपर ही लागू नहीं होती । दरअसल अब रचनाशक्ति के बजाय, तथ्य की शक्ति बढी है और साथ ही कहानी रूपवादी रुझान की ओर बढ़ रही है । इस तरह की कहानियों को आज क्षणवाद कहा जा सकता है। यह साफ दिख रहा है कि गद्य विधाओं में रोचकता तो बढ़ी है, किंतु उनमें प्रभावहीनता भी बढती जा रही है । आज सत्यकथा ज्यादा बिकती है, हालांकि उसमें टोटल असत्य होता है । तथ्य तो नाममात्र भी नहीं, जबकि सच यह है कि तथ्य ही सत्य होता है । देश में सत्य असत्य को अलगाने का पैमाना भी घटा है । यह पूछा जा सकता है कि हमारी रचनाएं या समकालीन कहानी यदि मनुष्य के मन में अनुभूतियों से रंगी है तो फिर प्रभावहीन क्यों है ?

मैं यह नहीं मान सकता कि साहित्य वह हो सकता है जिसका अतीत, भविष्य नहीं । स्पष्टत: देखने में आ रहा है कि खास-खास इलाकों में आदिवासियों के जीवन को यंत्रीकृत करने के लिए जहां तकनीक, प्रौद्योगिकी लायी जा रही है, वहां निरंतर संघर्ष बढ रहे हैं । कभी सामूहिक हत्याएं, कभी गृहदाह, बलात्कार, झोपडिया जलायी जा रही हैं, तमाम बर्बर कृत्य हो रहे हैं । यह सब कहने में साहित्य सक्षम नहीं हो पा रहा है, जबकि पत्रकार बाजी मार रहे हैं । हमारे साहित्य की उम्र अब अखबारी रिपोर्ट से भी कम है । बहुत परेशानी की बात है कि पहले पाठक 5-6 रुपये में जो साहित्यिक पत्रिका लेता था, उसमें उसे हफ्ते-भर पढने की सामग्री मिल जाती थी । आज पत्रिका का मैनेजर कहता है कि यदि पत्रिका में साहित्य भर दिया जायेगा तो उसे कोई पूछेगा नहीं । जाहिर है, रचना-शक्ति की अपेक्षा तथ्य की शक्ति बढी है ।

○ *नयी पीढी के अधिकाश रचनाकारों और पुरानी पीढी के भी कुछ रचनाकारों की रचनाओं मे जो प्रभावहीनता आ गयी है, उस पर आप क्या कहेंगे ?*

□ यह भी खतरनाक स्थिति है कि हमारी नयी पीढ़ी जो आ रही है, वर्तमान और अतीत का बोझ इस कदर उसकी कमर तोड रहा है कि भविष्य की ओर ताकने की उसे फुर्सत ही नहीं है । यह भी विडंबना है कि नयी पीढ़ी के कुछ लोग हीनता से ग्रस्त हैं, कुछ नकलची हैं । चंद हैं जो मुश्किलों, कष्टों में लिख रहे हैं, पर नये लोग फिर भी सत्यता नहीं समझ रहे हैं ।

○ *कैसे नहीं समझ रहे हैं ?*

□ उदाहरणार्थ, शहर की मशीनी घरघराहट, चिल्लपों, थकान, चिपचिपी नगरीय जिंदगी को छोड़ कर यदि एक नौजवान 30-40 किलोमीटर पैदल चल कर किसी गांव में जाये तो ज्यादा शक्ति, तरावट, पर्यावरण, शक्तिबोध पायेगा, पर ऐसा वह नहीं कर रहा है । शहरी आकर्षण, समाचारपत्रों, टीवी, रेडियो की सुविधा,

सारी की सारी सुविधाएं—पानी, बिजली उसे शहर में मिलती हैं । इसलिए वहीं वह परेशान रहता है । दिल्ली में मैंने तमाम युवा समूहों को चाय की दुकान पर बैठ कर घंटों बाते करते देखा है । एक व्यवस्था को गाली देगा, तो दूसरे उसकी हां में हां मिलायेंगे। वे सारे के सारे संकटों के लिए व्यवस्था को कोसेंगे। किंतु इस हवाई चिल्लाहट से तो सिर्फ ऊर्जा का क्षय ही होता है। हमें ऊर्जा का यह क्षय रोकना होगा ।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है—रचना की भाषा को पुनः तोडने की क्योंकि यह चौखट बन गयी है और हमारी भाषा उसमें अट नहीं रही है । नयी पीढ़ी भी अपनी भाषा की चौखट नहीं बना पा रही है । आज कुलदीप नैयर, एम जे. अकबर के रिपोर्ताज कहानियों से ज्यादा पढे जाते हैं । अतः जरूरी है कि नयी पीढ़ी बात पहुचाने के लिए पाठकों मे अपना घर बनाये । हैंडबिल, साइक्लोस्टाइल से बातें पहुंचाये, अलग मच बनाये ।

○ *कहानियो के मार्फत जो चीजे आज पाठको के पास पहुच रही हैं या परोसी जा रही हैं, उन पर आपका क्या कहना है ?*

□ मैने 1957 में इलाहाबाद की साहित्यकार सभा में बडे बेबाक ढंग से कहा था कि कुछ लोगों द्वारा प्रेमचंद की परपरावाली कथा को मूलधारा मान कर, आकाशबेल की तरह विदेशी लताएं चढायी जा रही है । यह पूर्णत: रूपवादी, व्यक्तिवादी लोगों की बकवास है । आज राजेंद्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर द्वारा अपने ही हमदम, हमदोस्त बन कर जो कहानियां लिखी गयी, उनमे कौन-सी कहानी सर्वश्रेष्ठ है, यह हिंदी का पाठक नहीं समझ पाता । मेरी कहानी महंगाई के बावजूद अब भी उसी तरह बिक रही है, उसकी संख्या मे भी वृद्धि हुई है तो इसका कारण यह है कि इन कहानियों मे रोमांस, भावुकता और नकलची लेखन नहीं है । जैसा कि चेखव ने कहा था, तागे के घोड़े की पीठ पर चाबुक की मार से जो घाव हो गया है, उस पर मक्खियों की तरह भिनभिनानेवाले आलोचकों से मुझे डर नहीं। ये न तो कभी घाव को पहचान सके और न ही कहानियो को पहचान सके। एक महानुभाव ने तो यहां तक कहा था कि कारण चाहे जो भी हो, चेखव एक दिन गटर में गिर कर मरेगा । मुझे पता नहीं ऐसा कहनेवाले साहित्य मे नदारद क्यो हैं और चेखव अब तक गटर में गिरा क्यों नहीं ! उल्लेखनीय है कि चेखव रूसी कथा का चरम विकास करनेवाला लेखक है, जो साम्यवाद को नही मानता।

○ *अभी आपने आलोचना का जिक्र किया । आखिर हिंदी साहित्य में आलोचना के क्षेत्र में शिथिलता क्यो है ?*

□ हिदी साहित्य में चाहे आलोचना हो या लेखन, दोनों ही मतवादों से जुड़ गये हैं। दोनों ही अलग-अलग मतवाद आधारित शिविर बन चुके हैं । इन मतवादी शिविरों में वैसे लेखक चर्चित होते हैं जो रिपोर्ताज की शैली में तरक्कीपसंद अदीब खोजते

हैं । शिविर से न जुड़ने के कारण बड़ा लेखक छोटा बन जाता है और उसमें जुड़ने पर छोटा लेखक बडा हो जाता है । वस्तुतः पिछले 40 वर्षों से मैंने कभी भी शिविर को लेखन का उद्देश्य नहीं बनाया, क्योंकि हम जिस चीज को भोगते थे या हैं, उसी तरह की जिंदगी लाखोलाख किसानों में अब भी चल रही है । मै देखता रहा हूं कि गांवों के किसान आज भी मुट्ठी-भर अन्न के लिए बिलबिला रहे हैं । उन्हें दो जून रोटी भी नसीब नहीं । मैंने आधुनिक परिवेश और नवलेखन में बार-बार लिखा है कि मेरा लगाव राममनोहर लोहिया से इसलिए नहीं हुआ कि वे उस समय के सबसे जुझारू नेता थे, बल्कि इसलिए हुआ कि वे 'कैपिटल' और 'कठोपनिषद्' को जोड़ने की कला जानते थे ।

○ *उत्तर प्रदेश मे उर्दू को दूसरी राजभाषा बनाये जाने के बाद जो हिंदी-उर्दू बावेला खडा हुआ है, उस पर आप क्या कहेंगे ?*

□ उर्दू को दूसरी राजभाषा का दर्जा दे दिया गया, इससे उर्दू विकसित होगी, यह मूल धारणा है । लेकिन वह हिंदी से इस तरह घुलमिल गयी है कि इस तरह से अलग से उसके अस्तित्व पर बात करना राजनीतिक स्वार्थों की तुष्टि या चुनावी हथकंडा ही कहा जायेगा । लाभ के लिए गडे मुर्दे उखाड़ने से हिंदी-उर्दू के बीच बढ रही दोस्ती को नुकसान पहुंचेगा । एक साहित्यकार की हैसियत से उर्दू मुझे बहुत पसद है और मै मानता हू कि उर्दूवाली तहजीब भी हिंदी मे नहीं । एक बार मैं अलीगढ मुस्लिम यूनिवर्सिटी मे हिंदी-उर्दू अफसाने पर भाषण के लिए आमन्त्रित हुआ । वहा जो भी मुझसे मिलने आता, संतरे, फूल जरूर साथ लाता । यह तहजीब हिंदी में भला कहां है ! एक सामान्य लेखक को भी उर्दू में बहुत सम्मान मिलता है । मैं यह मानता हूं कि फारसी-अरबी शब्दों के इस्तेमाल से हिंदी में भी बात कहने का तेवर बढ़ा है । उर्दू का जो विकास दक्खिनी के रूप में हुआ था, जो गालिब के जमाने में रेख्ता कही जाती रही, वह हिंदी ही है । किंतु इस समय उर्दू का जो प्रयोग सामने आ रहा है, उसमें बहुत सारा ऐसा है जो विदेशी सस्कृति और मजहबी दबावों को स्वीकार करने के कारण है । इसमें खुद उर्दू को ही नुकसान पहुंच रहा है । आज जो जमीन से जुड़े उर्दू कवि बोलचाल की भाषा लिख रहे हैं, उन्हें उर्दू का उच्चवर्गीय माहौल हिकारत से देखता है । उर्दू में फिर यही तत्त्व सक्रिय हो रहे हैं, जो हमारी जातीय संस्कृति को विभाजित करते हैं । मैंने गत दिनों नरेंद्रनाथ द्वारा संपादित पाकिस्तान के उर्दू कवियों का देवनागरी संकलन देखा । उसमें कुछ कवि तो ऐसे हैं जो अपने हिंदी कवियों की अपेक्षा ज्यादा हिंदुस्तानी होते जा रहे हैं । उसके चौथे भाग में, जो कि आधुनिक कवियों का है, सारे गीत, नज्म हिंदी के उद्भव शब्दों से भरे हैं ।

(धर्मयुग, 1 अप्रैल, 1990 से साभार)

साक्षात्कार : चार

[*डॉ. शिवप्रसाद सिंह के साथ डॉ. हरिशंकर शर्मा का साक्षात्कार*]

❍ *साहित्य अकादमी द्वारा आपके उपन्यास 'नीला चांद' हेतु पुरस्कार की घोषणा पर आपकी प्रतिक्रिया ? क्या यह पुरस्कार विलब से दिया गया है ?*

□ प्रतिक्रिया क्या कहकर करू । मीठा कहू कि अच्छा नहीं लगा तो झूठ होगा और कहूं कि अच्छा लगा तो शायद लोग इसी को मजिल मान लेंगे । मै तो 'नीला चाद' को भविष्यत रचनाओं का प्रस्थान बिंदु ही मान रहा हू । विलब मेरे पाठकों को दो कारणों से लग रहा है । प्रथम उनके मन मे 'अलग-अलग वैतरणी' पर पुरस्कार न मिलने का क्षोभ है । दूसरे शायद वे ठीक प्रकार से समझ नहीं पा रहे है । सन् 1978 से '88 तक जब मेरी कोई पुस्तक प्रकाशित ही नहीं हुई तो पुरस्कार मिलता किस पर ? जब आयी हैं तो पुरस्कृत हुई हैं । अत' अच्छा लग रहा है । पुरस्कार वर्ष 1989-90 पर ही मिलना था । लेकिन पीडा तब ज्यादा होती, जब 'शैलूष' और 'मजुशिमा' किसी एक पर मिलता । लेकिन यह तो एक दस्तावेज बन गया है कि दस वर्ष के ताप के भीतर मौन को मुखर इस उपन्यास ने किया । एक अफ्रीकी कवि की रचना है–'सीख मत लो मौन से उत्पन्न वाणी का/ताप को देखो जिसने मौन को संस्कृत किया।'

❍ *डॉ. साहब ! आप 'नीला चाद' की मूल प्रेरणा के विषय मे कुछ कहना चाहेगे ?*

□ इसकी पृष्ठभूमि में जो नैराश्य, ग्लानि और निरर्थकता का काला परदा है, वह कोई बाहर नहीं था । मेरे भीतर जीती, किंतु पांच वर्षों के लिए मैंने मौत को रोक ही दिया। मेरे मन में यह सताप तो नहीं रहा कि उसके लिए कुछ कर ही नहीं सका। मेरे जैसे मध्य-वित्त आदमी के लिए जितना संभव था कर्ज लेकर भी उसका निर्वाह किया यही पृष्ठभूमि 'नीला चाद' में सर्वत्र छायी हुई है । जुझौती के राजपरिवार का विध्वंस अपने स्थान से निष्कासित एवं निराश्रित राजकुमार उस अंध तमस से टकरा रहा है, जिसे सृजित करनेवालों में हमारी वर्ण-व्यवस्था है, हमारी ऊंच-नीच की भावना है तथा मिथ्याडबर हैं। अत' सत्य की रक्षा में

हम कभी भी सफल नहीं हो सकते, जब तक पूर्ण राष्ट्रीय चेतना असमानताओं को तोड़कर बराबरी-समता पर आधारित नहीं होती ।

अतः इस उपन्यास में शीलभद्रा मां शक्ति का प्रतीक हैं और लड़ाई में राजन्य और ब्राह्मण कम हैं । बलिदान के लिए, सत्य की रक्षा के लिए आगे तो भरत डोम, सूरज व लोचन गोंड हैं या नट के कबीले जो अपनी जन्मभूमि की स्वाधीनता हेतु किसी प्रकार प्रभावित नहीं हो सकते । इसके साथ एक सहज प्रतिक्रिया केंद्रित रही कि सारे घटना प्रवाह के भीतर लड़ाई का केंद्र अंध-तमस से पराजित मृत पुत्री ही रही । क्योंकि कीरत का मानसिक संचालन या विद्याधर देव का सपना एक पिता के हृदय के अवसाद में देखा जा सकता है। और विद्याधर देव का सपना भारत की अखंडता के बारे में क्या सही हो सकता है ? क्या भारत पुनः अखंड हो सकता है ? यही नीला चांद की मुख्य प्रेरणा भूमि है ।

❍ *गत दिनों हस पत्रिका मे आपकी कहानी 'दलित पैंथर' पढ़ी थी । इस संदर्भ मे बिहार के साहित्यकारों ने आपको 'आरक्षण विरोधी' मानकर विरोध किया था। इस विषय मे आपका नजरिया ?*

☐ यह घटना 1988 की है । जब मेरी कहानी 'प्रमाणपत्र' धर्मयुग में छपी थी । तब भी मैंने खयाल नहीं किया कि कहीं इसमें सचेष्टता आरक्षण का विरोध किया है । 'दलित पैंथर' (हंस) के पश्चात् सीधा आरोप सामने आता है कि मैं आरक्षण विरोधी हूं । सच तो यह है कि इन दोनों कहानियों में जो कुछ आरक्षण विरोधी वाक्य हैं, उन्हें मैंने इतना निर्दोष और मासूम समझा कि कभी उस पर सोचा ही नहीं । लेकिन जब मुझे दिल्ली में एक पत्रकार से पता लगा कि कड़ी समीक्षाएं आरक्षण विरोधी वाक्यों के कारण हुईं तो बड़ा आश्चर्य हुआ एवं उससे कुछ दिन पहले 'पहला आरक्षण विरोधी विस्फोट' हुआ था, तभी मैंने व्यंग्य में कहा—'आपने तो मुझे नयी क्रांतियों का जन्मदाता बना दिया । यदि मेरे जैसे लेखक के वाक्यों से अखिल भारतीय स्तर पर इस प्रकार के विस्फोट होते हैं, तब तो मैं न चाहते हुए भी आरक्षण विरोधी बनना स्वीकार कर लूंगा' किंतु ऐसा नहीं था । उन दोनों कहानियों का आरोप फिर घर के बडे-बूढ़े द्वारा घर के लड़के को नौकरी करने को बाध्य करते हैं, तो दलील यह दी जाती है कि योग्य तो हैं तो भी तुम्हारी जाति को आरक्षण नहीं मिलता। यह वाक्य सब कुछ होते हुए भी छोटी नौकरी करनेवाला एक पिता अपने पुत्र से कहता है। यह तो इस कहानी का विषय ही नहीं है । कहानी का केंद्र बिंदु दो राजपूत परिवारों का संघर्ष है ।

❍ *'समकालीन' शब्द आज के कथा-साहित्य में विशेषकर समीक्षा में एक तकिया कलाम की तरह प्रयोग हो रहा है । आपकी दृष्टि में समकालीनता को किन*

अर्थों, किन रूपों में ग्रहण करना प्रासंगिक होगा ताकि समकालीन कहानी व समीक्षा को भ्रांतियो से बचाया जा सके ?

□ आज समकालीन शब्द का प्रयोग शिथिल रूप में हो रहा है । प्रायः 1951 से शुरू होनेवाली कहानी को ही लोग समकालीन कहने लगे हैं । यह एक अच्छा तथ्य है कि जब नयी कहानी आयी (1951 के आसपास) तब उसे नयी कहानी कहा गया । समकालीन कहानी नहीं कहा गया । हमारी पीढ़ी के बाद के कथाकार हैं जो अपने को साठोत्तरी कहने लगे । इसी संख्या रूढ़ि को ढोते हुए पैंसठोत्तरी आदि नाम चले । किंतु मैं यह मानता हूं कि 1970 का सारा लेखन, जो चाहे किसी भाषा में लिखा गया हो, को ही समकालीन कहना चाहिए। क्योंकि समकालीन के अंतर्गत एक दशक से अधिक फेरना ठीक नहीं है। अंग्रेजी में तो कई पत्रिकाए दशक सर्वेक्षण अलग-अलग करती हैं। अत एक दशक जो समाप्त हो रहा है, एक दृष्टि से समकालीन है। किंतु आनेवाला दशक आदि नकल नहीं हुआ। कुछ नयी प्रतिभाओं ने जन्म लिया यानी कि कुछ अभूतपूर्व लेखन हुआ तो वह समकालीनता से अलग हो जायेगा। यदि ऐसा ही चलता रहा तो अगला दशक भी समकालीन ही कहा जायेगा ।

○ *अपने 'सरोकार' पत्रिका के प्रथमाक मे नये मानवता अभियान के संकल्प की बात कही है। लेकिन भारतीय संस्कृति के नाम पर सकीर्ण मूल्यों का जो उफान आया है, उसमे मानव पूर्ण नगा-दिशाहीन हो चुका है। अतः इस प्रसग मे नीला चाद का उद्देश्य कहा तक प्रभावित हुआ है ?*

□ 'नीला चांद' में इस विषय का कहीं उल्लेख नहीं आया है। 'सरोकार' के संपादकीय में मेरी यह टिप्पणी कट्टरता है और स्वार्थों को जन्म देती है। जहा तक नीला चांद की भावभूमि की बात है, यह पढने पर ज्ञात हो जायेगा।

○ *काशी के वर्तमान साहित्यिक परिवेश पर आप कुछ कहना चाहेगे ?*

□ जहां तक काशी के नवोदित रचनाकारों का प्रश्न है, उनसे मैं निराश नहीं हूं। क्योंकि कुछ ऐसी अभिव्यक्ति माध्यमों की यहा दरिद्रता है कि सही व्यक्ति को सही समय पर हम ढूढ़ नहीं पा रहे हैं। मैं ऐसा नहीं मानता हूं । युवा-पीढी में कई कवि-कहानीकार भी हैं। सबसे अधिक ग्लानि इस बात की होती है कि युवा-पीढ़ी जिस वातावरण में काम कर रही है—विद्यार्थी या शोध छात्र के रूप में, वे अंग्रेजी न जानने के कारण विश्व की नवीनतम तकनीकी से बिल्कुल अनभिज्ञ हैं। यानी उनके दो मुखडे—एक तो वे हैं जो आज भी मार्क्सवाद का शव ढोने में ही अपने को बड़ा कृतार्थ मान रहे हैं । दूसरे वे लोग हैं जो उस शिविर से अलग होना चाहते हैं । वे व्यक्ति स्वातंत्र्य के नाम पर कुछ भी बकने के लिए स्वतंत्र नहीं रहना चाहते हैं । साहित्यकार विभक्त चारदीवारी के मध्य नहीं रहता।

उसमे बीच की दीवारे नहीं होतीं। आधुनिक प्रवृत्ति का स्वच्छ-स्वस्थ या गलीचा दोनों आप जानिए। तब जानकर उस सस्कृति को आधुनिकता मानकर हटिए। दूसरी चीज मुझे इस पीढी की खटकती है कि आज गणेश दुर्गा आदि के विभिन्न रूपो से जो प्रतीक बन गये हैं पूर्णत· अनभिज्ञ हैं। उनकी न तो भारतीय संस्कृति के प्रति जिज्ञासा है और न विदेशी साहित्य की नयी तकनीकी से परिचय। अतः हिंदी में जो कुछ वैचारिक कहानिया नये प्रतीको बिंबों के साथ आ रही हैं, उसे उन्हें समझने में प्राय असमर्थ है। इन लोगों से भारतीय सस्कृति पर आखिर कौन-सी बात की जाये। मेरा प्रश्न भारतीय संस्कृति तक सीमित नहीं है।

○ *नये कथाकारो का एक वर्ग जो अपने को कमलेश्वर जी के निकट समझता था, आज उनका झुकाव आपकी कथा-प्रवृत्तियो की ओर बढ़ा है । क्या इसे साहित्य की खेमेबाजी माना जाये ?*

□ इसका बेहतरीन अनुभव मुझे तब हुआ, जब अक्टूबर 1990 में मै दिल्ली गया था । उस समय मुझे आश्चर्य हुआ कि बिना बताये हुए मेरे उपन्यासों पर धारावाहिक तथा एक दर्जन कहानियो पर टेलीफिल्म बनाने के लिए अनुबध पत्र की भीड लग रही थी। मैंने पूछा कि यह कहानियां आप लोगो को क्यों अच्छी लगने लगीं जो पहले नहीं लगती थीं। उत्तर मिला—"हमें वैसी चीजे चाहिए जिसमें 'इडियननैश' हो यानी भारतीय गांव।" यह कटाव किसी खास तरह के खेमे की तरफ से दूसरे खेमे की ओर नहीं है। कटाव भारतीयता की जमीन छोडकर लिखी गयी कहानियो से है, जो कहानिया दिल्ली में हैं ही नहीं।

भेंटवार्ता

[डॉ. शिवप्रसाद सिंह के साथ श्री नित्यानंद मैठाणी की भेंटवार्ता]

[यह भेंटवार्ता आकाशवाणी के वाराणसी केंद्र पर दिनाक 12 7 90 को ध्वन्याकित की गयी थी और प्रसारण आकाशवाणी के नजीबाबाद केंद्र से दिनाक 7 8 90 को रात्रि 9 30 पर किया गया।] --**संपादक**

○ *डॉक्टर शिवप्रसाद सिह, आज आकाशवाणी के वाराणसी केंद्र मे आपके दर्शन हो रहे है, यह मेरे लिए सौभाग्य का विषय है। आपने हिंदी साहित्य की जो भगीरथ सेवा की है, इससे सभी लोग परिचित हैं, विशेष रूप से हिंदी के पाठक और उसमे भी कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि करने मे आपका जो योगदान रहा है, उससे भी आप एक सशक्त हस्ताक्षर के रूप मे जाने जाते है। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपसे कुछ पूछने का आपने इस समय अवसर दिया है। सर्वप्रथम मुझे यह पता है कि आप एक ऐसे क्षत्रिय परिवार से जुडे हुए है जिसे एक तरह से जमीदारी घराना कहते है और जो लोग कि सामान्य जनता से जुडे नही रहते थे और एक तरह से हमारे देश मे कुर्सी पर या अधिकारो से लैस व्यक्ति समझे जाते थे। तो ऐसे पारिवारिक वातावरण मे होने पर भी आपका साहित्य की तरफ झुकाव कैसे हुआ ?*

□ ऐसा है मैठाणी साहब कि यह धारणा ही बहुत कुछ गलत है कि हमारे जन्म तक वह परिवार सही है कि वह एक जमींदार परिवार था किंतु वह परिवार वैसा ही बना रहा या जो लोग यह कल्पना करते हैं कि उनके अंदर बड़ी आसूदगी, कहिए या खुशी या जीवन मे सरलता और समृद्धि थी तो मैंने तो उजडते हुए अपने जीवन काल में ही देखा था। यानी 6-7 वर्ष का जब मैं था, तभी वह परिवार जो किसी जमाने में 40 व्यक्तियों का संयुक्त परिवार कहा जाता था, वह कैसे टूटा, कैसे उसके भीतर रिश्ते और बधन कैसे कटते गये। कौन से अमानवीय झगडे किस रूप में उभरते गये। यह सब मैंने उसमे देखा और भोगा और ऊपर से यह शान जमींदारी की या सामंती प्रजा का

जो एक रूप जोड़ा जाता है। जब मैं बातें करता हूं तो लोग आश्चर्य करते हैं कि मामूली गांव का आदमी जो दरिद्रता में जी रहा है, जिसके यहां मान लीजिए खाना बनाने के लिए भी अन्न नहीं हो, वह आदमी अगर यह कहे कि मेरा जीवन बड़ी आसूदगी से बीता और यह तो मैं मान लूंगा लेकिन मेरे यहां तो स्थिति यह थी कि दिखलाने के लिए रसोई में धुएं किये जाते थे कि बाहरवाले समझें कि खाना बन रहा है। यानी बावजूद इसके कि खेत पर्याप्त था, जमीन पर्याप्त थी लेकिन कोई करनेवाला नहीं था। सभी लोग एक खास तरह की आदत के शिकार हो चुके थे जिसमें अय्याशी थी, स्वयं न करने की बात थी। तो यह सारा कुछ माहौल मेरे जीवन का सबसे भयानक यथार्थवाला ही हिस्सा है और इसी कीचड़ से मैंने कुछ उपलब्ध भी किया बहुत कुछ और इसमें दो मत नहीं हैं कि वह टूटा हुआ सामतवाद था और उसी के साथ जुड़ा हुआ उससे उद्भासित होनेवाला एक नया कमल का फूल भी था। तो मेरे लिए तो दोनों ही था वह परिवार।

○ *डॉ साहब तो फिर आपने जो 'कर्मनाशा' नाम की कहानी आरंभ में लिखी, उसमे आपने क्या सोचा था ?*

□ ऐसा है कि, अव्वल तो यह मैं, माफ कीजियेगा थोड़ा-सा उसमें सुधार कर दूं क्योंकि पहली कहानी मेरी कर्मनाशा की हार नहीं। मेरी पहली कहानी 'दादी मा' है। दादी मा 1951 के अक में 'प्रतीक' में छपी। अच्छा, उस वक्त तक मैने कभी कहानी या नयी कहानी मेरे अगले प्रयत्नों का क्षेत्र बनेगी, यह मैंने सोचा भी नहीं था। प्राय. एक लगा रहता है रोग, वह यह रोग हमारे साथ बहुत दिनो तक था। गर्मी के दिनों के बाद जब बारिश हो जाती थी और क्वार की धूप जब चमकती थी तो अक्सर मुझे मलेरिया बुखार हो जाता था, वही मलेरिया बहुत भयानक 105 डिग्री से ऊपर। बिरला छात्रावास में मैं बी ए. का स्टूडेंट था, वहां भी मुझे मलेरिया हुआ और उसी अवस्था में मैंने 4-5 पेज कुछ लिखा 'दादी मां' के बारे में कोई संस्मरण जैसी चीज। लेकिन अच्छा न कि जब वह प्रतीक में छपी दादी मां। प्रतीक के संपादक वात्स्यायन जी ने उसको न केवल प्रथम रचना के रूप में छापा बल्कि प्रकाशन के बाद एक लबा-चौड़ा पैराग्राफ यह लिखा कि जिन लोगों को कहानी लिखने के प्लाट नहीं मिलते वे 'दादी मां' से लिखना सीखें। इस कदर की सारी चीजें '51 से आनी शुरू हो गयीं और दादी मां या तो कहिए कि युग-परिवर्तन था 1950-51 से एक नया अर्द्ध-शताब्दी का आरंभ था।

○ *जी हा।*

□ कुछ कहिए कि अचानक घटना भी थी कि उसी शताब्दी में 'दादी मां' कहानी 'प्रतीक' में अक्टूबर में आ गयी थी तो दादी मां कहानी से भी बहुत से लोग

मानते है कि नयी कहानी की शुरुआत हुई। बहुत से लोग अन्य कहानियो का नाम लेते हैं। मैं किसी शुरुआत-उरुवात के चक्कर मे नहीं रहा कि किससे शुरुआत मानी जाये न मानी जाये। प्रश्न यह है कि जो इतिहास है, वह इतिहास बतायेगा कि शुरुआत कहां से हुई थी, कहां से नहीं हुई। 'कर्मनाशा की हार' आपने ठीक कहा क्योंकि यह कहानी बहुत चर्चित हुई और इंप्रिंट मे जब कुर्तलन हैदर थी संपादिका उसकी।

○ *जी हा।*

□ तो जयरतन के द्वारा अनूदित Karmnashaz Defit नाम से वह कहानी छपी 'इम्प्रिट' मे। इम्प्रिट अनुवाद से अनुवाद स्वीडिश भाषा मे हुआ। मेरे पास स्वीडिश ऐम्बेसी ने जब पत्र लिखा कि उनके संपादक ने उस पत्रिका को, मै नही जानता उसका नाम मैं बोल नहीं पाऊगा, उसमें यह लिखा उन्होंने कि कहानी को हम लोगो ने मूल अग्रेजी से लिया था इसके जो भी मूल लेखक हो उनको आप भारत सरकार से पूछकर यह पैसा पहुचा दीजियेगा। छ सौ रुपये कुछ। हमने कहा कि हिदुस्तानी में मूल कहानी पर बडे-बड़े लेखक को भी आज तक छ सौ रुपया नहीं मिलता जबकि स्वीडिश पत्रिका का सपादक बहुत ही नम्रता से कह रहा है कि हमारा देश बहुत छोटा है, हमारे यहां पाठको की सख्या बहुत कम है इसलिए रायल्टी के हिसाब का यह 600 रु आपको हम भेज रहे हैं जो किसी भी कहानी पर किसी को नहीं मिलता था, उस जमाने मे। तो एक खास तरह का उसका महौल था, वह अनूदित हुई तो रशन में हुई।

तो रशन मे 'जो चिगारिया लपटें नहीं बनीं' शीर्षक एक पुस्तक का अंग बन करके आयी। कई कहानिया उसमे गदल हैं, रागेय राघव की, विष्णु प्रभाकर की है। तो यह सारा उसमें जो है 'चिगारिया जो लपटे नहीं बनीं', 'कर्मनाशा की हार' को बडा उसमें दुनिया भर का जोवालिन ने कमेंट्स लिखे है--उस भूमिका मे, सोवियत अनुवाद जो हुआ है उसका।

○ *जी।*

□ तो उस कहानी का तो करीब-करीब एक लीजेड जैसा बन गया। फिर उस पर रेडियो रूपक आया। जो आपके स्वय, ये रेडियो रूपक करीब-करीब 29-30 बार तो मैने सुना उसको प्रसारित होते हुए। तो उसमें एक अपना एक नया इतिहास किया और आपका जो क्या उसको कहेगे हिदी में जो 'चेन ब्राडकास्ट' टाइप चीज होती है।

○ *जी।*

□ उस तरह से उसका ब्राडकास्ट हुआ और मैं तो समझता हू कि पाठको को कुछ लगा होगा कि अपने मन का, स्वयं का दर्द रहा होगा जो पिघल करके

उस कहानी के सुनने के बाद या इस तरह से गर्भित हुआ था तो 'कर्मनाशा की हार' को तो मैं एक बहुत ही बडा मोड़ मानता हू अपने साहित्यिक जीवन का।

○ *डॉ साहब ऐसा है कि आपने तो बहुत सारी कहानियां लिखी, कहानी-संग्रह भी आपके प्रकाशित हुए हैं, तो हम चाहेगे कि आप यह बताये कि उसमे सबसे अच्छी कहानी आप कौन-सी समझते है ?*

□ आप देखिए कुल आपसे मैंने कहा था कि '51 से कहानी आने लगी और 91वे अगर आ जायेगा एक साल के बाद तो 40 साल हमको कहानी लिखते हुए हो गये।

○ *अभी तो मै कहानी की बात कर रहा हू, उपन्यास की बाद मे करूंगा।*

□ हा तो 40 साल कहानी लिखते हुए हो गये और इन 4 दशकों मे स्वयं हिंदी ने चार मोड लिये यानी मैं कहूंगा कि बहुत से लोग शुरुआत मे एक तटस्थ ग्राम कथाकार के रूप में आये जैसे मैं, मार्कण्डेय या कमलेश्वर भी उस समय खुलकर यह नही कहते थे कि वह नगर कथावाले है। अपने को कस्बे का आदमी कहा करते थे यानी एक अलग बना लिया गया था खेमा कि गाव और नगर के बीच कस्बा होना चाहिए जहा दोनो के बीच पडनेवाले लेखको की गिनती हो तो कमलेश्वर कस्बे के कथाकार कहलाते थे और हम लोग गाव के कथाकार। राजेंद्र यादव और मोहन राकेश वगैरह जो हैं नगर कथाकार कहलाते थे। तो यह जो एक उस जमाने का था रूप। तो प्रेमचद का प्रभाव और प्रेमचंद के साथवाली धारा जो एक खास रूमानियत को ले आती है तो उससे भी हम लोग थोडा कटे रहना चाहते थे क्योकि हम लोग देखते थे कि रास्ता बहुत सकरा है। प्रसाद की भाषा कभी भी हिंदी में कथा-साहित्य की भाषा नहीं बनेगी। उसकी आगे की स्थिति बहुत खराब है। इसलिए नयी भाषा गढ़ना उसको निर्मित करना कि उसमें प्रेमचंद का सपाट रूप भी न दिखे और प्रयोग इतने लाद भी न दिये जाये कि वह कहानी मद्धिम हो जाये या प्रभाव कम हो जाये। इस प्रकार कि एक खोज जैसी चीज और इसी बीच यथार्थवाद के आदोलन प्रगतिवाद प्रतिबद्धता, व्यक्ति स्वातन्त्र्य फिर अस्तित्ववाद यह दुनिया भर का चला। आपने पूछा कि इतने दिनों में किसी कहानी ने सबसे अधिक प्रभावित किया। असल में मेरे जीवन का एक बहुत ही सत्य रहा कि कहानी खुद मेरा इतिहास कह देती है यानी वह कहानी है 'मुर्दासराय'। तो 'मुर्दासराय' शहर का आदमी जल्दी बता नहीं सकेगा और खैर जिन देशों में मुर्दे जलाये नहीं जाते या दफन करने के लिए कोई अलग स्थान नहीं है, उन कट्रीज में भी यदि अनुवाद किया जायेगा तो क्या रूप होगा मैं नहीं जानता लेकिन एक कहानी 'मुर्दासराय' है; यानी जहां शव रखे जाते थे रात भर क्योंकि

अर्द्ध-रात्रि के पास तक वहां लोग पहुंचते थे और आगे की यात्रा के लिए बीच में एक पड़ाव डालना जरूरी हुआ करता है तो उस पडाव का, उस स्थान का वर्णन है, जिसमें वह अपनी मृत पत्नी और मरे हुए बच्चे को लेकर के आया, उसका दाह संस्कार हुआ, वह फिर अपने घर लौट आया। लेकिन कहानी का जो नायक है वह अपने घर नहीं लौटता। वह कहानी का नायक जो है पुन: जीवन चाहता है क्योंकि जिस समय वह अपने बच्चे के झबले और छोटे-छोटे जो वस्त्र और हैं, बच्चों के वस्त्र मुलायम होते हैं उन सबको एक गठरी मे बांध कर रखा करता था। जब बच्चे की मृत्यु हुई तो गठरी लिये ही आया था उस 'मुर्दासराय' में और वहा जब सुना कि एक कोढ़ी भिखारी एक कोढिन नारी से प्रेम करता है और उसको गर्भ हो गया है तो उसके सिरहाने अपने तमाम बच्चों के लिए जो झबले वगैरह बनवाये थे उसने रख दिये कि इस नयी जिदगी के नाम जो 'मुर्दासराय' में नयी जिदगी का मोड लेकर के आ रहे है। इस तरह से वह कहानी खत्म होती है। तो उस पर बहुत चर्चा हुई और एक किताब मार्डर्न फिक्शन बहुत

○ *जी।* .

□ एस एम पाडे की।

○ *जी।*

□ जिसमे उन्होने कहा है कि लोग-बाग कहते है कि अग्रेजी के सामने हिंदी की कहानी बहुत नीचे है, वे भूल जाते है इसको, क्योकि जहा तक फ्रेंच कहानी मे अल्वेया टाउन की कहानी में मृत्यु के बारे में दिया हुआ है कि आदमी कितना अजनबी हो जाता है, वहीं पर वह टूट जाता है। बाइसट्रेंजर का नायक कामुकी उपन्यास का नायक टूट जाता है, वह मृत्यु करीब-करीब उसकी हो जाती है। लेकिन यहा है कि 'मुर्दासराय' में आ करके भी फिर नयी जिदगी को लेने के लिए वह लौट जाता है। इस तरह से यह कहानी पश्चिमी अस्तित्ववाद की 'नो एग्जिस्ट' को तोड़ देती है। और एक नया इक्जिट पैदा कर देती है। इस तरह 'मुर्दासराय' की बहुत-बहुत तारीफें होती रहीं।

○ *बहुत ही अच्छा आपने अपनी कहानी 'मुर्दासराय' के संबध में बताया। बहुत सारे पाठक तो इसे पढ भी चुके हैं और सराह भी चुके हैं। अब मैं जरा उपन्यास की तरफ आना चाहता हू।*

□ जी।

○ *डॉक्टर साहब आपके बहुत सारे उपन्यास कुछ हम लोगों ने पढे कुछ और लोगों ने पढ़े और काफी उपन्यास के क्षेत्र मे आपका नाम रहा, जैसे—'अलग-अलग वैतरणी', 'नीला चांद' और 'गली आगे मुडती है' बहुत*

सारे आपके उपन्यास आये है और पाठकों ने बहुत उनको सराहा भी है, तो इन उपन्यासो में सबसे अधिक 'अलग-अलग वैतरणी' का नाम है, जहा तक मुझे पता है।

□ सही पता है।

○ *तो इसमे क्या विशेषता है ? आपने क्या सोचकर अलग-अलग वैतरणी लिखी थी ?*

□ देखिए ऐसा है कि शुरू के दिनों में साहित्यकार सम्मेलन इलाहाबाद का 1957 का या फिर कथा-समारोह जो कलकत्ते में हुआ तीन दिनों का तो इसमें लेखक मिलते रहे, बातें करते रहे अपनी समस्याओं पर। लेकिन मैंने यह अनुभव किया कि ठीक है दो दर्जन कहानिया ऐसी आ गयी हैं जो चर्चित हैं कुछ जो औरों की पसद हैं, वह दूसरों को पसंद नहीं हैं, कुछ दूसरोंवाली उनको पसद नहीं हैं। यह सब तो ठीक है, कहानीकार तो हो गये।

○ *जी।*

□ लेकिन कोई ऐसी बड़ी कृति जब तक नहीं आती जिसमें हमारी पूरी की पूरी ऊर्जा का एक सस्टेन रूप दिखायी पडे कि हम लंबे फलक पर कोई बड़ी चीज जिदगी की लेकर के सामने आयें, ऐसा जब तक कथाकार के माध्यम से नहीं होता, उसका इतने बडे हिंदी क्षेत्र मे प्रेमचंद और उत्तर कथाकारो मे कोई स्थान पाना केवल कहानियो के आधार पर संभव नहीं और उन दिनों सबसे जबरदस्त चुनौती थी ग्राम कथा में कि 'मैला आंचल' आ गया था। 'मैला आंचल' को तोडकर उसके शिल्प को भी स्वीकार न करते हुए कोई और चीज अगर दी जाये और वह सामने आये तो शायद हम यह कह सकते हैं कि नया मोड आ गया उपन्यास का। तब मैंने उस प्रयत्न में करीब-करीब डेढ साल के लेखन काल के बाद साहित्यकार के क, ख मे से जो है यह 'अलग-अलग वैतरणी' बाहर आयी और कुछ ऐसा हुआ कि एक ही साथ तीन उपन्यास हिंदी मे आये। 'अलग-अलग वैतरणी' मेरा 'रागदरबारी' श्रीलाल शुक्ल और 'आधा गांव' राही मासूम रजा का। यह तीनों एक साथ आये। लेकिन भले ही श्रीलाल शुक्ल की कृति 'रागदरबारी' को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिल गया होगा पाठकों की अदालत में तो तीनो उपन्यासो में अलग-अलग वैतरणी' के अलावा कुछ था ही नहीं। इसलिए बहुत पता नही क्यों, मेरा ख्याल है कि शायद उसमें मेरी संपृक्ति और मेरे मन का सारा कुछ इतना सही ढंग से अभिव्यक्त हुआ है कि 'अलग-अलग वैतरणी' प्रशंसा की भीड में बहुत ऊपर दिखायी पडती है। तो हम यही कहेंगे कि 'अलग-अलग वैतरणी' के ज्यादा प्रसार या विज्ञापन कहिए, यह आइडिया हो गया कि लेखक के जीवन का बहुत-सा हिस्सा ही है जो कि बिल्कुल झूठ था। लेकिन उनको लगता था कि विपिन जो है वह शिवप्रसाद सिंह से अलग नहीं है।

○ *जी।*

□ और बहुत-सी पाठिकाएं इस बात से चिढकर ऐसे भी पत्र लिखती थीं कि आपने पुष्पा के साथ इतनी जबरदस्ती और अन्याय कैसे किया। यह इंसाफ नहीं है कि वह विपिन उसको छोडकर उसी हालत में चला जाता है तो दुनिया-भर की चीजें पाठको के मन लायक भी, मन के विरुद्ध भी सब मिलजुल करके एक अपना रूप उपन्यास के माध्यम से बना लेती हैं। रही बात आपने पूछा कि दूसरी चीजों के बारे में तो इधर 1978 में मुझको साइटिका हुई बहुत कष्टदायक। '79 में गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद,द्विवेदी की मृत्यु हुई और उस विचलित वातावरण मे मेरी पुत्री की 1984 के दिसबर मे मृत्यु हुई तो यह पूरे आठ साल '84 तक फार्मेस मे कहिए मै पडा रहा और कितना टेम्प्रेचर मैं अनुमान नहीं लगा सकता, ठीक है जो हो रहा था वह हो रहा था और '85 के शुरुआत मे मैने यह उपन्यास 'नीला चाद' शुरू किया और मुझे खुद ही आश्चर्य है कि उस मनस्थिति मे जिसको बहुत से लोग समझ नहीं पाते थे यानी वात्स्यायनजी तक न कहा कि भई केदारनाथ तुम गये हो आजकल शिवप्रसादजी से मिले तो बोले कि वहा मै भी गया था। मैंने तो सोचा था कि हिंदी मे सबसे अधिक गभीर मै हूं, वात्स्यायनजी ने कहा।

○ *हा।*

□ लेकिन हमको तो डॉ शिवप्रसादजी ने भी हरा दिया। तीन घटा बैठा रहा एक वाक्य भी नही कहा उन्होने। ऐसी मनस्थिति थी तो इस मनस्थिति मे कोई आशा ही नही करता था कि साढे छ सौ सात सौ पेज का मै उपन्यास लिखूगा और करीब-करीब मोर देन एट्टी उसमे पात्र जो है, सबका मैं निर्वाह कर सकूगा। सारी घटनाओं का समय और काल के हिसाब से समन्वयन कर पाऊगा, यह तो मुझे विश्वास भी नहीं था लेकिन जब 'नीला चांद' आया, ठीक है 'नीला चाद' के प्रकाशन मे वह रूप नही आयेगा। न मैने कभी उसकी अपेक्षा की थी कि प्रकाशित होते ही वह चमक जायेगा। 'नीला चांद' को चमकने मे थोडी देर लगती है (हसी)। 'नीला चाद' के बारे मे गंभीर पाठको के अध्ययन जब धीरे-धीरे आने लगे हैं इधर तब तो मै यह कहूगा कि एक न एक दिन लोग रियलाइज करेगे कि 'अलग-अलग वैतरणी' के बाद दूसरा मोड अगर है तो 'नीला चांद' ही है।

○ *डॉ साहब ऐसा है कि मै जो सोचता हू आपके साहित्य मे एक चिरंतनता है। एक बहुत लंबे काल तक रहने का उसमे दमखम है और इसके पीछे जो है वह अरविंद दर्शन छुपा हुआ है। आप मानें या न माने।*

□ हमको न मानने का टोटा है। हमको यह कोई उसमें वह नहीं है कुरवद्रा कि

न माने। एक बात मै जरूर कहना चाहता हू कि शुरू से ही मैं दर्शन का विद्यार्थी रहा और एक खास प्रक्रिया थी काशी हिंदू विश्वविद्यालय में कि बी. ए में भी आनर्स मिलते थे।

- ○ *जी।*

- ◻ तो आनर्स जो चीज आपने आप्सनल तीन सब्जेक्ट जो लेने पड़ते थे--वैकल्पिक तीन विषय तो तीनो मे से किसी एक में आप आनर्स ले सकते थे। या दो मे ले सकते थे या तीनो मे ले सकते थे लेकिन शर्त बडी कडी थी। हर पर्चे में, विषय के पर्चे मे भी तीनो में प्रथम श्रेणी से ऊपर होना चाहिए। तीनों मे जो है वह किसी भी पर्चे मे द्वितीय श्रेणी से नीचे नहीं होना चाहिए और तीनो विषयो मे या उस पर्चे मे फस्ट क्लास ही चाहिए। तो मैंने दो में आनर्स लिया था फिलॉसफी और संस्कृत मे और दोनों में आनर्स मिला। तो फिलॉसफी तो मेरे जीवन का एक सपना कहिए, शुरू से ही था क्योकि मेरा निर्माण भाषा के आधार पर कल्याण की फाइलो से शुरू हुआ।

- ○ *तभी तो डॉक्टर साहब आपने 'उत्तरयोगी' जो पुस्तक है, उसकी रचना की है।*

- ◻ हा।

- ○ *तो उसके सबध मे भी कुछ बताये।*

- ◻ नहीं तो 'उत्तरयोगी' के साथ समस्या यह थी कि मैने 'उत्तर-योगी' के पहले 'अस्तित्ववाद' लिखी। अच्छा अस्तित्ववाद के पूरे दर्शन के बारे में भारत मे बहुत अभी साहित्यिक जगतो मे बहुत ही अधकचरा-सा ज्ञान है। लेकिन इसमे कोई शक नही कि जब कालिन विल्सन आउट साइडर निकालता है तो बियान्ड आउट साइडर भी निकालता है। क्या यह मान लिया जाये क्योकि आज की परिस्थितियो का कोई समाधान नही है इसलिए क्या मानव मेधा हमेशा के लिए हार गयी, क्या यह मान लिया जाये ? चूकि हमारे तमाम मूल्य नष्ट हो रहे हैं, हम निरतर एक प्रकार से भ्रष्ट और पतित होते जा रहे हैं। यही क्या मनुष्य की अंतिम नियति है। यह प्रश्न जब खडे हुए तो मुझे लगा कि अस्तित्ववाद के पास इसका कोई जवाब नहीं है। तब मुझे जवाब ढूंढ़ने के लिए 'उत्तरयोगी' के पास जाना पड़ा। जो वर्तमान योगी ही नहीं आनेवाले भविष्य का भी उत्तर का योगी है। पूर्व का ही नहीं है उत्तर का भी योगी है और वह योगी स्वतः जो है अपने जीवन मे किस तरह से दर्शन को ढाल देता है और वैसे उसको एक नये अभिनव दर्शन में बदल देता है ? यह देखने कि एक अजीब दृष्टि मुझको उत्तरयोगी पुस्तक लिखते समय मिली क्योंकि उत्तरयोगी के लिए तीन-चार यात्राएं हमको पांडिचेरी की करनी पडीं और कुछ घटनाएं तो संभवतः ऐसी होती हैं मैठाणीजी कि उसको प्रीडिस्टेंड जैसा कहना चाहिए।

○ *जी।*

◘ क्योंकि मैंने जब शुरू किया तो तमाम किताबें जो थीं श्री अरविंद के बारे में, उनमें मैंने देखा कि उनकी मृत्यु के समय विश्व की प्रतिक्रियाएं क्या थीं ? प्रायः शून्य, कहीं किसी ने भी यानी 'इवनिंग टाक्स' जो अंबालाल पुराणी, प्रथम शिशु जोन के थे उन्होंने जो तैयार की रोज की रोज वह नोट करते रहे। उसमें भी उन चीजो का वर्णन सभव ही नहीं है कि वह पुराणीजी का वह इवनिंग टाक्स खत्म हो गया '27 में आते-आते क्योंकि अरविंद ने वह अज्ञातवास ले लिया। इसलिए इवनिग टाक्स बद हो गयीं। इसलिए आगे के समय के बारे में कुछ पता ही नहीं है।

○ *जी।*

◘ तो उसमें कहीं-कहीं ऐसे अजीब सूत्र मुझे मिले कि क्या जो कहा जाता है कि मरने के बाद श्री अरविंद के शरीर से 'नील ज्योति' निकलती रही। मैं बड़ा भारी नास्तिक हो के गया था, मैं साफ बताऊं आपको। टोटली मुझको यह कि जो यह मिथ है 'अरविंद मिथ' उसको मैं तोडने आया हूं। मैं एक अहम्वाद लेकर गया था कि 'अरविंद मिथ' को तोड देना है और अरविंदो मिथ को तोडने मे मैं टूट जाऊंगा। यह मैंने कभी सोचा भी नहीं था लेकिन हुआ ऐसा कि बनारस आया तो हमने कहा कि 1950 में अरविद का जब निधन हुआ तो दो चीजें ऐसी हैं जो बहुत सीधे हिंदुस्तान से जुडती है। एक तो '47 में स्वतंत्रता मिल गयी थी। 1951 में हम गणतंत्र के रूप मे आ रहे थे। लेकिन सबसे बडी बात यह थी कि क्या जो अब '47 के बाद का हिदुस्तान है, उसका कोई भविष्य है कि नहीं। अच्छा। एक सुखद यह था कि श्री अरविंद तो गये लेकिन मीरा उनका नेतृत्त्व करने के लिए यहां उपस्थित थीं। यह एक ऐसा केंद्र यहां था लेकिन सच बात यही है कि मैं भी एक तर्कमूलक अहम् लेकर के गया था और मैं समझता हू कि एक तरह से अच्छा ही है, अच्छा ही हुआ, बहुत विस्तार हो जायेगा कथा का लेकिन आप यों समझिए कि जब मैंने यहा उनके बारे में सामग्री एकत्रित करना शुरू की तो मुझको यह जानना था कि विश्व में क्या-क्या डेथ पर प्रतिक्रियाएं हुई। एक सुपरामेंटल आदमी मरा है, उसकी ज्योतिनील निकल रही है। खैर, यह तो सत्य ही था कि 150 घटे शरीर जो है नहीं हुआ, इसलिए समाधि नहीं दी जा सकती है। यह स्थूल रूप से तो सामने ही दिखायी पड रहा था क्योंकि वह नील ज्योति निकल रही कि नहीं निकल रही है, वह जाने दीजिए उसको, वह निरर्थक प्रश्न है लेकिन 150 घंटे तक पांडिचेरी की जलवायु में मरा हुआ मृत शरीर डिकम्पोज न हो यह तो एक बड़ी घटना है न। इतना ही मान लीजिए स्थूल रूप से कि यही घटना है तो उसके पीछे क्या कोई ऐसी शक्ति थी जो प्राचीन काल

में कहा जाता था कि योगियों को मिलती थी और समाधिस्थ हो जाते थे और शरीर उसी अवस्था में शताब्दियों तक पड़े रह जाते थे या वर्षों तक पड़े हुए रह जाते थे तो उनके पास कौन-सी चीजें थीं जो शरीर को उस अवस्था में बिखरने से रोकती थीं। तो श्री अरविंद के साथ खोजते-खोजते हुए हमने कहा कि 1950 की सामग्री तो बहुत रोज के लेबर के बाद मैं परेशान हो रहा था। तो एक हमारे यहा मराठी पुस्तकालय अध्यक्ष थे राघवजी, उन्होंने कहा कि डॉक्टर साहब क्या खोज रहे हैं ? इतने दिनों से देख रहा हूं। हमने कहा कि वो 1950 की कुछ पत्रिकाएं देखना चाहता हूं कि श्री अरविंद के बारे में कुछ है, उनका जो निधन हुआ, जो विश्वभर में चर्चित हुआ, क्या है उसके पीछे ? तो उन्होंने कहा, कहां ढूंढ़ रहे हैं ? यह सब तो यहां है। तो डॉक्टर मैत्रा मेरे एक प्रोफेसर थे फिलॉसफी में, मैं बी.ए. में था वह अध्यक्ष थे। उनका अपना निजी पुस्तकालय था। वह पुस्तकालय मरने के बाद उन्होंने दे दिया काशी विश्वविद्यालय को। अपने उसी पुस्तकालय में वह अलमारी मौजूद थी जिसमे इतनी बडी मोटी कटिंग भरी हुई फाइल थी, उसमें अरविंद के बारे मे किस-किस अखबार में कहां एक लाइन भी लिखी गयी है अगर लिखी गयी है तो उसमे वर्तमान थी। तो यह अजीब आश्चर्य है कि जो सामग्री किसी को नहीं मिलती, नहीं मिली वह मिली उसमें और देखिए वह तो एक चमत्कार और अलग चीजें हैं लेकिन अरविंद हमको जीने की एक कला, एक धैर्य, एक मानसिक संतुलन, सारी चीजें, इतनी गहन चीजें हैं कि सामान्यतः उसको भाषाबद्ध तो नहीं किया जा सकता।

○ *डॉक्टर साहब अब इसी मे मै थोडा-सा आगे यह पूछना चाहता हू कि जो आपका व्यक्तिगत अध्यात्म आपने लिखा है एक स्थान पर कि धर्म जो है उसकी आखिरी मजिल व्यक्तिगत अध्यात्म है। इससे आपका क्या अभिप्राय है।*

□ मेरा अभिप्राय यह है कि मान लीजिए आज जैसे इस्लाम को लेकर या क्रिश्चियनिटी को लेकर या हिंदुइज्म को लेकर के झगड़े, झगडे, चारों तरफ झगडे, झगडे क्यों होते हैं ? जब यह फिलॉस्फर्स तमाम कह देते हैं चाहे वह टायन्बी हो, चाहे स्पेंगलर हो, चाहे जो भी हो आज जब कह देता है कि सभी धर्मों का मूलतत्त्व एक ही है झगडना नहीं चाहिए। सभी एक ही कहते है एक ही कहते हैं तो फिर झगड़े क्यों होते हैं ? इसलिए होते रहते हैं कि हमने मान लिया है कि सामूहिक कर्मकांड ही धर्म होता है।

○ *यह।*

□ यानी समूह में बैठकर के जो है वह पूजा-अर्चना जो होता है, वही महान् है यह एक खास प्रवृत्ति होती जा रही है। ऐसी स्थिति में जो प्रत्येक व्यक्ति के मन में अपना निजी राह दिखानेवाला पथ-प्रदर्शक मौजूद है; ज्यों-ज्यों आदमी

शांत और अतर्मुखी होता जाता है। स्वयं उसके अपने भीतर का आलोक बताता है कि किधर तम है किधर ज्योति है और ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत अध्यात्म के अलावा उच्चतर मानव को निर्देशित करनेवाली और कोई शक्ति नहीं। व्यक्ति अध्यात्म यानी आपके भीतर का जो अध्यात्म है, आपके मन का जो अध्यात्म है। मान लीजिए धर्म के बारे मे 'धर्मस्थ तत्व निहितम् गुहायायां' लेकिन जिस तत्त्व से आप परिचित है, जिस तत्त्व के आगे की प्रक्रिया आपको प्रभावित कर रही है, यदि उसका आप अनुभव कर रहे हैं तो स्वत: आप गुरु हैं आत्मने गुरु आप ही गुरु है अपने। तो इस प्रकार स्वय के भीतर वर्तमान जीवन सारथि के हाथों में बलगा सौप देना। जैसे महाभारत का बलगा सौपना कृष्ण के हाथों मे है। वह व्यक्तिगत अध्यात्म मन के भीतर ही अपना परम आराध्य प्रिया परत दैवप्रिया परम गुरु वर्तमान है। यह जो चेतना है वह दूसरी चीज यह कि इटरनेशनल लेबिल पर कभी-कभी बहुत बाधाए हो जाती हैं कि अमुक देश इस्लामी देश है। अमुक देश क्रिश्चियन देश है। तो मै इस चीज को स्वीकार नही करता क्योंकि मैं फडामेन्टल आधारो पर धार्मिक विभाजन को स्वीकार नहीं करता। धार्मिक ही क्यो, मैं तो यह भी मानता हू कि कभी-कभी ज्यादा अतिरेक राष्ट्रीयतावाद का जब होता है तो भी मानवता क्षतिग्रस्त होती है। क्योंकि यह माना जाने लगा है कि अग्रेज होगा या पश्चिमी जगत् का कोई आदमी होगा तो हमारी तुलना मे निश्चय ही भ्रष्ट होगा इस कदर की धारणाए जो एक खास नाजी और उस प्रकार के विचारो से जन्म लेती है। जातिवादी गोरी चमडी देखकर के जैसे पूरे महाद्वीप मे समस्या है श्वेत-अश्वेत लोगो की। यह सारी चीजें हैं जो आज भी राष्ट्रीयता के नाम पर चलती है। तो यह राष्ट्रीयता पूरे विश्व की मानवता के लिए किस काम की है। मै तो उस राष्ट्रीयता का भी विरोध करता हू जो...।

○ *डॉ सिह आपने हजारीप्रसाद द्विवेदीजी से शिक्षा प्राप्त की थी और उनके काफी निकट भी रहे है। कृपया इस सबंध मे यह बताये की आपके जीवन पर उनका क्या प्रभाव पडा ? और किस तरह से आपने फिर अपनी साहित्यिक गतिविधिया चलायी ?*

□ ऐसा है मैठाणीजी कि पडितजी जब बनारस में आये 1950 मे मै तो बीए का स्टूडेंट था और 1950 मे बीए के विद्यार्थियों को प्रोफेसर, कोई अध्यक्ष यानी केवल केशवप्रसाद मिश्र पंडितजी के केवल पहले एक ऐसे व्यक्ति थे अध्यक्ष जो कक्षाएं लेते थे बीए मे आकर के और हम लोगों की कक्षाएं उन्होंने ली थीं। बडे अच्छे प्राध्यापक भी थे। लेकिन पंडितजी के जमाने में तो बीए मे हम लोगो को सौभाग्य उनसे पढने का नहीं मिला। एमए में वह हमारे अध्यक्ष ही नही हिंदी साहित्य के एक निष्णात पंडित थे कृती साहित्यकार,

आलोचक, इतिहासकार और गुरु भी। इन सारे रूपों में एक व्यक्ति को प्राप्त करना बडा असभव जैसा लगता है कि कई-कई क्षेत्रो में गति रखनेवाला एक व्यक्ति यानी पांच संशोधन, अपभ्रंश या अवहट्ठ पर काम, उनकी उसमें गति। अद्‌भुत गति। एक प्रशिक्षण जो मुनि जिनविजय से लेकर के शांति निकेतन से वे आये, दूसरी ओर छिपी वहां सैन्य और संत-साहित्य के दूसरे पडितों के संसर्ग से वहा सत्संग से एक ऐसी मेधा भी कि नयी युग की दृष्टि के अनुकूल हम संतों को प्राचीन संतों को पुनः परिभाषित करें। और वह कितना हमारे लिए आज प्रासगिक है, विचार करें। तो एक कवि पर उनका जो नये ढंग का चितन आया फिर आदि कलिंग इतिहास पर जो उनके बृहद राष्ट्रभाषा परिषद् में 5 व्याख्यान हुए थे कुल मिलाकर के धीरे-धीरे यानी त्रिकंटक जो मैंने परीक्षा एमए की उत्तीर्ण की तब तक वह मेरे बहुत ही सहज पहुंच के भीतर आ गये थे। लेकिन बहुत खुल करके मेरे संबंधों का विकास '53 में ही दिखायी पडा क्योंकि उसी का कहना चाहिए '53 में कुछ ऐसा हुआ कि पडितजी ने कहा कि तुमको मेरी एमए की डिजर्टेशन लेना है। तो एमए में ही मैने डिजर्टेशन लिया था 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा' बहुत ही टेढा विषय था और मै आपको बताता हूं कि शिष्य वत्सलता क्या होती है, वे जानते थे कि बहुत टेढा काम है लेकिन जब मैने काम करना शुरू किया तो अवहट्ठ का प्रयोग केवल एक ही स्थान पर मिलता था कीर्तिलता में 'तेसिउ जंपउ अवहट्ठा' विद्यापति ने कहा तो यही मिलता था तो हमने 8-10 प्रयोग जब नये खोजे तो कक्षा में कहने लगे कि देखिए अवहट्ठ शब्द ही जैसे है--वही पढाते थे। इसके प्रयोग केवल इस किताब मे है, आप लोग जानते हैं लेकिन मेरे शिष्य ने आठ जगहों से खोज निकाला वगैरह-वगैरह। अध्यापन के समय लेकिन अब उस फक्कडपन में जो यह भी कि दूसरे लोगों को बुरा लगेगा या क्लास मे जो है—एक विशिष्ट प्रकार का हो जायेगा कि किसी के साथ उनके लिए इतना स्नेह सौजन्य है और किसी के साथ तटस्थता है तो लोग कह भी नहीं सकते थे क्योंकि हिम्मत भी नहीं होती थी लेकिन उनके लिए सबके साथ ऐसा ही स्नेह सौजन्य था बशर्ते जो आदमी ईमानदारी से काम करना चाहे। वह किसी के प्रति विशेष अनुरक्त अवश्य हुए लेकिन किसी अन्य परिस्थिति के कारण हुए इसलिए नहीं हुए कि वह विशिष्ट उसको मानते हैं। और दूसरों से अलग व्यवहार करते थे नहीं, उस व्यक्ति के साथ वह खुद कितना उनके निकट होता गया। कितना विश्वासपात्र होता गया, उस पर डिपेंड करता था और मुझे यह कहते सकोच नहीं होता कि तीन-चार साल के भीतर ही पी-एच डी करने के बाद यूनिवर्सिटी में आते ही वे केवल गुरु मात्र न रहकर अभिभावक तो हो गये।

○ जी।

□ यानी बिना उनकी अनुमति के कोई काम करना बनारस में मेरे लिए असंभव था। वे इस प्रकार का बिना उनसे पूछे कुछ करना मेरे लिए असंभव था तो यह एकता और निकटता ता स्थापित हो गयी लेकिन उसके साथ-साथ पंडितजी का बड़ा व्यापक परिचय था। राहुलजी आ रहे हैं, वात्स्यायन आ रहे हैं और अमुक स्थान से जो है श्री नारायण चतुर्वेदी आ रहे हैं तो चंडीगढ़ से मदान साहब आ रहे हैं। दुनिया-भर के लोगों का उत्तर और दक्षिण का एक समग्र उनके यहां उनके साथ-साथ जुडा हुआ होता था लेकिन जब '60 में यहां से चले गये तो हम लोग अकेले पड़ गये और क्योंकि '60 का उनका निष्कासन इतना अनैतिक और निराधार था, जो ऐसे-ऐसे भद्दे कारण बताये गये थे, जिनका वह कभी यानी किसी ने कह दिया कि हमको अमुक जाति का हूं तो अमुक कह करके पुकारते है। इस तरह का वह कभी किसी को पुकारते ही नहीं थे यानी जो चार्जेज लगाये गये वह इतने छोटे और तुच्छ। तो जो कमीशन बैठाया गया जांच करने के लिए उनमें नाम भूल रहा हूं वे बगाल के ही जस्टिस थे। तो पडितजी की जिस दिन पेशी थी तो उन्होंने जाकर के कहा कि देखिए मुझको और कुछ नहीं कहना है अपने डिफेंस मे। मैं बस गुरुदेव का एक वाक्य कह करके जाना चाहता हूं यहा से कि आप बड़े-बडे विशाल पौधो को, पेडों को क्षण-भर मे काट सकते हैं लेकिन किसी भी पेड मे एक फूल उगा देना तुम्हारे अधिकार के बाहर है। 'तुमि पारवे निगे, पारवे निगे फूल फोटावे' तुम फूल कभी नही खिला सकते। यह तुम्हारी शक्ति के बाहर है। फले हुए पेडों को काट सकते हो लेकिन फूल खिला नहीं सकते हो। इतना ही कहा और चले आये। इस प्रवास के दौरान जो बनारस से बाहर रहे सात साल। कई बार मैं भी चंडीगढ गया लेकिन सीधा है मैं अपनी परेशानियो में जुड़ा रहा, वह अपने कामों मे जुडे रहे, रोज का उठना-बैठना था नहीं। तो उनका ज्यादा उठना-बैठना चडीगढ था और चंडीगढ से जब आते थे तो नजदीक दिल्ली पडता था तो हमारे कई महामित्र जैसे विश्वनाथ त्रिपाठी या उनके दामाद कैलाशजी यह सब वहां थे। इसलिए वहां रुकते थे और फिर सरकार का बड़ा भारी केंद्र है दिल्ली। तो दिल्ली उनका भी वह रहा। लेकिन बनारस प्रायः कमी-कमार को इतनी मन में तृष्णा थी बनारस के प्रति कि किसी रास्ते से जा रहे हैं, पटना जा रहे हैं या दिल्ली जा रहे हैं, कलकत्ता से आ रहे हैं। अगर मौका है तो बनारस में वह रुकेंगे जरूर। और कविताओं में चीजें लिखने का एक अजीब उनका अपना ढंग था। जब वह निकल गये थे तो इसमें कादंबिनी पत्रिका का पहला अंक प्रकाशित हुआ था 1961 में और बालकृष्ण राव उसके संपादक थे, मेरा आकाशवाणी में एक प्रोग्राम था लेकिन मै किसी के घर नहीं टिका था, प्रयाग होटल में था, तो मैं गया राव साहब

से मिलने तो उन्होंने कहा शिवप्रसादजी पत्रिका तो निकल गयी है लेकिन उद्घाटन तो एक हफ्ते बाद है। मैंने कहा ठीक है आप भिजवा दीजिए एक हफ्ते बाद। बोले, नहीं पहली बार मेरे यहां आये हैं तो रिक्त हाथ क्यों जायेंगे। एक अंक में आपको देता हूं और उन्होंने दे दिया एक अंक। तो मैंने देखा उसमें मेरा निबंध था, पंडितजी का एक निबंध था, मेरी कहानी थी 'अंधकूप' पतजी की कविताएं थीं। मैं रेडियो स्टेशन पहुंचा तो गिरिजाकुमार जी वहां निदेशक थे उस वक्त। तो उन्होंने कहा कि शिवप्रसादजी कौन-सी पत्रिका लिये हुए हैं। हमने कहा कि क्यों माथुरजी, आपसे क्या मतलब ? बोले, नहीं-नहीं, देखें जरा, आप लोग नयी पीढीवाले बड़े ऐंठते हैं, मैंने कहा देख लीजिए। तो उन्होंने देखी और तुरंत फोन किया पतजी को कि पंतजी आपको अमुक-अमुक कविताओं के लिए बहुत बधाई। तो पंतजी ने कहा मैंने तो देखा नहीं कहां निकली। वह तो राव साहब को हमने दी थी। अभी तो कह रहे थे कि कादबिनी निकली नहीं। 7 दिन के बाद उसका उद्घाटन है और इसमें जो है हमने कहा कि महाराजा हमने आपसे कहा था कि प्रचारित मत करिएगा क्योकि वह खुद हमसे कह चुके हैं राव साहब। लेकिन उन्होंने कहा तो मैंने पत्र लिखा उनका 'कुटज' शीर्षक निबंध था। इस 'कुटज' को तुम समझते क्या हो ? वह किसी के सामने हाथ नहीं फैलाता, याचना नहीं करता। वह एक सूखे पाषाण को भेद करके तल से अमृत और जल खींचता है और उससे मस्ती के साथ जीता है। हरा रहता है। भीषण से भीषण ताप में भी मुस्कराता रहता है। यह उद्वेलन जो भीतर था तो वह मैंने उनसे लिख दिया कि उसमें कालिदास का नाम आया था कि शापग्रस्त होने के बाद अस्तगमित महिमा कालिदास जब राह मे गिरी पर पहले बादल को देखकर उन्होंने अर्घ्य दिया था कुटज वृक्ष फूलो का, कि हे कुटज ! तुम बड़े महान् हो वगैरह-वगैरह करके। मैंने कहा कालिदास हुए होंगे। अस्तंगतिम महिमा वाले। आप कब से अस्तंगमित हुए ? केवल बनारस से चले जाने के कारण तो आपकी महिमा अस्त गमित नहीं हुई। तो मैंने लिखा वही कि कालिदास तो कहते हैं, लिखा उन्होंने पूरा तो नहीं याद है कि :

धन्य हैं वे देखते जो
अकवि जन्मे सुकवि छाया छीन
हाथ में है कुटज कादम्बिनी देख ना

(सम्मिलित हंसी)...

तो एक ऐसा स्नेह, सौजन्य। अब इसके बाद फिर लौटकर आ अये (रिक्तक) बंद करके आये और इसके बाद हिंदी विभाग के अध्यक्ष भी रहे। फिर इसके बाद श्री मालीजी ने उनको एक ऐतिहासिक व्याकरण वहां निकल रहा था वह

काम भी दिया तो इन तमाम कामों में शिवप्रसाद सिह का होना एक लाजमी बात बनती गयी। और अब वह अभिभावक नहीं रह गये। वह पिता बन गये और इस तरह से बन गये कि उनके परिवार का कोई भी सदस्य आज भी पारिवारिक यानी बड़ा से बड़ा पुत्र भी यह मानकर चलता है कि बडे भाई तो यह हैं। तो उस रूप में उन्होंने ऐसा एक क्या कहिए एक ऐसा आशीर्वाद से भर दिया कि उनको विलगाव करके मै सोच ही नहीं पाता हूं और कभी-कभी तो मुझको लगता है कि क्या ऐसा आदमी पुनः इस हिंदी जगत् में आयेगा जो इतना प्रकांड पंडित और इतना सहज हो तो मुश्किल हो जाता है। तो पडितजी से तो देखिए हम गये एक छोटा-सा बहुत बढिया आपके लिए होगा सस्मरण कि जब जा रहे थे हम अपभ्रश या ब्रजभाषा की रचनाओ को खोजने राजस्थान में तो उन्होने एक चिट्ठी लिखी कि देखा हवामहल के सामने जो मुनि जिनविजय रहते हैं वहा पुस्तकालय भडार है हस्तलेखो का, उनको यह चिट्ठी जरूर दे देना। तो मै गया चिट्ठी उनको दिया मुनिजी को तो मुनिजी उस समय 72 पार कर गये थे और आखें बिल्कुल खराब हो गयी थीं ऐसे करके जंब पढते थे पांडुलिपियां ऐसे। अच्छा नाम सुना था प्रकाड पंडित है यह सब जानते थे तो बोले, कहो, बोलो बोलो, बोलो तुम्हारे गुरु के क्या हाल है। तो हमने कहा ठीक-ठाक हैं। बोले कि सुनो, तुम लगते हो कि उनके बडे प्रिय शिष्य हो, बडी तुम्हारी तारीफ लिखी है। तुम्हारे गुरु का एक बता दें अद्‌भुत कार्य। हमने कहा हा बता दीजिए मुनिजी। तो बोले कि हमने कहा कि पडितजी आप जो हो 'प्रबंध चिंतामणि' का अनुवाद कर दो। अनुवाद करना उन्होने शुरू किया तो एक जगह आता है बोम्बा फाडी रोहबे तो उन्होंने लिख दिया कि अपना कमडल फेक के, तोड करके रोने लगता है। सन्यासी अपना कमडल तोड करके बम्बा फोड रोने लगता है। तो आये, हमने कहा कि कह दो, कहो पडित यह मौलिक ज्ञान कहा से आ गया, तो कहा कि क्यो बोम्बा का और क्या मतलब होता होगा। तो सन्यासी की कथा चल रही है तो बोम्बा और क्या होता होगा। उन्होंने कहा कि बोम्बा फाड के रोना गुजराती मुहावरा है। इसको हिंदी मे बुक्का फाडा के रोना आया। *(हसी)*... हृदय फट जाने से रोना कहा जाता है। तो हमारे गुरुदेव ऐसे काम करते थे। हमने यह संस्मरण उनको लिख भेजा जयपुर से उसका उत्तर फिर मुनि जी को भी। तुम उनसे जितना भी ज्ञान ले सको वह तो अथाह सिंधु हैं वगैरह-वगैरह। यानी विद्वानों की कद्र करना, जैसे एक वही पार्श्वनाथ आश्रम में एक जैनी बडे अच्छे आचार्य थे सदासुख लाल। तो वे आये थे शाम को, बोले चलो आज जरा गंगा स्नान कर आयें। हमने कहा पंडितजी 7 बजे रात को कहा ले जायेंगे गंगा स्नान। खैर, चलो तो, तो गये हम लोगों की सदासुख लाल के यहां दो घंटा वार्ता

हुई अपभ्रंश काव्य पर और तमाम चीजों पर। तो बोले कैसा रहा शांति, शीतलता है न गंगा की तरह। तो हमने कहा हां पंडितजी तो ऐसी चीजें वे ही कह सकते थे कि व्यक्तियों के सत्संग से गंगा स्नान का सुख मिलता है। बड़े लोगों को कैसे पहुंचना चाहिए, कैसे अप्रोच करना चाहिए, कैसे जो है अभिमानी साहित्यकार के सम्मान की रक्षा करें यानी जीवन के बहुत से जो संस्कार, हालांकि एक बहुत बड़ा विरोध जो वे स्वयं कहते थे। ऐसा है हमारा हाथ देख के कहने लगे, लाओ-लाओ देखें। हमने कहा अरे हटाइये क्या हाथ-वात में विश्वास करते हैं। बोले कि नहीं तुम्हारा माउन्ट आफ मार्स बड़ा ऊंचा है। हमने कहा क्या मतलब होता है इसका ? कहा कि तुम्हारे अंदर जो चीज है मेरे अंदर नहीं थी, बाकि तो सब मेरीवाली हैं लेकिन एक चीज मेरे अंदर है जो तुम्हारे अंदर नहीं है, जो तुम्हारे अंदर है वो मेरे अंदर नहीं है। हमने कहा क्या। *(हंसी)...* कहा कि तुम्हारा आक्रामक मंगल जो है शत्रुओं को नष्ट करेगा, और मेरा डिफेसिव था न इसलिए शत्रुओं ने बहुत सताया। मेरा मंगल जो है बहुत ही सुरक्षात्मक है खाली आक्रामक नहीं था। इसलिए लोगों ने बहुत सताया। लेकिन तुमको सता नहीं पायेंगे, यह अच्छा है। तो एक किस रूप में यह आशीर्वाद ही था कि दुष्ट तुमको न सतायें भविष्य में यह आशीर्वाद था लेकिन कहने-कहने का तरीका देखिए वह ऐसी-ऐसी उनकी तो क्या मैं लिख रहा हूं-तो आप लिखें तो बहुत ही उपयोगी होंगी पाठकों के लिए।

○ *और डॉक्टर साहब आपने गुरुजी के बारे में बहुत अच्छी-अच्छी बाते हमें बतायीं। अब अंतिम प्रश्न मैं आपसे करना चाहता हूं। वह यह कि आप एक कहानीकार के रूप में, उपन्यासकार के रूप में, आलोचक के रूप में, पत्रकार के रूप में, एक शोधकर्ता के रूप में और एक फिलॉस्फर, एक दार्शनिक के रूप मे हमारे सामने हैं। बहुत सारे रूप हैं आपके हमारे सामने, जो कि आपने दिये है और जिससे कि हमारे पाठक बहुत लाभान्वित हो सकते हैं। तो अब इन सारे रूपो में से आप किसे अधिक पसद करते हैं। कौन-सा आपकी रुचि के अनुकूल है ?*

□ देखिए अभी भी बहुत-सी ऐसी चीजें हैं, समस्याएं हैं, जिनको ललित निबंध नहीं कहा जा सकता, बहुत-सी चीजें ऐसी हैं दर्शन संबंधी। अव्वल तो यह है कि मेरा पूरा का पूरा गद्य का मुख्य फार्म ही जो है स्टोरी है। यानी एक छोटी-सी लता इकहरी जो संपूर्ण हो लेकिन इकहरी हो। नाना प्रकार की चीजें उसमें मिक्स न हों तो यह मेरा पूरे लेखन का मुख्य फार्म है। कुछ लोगों का नीलकल कहा जाता है तो और कोई शक नहीं है हिंदी में लेकिन अगर कहना हो तो कहानी विधा का मैं व्यक्ति हूं और कहानी विधा यहां तक मेरे ललित निबंधों में शोधों तक में मैं यानी आपको यह कि 'उत्तरयोगी' तक मैं भी आपको

वह विधा का दर्शन हो जायेगा कि मैं सहज ढंग से किसी को कुछ सुना रहा हूं, सुनाना चाहता हूं, कुछ है ऐसा जो मैं समझता हूं कि सुना के जाना चाहिए। यह मेरा अपना देखा हुआ है और शायद मानवता के लिए उपयोगी हो। इसलिए उसको सुना के जाना चाहिए। अभिसंकल्प तो यही है। न सुना सका तो बात अलग है लेकिन संकल्प यही है। ऐसी स्थिति में मैं इधर यह मानने लगा हूं कि व्यर्थ की जो साहित्यिक घुसपैठ और तनाव आदि हैं, वह सब व्यर्थ हैं क्योंकि साहित्यकार की आयु अगर एक हजार वर्ष से कम है तो उसको साहित्य नहीं लिखना चाहिए और एक हजार वर्ष की आयु जिस साहित्यकार की है उसने जीवन के सत्तर वर्षों में क्या पाया है, यह हिसाब की चीज नहीं है क्योंकि अगर हमारी रचना भविष्य में एक हजार साल तक जिंदा नहीं रही तो लिखने का तुक क्या है और जाहिर है कि एक हजार के उद्देश्य से जो मैं लिख रहा हूं, उसको समझनेवाले एक हजार वर्ष पहले तो नहीं मिल जायेंगे। इसलिए हो सकता है कि उन चीजों में जो मैं कहना चाहता हूं, उसमें मेरी अभिव्यक्ति ही दीवाल बने क्योकि अभिव्यक्ति की सीमा है, भाषा की सीमा है, विचार और अनुभव अथाह है लेकिन व्यक्त करने का जो माध्यम है, बहुत सीमित है, जिस तरह की लडाई पत्थर को काटकर छेनी से काटते वक्त कलाकार को होती है मूर्ति बनाने के लिए, उससे अधिक काटना पड़ता है। भाषा को बनाने के लिए, एक खास प्रेषणीयता बढाने के लिए अपने पाठक तक पहुंचाने के लिए, तो यह भाषा बड़ी कमजोर विधा है। बहुत ज्यादा ज्ञान हो जाये तो भी, जब ज्यों-ज्यों आप अनुभव करते जायेंगे। बड़े होते जायेंगे, ज्ञान के जो बल्ब आपके दिमाग के हैं, जलते जायेंगे त्यों-त्यों आपको लगेगा कि इन सचों को कहने के लिए भाषा हमारे पास नहीं है। तो ऐसी स्थिति मे जैसे यहां इस संसार में मूल उद्देश्य क्या है इसका। मैं यह जानता हू कि निर्वैयक्तिक करुणा और प्रेम के अलावा इस संसार में कुछ सत्य नहीं है। कितने लोगों के दुःख का भार मैंने उठाया है। कितनों के दुःख को हल्का किया और कितनों को हारते हुए भी आगे चलने के लिए धकेलता रहा। कितनों को गिरते समय रौंद न जायें उठाता रहा। अगर यह सब नहीं है तो कुछ लिखने-पढ़ने की जरूरत नहीं। इसलिए एक साहित्यकार के लिए सबसे पहली और सबसे बड़ी शर्त यह है कि वह मुख्य रूप से एक मनुष्य अवश्य हो और बिना मानवता के, बिना मनुष्यता के साहित्य दो कौड़ी का होता है।

डॉक्टर साहब, बहुत-बहुत धन्यवाद। आपने बहुत ही अच्छे ढंग से अपनी साहित्य यात्रा का वर्णन किया और हमारे निवेदन को स्वीकार किया। मेरे पास कोई शब्द नहीं जिससे कि मैं आपको धन्यवाद दूं। मैं तो यही चाहता हूं कि आपका स्नेह निरतर हमें मिलता रहे।

• दृष्टि

जब ड्रैगन लौट गया

• *डॉ. शिवप्रसाद सिंह*

[वे चुप हैं, रहें, मगर अपनी निष्क्रियता को सैद्धांतिक जामा तो न पहनायें कि आक्रमण और युद्ध पर लिखना साहित्य की तौहीन है।]

दुर्विपाक ! हा, चीनी आक्रमण एक दुर्विपाक ही था । सिर्फ इसलिए नहीं कि उसने भारत-जैसे एक शांतिप्रिय मित्र देश पर अपने घिनौने हिंसक पंजो के निशान बना दिये, जो बहुत दिनों तक इस राष्ट्र की पेशानी पर उभरे रहेंगे, बल्कि इसलिए भी कि इस आक्रमण ने हमारे देश के बुद्धिजीवी वर्ग को विषम अतर्द्वंद्व और कर्तुमकर्तुम की द्विधा-स्थिति से भर दिया है। हमारे देश की जनता मे किसी प्रकार की द्विधा नहीं है, वह एकजुट होकर दृढ निश्चय के साथ अपनी पूरी ताकत से, आर्थिक शारीरिक और आत्मिक सभी प्रकार के सबल लेकर, इस बीभत्स हमले के प्रतिरोध मे खडी हो गयी। फिर प्रश्न होता है कि समाज के बहुसख्यक, अधिकतर सामान्य स्तर के लोग, जहा इस प्रकार की दृढ स्थिति में खडे रहे, वह नेता-शासक और बुद्धिजीवियों के भीतर ऐसी निस्पृहता, उदासीनता, द्विधा और सब कुछ को प्रश्नवाचक चिन्ह से आहत करने की विचित्र थथम कहां से आ गयी ?

आज जब ड्रैगन लौट गया है। स्वयकृत निश्चय के अनुसार उसने अपने जहरीले विध्वंसक अंगों को समेट लिया है तो हम काफी 'रिलैक्स्ड' अनुभव करने लगे हैं। लगता है जैसे एक दु:स्वप्न बीत गया, सिर से बला टली। ड्रैगन लौटा तो है। वह फिर आयेगा या नहीं, आयेगा तो किस रूप, स्थिति और समय की सीमा के भीतर ? ये सभी प्रश्न आज हमारे लिए निरर्थक से लगते हैं। इन निरर्थक प्रश्नों के बीच आत्ममथन का भी समय नहीं रहा। मंथन चल रहा है, मगर दूसरी तरह का। आज का प्रश्न है कि इस आक्रमण के समय जो कुछ साहित्य लिखा गया, क्या वह साहित्य है ? क्या इस प्रकार के संघर्षों से साहित्य की अविचल सत्ता को कंपित कर देना उचित हुआ ? क्या आज के आधुनिक सचेत साहित्यकार

को इन क्षणिक उत्तेजक स्थितियों से प्रभावित होना चाहिए था ? इस तरह के विचार प्रायः वे ही लोग कर रहे हैं जो इस आपातकाल में अपनी लेखनी को तटस्थ साहित्यिक स्तर पर निरंतर कायम रख सकें । जो अपने हाथी-दांत की मीनार से इस पूरे अग्निकांड को 'स्थितिप्रज्ञ' की हालत में देखते रहे। संघर्ष के दिनों में ऐसे लोग चुप थे, अपनी असमर्थता को असमर्थता ही मानते थे इसे सैद्धांतिक निष्क्रियता कहने का साहस उनमे तब नहीं था । किंतु आज ? आज चूंकि ड्रैगन लौट गया है, आपातकालीन राज्य-नियम थोड़े शिथिल हो गये हैं, खतरा खतम नहीं तो टल-सा गया है, तो ये लोग अपनी असमर्थता और निष्क्रियता को सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य का चमकीला मुखौटा पहनाने का प्रयत्न करने लगे हैं ।

इस तरह के दबे हुए शब्दों को अपनी शक्ति-भर अभिव्यक्ति देने की कोशिश कल्पना 166 के 'यह अंक' शीर्षक स्तंभ में किया गया है । अंकित है—"आप अंक खोलते ही शायद चीनी आक्रमण पर कोई रचना देखना चाहें, क्योंकि पिछले दिनों इस दुर्विपाक ने झुंझलाहट और फैशन दोनों को जन्म दिया है । प्रतिक्रिया जनित कृतियों ने (या से) [एक कवि ने तो हमें लिखा कि चीन ने भिगोया तो बहुत किंतु अफसोस कि मुझसे कुछ निचुड न सका सिवा उन दो-चार गीतों के जो रेडियो के लिए लिखने ही पडे । आजकल तो लोगों (कवियों) ने इस सबंध में फैक्टरियां खोल दी हैं] आजकल एक बात बहुत स्पष्ट हो गयी है कि हमारा साहित्य प्रभाव ग्रहण करने मे कितना छिछला और दरिद्र हो गया है । चरखा छोड़कर बदूक का अभ्यास करनेवाले (चाहे वह बंदूक किसी संग्रहालय मे रखने लायक ही क्यों न हो) देश-भक्तों की सेना की तरह साहित्यकारों की भी एक सेना खडी हो रही है ।"

इसी के दूसरे विरोधी पहलू को उभारनेवाली एक टिप्पणी ख्वाजा अहमद अब्बास ने 10 फरवरी, 1863 के ब्लिट्ज़ के 'अतिम पृष्ठ' स्तंभ में लिखी थी। अब्बास ने चित्रकार डी सूजा के इस कथन की घोर निंदा की थी कि चित्रकार का ऐसे सघर्षों से कोई वास्ता नहीं होता । चित्रकार के लिए संघर्ष के अनुभव का पटल तो उसका कैनवस है, जहा वह लाल और हरे रगों का द्वंद्व देखता और अनुभव करता है। उसे हमेशा शुतुरमुर्ग की तरह अपने सिर को अपनी कला मे ही गाड़े रखना चाहिए। अब्बास ने मजाक करते हुए लिखा है कि इस तरह की बात कहकर शायद डी सूजा ने सोचा होगा कि वे कोई बहुत बड़ा तीर मार रहे हैं। मगर कला के लिए कला का नारा न तो नवीन है न तो मौलिक । अब्बास ने पिकासो के 'गुरेनिका' चित्र का हवाला देते हुए पूछा है कि क्या पिकासो आधुनिक नहीं है या कि वह बडा चित्रकार नहीं है ? क्या उसने स्पेन पर नाजियों कि आक्रमण के समय शुतुरमुर्ग की तरह अपनी गरदन कला में ही गाड़ रखी ? क्या देश पर होनेवाले आक्रमण से बेचैन होना कलाकार की दुर्बलता है ? यदि है तो उस कलाकार

को क्या हक है कि वह आशा करे कि कारखाने उसके लिए ब्रश बनायें, या मजदूर उसके लिए रंग तैयार करें या समाज रोटी और वस्त्र दे, या पुलिस सड़क पर उसकी रक्षा करे, या लोग उसकी कला को सराहें और उसे संरक्षण और पोषण दें ?

ये दो मत सिर्फ दो मत नहीं हैं, बल्कि इनके अंतराल में एक बहुत बड़ी कशमकश है जो हमारे देश के बुद्धिजीवी वर्ग की द्विधा को प्रमाण देती है।

चीनी आक्रमण से यदि कोई लेखक सचमुच भींगा है, तो यह असंभव है कि यदि वाकई लेखक है तो कुछ निचुड़ न सके। चीनी आक्रमण की प्रतिक्रिया में लिखी गयी कविताएं फैशन हो सकती हैं, किंतु न तो इससे साहित्य को खतरा है और न देश को। फैशन सच कहिए तो अपने को समाज से पूरी तरह काटकर अनडूबी स्थिति में रहने का स्वाग है जो पिछले दिनों हिंदी साहित्य में काफ़ी रंग पकड चुका है ।

यह अजीब पहेली है कि हमारे देश की मासूम जनता को चीन विरोधी साहित्य के लिए उनका मुख जोहना पड़ता है जो अभी कल तक चीन की जय-जयकार से आसमान गुंजा रहे थे, माओ के साहित्यिक विचारों की माला जप रहे थे। महान् चीनी राष्ट्र भी एक-एक बात को आप्त प्रमाण मानकर उसी के प्रकाश में हमारे पीडित देश को रोगमुक्त कराने के लिए नुस्खे दे रहे थे। मैं तो अपने उन बंधु लेखकों के बारे में सोच रहा हूं जो पश्चिमी जगत् के साहित्य का परायण करते हैं । जो अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन और दूसरे अन्य यूरोपीय प्रजातंत्रों के साहित्य का नाम ले लेकर अपने को आधुनिक मानव का चितेरा बताते हैं ? कहां हैं ये आधुनिक मानव के चितेरे। कहां है उनका व्यक्ति-स्वातंत्र्य? कहां है उनके सार्वभौम प्रभु ? कहां है उनकी रूढ़ि विरोधी निरंतर विकासशील अंतरात्मा, कहां है ? ऐसे लेखक साहित्यकार और राज्याश्रय, साहित्यकार और व्यक्ति स्वातंत्र्य की लंबी-लंबी बातें करते हैं। ये लोग साम्यवाद के सर्वग्रासी तानाशाही शासन को कलाकार और उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सबसे बडा विरोधी समझते हैं ? किंतु जब चीनी आक्रमण के प्रतिरोध की बात आती है तो ये चुप हो जाते हैं। चुप हैं और रहें, उनसे कोई कुछ न पूछेगा। मगर जब वे अपनी असमर्थता और चुप्पी को ही साहित्य धर्म कहकर उसे सिद्धांत के रूप में रखेंगे तो उन्हें इन प्रश्नों का जवाब देना ही पड़ेगा ।

चीनी आक्रमण ने एक और छिपे फोड़े को कुरेदा है। हमारे ये साहित्यकार इतने आत्मपरक और आत्मकेंद्रित हो गये थे कि दुनिया का अस्तित्व ही जैसे इनके लिए खत्म हो चुका हो। मैं क्यों हूं, कैसे हूं, मेरे भीतर क्या है, कैसे है—इन दो प्रश्नों की विवृतिका नाम ही मानो नया साहित्य है। मैं फिर कहूंगा कि दोस्तो, यदि सचमुच तुम साहित्यकार हो, साम्यवादी या किसी भी प्रकार की तानाशाही

से घृणा करते हो, यदि तुम्हें सचमुच अपनी स्वतंत्रता और कला प्यारी है तो हाथी-दांत की मीनार से बाहर आओ और अपने विरोधियों को बता दो कि तुम चीनी आक्रमणो का विरोध करनेवाली जनता के साथ हो ।

कहा जाता है कि वस्तुपरकता आधुनिकता की सबसे बड़ी विशेषता है, किंतु क्या यह सिर्फ विचार-विनिमय या गोष्ठियो मे सुनायी पडनेवाला स्लोगन ही नहीं है ? चीनी आक्रमण का प्रभाव हम पर न्हीं पड़ा। जो पड़ा वह बहुत छिछला था। हिंदी का साहित्यकार ऐसे प्रभावों के ग्रहण में बहुत दरिद्र प्रतीत होता है। मगर क्यों ? वह इसलिए कि आज के हम तथाकथित साहित्यकार जो लाटरी के टिकिटों की तरह, फैशन-चक्र में ऊपर आ गये हैं, वस्तुत साहित्यकार हैं ही नहीं। जो साहित्य मनुष्य की स्वतत्रता के सकटो का विरोध नहीं करता, समाज के सघर्षों का चित्रण अपनी कमजोरी मानता है, वह कब तक जीयेगा ? मैं तो इसे साम्यवादी तत्त्वों की विजय मानता हू कि उन्होंने हमारे बुद्धिजीवी वर्ग के एक बहुत बड़े अंश को निष्क्रिय कर दिया, जैसे लकवा मार गया हो ।

यह दुर्विपाक ही है कि इस देश के चीनी साम्यवादी तानाशाही आक्रमण के समय जिन लोगो से जितनी अधिक आशाए थीं, उनसे ही उतनी अधिक निराशाएं मिली । यह डर तो था ही कि प्रगतिशील साहित्यकारों का एक बहुत बड़ा भाग मौन ग्रहण कर लेगा। मगर व्यक्ति-स्वातंत्र्य और कलाकार के जीवन की प्रतिष्ठा का नारा लगानेवाले लोग आक्रमण को 'साहित्येतर' वस्तु मानकर चुप हो रहेगे, ऐसा तो शायद कभी किसी ने सोचा हो। मगर आज यही हुआ है...? प्रजातंत्र की, व्यक्ति-स्वातत्र्य की, सस्कृति और सभ्यता की रक्षा को उद्देश्य माननेवाले स्वतत्र लेखको को शायद खतरा महसूस हो रहा है कि यदि वे भीड़-जैसी बात करेगे तो आधुनिक नहीं रह जायेगे ।

यह भी कम दुर्विपाक नहीं है कि चीन हमारे इन महान् साहित्यकारों के मौन की बडी अभ्यर्थना करता है। समाचार पत्रों में छपा है कि चीनी राष्ट्र के सर्वोच्च नेता कवि कामरेड माओत्से तुग चंगेज खा की वर्षो के अवसर पर उसकी कब्र पर रेशमी चादर चढायेंगे और चीन की कई लाख जनता उस महान् विजेता को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करेगी। खबर है कि लासा के पास एक नया हवाई अड्डा बनकर तैयार हो गया है, जिस पर बडे-बड़े बमवर्षक जेट उत्तर सकते हैं। इस अड्डे पर रोज अनेक वायुयान भीतरी चीन से सैनिकों को उड़ा-उड़ाकर लाकर इकट्ठा कर रहे हैं। खबर है कि सुवान्द्रियो और श्रीमाओं से बातचीत करते समय चीनी नेताओं ने निरतर भारत को गलीज गालियां दीं और कहा कि इस देश के मिथ्याभिमान को तोड़ने के लिए दो-एक धक्के और देने पड़ेंगे। खबर है कि दक्षिणपूर्वी एशिया में मलयेशिया की समस्या पर चीन पूरी ताकत के साथ एक बार फिर जोर आज़माइश का मनसूबा बांध रहा है। पाकिस्तान के धार्मिक 'जेहाद'

और चीन के आक्रमक साम्यवाद में गठबंधन हो चुका है। भारत से उसकी धरती छीनने के लिए ये दो कभी न मिलनेवाले छोर आज एक हो रहे हैं।

ये सब ख़बरे गलत हैं। न भी हों तो आगे हो जायें तो अच्छा है। हम साहित्यकार हैं इसलिए शांति चाहते हैं, पूरी शांति। चीन से भारत की पुन: मित्रता हो जाये। चगेज खां की वर्षी मनानेवाली चीनी जनता हमेशा शांतिप्रिय पडोसी की तरह हमारे साथ ऐसा ही सद्व्यवहार करती रहे । हम भगवान से प्रार्थना करते हैं कि वह चीन को पूरी सुबुद्धि दे ताकि वह फिर हमारे देश पर हमला करके हम साहित्यकारों को धर्म-संकट में न डाले । पूरा न भी दे तो इतनी तो जरूर दे कि यदि चीन हमला करे भी तो थोडे समय के बाद अपनी सेनाए हटा ले ताकि हम कुछ देर ही तक मौन रहें । या लिखना पड़े तो रेडियो के लिए कुछ गीत निचोडे । साहित्यिक पत्रिकाओं में भारत की जन्मकुंडली छापकर ज्योतिषी लेख लिखे कि अत मे हमारी विजय निश्चित है । लोगबाग लबी-चौडी सभाओ का आयोजन करके यह तय करें कि क्या ऐसी हालत में साहित्यकार का भी कुछ कर्तव्य होता है, या नहीं । बहस चलती रहे और युद्ध विराम हो जाये । और हम सभी शाति लाभ करे ।

एक मित्र ने कहा–"चीनी हमले का सबसे बडा उद्देश्य था बुद्धिजीवियों में धारणा का ध्रुवीकरण (Polerization) पैदा करना। दाहिने या बायें। मगर लगता है चीन कम-से-कम इस उद्देश्य में पूरी तरह असफल हो गया है, क्योकि हमारे सजग आधुनिक साहित्यकारों ने इस आक्रमण को साहित्य का विषय माना ही नही, फिर इधर या उधर खडे होने का सवाल ही कहा उठता है ।"

जिन लोगो ने विषय माना वे या तो समाज को महत्त्व देनेवाले या तो प्रगतिशील है, या गीतकार। और जाहिर है कि ये दोनो वर्ग हिंदी साहित्य में 'आउट ऑफ डेट' मान लिये गये है। मै इस निबंध के उत्तर में उस निबंध की प्रतीक्षा करूंगा जिसे किसी ऐसे व्यक्ति ने लिखा हो जो पहले मन से तो कम्युनिस्ट हो पर विचार से नयी कविता का पोषक ताकि यह आसानी से सिद्ध कर सकें कि चीनी आक्रमण को कविता का विषय बनाना प्रतिभा की दरिद्रता का सूचक है।

(ज्ञानपीठ पत्रिका : मार्च 1963 से सभार)

क्या कहूं कुछ कहा न जाये

• *डॉ. शिवप्रसाद सिंह*

दिनाक 22.2.1990
काशी

प्रिय भाई,

आपसे वादा किया था कि 'अमृता' जल्दी ही भेजूंगा । पर वादे क्या इतनी आसानी से पूरे होते है ? मैं आपके नगर से लौटने के बाद से ही अस्वस्थ चल रहा हू । परस्थ मन कहानी क्या कह पायेगा ? वैसे अस्वस्थता का मूल कारण भी मै ही हू, उसके फूल-पत्ते भी मेरे ही भीतर है । बार-बार सोचता हू कि क्या एक जन्म पुन हार गया ? क्या चालीस साल की साधना बेकार गयी ? साधना शायद भारी-भरकम शब्द है । इसकी जगह प्रयास या कोशिश कहना ही ठीक रहेगा । पर मैं अपने को कैसे प्रबोधू ? कैसे मन के भीतर रस की सृष्टि करू ? क्या है इस तथाकथित साधना शब्द में, जिसकी आसक्ति के कारण अपने को बुद्धिजीवी कहने का ढोंग उठाये जी रहा हूं । दस साल पहले झझा ने मन को झकझोर दिया था । एक दीपक था। बुझ गया । अंधेरे में जीने की आदत है । मैं ड्रिंक वाटर की तरह यह नहीं मानता कि आदमी हमेशा अकेला होता है जैसे कि उसका 'विजन' । मै तो एकांत को अनेकांत ही मानता हू । क्योकि जब चुप होता हू तो उन चीजों को याद करता हू जिन्हें कभी अपने वजूद का अविभाज्य हिस्सा समझता था । मसलन बंद कमरे की खिडकी से तैरती नाचती पीली तितली उड जाती है तो मेरे एकांत में सहस्रों एकड़ के लंबे-चौडे सीवान में हजारों हजार सरसो के पौधे पीले-मुरेठे बांधे झूमते इठलाते कोरस शुरू कर देते हैं

किसने लगाये
किसने यह राजसी आग लगाई है ?
कौन मृदग और भेरी के साथ सेना लाया है ?
बर्बर राजा।
दयालु बसन्त निष्ठुर शरद में बदल गया ।

मैं जब इस निष्ठुर-निर्मोही शरद को याद करता हूं तो भीतर सारी अस्मिता पानी से बर्फ में बदल जाती है। वैसा ही होता है जब चेखव की कहानियों को पढ़ते वक्त लगता है। उदास पतझड़, बर्फ से ढंकी वादियां बार-बार याद आती हैं। एक सैलाब उमड़ता है और मैं तब बहुत डर जाता हू जब कोई पूछ लेता है कि खारा आंसू जमा का जमा रह जाये तो ? तो आप ही सोचिए। पीडा पर कितना बड़ा जुल्म है। गरम आंसू शायद उसे कुछ-कुछ अभिव्यक्त करके मन को मसोसनेवाली जकड़बंदी को ढीली कर देते हैं। किंतु यदि आंखों के कोरकों में छलछलाये पानी के कतरे भी जमने लगें, तो क्या होगा ? मेरे पास तो ऋतुओ का कैलेंडर भी बदल गया है। **शिशिर-शीर्णा चली, अब जाग री मधुमास वाली**। कभी भी नहीं। शिशिर शीर्णा एक शाश्वत मौसम बन गयी है। पुष्करिणी के कमल पत्ते बिखर कर गल गये। भवानी भाई कहा करते थे कि उनके कमल अलग किस्म के होते हैं। बीच मझधार से छांटकर ले आते थे। फिर खुद ही पूछते कि **'क्या करूं इनका ?'** पसारें आप आंचल/छोड़ दूं हो जाये जी हल्का/ पर मिथ्या अनुभूति छिपाये कोई जी सका है ? **'कुछ नहीं होता कमल के फूल का । कुछ नहीं होता किसी की भूल का'** ।

मैं तो उस अभागे गड़रिये की तरह हूं। भेडें चर रही थीं। पीपल की ठंडी छांव मे लेटा था। तेज धूप थी। गला सूख रहा था। वह राजा था। घोडे पर आया था। गड़रिये से उसने पानी मांगा। वह तो उसने दे भी दिया। राजा ने अपने प्राण बचानेवाले के नाम साठ गावो की जागीर का फरमान पीपल के पत्ते पर लिखकर दे दिया। गड़रिये ने उस पत्ते को सहेज कर अपने कबल के नीचे रख दिया। पर हाय रे नियति, एक मुहजोर बकरी कंबल उलटकर उस पत्ते को खा गयी। उसने उठकर बकरी से पत्ता छीनना चाहा । तब तक तो पत्ता पेट में जा चुका था। गरीबी से पीड़ित गड़रिया राजा के पास गया । पर उसकी बकवास सुनने को कोई तैयार नहीं था। "पत्ते पर साठ गांव की जागीर ?" समझदार चौकीदारो ने ठहाके लगाते कहा—"साठ गांव हा, हा, हा, हा, साठ गांव ।"

पर गड़रिया भी एकदम जिद्दी था । बोला मेरे हाथ-पैर बांध दो । पर राजा के पास तो ले चलो। उसे वहां लाया गया । मंत्रियों ने भी उपहास किया । राजा मूक था । गड़रिये से पूछा—"कैसे आये ? क्या बात है ?"

गड़रिये ने कहा था बंधु

क्या कहू कुछ कहा न जाये । कहे बिना भी रहा न जाये ।
एक बात जगल मे भई । साठ गांव बकरी चर गई ।।

मुझे पता नहीं, क्या अंत हुआ उस फरमान का ? मेरी दादी यह कहानी बड भरे-भरे गले से सुनाती थीं। मैंने पूछा था—"*राजा को याद आया ? निभाया उसने अपना वादा ?*" "मुझे पता नहीं,"—मेरी दादी ने तो इसके आगे कुछ बताया ही नहीं। अब

बताइए आप ? मेरी दादी की दादी जिस जगह चुप रह गयी, वहां मैं अदना आदमी क्या बताऊं ? राजा लोग यदि हर वाहियात बात को सुनने लगें तब तो चल चुकी सियासत। या रियासत।

यही पीड़ा 1947 से सिर पर लादे-लादे चलता रहा । कई तरह के पापड़ बेले। नौकरी। मुदर्रिसी। पेशा टीचरी। सकूनत बनारस। पर आगे के सारे डाटाज गायब हैं। इसी मुदर्रिसी ने बेड़ा गर्क किया। मैं औरंगजेब के उत्तर से निरुत्तर हो जाता हूं। बाप से उसने कहा था—"कैद में खाने के लिए कोई एक अनाज, पीने के लिए कोई एक पेय, और करने के लिए कोई एक काम चुन लो। बाप होशियार था। उसने चना, जमुना का पानी और काम मुदर्रिसी चुना।" औरंगजेब ने कानी आंख दबाकर कहा था—"कैद में भी शाहनशाहियत की बू नहीं गयी ? चने से बड़ा स्वादिष्ट व्यंजनों का मूलाधार कौन-सा अन्न है ? यमुना जल तो प्रेम का नशा है ? और मुदर्रिसी, माशाल्ला, यह तो शाहनबेशाहियत है। बल्कि उससे भी बढ़कर। ज्ञान और शासन का ऐसा अद्‌भुत सयोग दूसरे किस पेशे मे होगा भला ?" सच बात है। बेटे ने यह मांग 'रिजेक्ट' कर दी होगी ।

यह ढलते दिन का अंतिम प्रहर है । अमा निशा उगलता गगन घनाधकार। मैं निराश नहीं हूं । टूटा भी नहीं । अमा निशा के बाद आनेवाली उषा के स्वागत के लिए अलबत्ता कोई उत्साह नहीं है। कुछ-कुछ दुख, कुछ-कुछ पीडा, थोडी लाचारी, ढेर सारी बेकारी का आवरण डाले जीने में खुशी होती है। मन को डूबने का अभ्यास है। वह एकदम महासिंधु के तल को भी छू ले तो भी नब्ज के डूबने की कभी चिंता नहीं हुई । मैं डूबकर मोती लाने गया था ? खुद से पूछता हूं। अस्वीकार नहीं कर सकता। कौन है ऐसा जो गोताखोर की तरह निरंतर निरुद्देश्य डूबता चले। और कहे कि मेरा कोई स्वार्थ नहीं। नोरेन ने कभी राम कृष्ण के आदेश को ठुकराया क्या ? विवेकानंद शिला पर श्रीपदम में मन को केंद्रित करके सोचता हूं कि तूफानी संन्यासी ने जीवन के अंत में क्या पाया ? क्या भूला क्या याद किया ? उनके अंतिम पत्रों मे एक है खेतडी के राजा अजित सिह के नाम लिखा पत्र गुण और अवगुण, **पीड़ा और प्रसन्नता के बीच मेरी जीवन-नौका निरंतर किसी के हाथों खिंची-खिंची चलती रही। इसने मुझे जो सबसे बड़ी शिक्षा दी है, वह है दुःख केवल दुःख । श्रीमां ही जानती हैं क्या सर्वोत्तम है मेरे लिए । हममें से प्रत्येक कर्म के हाथों की कठपुतली है। वह खुद अपनी दिशा में चलता है, अन्य पथ होता ही नहीं। जीवन में केवल एक तत्त्व है जिसे किसी भी मूल्य पर पाना चाहिए । और वह है प्रेम । प्रेम । असीम प्रेम । अनंत प्रेम । अमापनीय प्रेम । आकाश जैसा विस्तृत और महासागर जैसा गंभीर प्रेम । यही केवल एकमात्र उपलब्धि है । इसे जिसने भी पाया, वह धन्य हो गया। (लास्ट लेटर्स)**

किंतु स्वामीजी शायद इसे पा चुके थे। वरना उन्हें अंतिम संतोष का यह पक्ष

दिखता भी नहीं। किंतु जगत् में प्राय: अधिकांशत: ऐसे ही हैं जिन्हें प्रेम मिलता ही नहीं। वे चाहते नहीं, यह गलत है। वे प्रयास करते हैं। उसके लिए हर कुछ करने को तैयार हैं, पर वह आलिंगन में आते-आते मुस्कुराकर छिटक जाता है। कवि का तो निष्कर्ष यही था :

पागल रे वह मिलता है कब ? उसको तो देते ही हैं सब ।
आँसू के कन-कन से गिनकर । वह विश्व लिये है ऋण उधार।
तू क्यो फिर उठता है पुकार ? मुझको न मिला रे कभी प्यार।

लोग कहते हैं करुणा ही वह स्वरूप है जो प्रेम के लिए हृदय को दग्ध करके इस तरह मांज देती है कि वह प्रेम के रस को अविकृत संभाल सके । दु:ख सबको मांजता है । पता नहीं इस तरह के मार्जन के लिए दु:ख की तपन का मापदंड क्या होता है ? पर मुझे तो बार-बार यही प्रतीति हुई कि आवश्यक वह ताप है जिसके पैमाने मे फार्नहाइट या सैलसियस की सीमा टूट जाये । तब शायद मन के भीतर की अस्मिता गलने लगती है । अहं ही नहीं अह की वासना यानी 'लिबिडो' भी गल कर बह जाता है । करुणा से भरे हृदय के बिना प्यार मिलता ही नहीं । कभी तो उसके लिए हाहाकार उपजना चाहिए : **इस करुणा कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती । इन हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती !** कौन देता है इसका उत्तर ? दूरागत प्रतिध्वनि तो उत्तर नहीं है । भवभूति ने इस करुणा के भीतर पीडा के पुटपाक की बात कही थी । राम के चरित्र में करुण उतरा कैसे ? सब प्रकार के ऊर्जस्वित गुणों के आगार मर्यादा पुरुषोत्तम को भी परीक्षा देनी होती है । उनका सारा जीवन मुक्ता की तरह आबदार है । मुक्ता-भस्म के लिए तो मुक्ता को मृण्मय पात्र में बंद करके वेदना की आग में झोंक देना आवश्यक होता है । तभी यह पककर पुटपाक बनती है । तभी यह भस्म वासना को प्रेम मे बदलता है । **पुटपाक प्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः** (उत्तर रा 3/1) अचानक मुझे कीट्स की मृत्यु पर लिखी शैली के 'एडोनाइस' की याद आती है । छब्बीस वर्ष की उम्र मे विदा हो जानेवाले कीट्स की व्यथा, किसी की दया की मुहताज नहीं है । कीट्स ने तो गहन बीमारी में कफ के साथ खून के महले कतरे को लिपटा देखकर ही जान लिया था कि अब जिंदगी के सूत का अंतिम छोर हाथ से छूटनेवाला है । तब भी कीट्स ने कभी निराशा की गोद में सिर रखकर दु:ख मे डूबने की चर्चा तक नहीं की । वह तो लबालब प्रेम में, सौंदर्य में , जिंदगी के हर लमहे धडकते दिल की खुशी में डूबा रहा—"छायादार जगहों में/हवा की तरह सरसराती/परियों के हाथों को पकड लो/ इसरार करो मीठे प्रेम-भरे चुंबन के लिए/ मुख मोड़कर जाती हुई उनसे । उनकी उंगलियों से खेलो/उनसे सफेद कधों पर थपकियां दो/सिमटती हुई खूबसूरती से इसरार करो/जब तक वह इनकार छोड़ न दे/प्यार करो/यही होगी आदमी की जज्बातों से भरी प्रेम-कथा।"

भला आप ही बताइए केवल छब्बीस वर्ष के किसी दूसरे युवक ने मौत को परियों की तरह अपनी प्रेमिका बनाने के लिए ऐसी जिद की है ? इसी वजह से शेली रो पड़ा था 'एडोनाइस' में "आज वह सबसे कम उम्रवाला/सबसे अधिक प्यारा वह/तुम्हारे सुहाग को दुलरानेवाला/उसी में पनपा जो/किसी उदास किशोरी के हाथ का मनचाहा फूल/मुरझा गया/शबनम की जगह भरे हैं उसमें सच्चे प्रेम के अश्रु-जल ।"

स्वामीजी का अनंत प्रेम, प्रसाद की करुण कलित पुकार, भवभूति का पुटपाक और कीट्स की प्रेम-व्यथा क्या वाकई ऐसी चीजें हैं जो मानवता के कारवां को, जिंदगी की मरुभूमि में जल के लिए तरसते सार्थवाह को जिजीविषा का दान दे पायेंगी ? **मैं तो यही सोचकर जी रहा हूं कि निःस्वार्थ करुणा एक न एक दिन इंसानियत के दिलों के सारे क्षत-विक्षत जख्मों को भर सकेगी, वह धर्म, वर्ण, जाति, देश-विदेश, ही नहीं राष्ट्रीयता की सीमाएं भी तोड़ देगी** । तब एक ऐसी दशा होगी आदमी के मन की, जिसे मधुमती कहना हो कह लो, विभाजन रेखा के ऊर्ध्व अंश से जुडी समझ लो । किंतु उसे आसानी से लंघ्य कभी मत मानना । क्योंकि तब दो खतरे सामने मुह फैलाए खडे दिख जाते हैं । एक में सामने का मतलब है क्षणिक वासना को दर्शनीकृत (फिलसोफाइजिंग) करने का ढोंग और दूसरे में सामने का मतलब है किसी दूसरे की स्वीकृति बिना उस पर सब कुछ लुटा देने की मूर्खता । अक्सर प्रेम की वदान्यता अंधी होती है । समझा यही जाता है कि कुछ अनुपम जो अपना था दूसरे को सौंप रहा हूं । किंतु कभी आदमी यह नहीं सोचता है कि उसका जो अपना अनुपम है वह दूसरे के लिए पैरो की बेडी है ? वह जिसे सब कुछ देना चाहता है वह क्या उसे देनेवाले की तरह सचमुच का अनुपम मानता है ? व्यक्ति-चित का यह असतुलन बडा भयानक होता है । इस चक्रवात मे पडने का नतीजा कैसा होता है ? कुछ-कुछ ऐसा जिसे आक्तोवियो पॉज ने कहा ·

"मोड पर, साये /एक लड़की जो तुम्हारे छूते ही /बदल जाती है मुरझाई पत्तियों के ढेर में /एक अजनबी जो अपना मुखौटा उतारता है /और बेचेहरा बना रहता है /एकटक तुम्हें घूरता है /एक बैले-नर्तकी जो घूमती है एक चीख की नोक पर/एक कौन जा रहा है वहां/ एक तुम /कौन हो ? एक कहा हूं मैं ? / एक लडकी जो पत्तियों की सरसराहट-सी चलती है /अनिर्णायक विचार से नष्ट हुआ /एक महान् स्तंभ / आकाश में खुलता है /दो विभक्त कविता की तरह / नहीं इसमें एक भी नहीं / जिसका तुम इंतजार करते हो / वह सोई जो अपने स्वप्न की सलवटो में / तुम्हारा इंतजार करती है" (रात की सैर)

इस करुणा प्रसंग में बुद्ध का नाम लेना बेकार है । माना कि पाज पर जैन बुद्धिज्म का प्रभाव है पर तथागत की अनुभूति अमेरिका की सड़ांध की प्रतिक्रिया नहीं है । वहां तो प्रज्ञा पारमिता का ऐसा प्रकाश है कि करुणा एक इंसानी रिश्ता लगती है । हजारों-हजार अंगुलिमाल सारे विश्व की तर्जनी काट देने के लिए षड्यंत्र में

लिप्त हैं ? अब खाली अंगूठे काट देने से एकलव्यों को निरर्थकता में नहीं बदला जा सकता । अगूंठों के साथ तर्जनियां भी काट डालो ताकि आदमी कलम न पकड़ सके और उसकी अपनी स्वतंत्रता किसी भी तरह शासन के खिलाफ जहर न उगल सके । कैसी कैफियत है ? निकारागुआ में देखो । पनामा नहर के मुहानों पर देखो। टूटती हुई बर्लिन की दीवारों में देखो । अजरवैजान की खून सनी वादियों में देखो। किरासन की खानोंवाले शहर बाकू में देखो। तिब्बत को ड्रैगन के जबडे में छटपटाते हुए देखो '। अफगानिस्तान में मजहबी उन्माद की लपलपाती लपटों से मुजाहिदीन के सख्त खूंखार चेहरों में देखो । डर के मारे कांपते काबुल के खंडहरों में छिपते मासूम बच्चों की आंखों मे देखो। भागलपुर के कुओं मे सडती लाशों के बदहवास चेहरों में देखो । पजाब के सरसों भरे खेतों में बारूदी सुरंगों के फटने पर गीधों की तरह मंडराते काले धुएं में देखो । देखो क्या हो रहा है यह सब ? कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है ? कर्म बंधन । स्वामीजी के इस कर्म बंधन को क्या समय ने उनकी अप्रासगिकता में बदल नहीं दिया है । उस वक्त दो ही मुद्दे थे । एक आजादी और दूसरा भूखों के लिए रोटी। वही आज भी है । पर क्या असहाय होने की नियतिबद्धता ही मानवता की अगली मंजिल मान ली जाये ?

मैं ऊपर के प्रश्न उछाल कर क्या कहना चाहता हूं ? मै बार-बार यही सोचता हू कि आशावादिता भली है । मरने के पहले गम को भुलाने के लिए शराब पीना मुझे नहीं आता । मैं जिंदा भय को जिसे मौत कहते हैं, गले से लगाये सोता हूं। मैंने जब से यह अभ्यास शुरू किया मुझे अब आरती की घंटियों से चिढ नहीं होती। मुझे बगल से अट्टहास करते बच्चों से कुढन नहीं होती। मैं अब रिरियानेवाले कुत्तों के भौंकने को भी जिंदादिली का सबूत मानने लगा हूं । किसी दिन चिट्ठियां न आयें तो उदास लगता है, पर रोज-रोज बेमानी चिट्ठियो के पढ़ने को मै शगल नहीं बना पाता। आजकल मौसम बदला है । मुझे मच्छरदानी में सोना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि मच्छरों को न मारने को मैं करुणा कहकर पूजना नहीं चाहता । करुणा के नाम पर निहाय की चोरी करनेवालो के सुई-दानों पर प्रशंसा के गीत लिखना नहीं आता । मैं इसीलिए बुद्ध के दर्शन करने जाता हूं । केवल वे ही हैं ऐसे जिन्होंने ईश्वर को न देख सकने की असमर्थता को खुलेआम स्वीकार किया । भला बताइए इंसान को अनजान के सामने हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाना और अदेखे से वरदानों की भीख मांगना शोभा देता है। होगा ईश्वर । होगा वह कृपालु । होगा अशरण शरण। पर उसे जानने के हठ में अपनी चोट को भुलाने का भ्रम क्यों ? तुम्हें दुःख है तो मैं उपाय बताता हूं कि तुम कैसे उससे छूट सकते हो ? तुम यदि यही कहते रहोगे कि जब तक तीर मारनेवाले का रूपाकार, रहने का ठिकाना, तीर चलाने की दिशा नहीं बताते, हम तीर नहीं निकलवायेगे तो भोगो । मैंने उसे नहीं देखा । यह **अतिप्रश्न है । 'अइपण्हो'** । अतिप्रश्न व्यर्थ होते हैं । उसमें समय बरबाद करना मूर्खता है ।

आपको पूरा हक है कि आपको अतिप्रश्नों मे दिलचस्पी है। लेते रहिए दिलचस्पी। मैं तो इसमें अपने को थकाने की प्रेरणा नहीं दे पाता ।

मरीज रातों को चिल्लाता है—"मेरे अंदर/असीर जख्मी परिंदा है इक निकालो इसे / गुलू गिरफ्ता है, वह हब्तदम है, खाइफ है / सितयरसीदा है, मजलूम है बचा लो इसे" कैसी पीड़ा है, अख्तरूल ईमान की ? सच मेरे भीतर भी ऐसा ही घायल कैदी, दम घुट रहा है जिसका, बहुत डरा-डरा, यंत्रणा में पडा, जुल्म से सताया एक परिंदा दिल है । इसे बचा लो ।

अब आप बताइये, ऐसे दिलवाले हजारो-हजारों लोगों को कौन बचायेगा ?

आपका

शिवप्रसाद सिंह

(अक्षरा 15, अक्टूबर '89—मार्च '90 से साभार)

उत्स की ओर उंगली-निर्देश

• *डॉ. शिवप्रसाद सिंह*

'नीला चाद' के समादृत होने के अवसर पर लेखक की हैसियत से यह मेरा तीसरा बयान है, पर यह कार्य पहले की अपेक्षा अब अधिक कठिन है । जीवन आदमी जीता है और जीवन आदमी को जीना सीखाता है । मेरे जीवन में एक ऐसा भी दशक था जिसने दिन में सूर्य के प्रकाश को भी तमिस्रा में बदल दिया था । मैं एक जमा हुआ ग्लैशियर मात्र रह गया था । गुरुवर आचार्य द्विवेदी का अभूतपूर्व स्नेह ही सबल था और यदि मैं पानिओ के प्राचीर को तोडकर बाहर आ सका तो निश्चय ही सारा श्रेय उन्हीं को जाता है । मुझे पता नही क्यों आज योगवाशिष्ठ का स्थिति प्रकरण याद आ रहा है । मुनि वशिष्ठ जैसे ज्ञानी ने राम से एक नगर का परिचय जानना चाहा । उन्होंने बताया कि नगर जो आज सामने खड़ा है पहले से ऐसा नहीं था । कुछ ही घर थे । फिर वह पनपने लगा । नाना भव्य अट्टालिकाओं की कतारे खडी होती गयीं । नगर बढ़ता गया उसमें चौराहे, सडके, बीथियां और शृगाटक बनते गये। सारा नगर एक शरीर था। सारे तंतु जाल में बहनेवाला खून हर शिरा-शिरा में दौड रहा था। पर इस विस्तार, व्यापकता, सीमातीत समृद्धि के बावजूद नगर उदास होने लगा । उसकी नीद टूटी और उसे लगा कि शरीर के रेशे-रेशे मे मरोड है, पीडा है । पर इसे दूर करने का किसी के पास कोई उपाय नही था । कुछ लोग ऐसी स्थितियो से घबडा कर इस नगर का उत्स खोजने के लिए चल पडे । वह बीज सभी ढूंढ़ रहे थे जिससे अद्‌भुत विस्तारवाला पाषाणी समृद्धि मे ऊघता नगर जन्मा था । पर जब वे उत्स पर पहुंचे तो वे आश्चर्य चकित थे। उत्स का सौंदर्य सीमातीत था, उसकी शिवता अभिव्यक्ति के परे थी और उसकी सचाई तो कहीं से भी सदिग्ध लगी नहीं। इसी त्रिक् में लुब्ध होकर वे उत्स के ही हो रहे। कभी लौटे नहीं। नगर के लोग उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे, पर प्रतीक्षा निष्फल रही। इस नगरोपाख्यान से मर्यादा पुरुषोत्तम ने क्या निष्कर्ष निकाला, यह तो पता नहीं, पर इतना पता अवश्य है कि नगर के इस मायाजाल को उन्होंने ध्वस्त किया और सोने की बनी लंका नगरी राख में बदल गयी । उत्स

विहीन लंका नगर की और परिणति होती भी क्या ! राम ने उसे अपनी नहीं माना। जिनकी थी उन्हें सौंप कर लौट आये।

पर मेरी काशी तो शिव के त्रिशूल पर स्थित है, जहां उत्स भी है और उसका विस्तार भी । वहां शिवता भी है, और अमंगलों का भंडार भी । वहां सुदरता भी है और कलौंस भरी भीमकाय विरूपता भी । मैंने उसे बांधने का संकल्प लिया। इसी अम्बेदकर मन्वन्तर में मैंने उसे देखा। हर तरह से समझने की कोशिश की। शोध कार्यों के जगलों से गुजरा । पुरातात्त्विक उत्खनन की रिपोर्ट देखी। स्वय खुदाई स्थान पर उपस्थित होकर त्राटक साधना करता रहा और तब बोध जगा कि काशी पर वर्तमानकालिक उपन्यास 'गली आगे मुडती है' लिखना आसान था। मध्यकालीन काशी एक चुनौती है। एक अनाहत पुकार है जो कहती है कि आओ मेरे भीतर का रहस्य देखना चाहते हो, तो आओ। सत्य कहने मे हिचकते नही, तो आओ, स्वार्थ के कारण दिग्भ्रमित नहीं होते हो, तो आओ, निर्दोष दृष्टि रखते हो, तो आओ। पर यह आवाहन बड़ा त्रासद था। मध्यकालीन काशी अर्थात् संपूर्ण भारत का नखदर्पण ऐसा है जिसमें कैलाश से कन्याकुमारी तक, गोकुल से दक्षिण के गुरुवायूर तक, कश्मीर से केरल तक को जोडनेवाली तांत्रिक और समयाचारी साधनाएं झिलमिलाती है । इन्हें पकड सको तो पकडो, व्यक्त कर सको तो अभिव्यक्ति दो । पर यह जान लो, विश्व के वैज्ञानिक पुरावेत्ता राजघाट के नौ स्तरों की मिट्टी लेकर जाच कर चुके हैं और उनका निष्कर्ष है कि ईसा पूर्व 800 से लेकर ईस्वी 800 वर्षों तक काशी यहीं की यहीं रही। इस दृष्टि से वह विश्व का सर्वाधिक प्राचीन ही नहीं, जीवित नगर तो है ही । यह सम्मान केवल काशी को ही प्राप्त हुआ । सारा प्रामाणिक लेखा-जोखा आपको वैदिक काशी पर आधृत 'वैश्वानर' में मिलेगा । लोग आश्चर्य से पूछते हैं कि यह उल्टी यात्रा क्यो ? पहले खड तीन, फिर खंड दो, और अब प्रथम। केवल इसलिए कि मैं जहां हूं, वहीं से तो उत्स को ढूंढने चल सकता हूं ।

काशी का भौतिक कलेवर जान लेना आसान है, उत्स पर बीज को ढूंढ पाना बहुत मुश्किल है जिसके अभाव मे सारी समृद्धि उदास लगती है । संपूर्ण ज्ञान थोथा लगता है । सपूर्ण जानकारियां झूठी लगती हैं ! वह बीज है क्या ? वह बीज है महाचैतन्य का साकार होकर गंगा घाटों के रूप में राजघाट से अस्सी घाट तक फैलना। उसको निरंतर थपकिया देती गंगा की लहरें और काशी नगरी की अधिष्ठात्री देवता अन्नपूर्णा जिनका दान-पात्र कभी रिक्त नहीं होता। वे तो काशी को अपने कटिदेश में भरी गगरी की तरह उठाये शिव भक्तो को चना-चबेना और गगाजल से निरंतर पालती-पोसती रहती हैं।

पर क्या योगवाशिष्ठ का नगरोपाख्यान किसी अज्ञात नगर की कथामात्र है ? नयी-नयी तकनीकों की मदद से सौ-सौ मंजिली इमारतें, लाखों लाख

कार्यालय, उद्योग-धंधे, अगणित श्रमिक और बुद्धिकर्मी, सड़कों पर घुटन पैदा करता कार्बन भरा धुआं यही सबका प्राप्य है । लास ऐंजल्स में होता दंगा काशी का दंगा लगता है। रोटी की समस्या से जूझती मानवता, बच्चों के ओठों की पपड़ियां, कई-कई हफ्तों से भूखे ठठरीमात्र अवशिष्ट हृदय की डूबती धडकनों में खोये, ऐंठ कर भीगे गमछों की तरह निचुड़ते बच्चों की आंखों में उत्स विहीन नगर का विस्तार देखा जा सकता है । एक ऐसी यातना और वेदना जिसे हमने अकालग्रस्त रोडेशिया में देखा, जहां भूखे लोग अन्न को छीनने मे अपने ही रक्त संबंधी से मरणांत संघर्ष करते देखे गये । चारों ओर विश्व जल रहा है । राजनीति के मुहावरे अर्थ खो चुके हैं। हमारे महानगर हिंदुस्तान में तो संविधान में प्रयुक्त शब्द मर चुके हैं, कौन सही है कौन गलत है, इसका निर्णय न संसदें कर सकती हैं न शासन पद्धतियां । इतिहास में कभी-कभार ऐसे वर्ष आते हैं जो अंधकार-युग कहकर टाल दिये जाते हैं, पर सच मानिए उदास और निराश होकर जिसे आप हम टाल रहे है, फेंक रहे है, शायद रोग की औषधि उसी में छिपी हो । अंधकार के गर्भ मे अगर प्रकाश का बीज न होता तो आज की सारी मानव-सभ्यता अंधकार में महाकाल के अश्वत्थामिक क्रूर हाथों से नष्ट हो गयी होती ।

कालकूट पीनेवाले शिव के भीतर जीवन के इतने बीज हैं कि वह प्रलय के कलिल (सलिल का रूप) से संयुक्त होकर नयी सृष्टि कर लेता है । फिर जलचर, मच्छ, कच्छ, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तक की भजिले मानवता प्राप्त करती हैं, शांति से नहीं, संघर्ष से । प्रेम और ममता से नही, ईर्ष्या, स्पर्धा और भौतिक द्वद्व से । इस विराट नगर का जन्म होता है जिसे हम आप पृथ्वी कहते है या फिर उसके आकाशीय रूप को जिसे देखकर विश्व नाम दे देते हैं । किंतु यह विश्व कोई शून्य मे झूलनेवाला उपग्रह नहीं है। इसे पावक कहना सही है, पर इस ज्वाला को विश्वजित तो वही बनाता है जो अध्यात्मविद् है । सही रूप से विश्व को समझने के लिए उसके उस रूप को जानना चाहिए जो हमारी बुद्धि को अतिक्रांत करते हुए बुद्धि से परे जाने का मार्ग दिखाए। महाभारत का एक श्लोक है ·

यस्तु विश्वस्य जगतो बुद्धिक्राम्य तिष्ठति
तं प्राहुरध्यात्मक विदो विश्वजिन्नाम पावकः (3-218 16)

मै आपको किसी गहन विचार-विमर्श के क्षेत्र में ले जाना नहीं चाहता, पर इतना अवश्य कहना चाहता हूं कि कोई भी समझदार व्यक्ति आज की भौतिक समृद्धि की अनदेखी नहीं कर सकता । हजारो हजार तकनीके जन्मती हैं तो जन्मती रहे । आदमी की सुख-सुविधा को, सामान्य जीवन की आवश्यकता को पूरी करने के लिए विराट मानव समुद्रों में हमें निरंतर अन्न का हवन करना है। अधनंगे या

पूर्ण नगे शरीरों को ढकने के लिए कपास और लूम का चक्र अबाध गति से चलते रहना है, हम चाहें भी तो शांति के नाम पर विकास की सुई को विपरीत दिशा में मोड़ नही सकते, चाहे हम अणु शक्ति या उससे भी सूक्ष्म शक्ति पा लें–पृथ्वी जन्मा कोई भी महामानव ऋत् को मोड नहीं सकता, वह मात्र शुभ नहीं, अशुभ भी है, वह मात्र शिव नहीं अशिव भी है, यह सिर्फ प्रकाश नहीं, अंध तमस् भी है।

इस महानगरीकरण की त्रासदी को गहरे उतरकर समझना कठिन है । सच तो यह है कि मानव क्षमता से अधिक भारी है यह त्रासदी । इसे कुहेलिका में दूढना व्यर्थ का क्रिया-व्यापार है । इसे न तो नयी से नयी तकनीकों से बने अतरिक्षयान या उपग्रह थाह सकते हैं, न तो विश्व के संपूर्ण वैचारिक दर्शनों की कतार यहां तक उठने में मदद दे सकती हैं । रोग जब स्वय के भीतर है तो दवा की खोज एक विडंबना बन जाती है । हम रोज-ब-रोज अविश्वसनीय से धक्के खाते हैं, अश्रुत पूर्व को सुनकर कानों में उंगली डाल लेते हैं, जहरीली लपटों की ज्वाला के सामने आंखें बंद हो जाती हैं, इसका खुरदरापन इतना गडता है कि स्पर्श का बोध मर जाता है, इसकी सडांध से कलुषित जल का स्वाद किसे बताया जाये–इसीलिए इस नगर का उत्स दूढना जरूरी है । यह कहना अप्रासगिक ही माना जायेगा कि आज की विश्वव्यापी महानगरी मशीनी जिंदगी को यदि कोई नगर रचमात्र ही सही, संजीवनी दे सकता है तो वह काशी ही है। काशी ही वह नगर है जो अपने नाम मे बीजाक्षर समेटे हुए है । काशी एक नगर ही नहीं, जीने की एक पद्धति है । वरुणा-असी को इडा पिंगला और मत्स्योदरी को सुषुम्ना कहा जाता है । कबीर की चदरिया मे इन्हीं तीनों नाड़ियो का वर्णन है । इसलिए प्रकाश की नगरी काशी को कहीं बाहर नहीं, मन के भीतर ढूंढना चाहिए । जिसने फक्कडों के इस नगर के सहज जीवन को साध लिया, वही कह सकता है–सा काशिकाऽम् निजबोधरूपा।

कोई लाख शक्तिशाली हो, समय की अग्रधाविका सुई को उलटा घुमाने मे समर्थ नहीं हो सकता । हमें तकनीकों को असंग भाव से शिवत्व की प्राप्ति मे विनियोजित करना होगा, क्योंकि तकनीक जिस ऋत् कॉस्मिक आर्डर की एक किरण मात्र है। वह ऋत् किसी के आधीन नहीं है, कोई कर भी नहीं सकता । इस ऋत् में उज्ज्वलता है तो अधकार भी है, अमृत है तो विष भी है, शीतलता है तो दाह भी है और ऐसा रहना ही ऋत् का लक्षण है । हम सिर्फ ऋत् के शुभ को, शिवम् को अपने से जोडकर अंधतमस् के विरुद्ध जारी युद्ध में हिस्सा ले सकते हैं । यही एकमात्र मिशन हो सकता है साहित्यकार का, रचनाकार का, चित्रकार, शिल्पी ओर सगीतकार का । इसी सम स्वर (हारमोनियस) स्थिति का एक दर्शन है नीला चाद, एक प्रवंचना भरी स्वार्थ लोलुपता के विरुद्ध गरीब आदिवासियो

और सामान्य रूप से अत्यज कहे जानेवाले लोगों की मुक्ति का सदेश है, नीला चाद। यही है काशी का उत्स, काशी का बीजाक्षर ऋत् में भागीदारी का अर्थ कफन खसोटी नहीं है। स्व की अय्याशी की पूर्ति भी नहीं है । वह तो शिवता के प्रति समर्पण है । यही अहंविसर्जन मानवता की अगली मजिल है । नीला चांद उस उत्स की ओर उंगली-निर्देश भर है । मैं जानता हूं कि उच्छ्वास में सदा सत्य नहीं बधता, पर मौन मे भी अनुभूत सत्य खो जाता है । इसलिए मौन को मुखर होना होगा। चाहे उसका साम्प्रतिक प्रभाव नहीं के बराबर दिखे।

(12 मई, 1993 को व्यास-सम्मान के उत्तर मे प्रकट किए गए विचार।)

• संपर्क

बीहड़ पथ के यात्री की पत्र-पेटिका से

एक

3/114 अर्दली बाजार
21-4-52

शिव प्यारे,

तुम चले गए मुझे यहा पत्र लिखने को छोडकर आज कार्ड पर मन करता है एक कविता मे पत्र लिख दू। पढ़ो मेरी आशु कविता

मै तो नही मुझे दिन काट रहा है
पल-पल मेरे रोम-रोम को नव विकास के मिस
घिस-घिस कर धूप-छाव बरसा आतप शारदी गध मे
रिस-रिस
सासो की लबी खाई को
रात-दिवस के चला फावडे
अहरह पाट रहा है ।
व्यथा, ग्लानि, तृष्णा, आकाक्षा का ऊसर
बढ़ता जाता
महज एक
ज्यो-ज्यों चेतन टॉकी से हूँ गढता जाता
सतत प्रयत्न सभी कुछ बॉहो मे भरने को
कटता ज्यो-ज्यो
लगता एक अभाव
सभी सचित भावों को
बॉट रहा है केवल बॉट रहा है
भाई शिव
अधी ऑखों से मुझे हरा सब दीखा

(उस सावन का अनुभव कितना तीखा)
जिसमे वृष्टि अमृत की
उफनी हुई धरा की छाती
लता बेलि
पत्तो-पत्तों का नर्तन चुम्बन
(अग-जग पाताल
मदिर विवर्तन रहा)
आज लगता बस केवल पडा उचाट रहा है ।

—हरि मोहन

पता :
श्री शिव प्रसाद सिंह
ग्राम— जलालपुर
नियर— जमानियां
गाजीपुर

दो

199, अतरसुइया प्रयाग
24-11-55

भाई,

यह जिस गुलाब नगर ने तुम पर जादू फेका है न, इस जयपुर ने एक बार मुझे भी बाध लिया था, आज से 10 साल पहले । तब वह रजवाड़ा था । बहुत सुबह जब पीली सुनहली धूप इन गुलाबी मकानो की ऊपरी कोर पर सुनहरी गोट की तरह टकी रहती थी, तब हजारो कबूतर आते थे, और चौराहों सडकों पर बिछ जाते थे। राज की ओर से उन्हें दाने बिखेरे जाते थे और तांगेवालो का हुक्म था कि आधे घटे तक चौराहो को बचाकर तांगे चलाएं । फिर नियत समय पर वे हजारो लाखों पंख फडफडाते थे, और छोटे-छोटे नीले, सफेद छींटों की तरह वे कबूतर हवामहल परकोटों और गुबदो पर अपने पंख खुजाते और कलोलें करते नजर आते थे।

शाम को एक जवाहरातों का बाजार लगता था । मै शुरू से थोडा-सा पागल रहा हू न, सो एक बडे से चौकोर नीलम और एक लालिमा लिये हुए पीले पुखराज

की खोज मुझे कैशोर्य से रही है—खरीद आज तक नहीं पाया—तो शाम को खूब बुर्राक धुले पहनकर बहन की, अपनी और दो-एक दोस्तों की अंगूठियां उधार मांग कर दसों उंगलियों में पहनकर उस बाजार में घूमता था और मुझे सेठ का बिगड़ा हुआ लड़का समझकर पग्गड, धोती और अंगरखा पहने हुए पुराने दलाल किस्म-किस्म के नगीने दिखाते थे—मैं छींट के 12 रूमाल लाया था, जिनमें दो बहन को दिये, एक खो दिया और 8 रूमाल अपनी एक क्रिश्चियन मित्र को दे डाले, जो उन्हें स्कार्फ की तरह गले मे बाधे घूमती थी और (The Tragedy of it) किस्मत की खूबी देखिए कि उसका एक भाई था—वह उन रूमालों को पेटी की तरह पैंट पहनकर कमर में बाध कर घूमने लगा ।

और फिर सुदूर पहाडी पर स्थित वह नाहरगढ़ जहां से उस समय 4 बजे, 8 बजे, 12 बजे, शाम को 8 बजे, रात को 8 बजे, रात को 12 बजे तोप दगा करती थी—उन दिनो—और अजीब-अजीब रवायतें फैली थीं, उन दिनों, उस किले, उसमें गडे गुप्त खजाने, उसका पहरा देनेवाले भीलों के बारे में जाना ।

और सबसे बढकर वह उजाड सुनसान भयावना आमेर और उसकी देवी का रक्तरजित विशाल खूखार आनन...

तुम्हारे इस यात्रा विवरण ने मुझे उन मधुर स्मृतियों मे एक बार डूबकर फिर ताजा होने का अवसर दिया, इसके लिए कृतज्ञ हू—बहुत कृतज्ञ हूं बंधु !

मोहनलाल गुप्त कल रेडियो-स्टेशन पर मिले थे । उनसे मैंने कह दिया कि आपके लिए शिवप्रसादजी ने एक Travelogue भेजा था, मैंने बीच में ही लूट लिया । वे बहुत खुश हुए । बोले, "एक ही बात है—निकष को भी मैं अपना ही मानता हूं।"

उसके दो-तीन अश, जहा मुनि जिनविजय और मगल स्वामी और म्युजियम के बारे मे अधिक विस्तार है—जरा यात्रा विवरण की स्पिरिट से मेल नहीं खाते। अगर दो-एक अंश जयपुर के शाम के बाजार नाहरगढ की खायतो या आमेर के भयावने सुनसान पर लिख भेजो तो इसमें चार चाद लग जायें ।

अच्छा-नाहटाजी को मेरा प्रणाम कहना । बनारस कब तक लौटोगे ? 'चेतना' का जब आदेश मिलेगा पहुंचूंगा । रुपये पैसे की क्या बात चलायी—नहीं होगा, उधार लेकर आऊंगा पर ईश्वर चाहेगा तो 15, 20 तो तनख्वाह से बच ही जाया करते हैं—कोशिश करने पर—यू कांता ने अभी तक बनारस देखा भी नहीं । मिसेज शंभू का आमत्रण भी है—अपनी देवरानी को ।

—भारती

तीन

सागर
7/9/59

प्रियवर,

शिवप्रसाद सिह जी,

आज 'नन्हो' सहुआइन का साक्षात्कार हुआ। बेहद पसंद आयी मुझे यह कहानी। सत्य और साहित्य का सुंदरतम संयोग है। विश्वास सुदृढ हो गया। मैं जिन मान्यताओं को लिये बैठा उन्हें कोरा आदर्श समझने लगा था, उन्हें आपने यथार्थ का रूप देकर मेरे विचारो को सार्थक बनाया। विवाहिताओ की मर्यादा का पालन परंपरा का समर्थन नहीं नारी (हिंदू नारी क्योकि विवाह-प्रथा की ऐसी महत्ता केवल यही है) की शक्तियों और पवित्रताओ का समर्थन है। अत कुमारिकाओं, अविवाहिताओं, विधवाओं तथा पतिविहीनाओ को नये कहानीकार चाहे जैसा करे, मुझे आपत्ति नहीं, किंतु चचा (राजा निरवशिया वाली) जैसी विवाहिताओ के साथ मनमानी नहीं की जानी चाहिए। आपने ऐसी मनमानी करनेवालो के सामने 'नन्हो' सहुआहन रूपी तोप लाकर डटा दी है। बधाई और अभिनदन।

'साहित्यिक बेहयाई' (मेरा लेख) मिल गया होगा ।

आपका
राजनाथ पांडेय

चार

7.5.59

प्रिय भाई,

तुम्हारा खत आया पर मैं यहा नहीं था । इसलिए देर से उत्तर दे रहा हूं। मैंने तुम्हे कई बार लिखा कि तुम पांडुलिपि भेज दो पर तुम चुप लगा गये, और अब मेरा यार मेरे ऊपर ही रौब डाल रहा है।

कागज की स्थिति अब भी बहुत खराब है। ब्लैक से मिल रहा है, जैसे-तैसे इतजाम करूंगा। पर सग्रह मई से पहले आना किसी भी हालत मे सभव नहीं होगा। तुम यदि बनारस मे पता कर लो कि कागज मिल सकता है तो लिखो—28 पौड का Antique या White Printing 24 eb. के कागज पर छाप कर पुस्तक नष्ट

हो जायेगी। बनारस में स्थिति कुछ अच्छी है । यहां बेसिक की भीड़ है ।

मुझे फौरन जवाब दो ताकि और इंतजाम किया जाये । और हालचाल नहीं लिखे—कहानीवाला तुम्हारा लेख मुझे बहुत पसद आया, सिर्फ एक-दो छींटों के अलावा। बहुत सफाई से बात कही है तुमने ।

'कर्ज' कहानी के लिए बधाई लो। मन भर आया जगपत्ती को अत में बोरा ढोते देखकर । वह बोरा ही तो नहीं है— वही तो जिंदगी है उसकी, जिसके भार से वह दोहरा हुआ जा रहा है, फिर भी यह जीवनी-शक्ति और लगाव । सच मान यार, पटरा मत कर । हमें क्या और बहुतों की सांस फूल आयी होगी ।

उत्तर तत्काल—

तुम्हारा
कमलेश्वर

पुनश्च डॉ बच्चन सिह के क्या हाल है ?

पांच

जगदलपुर, बस्तर, म.प्र.
2 सितंबर, 1959

प्रिय शिवप्रसादजी,

आपके आजी के स्वर्गवास का समाचार जानकर अफसोस हुआ । आपको जान-बूझकर देर से लिख रहा हूं ताकि शीघ्र जवाब देने का बोझ आप पर न आये।

आप इधर आये तो इससे बढकर प्रसन्नता की बात और क्या होगी ? जब कॉलेज बंद हो तब तो आ सकते है न ? बस्तर आपको पसंद आयेगा । मैं स्वयं नौकरी करता हूं, बडी मुश्किल से लिखने-पढने का समय निकाल पाता हू।

भैरव मुझसे क्यों नाराज है, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। मैं तो ग्राम कथा या नगर कथा के झगड़े में भी नहीं हू। सबसे अलग-अलग और दूर यहां पडा हूं। अभी तो मैने चलना ही शुरू किया है । ऐसी नाराजगी लेकर कहां जाऊंगा ? कभी-कभी ऐसी बातें मुझे निराश कर देती है। बहरहाल, छोडिए ।

आपके स्नेह के लिए आभारी हूं, मुझसे कभी कहीं कोई दोष हो जाये तो आप भी मन मे न रखिएगा। मुझसे अधिकारपूर्वक पूछिएगा। अपनी गलती स्वीकार कर लेने में मुझे कोई शर्म महसूस नहीं होती ।

और अपने समाचार दीजिए न ? इधर और क्या लिखा है ? राजस्थान से

प्रकाशित होनेवाली पत्रिका मे प्रकाशचंद गुप्त और शिवदान सिंह चौहान के दो कहानी संबंधी लेख आये हैं। आपने देखे ? पत्रिका का नाम 'लहर' है और यह कहानी अंक है।

आप उपन्यास लिख रहे थे, उसका क्या हुआ ? कब तक समाप्त हो रहा है ? नीच जात के बाद आपकी कोई दूसरी कहानी मेरी नजर से नहीं गुजरी। 'कल्पना' के विशेषांक में प्रकाशित मेरी कहानी 'जीने के लिए' आपको कैसी लगी ?

आशा है स्वस्थ और सानंद हैं ।

सादर आपका
शानी

छः

सागर
23/9/59

प्रियवर भाई शिवप्रसादजी,

सस्नेह नमन !

आपका पत्र मिला । एम पी साहब आपके यहा जा रहे हैं । आज ही की गाडी से । इनका स्वागत सत्कार कीजिएगा और इनकी पहुंच की सूचना दीजिएगा। आशा है, इनसे मिलकर आप बहुत प्रसन्न होंगे । साथ मे एक छछूंदर (आतिशबाजी वाली) भी साथ लिये जा रहे है । बूढा हो जाने पर भी इनका अनवादी स्वभाव अभी साथ जो लगा है । इनकी जेलवाडी वृत्ति की उपेक्षा कर दीजिएगा ।

'नन्हो' की याद मैने 'आई प्लीड गिल्टी' शीर्षक एक छोटे से निबंध मे की है। वास्तव में वह निबध मैने एक प्रश्न का उत्तर देने के लिए लिखा है । मुझसे पूछा गया है कि मुझे 'राजा निरवशिया' कहानी क्यो नहीं रुची ? अपनी अल्पबुद्धि से मैंने इसी प्रश्न का विशद उत्तर दिया है । यद्यपि 'राजा निरवशिया' कहानी का निबंध के उस अश में विस्तार में कोई जिक्र नहीं हुआ है । इसी सदर्भ मे नन्हो की चर्चा है । दो और प्रश्न पूछे गये हैं । एक, कहानियों के सबंध में रुचि—क्या शुभ लक्षण है या अशुभ तथा दूसरा, पसंदगी और नापसंदगी के बीच क्या कला के स्तर के निरीक्षण के मौलिक भेद का प्रश्न उपस्थित नहीं होता ?

वास्तव में इन्हीं प्रश्नों का उत्तर मैंने दो लेखो में दिया है । एक है—आई प्लीड गिल्टी ! समीक्षक को भेजा है देखिएगा । बडा मजेदार है । साथ ही खूब तात्त्विक। 'नन्हो' क्यों बेहद पसद आयी, इसका भी उसमे उत्तर है । दूसरा लेख

बड़ा है । अभी पास ही में पड़ा है । लेख 'झंझटी' है । शायद ही कोई छापे । छपा तो कटिंग भेजूंगा। सही आदमी का सोये में भी कदम सही ही पड़ता है । 'नन्हो' आपके बहुत सुसंस्कृत सही और पूर्णतया स्वस्थ भारतीय संस्कारों का ज्वलंत प्रमाण है । मेरी पुन-पुनः बधाई। इन दिनों सागर में बहुत तूफान है ।

सस्नेह सदा आपका भाई—

—राजनाथ पांडेय

सात

[पंडितजी चंडीगढ चले गये थे । उन्होंने अपने निष्कासन को उतनी गंभीरता से नहीं लिया, जितनी काशी के भूतनाथ की प्रतिदिन छपनेवाली डायरी को। यह गदी डायरी याद की जाये या नहीं, प्रश्न था। जब मुकुंदजी ने पिताजी से पंडितजी के पत्र मांगे तो उन्होंने कुछ चिट्ठियां जानकर नहीं दीं। उनमें से एक नीचेवाली मुझे थमाते हुए पिताजी ने कहा—"नरेंद्र तुम इस पत्र को अलग से रख लो। क्योंकि गुरुदेव ने इससे अधिक तीखा आक्रोश कहीं व्यक्त नहीं किया है। यह एक धरोहर है इस व्यक्ति की जो ऊपर-ऊपर बहुत मुस्कराता रहा, पर अपमान का विष पीकर कैसे नीलकंठ बन गया । इसे व्यक्त करनेवाला कोई दूसरा दस्तावेज संभवत: नहीं मिलेगा।"]

चंडीगढ़

26-6-60

प्रियवर,

शुभाशीर्वाद !

पत्र मिला । कुछ चिंता न करो । यथासमय सब ठीक हो जायेगा । यहा बहुत अच्छा है । सकरी गलिया और गंदे नाले नहीं है फिर उनमें बिलबिलानेवाले पिल्लू और मच्छर भी नहीं हैं । बडा सुंदर शहर है । विश्वविद्यालय भी बहुत अच्छा और शानदार बन रहा है । विद्या की कदर है । गाल बजाई को कम महत्त्व दिया जाता है। पत्थर के बने कठोर प्राचीर नहीं हैं । भूतनाथ का राज्य नहीं है । सब मिलाकर मुझे अच्छा ही लग रहा है । यद्यपि कभी-कभी मन भागता है, पर ऐसा भागता भी नहीं। (*हाय, काशी की पीड़ा !*)

तुम्हें क्या चिंता है । धैर्य की थोड़ी आवश्यकता पड सकती है । कई बार यहां से बनारस जाना चाहा (**हाय, काशी !**) पर कुछ न कुछ विघ्न आ गये ।

विधाता की योजना अपने ढंग की होती है । उनका टाइम-टेबुल भी अलग होता है ।

आशा है सब लोग प्रसन्न हैं ।

शुभेच्छु
हजारीप्रसाद द्विवेदी

(पत्र के चिह्नित अंश संपादक के)

इस पत्र के ऊपर पता अंग्रेजी मे लिखा है। डॉ शिवप्रसाद सिह एम.एम , पी- एच डी, दुर्गाकुड पोस्ट ऑफिस बिल्डिग, दुर्गाकुंड, वाराणसी । पडितजी को मकान याद था कामा कोठी नहीं । इस पत्र के साथ यह भी बता देना अपना कर्तव्य मानता हूं कि जब से रेक्टर पद पर नियुक्त हुए और 'बहती गगा' के विख्यात लेखक शिवप्रसाद रुद्र बहुत अस्वस्थ हो गये तो पिताजी ने पंडितजी को समाचार दिया। पडितजी बाबू जी साथ-साथ सर सुदरलाल अस्पताल व्यक्तिगत कक्ष मे गये । 'रुद्र' जी को बाबूजी ने पंडितजी की ओर दिखाते हुए कहा था–"रुद्रजी, पंडितजी आये हैं।" रुद्रजी इतने विह्वल हो गये कि उन्होंने झुककर पंडितजी के दोनों पैर पकड लिये । बोले–"आप मुझे क्षमा कर दें । मैने गो-हत्या की है । यदि क्षमा मिल जाये तो शांति से मरूंगा। शिवप्रसाद तो मेरे लघु भ्राता हो गये हैं । अब आप मेरे बड़े भाई बन जाने की स्वीकृति दें । "कहना न होगा कि रुद्रजी बहुत लस्टम-पस्टम ही चलते रहे, पर उन्होंने एक बार बाबूजी को अपनी रोग शैया के निकट बुलाया और अपने दामाद के लिए कमच्छा में नौकरी दिलाने का अनुरोध किया। पिताजी पंडितजी के यहा गये और बोले– "मैंने आज तक आपसे अपने लिए कुछ कहा न कभी कहूंगा, पर रुद्रजी के दामाद को महीने-भर के अदर नौकरी मिल जानी चाहिए।" और उसे आदरणीय पडित हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने 15 दिन के भीतर दिला दी ।

(रुद्रजी के अंतिम दिनो के तीन लबे पत्र हैं, पर लेखक से उन्हे गोपनीय रखने की वचन बद्धता के कारण उन्हें अभी प्रकाशित करना ठीक नहीं है । वैसे एक पत्र तो इस तरह का है जो काशी के छोटे-बडे साहित्यकारों की नैतिकता, अनैतिकता, सज्जनता, दुष्टता का दस्तावेज है । रुद्रजी ने बाबूजी को कुछ खास लोगो से सावधान रहने की चेतावनी आशीर्वाद के रूप मे लिख भेजी है । हम अभी उसका प्रकाशन नहीं करना चाहते।)

संपादक
नरेंद्र सिंह

बहुत कम लोग जानते हैं कि बाबूजी, महादेवीजी को मां क्यों कहने लगे।

1969 में जब पडितजी की षष्टि पूर्ति का समारोह निश्चित हुआ, उस समय अचानक काशी का वातावरण उदास बन गया। श्री कृष्णलाल की मृत्यु ने बाबूजी के मन को कितना तोडा यह रहस्य ही है अब तक । हम लोग कामा कोठी में रहते थे । रात डेढ बजे राजनारायण शर्मा ने कुंडी खटखटाई और डाक्टर साहब की मृत्यु का समाचार दिया। पिताजी ने सुना । दरवाजा बंद किया और अपने बडेवाले कमरे मे धसक कर बैठ गये । उस वक्त समारोह का निमंत्रण पत्र तैयार हो गया था । बाबूजी ने पंडितजी को लिखा कि इस स्थिति मे मैंने समारोह की तिथि टाल दी है । पंडितजी का उत्तर देखिए–

आठ

पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़-14
24 अगस्त, '69

प्रियवर,

शुभाशीर्वाद !

तुम्हारा तार मिला है । यह महीना बडा ही दुःखपूर्ण बीत रहा है । डॉ लाल चले गये । आचार्य नंददुलारे वाजपेयी नहीं रहे । पं शांतिप्रिय द्विवेदी भी जाते रहे। सारा हिंदी-ससार शोकमग्न है । मैं तो व्यक्तिगत रूप से भी बुरी तरह व्याकुल हो गया हू । कुछ समझ मे नहीं आता कि क्या हो रहा है । ऐसी स्थिति मे समारोह को स्थगित करना ही ठीक था। मैंने रिजर्वेशन कैंसिल करने के लिए लिख दिया है । मन बहुत भारी हो गया है ।

शुभेच्छु
हजारीप्रसाद द्विवेदी

उस समारोह में महादेवीजी ने आने में परेशानी बतायी थी। पर पिताजी खुद गये और उन्हें ले आये । वे रायकृष्ण दास जी के यहा फ्रेश होकर पिताजी के साथ ही डायस पर आयीं । पंडितजी उठकर नीचे सीढियों पर स्वागत करते बोले--"दीदी, आखिर यह लडका तुम्हे खींच लाया।" महादेवीजी ने मुस्कराते हुए कहा था--"हठी है, जो ठान लेता है, उसे करके ही दम लेता है ।" उसी दिन से वे महादेवीजी को तू और मां सबोधन देने लगे । अतिम भेंट 6 6 1986 में हुई। वे इस बार पडितजी की परिचर्चा गोष्ठी के लिए बुलाने गये थे । लंबे सस्मरण

हैं । कुछ उन्होंने वर्तमान साहित्य और उत्तर प्रदेश पत्रिकाओं मे लिखे भी हैं । उस वक्त महादेवीजी चलने का वादा करके भी नही आ सकीं । उनका पत्र इस पीडा को थोडा झलकाता है ।

नौ

106/153, हीवेट रोड
इलाहाबाद
6.4.1986

आयुष्मान शिवप्रसाद,

शुभाशिष !

मैं रक्तचाप की अवज्ञा कर आने को प्रस्तुत थी, परतु दुर्योग से परसों मुझे ज्वर आ गया था । सोचा था 6 तक उतर जायेगा । परतु वह आज तक नही उतरा। आज भी अभी तक 103 डिग्री है । और सर्दी लगकर बढती जा रहा है। मेरे तीन घटे की यात्रा तक वह 104 तक बढ सकता है, तब आपको बहुत चिता हो जायेगी। अत इसे विवशता समझकर सबसे क्षमा माग लेना । भाई हजारीप्रसाद मेरे परमप्रिय अनुज थे । उनकी स्मृति को यही से प्रणाम देती हू। उनका सृजन भारतीय सस्कृति की निरतर गतिशील भागीरथी है । स्मरण ही नहीं आत्मसात करने की आवश्यकता है । ज्ञान के उच्चतम वर्चस्व को भाषा की लहरो से प्रक्षालित होते देखना हो तो भाई हजारीप्रसाद द्विवेदी को देखना चाहिए। तुम्हारे समारोह की सफलता की शुभकामनाए प्रेषित हैं ।

शुभेच्छुका
महादेवी

दस

[यह भी है शिवप्रसाद पाठायलोचन वाले] - ***संपादक***

प्रयाग
16.8.60

प्रिय डा सिह,

आपने कुछ समय पूर्व मुझसे 'रसरतन' की प्रतियों के बारे में पूछा था । मुझे उस समय स्मरण नहीं रहा 'रसरतन' की एक प्रति एशियाटिक सोसाइटी बंगाल

के सग्रह मे भी है। इस प्रति का सकेत वहां के सूची पत्र में पृ 40 है। मैंने प्रति देखी नहीं है । असभव नहीं है कि यह पुस्कर से भिन्न किसी कवि की रचना हो । मै वहां गया था, तो मैंने वहा का सूचीपत्र देखकर इसको टांक भर लिया था । किंतु आपको इसे मगाकर देख लेना चाहिए । यह सटीक भी है।

आशा है कि सानंद है।

आपका

माता प्रसाद

ग्यारह

इंदौर

7.9.60

प्रिय महोदय,

आपकी 'कर्मनाशा की हार' नामक पुस्तक पढने का सौभाग्य आज प्राप्त हुआ। पुस्तक मे किसी व्यक्ति विशेष की घटना को समाज की शक्ति के रूप मे प्रदर्शित करने की अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है।

नि सदेह हिदी साहित्य द्वारा विशेषकर हिदू समाज को ऐसे साहित्य की नितात आवश्यकता है जो कि हिदू समाज को रूढिवाद से हटाकर वास्तविकता की सतह पर लाये । रचना के लिए धन्यवाद ।

भाषा हिदी होते हुए भी चलती हुई सी है, और इस प्रकार केवल किताबी भाषा बनाने का प्रयत्न नहीं किया अत पुन धन्यवाद ।

कृपया आगामी रचनाए क्या है ? मेरा तो अनुग्रह है कि इसी प्रकार की रचनाए लिखते रहिए, निश्चय ही हिदी साहित्य को आप जैसे लेखकों की अत्यधिक आवश्यकता है, कष्ट के लिए क्षमा । आशा है आप स्वस्थ होंगे।

[illegible]

—योगेंद्र कुमार चतुर्वेदी

बारह

चंडीगढ़
7.1.62

प्रियवर,

शुभ आशीर्वाद ग्रहण करो । 'इन्हे भी इतजार है' आद्योपात पढ गया हू। तुमने एक अद्भुत संसार को प्रत्यक्ष कराया है । सुभागी, नन्हो, विहरिया, कजरी, दीनू, फुन्नन मिया सिजोगी, लहरी, जगिया, पडित धूरेमल आदि सचमुच इतजार में थे । क्या कमाल की चित्रकारी तुमने सीखी है । भाषा पढकर तो मैं कभी-कभी सोचने लगा कि यह मेरा शिवप्रसाद लिख रहा है, पुस्तक पढकर मुझे बडा गर्व हुआ । यहा आया तो मदान साहब भी प्रशसा कर रहे थे । वे आजकल कहानियो पर ही टूटे हैं । पहला नबर उन्होने उषा प्रियवद को दिया है । कह रहे थे, वह भी आपकी ही शिष्या है । उन्हे कदाचित् यह भ्रम हो गया है कि मै अपने विद्यार्थियो को कहानी लिखने की कला भी सिखाया करता हू । भगवान जरा भी छप्पर फाड के ही देता है । मैंने अभी तक उषा की कोई कहानी नही पढी । पर तुम्हारी कहानिया पढ ली है । गर्व से छाती फुलाकर चल रहा हू । क्या विचित्र है भगवान की कृपा ! तुम लोगों के नाम से मै भी धन्य हो रहा हू । इन कहानियों को पढकर देखता हूं कि इनमे वही बात है जिसे बरसो से देखना चाहता था । जीवंत मानवो की उपेक्षित प्रतिमास । ऐसा लगता है, ये पहचाने हुए लोग हैं, अचानक मिल गये है । दु ख-सुख की सच्ची दुनिया को अनावृत्त करके तुमने सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य निभाया है । परमात्मा ने तुम्हारी कलम मे अद्भुत शक्ति दी है । उसे विश्राम न लेने दो । उद्घाटित करो इस वास्तविकता को । सच्ची रससृष्टि यही है । बधाई तो क्या दू, मेरे हृदय से आशीर्वाद वारणी शतधार होकर प्रकट हो रही है । प्रसन्न रहो, और आनदित करते रहो ।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

तेरह

[सूर्योदयी कविता आदोलन की एक झलक।]—*संपादक*

भारती (भवन की पत्रिका)
भारतीय विद्या भवन
चौपाटी रोड, बंबई-7
दिनांक : 23-3-62

प्रिय भाई,

17 3 का आपका कार्ड मिला । भाई, आपके अभी तक भी अस्वस्थ चलने की बात से दु:ख और चिंता हुई । मेरा प्रथम Concern और प्रार्थना यह है कि आप शीघ्र स्वस्थ हो, अन्य सब बाते स्वास्थ्य पर निर्भर करती हैं ।

अप्रैल अक मे तो चौथा फर्मा भी बन चुका था—जिसमें समर्थन जा रहा है इसी से आपका वक्तव्य अब उसमे नहीं लपेट रहा हूं । मई अंक में आपका यह वक्तव्य चला जायेगा । मतलब की बाते तो मिलने पर ही स्पष्ट हो सकती है, पत्र-व्यवहार में वह सभव नहीं । वैसे आपको एक खुशखबरी दे रहा हू—कि नवीनतम काव्य पीढी का बडा Cosmic और प्रबल समर्थन घोषणा-पत्र पर आ रहा है अप्रत्याशित। गुजरात के कई Leading साहित्यकारों का समर्थन प्राप्त हुआ है । मतभेद को सबने गौण कर दिया है -समर्थन और स्वागत का स्वर ही प्रबल है, मतभेद तो अनिवार्य है और आदरणीय भी ।

आपके शीघ्र स्वास्थ्य की कामना करते हुए.

आपका भाई
वीरेन

चौदह

16, न्या वैरहना, इलाहाबाद
प्रयाग
20.5.62

प्रिय भाई,

जानते ही हैं मैं यहां हूं । गर्मी तो वैसी ही है, अंधड तूफान का जोर यहा कुछ अधिक है । कॉफी के प्याले में तो अक्सर तूफान आया करता है । छुट्टी भर के लिए मैने भी यहीं लंगर डाल दिया है । दिन-भर सोता हू, शाम तो कॉफी

हाउस में ही होती है । इस समय कॉफी हाउस मे तीन अलग-अलग टेबुल लगते है। एक पर मानव, गंगाप्रसाद पाडे, डा लक्ष्मीनारायण लाल और बधु । दूसरे पर शाही, रघुवंश, लक्ष्मीकांत वर्मा, बिपिन चतुर्वेदी, श्रीराम वर्मा । तीसरी टेबुल आजकल वैसे ठडी है, कभी-कभी दिखायी पडते हैं -अश्क, शमशेर, नरेश मेहता। वैसे तीन आदमियो की प्याली ज्यादा खनखनाती है -मानव, अश्क, शाही की। लक्ष्मीकात शांत हैं, केशव वर्मा तीनो टेबुल देख लेते है ।

इधर मानवजी का नया उपन्यास आया है- 'कावेरी' । मुझे खास तरह से पुस्तक पढने को दी गयी है । डॉ लाल की भी दो पुस्तके है चर्चा इसी तरफ है--आधी भी । यहा के कवि चित्रकारी करने लगे है, और मैने सबको कह दिया है—मैंने कविता अपनायी है । सुनाने के लिए कई गोष्ठियो मे से माग आ रही है। कल यहां परिमल की गोष्ठी थी। काशी ने कौन-सी करवट ली है इसकी साहित्य-धारा किधर है ?

यहा भी 'कल्पना' पर काफी आक्रोश है। जगदीश प्रसन्न हुए। साहित्य-धारा बद करा दी गयी । अब न निकलेगी नागानद के लिए बता रहे थे कि 'नयी कविता' मे प्रकाशनार्थ कविताए कभी भेजी थी, बस वही ।

सूर्योदयी तो यहा दफन-सा है । कोई चर्चा नही । वैसे लक्ष्मीकात की ओर से सूर्योदइयों का अलाप शीर्षक से कुछ मुहतोड निकलनेवाला है ।

गोविंद, मोहनराज सत्यव्रत, चद्रभूषण, मुनीर, नागानद आदि कवि किधर बह रहे है, अधीर, महेद्र सिह पाडे किस किनारे है । धूमिल वही है न ? लिखिए प्रणति–

–रामचंद शुक्ल
'चित्रकार'

पंद्रह

[कमलेश्वरजी ने नाम छीन लिया इसलिए अलग-अलग वैतरणी आयी पर 1667 मे । ठीक पाच साल बाद।] - ***संपादक***

68/2271 नाई खालन
करौल बाग, नयी दिल्ली
5-8-62

प्रिय शिव,

तुम्हारा पत्र मिला । चलो जो भी हुआ पर 'बदनाम बस्ती' ने तुम्हे इस

बात के लिए मजबूर तो किया कि पत्र लिखो—वरना आप तो अतर्ध्यान हो गये थे। यार अगर तुम्हारे उपन्यास का सचमुच यही नाम है तो भिजवाओ तो उसे ताकि पढू और Word of Honour कि सग्रह में देते वक्त इसका नामकरण दुबारा कर दूंगा ।

मैं टेलीविजन से छुट्टी लेकर अब केवल यहीं कलम घिसने का काम कर रहा हू और यहीं बस गया हू । फिलहाल साल-दो साल यहीं रहूंगा, बाद में कहीं और जाऊगा। यहां आकर लगा कि आना बहुत अच्छा हुआ । दिल्ली एक अजीबोगरीब दुनिया है—इसे देखे और जाने बगैर बात नही बनती । अपने और हाल-चाल लिखो दोस्त ! क्या हंगामे है ? औरो के क्या हवाल है ? उपन्यास हर हालत में भिजवाओ।

तुम्हारा
कमलेश्वर

सोलह

167-ए, एलनगंज
इलाहाबाद-2
24.4.63

प्रिय भाई,

क ख ग के सबध मे परिपत्र मिला होगा । यह आयोजन आप जैसे मित्रो के सहयोग पर आधारित है, ऐसा कहना औपचारिक लगेगा पर वस्तुस्थिति यही है ।

पहले अक मे हिंदी की तीन चुनी हुई (पर अपेक्षया कम चर्चित) कृतियो की समीक्षा देने का विचार है । रामविलास शर्मा की 'भाषा और समाज' पर हम आपकी समीक्षा चाहेंगे । पहला अक जुलाई में प्रकाशनीय है, इस दृष्टि से यदि समीक्षा मई के मध्य तक मिल सके तो विशेष सुविधा होगी । समीक्षाओ पर भी साकेतिक ही सही, पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है—यह सकोच से ही लिख रहा हू ।

उत्तर की प्रतीक्षा मे...

—रामस्वरूप चतुर्वेदी

सत्रह

लेनिन ग्राद
11-4-63

प्रिय बधु,

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आजकल मैं हिंदी लेखको की आत्मकथाओं के संग्रह की तैयारी कर रहा हूं । अनेक लेखकों की जीवनियां मिल चुकी हैं । अत आपसे यह प्रार्थना है कि सजीव और पूर्णरूप में अपनी जीवनी 5-10 पृष्ठो पर लिखकर भिजवाने की कृपा करे । सभव हो तो अपनी पुस्तकें भी भिजवा दे ।

मेरे योग्य सेवा सूचित करें ।

आशा है आप सानद होगे ।

सादर आपका
बारान्निकोव

मेरा पता :
P.A. Barannikov,
Flat 124
4/2 S. Perovskaya Road
LENINGRAD-D-88
USSR

अठारह

[कर्मनाशा की हार जब हर जबान पर थी।] -*संपादक*

सी-5/16 माडल टाउन,
दिल्ली-9
8.1.64

प्रिय भाई,

बहुत दिनो बाद पत्र लिख रहा हू–आशा है प्रसन्न होंगे । सबसे पहले नये वर्ष की शुभकामनाए ले ।

एक काम है . आपने 'आलोचना' में कमल जोशी के कहानी-संकलन 'पत्थर की आंख' की समीक्षा की थी । मैं भारतीय ज्ञानपीठ के लिए कुछ प्रमुख पुस्तको

(सन् '50 के बाद की) की प्रमुख समीक्षाए संकलित कर रहा हूं । उस संकलन के लिए आपकी उपर्युक्त समीक्षा लेना चाहता हूं । अनुरोध है कि अपनी स्वीकृति प्रदान करें

एक बात और : 'कर्मनाशा की हार' की जो श्रेष्ठतम रिव्यू आपके देखने में आयी हो उसकी एक प्रति या तो भेजने का कष्ट करें या लिखें कि कहां छप चुकी है ।

प्रसन्न होंगे । कभी दिल्ली आने का भी कार्यक्रम बनाइए ।

आपका
देवीशंकर अवस्थी

उन्नीस

कलकत्ता
29.6.94

आदरणीय भाई साहब,

प्रणाम ।

धर्मयुग के दोनो लेख नये सिरे से पढ गया । मेरी तो बात छोडिए, और अनेक लोगो ने आपकी चितन-प्रौढता की मुझसे चर्चा की । यहा के साहित्यिको मे खूब चर्चा है इन दिनो आपकी । आपकी वरक्कत से कुछ लोग पीडित भी हैं, जो मेरी दृष्टि से नितात दयनीय है । अस्तु ।

'विशेष' पर आपकी प्रतिक्रिया देखी । सतोष सुख मिला ।

एक शुभ सूचना यह है कि मेरे प्रबध का खोया हुआ अश भारतीय ज्ञानपीठ के कार्यालय में ही मिल गया। इससे अनाकांक्षित चिंता दूर हुई। काम में मनोयोगपूर्वक लगा हूं। आशा है महीने डेढ महीने मे अपना काम पूरा कर लूगा। किसी तरह यह भार उतरे, फिलहाल यही एक चिता लगी हुई है ।

पद्मधरजी का पत्र कल ही शाम को मिला । उन्हे अलग से लिखूगा ।

हा, एक धृष्टता मैंने कर दी है । 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' की एक प्रति भी कश्यपजी से ले ली है । आप कहेगे तो रखूंगा अन्यथा लौटा दूगा, इसी आधार पर ली भी है ।

काशी, जुलाई के मध्य तक आने को सोच रहा था । अभी कुछ निर्णय नहीं किया है ।

सेतु के प्रकाशन के बारे म इतना बड़ा निर्णय कैसे लिया गया है । इसमे आपको क्या औचित्य दिखायी पड रहा है ।

स्वास्थ्य तो ठीक रहता है न ? कुशल समाचार की प्रतीक्षा मे रहूगा।

उस डायरी का क्या हुआ जिसे कुछ पन्ने आपने मुझे काशी में सुनाये थे, उसका क्रम बनाये रखते तो एक बडी बात बनती। यह मेरी व्यक्तिगत धारणा है।

स्नेहाधीन
कृष्णबिहारी

पुनश्च : मेरे विरोध पत्र का जवाब देते हुए भारतीजी ने लिखा है कि लबी छुट्टी पर रहने के कारण उस लेख के प्रकाशन पर आपके पत्र का कोई प्रभाव न पड सका और भविष्य मे 'आचार्य जी' पर कुछ अभिनदनात्मक सामग्री धर्मयुग मे प्रकाशित की जायेगी। भारतीजी के उत्तर से मेरा एक हद तक परितोष हुआ है। मेरा लेख आपको कैसा लगा ?

कृष्णबिहारी

बीस

क ख ग

167 ए, एलनगंज
इलाहाबाद-2
7.8.64

प्रिय भाई,

पत्र मिला। मुझे खुशी हुई कि तुमने मेरी बात सही ढग से ली। हम लोग एक-दूसरे को जब तक सोचने-विचारने का स्वतत्र ढग, छूट नही देगे और एक-दूसरे की बात सहानुभूति के साथ सुनेगे नही, हम चितन की दिशा मे आगे कैसे बढ सकते हैं। हम तीखे मतभेदो को सही स्थिति न मानकर गलत और अस्वस्थ क्यो मानने लगते है, केवल हममें इतना लचाव होना चाहिए कि हमारे विचार एक-दूसरे से टकरा सके, अन्यथा उनको विचार न कहकर धर्म-मत या रूढि सिद्धात क्यो न कहा जाये। मै मानता हू कि हम डॉग्मा मे विश्वास नहीं करते तो चितन के अग्रसर करने मे तीखे से तीखे मतभेद (जो चितनपरक ही है) सहायक ही होगे, साहित्य मे और इस क्षेत्र के व्यक्ति के लिए डॉग्मा का अर्थ ही क्या होगा ? साहित्य की हानि ही न। इसीलिए तो हम दूसरे अभ्यासो तथा क्षेत्रो मे भी विश्वास तथा निर्भीकतापूर्वक स्वतत्र चिंतन का पक्ष लेकर चल सकते हैं ।

क ख ग के लिए कुछ प्रयत्न करेगे, यह आश्वासन पाकर आश्वस्त हुआ।

तुम्हारा रघुवंश

इक्कीस

बंम्बई
17-2-64

आदरणीय बधु,

कृपा पत्र मिला । 'सत्यकथाओ' के सिलसिले मे प्राय प्रतिदिन ही पत्र आते रहते है । किंतु जिन व्यक्तियो के लेखन का मै बहुत आदर करती हू, जिनकी चीजे पत्रिकाओ में खोज-खोज कर पढती हू, उनके पत्र जब उस सबध में मिलते है तब कितना सतोष मिलता है, कितना उत्साह मन मे उपजता है यह व्यक्त न कर सकूगी।

आपसे प्रशसा पाकर और सुदर सत्यकथाए खोजने के लिए मन मे उत्साह जगा है । पत्र के लिए अभारी हू।

धन्यवाद

भयदीया
मुक्ता राजे
मुक्ता राजे (पुष्पा भारती)

बाईस

दरभंगा
4-12-64

प्रिय शिवप्रसाद सिह 'सितारे हिंद'

नमस्कार !

यार तुम भी कमाल करते हो । प्रोफेसरी भी करते हो और इतना लिख भी लेते हो । आश्चर्य ! हां, तुम मे प्रतिभा तो प्रारभ से है ही, परिश्रमी भी किसी से कम नहीं। अत इस मणिकाचन संयोग से जो न हो जाये थोडा । जहां एक ओर प्राचीन विषयों पर गंभीर निबंध लिख लेते हो, वहीं दूसरी ओर मौलिक कहानियां भी । 'धर्मयुग' मे तुम्हारी कहानिया तथा आत्म-परिचय पढकर आनंद हुआ कि हमारा भी एक साथी हिंदी साहित्य के आलोचकों तथा वक्ताकारो में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, तुम्हारी प्रगति हो यह है मेरी कामना । अच्छा तुम्हें मै एक काम दे रहा हू मैं वहां 1951-53 मे छात्र था । मैने अपना Migration 1955 मे लिया किंतु वह चोरी या खो गया । उसकी मुझे अत्यत आवश्यकता

है । अतः उस संबंध में जो रु की आवश्यकता हो मैं भेज दूगा अत कृपा कर तुम सूचित करना कि मुझे कितना रुपया भेजना होगा तथा क्या करना होगा । विशेष कुशल है ।

तुम्हारा
दुर्गानंद

तेईस

प्रयाग
19.12.64

प्रियवर,

अभी कार्ड छोडने के पश्चात् उमाजी का फोन मिला कि वे आपको 25 ता को आने के लिए लिख चुकी है । मेरा पहले का कार्ड बेकार है । इसे तो विघटनकारी प्रवृत्ति मानना होगा। खैर, अब तो लबे इतजार जैसे क्यू लगा हो।

शेष मिलने पर...

आपका
वाचस्पति पाठक

चौबीस

99-ए, लूकरगंज, इलाहाबाद
10 जनवरी, 1965

प्रियवरेषु,

आप सोच रहे होंगे मैं इसके बाद प्रयाग जाकर एकदम ही मौन कैसे हो गया हू। नहीं, इस बीच आपके द्वारा लिखित प्रपत्र पर साही आदि मित्रो से काफी विचार विमर्श हुआ । योजना आपकी सबको प्रिय लगी । जहा तक सहयोग देने की बात है तो वह भी निश्चित ही है केवल उसके स्वरूप के बारे में एक स्पष्टीकरण कि इन चुने हुए नामो के चुने जाने का आधार क्या है ? आपको याद होगा कि हम स्वयं भी कुछ नामों के प्रति आश्वस्त नही थे। ऐसी स्थिति मे यह भी गोष्ठी क्यो नहीं खुले मंच के रूप मे ही हो ? कारण कि जिस स्पष्टवादिता की बात ने हमे इस आयोजन की प्रेरणा दी उसका निर्वाह इस सीमित रूप में हो सकने

की आश्वस्ति संभवत: नहीं ही है । तब ऐसी स्थिति में क्यो नहीं शेष लोगो को भी बुलाया जाता । मुझे यह तर्क सार्थक लगता है । सभवत: इसलिए भी कि इस सीमित रूप में भी लोग सामाजिक मुखौटा ही धारण करेगे । तब क्यों न खुले मंच पर ही बाते हो । जिन्हें वास्तव में दर्द है वह किसी भी स्थिति में हों बोलेंगे ही और जिन्हे नहीं कहना है वे किसी भी स्थिति में नही कहेंगे । बड़े आयोजन से लाभ यही है कि जहां मिथ्या बडी होगी, वहां सत्य भी बडे रूप मे होगा । अस्तु...

इसलिए विचारार्थ आपसे मैने यह बात कही । आशा है आप इस पर विचार करेंगे। एक सुझाव यह भी चूकि आयोजन मुख्यत काशी मे ही होना है, वह आपके तथा वही के दो-एक नाम और जैसे पाठकजी, त्रिपाठीजी आदि के नाम से आमंत्रित किया जाये तो वह उचित लगेगा ।

यदि आप सीमित भी करना चाहेगे तो भी मेरा सहयोग तो आपको रहेगा ही। जहा तक परिपत्र की बात है वह यहा पढा पढाया गया है, आप उसे पुन लिख डालें। शेष ठीक है। अब आप इसमे देरी न करे। समय अब वास्तव मे कम है। खुले मच के अनेक लाभो मे से एक यह है कि अनेक नये लेखक भाग ले सकेगे। फलत: अपेक्षाकृत यह आयोजन उपलब्धि की दृष्टि से अधिक सार्थक हो सकेगा। आशा है आप अपनी प्रतिक्रिया से अवगत करायेगे। यदि आदरणीय पाठकजी आ गये हो तो हमारा नमन कहें। श्री पद्मधर त्रिपाठीजी को नमन।

आपका

नरेश मेहता

[लेखक का कहना है कि इस विषय पर नरेशजी से कोई पत्र-व्यवहार नही हुआ। आदरणीय स्व. वाचस्पति पाठकजी के माध्यम से उनके परिचित कुछ श्रीमतो ने 700 रुपये की छोटी रकम सहयोग स्वरूप दी थी । इतने मे अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन को आमत्रित करने का प्रश्न ही नहीं था । नवलेखन गोष्ठी के सयोजक और उसके सदस्य यह मानकर चले थे कि हमे प्रतिबद्ध लोगों से अलग स्वतंत्र साहित्यकारो को बुलाना है । 1965 ई तक आते-आते हमारी पीढी साम्यवादी हथकडो से परिचित हो चुकी थी । इसलिए नरेशजी को यह जानते हुए कि वे 1957 के इलाहाबाद लेखक सम्मेलन मे साम्यवादी पार्टी के स्थानीय सेल के सदस्य रह चुके है, बुलाया गया । क्योंकि तब उनकी रचनाधारा प्रतिबद्ध साम्यवादियो से अलग व्यक्तिचिंतन की ओर झुकने लगी थी । उनके मन में तब भी द्विधा थी । यह दस्तावेज श्री नरेश के साहित्य को समझने मे बहुत सहायता करेगा । साही, लक्ष्मीकांत तथा इलाहाबाद के लोग इसमे प्रमुख रूप से इसीलिए बुलाये गये क्योकि वे 'सेतु' से जुड़ने को तैयार थे । बिना सदस्यता के । जैसे लेखक शिवप्रसाद सिंह बिना सदस्यता के परिमल से जुड़े रहे । परिमल रजत

परिचर्चा गोष्ठी के उद्घाटन समारोह के जिसमे पंत, महादेवी, इलाचद्र जोशी जैसे लोग विद्यमान थे, अध्यक्ष बने । पाठकजी और त्रिपाठीजी तो उनसे अभिन्न रूप से जुडे थे ही । पत्र-व्यवहार मे इनका नाम दिया जाता जो 'सेतू' के तमाम सदस्यों का नाम दिया जाता तो कभी भी व्यावहारिक नही होता ।]

नरेंद्र सिंह
संपादक दस्तावेज

पचीस

C/o पराग, टाइम्स ऑफ इंडिया बिल्डिंग
बंबई-1,
10 मार्च, 1965

प्रिय भाई,

आपका एक मुद्रित कृपा पत्र कुछ दिन हुए मिला था, 'नवलेखन विमर्श गोष्ठी' का आयोजन अत्यंत सामयिक तथा महत्त्वपूर्ण है, इसके लिए मेरी बधाई स्वीकार करे, यहा की व्यस्तता को देखते हुए संभवत गोष्ठी मे आना तो सभव न हो सके, किंतु अपने कुछ विचार आपके परिपत्र में उठाये गये बातो के बारे मे व्यक्त कर रहा हू, शायद विचार-विमर्श मे ये भी एक वाद के रूप में काम आये।

मेरी राय मे व्यक्ति और समाज की सस्कृति का निर्माण उन सस्कारों के सकुलन से होता है, जिन्हे विशिष्ट आर्थिक उत्पादन के साधनो के बीच मे सानुकूल स्वरूप मिलता है, साहित्यकार चाहे वह पुराना हो, नया हो या सचेतन हो -अपने लेखन के बीज उन्ही सस्कारो से उधार लेता है और उनसे उत्पन्न नयी घोषणाओं को उन्हें ही सौंपते चलता है, अत उसका लेखन किसी भी ओर से उन निहित वर्ग-स्वार्थों से अपने-आपको भिन्न नहीं रख पाता, जिनके द्वारा उसके अहम् को पोषण प्राप्त होता है, यह एक अलग बात है कि भूखे रहकर या अघाये रहकर दोनों को प्रकार से साहित्यकार अपने अहम् का पोषण करते हैं और दोनो ही अवस्थाओं मे ऐसे क्षणजीवी साहित्यकार भी मिलते है, जिनकी रचनाओ का मात्र उद्देश्य शिल्पगत प्रयोग अधिक तथा कथ्यगत सार्थकता प्राप्त नहीं के बराबर रहता है, उनके विचारों को प्राय प्रचार-प्रसार के उन साधनो से अधिक बल मिलता है, जो तत्कालीन आर्थिक सत्ता के अधीन होते हैं, अब आप चाहे इनमे रीतिकालीन कवियों को ले लीजिए अथवा अधुनातन प्रयोगवादियों को ।

जिन साहित्यकारों को आप वर्ग-स्वार्थ से निरपेक्ष समझते हैं, वे भी वस्तुत निरपेक्ष नहीं होते, प्राय ही वे अपने साहित्य मे सत्ताधारी (आर्थिक) वर्ग की

यथास्थात को बनाये रखनेवाले विचारो का पोषण करते पाये जाते हैं, उनकी निरपेक्षता का ही यह अर्थ होता है कि समाज के उस बहुमत की समस्या से उनका सीधा और सरल सबंध नहीं है, जो सत्ताधारी वर्ग के प्रत्यक्ष या परोक्ष उत्पीडन का शिकार है वे उनकी समस्याओं के हल तक या तो पहुचना ही सस्तापन समझते है, या यदि कभी उनकी ओर उनकी कलम चलती भी है, तो उसकी स्याही प्याज के रस से बनी होती है, जिसे पढने के लिए बुद्धि को विशेष ताप देने की आवश्यकता रहती है, उसमे भी हल नहीं होते, निर्लिप्त कला-संकेत होते हैं--जैसे किसी महान पेंटर की वह कलाकृति, जिसमे भ्रूण से क्लांत मां की सूखी छातियो को चिचोंडता हुआ बालक महान् अवश्य हो उठता है, किंतु कलाकार मॉडल का काम करने के बाद वह अपनी माता सहित सदा के लिए सो जाता है ।

यदि भारतवर्ष की कोई एक संस्कृति और किन्हीं सर्वमान्य मूल्यों को स्वीकार करके ही साहित्य रचना की जाये तो कम-से-कम कथा के क्षेत्र मे संभवत हम पचतत्र या जातक कथाओ से आगे नहीं बढ पायेंगे, मेरी राय मे, यदि प्रस्तावित विद्वान्-गोष्ठी मे नवीनता के विरुद्ध पुरातनता की पुनर्स्थापना का ही मात्र उद्देश्य न हो, अथवा समीक्षा के प्रस्थापित सिद्धातो की सार्थकता सिद्ध करना ही लक्ष्य न हो तो उन कारणों पर भी दृष्टिपात किया जाना चाहिए, जो यूरोपीय युद्धोत्तरकालीन विच्छृंखलता व उच्छृखलता को भारतीय साहित्य मे लाने मे सहायक सिद्ध हुए हैं, आज के युग मे भौगोलिक सीमाए भौतिक दृष्टि से ही प्राय टूट-सी गयी है, वैचारिक दृष्टि से तो उन्हे बड़ी कठिनाई से ही चीन्हा जा सकेगा और प्रतिदिन के रहन-सहन की दृष्टि से भी आज का कोई भारतीय नागरिक यह दावा नही कर सकता कि वह एक या अनेक रूपो मे भारत से बाहर की सस्कृतियो से प्रभावित नही है ।

अस्तु, सयोजन समिति के गठन से लगता है कि काफी वरिष्ठ साहित्यकार प्राध्यापक इस गोष्ठी के पीछे है, इनमे अनेको ने पर्याप्त सतुलित विचार समय-समय पर हिंदी के पाठको को प्रदान किये हैं, मै आशा करता हू कि इस गोष्ठी को सफलता मिलेगी और इसके माध्यम से कुछ ऐसे सुलझे हुए सार्थक विचार साहित्यकारो के सम्मुख आयेगे, जिनसे पूर्वग्रहो से ऊपर उठकर पुरातन व नवीन साहित्य तथा उनके कारणभूत तत्त्वो को कुछ ऐसी परिभाषाओ मे समेटा जा सके कि नवीनतम साहित्यकारो को आगे बढने के लिए एक मार्ग मिल सके ।

आशा है आप प्रसन्न व स्वस्थ होंगे, जो साहित्यिक बधु इस गोष्ठी मे सम्मिलित हो उनसे मेरा करबद्ध नमस्कार कहे ।

आपका

आनंद प्रकाश जैन

छब्बीस

अलीगढ़
16.3.65

भाई शिवप्रसाद सिह,

नवलेखन विमर्श–गोष्ठी का कार्यक्रम मिला । इतने अच्छे आयोजन में शामिल होने के लिए बहुत जी चाहता है पर मार्च 27–28 मेरे लिए अनुकूल नहीं पड रही है । असल में 20 मार्च को मैं गया जानेवाला हू । सोचा था वहा से 23 की सुबह बनारस आ जाऊ और 24 की शाम को बनारस से चलकर 25 की सुबह अलीगढ पहुचूंगा । 20 से 28 तक छुट्टी नही मिल सकती इतहान का जमाना है । फिर गया से अलीगढ और अलीगढ से फिर बनारस आना बडा मुश्किल काम है । भाई, अध्यापक और उर्दू का लेखक, इतने पैसे भी तो एक साथ नहीं जुटा पायेगा, आप आज्ञा दें तो मै अपना लेख 'नया अदब पुरानी कसौटी' को हिदी मे टाइप कराके भज दू मेरी अनुपस्थिति को अन्यथा न लेगे और मुझे क्षमा कर देगे । आप तो हर प्रकार से मेरे अपने हैं, इसलिए आपको इतना स्पष्ट लिखने का साहस हुआ है ।

मै उस बडे और अपने ढग से अनूठे आयोजन के लिए हार्दिक शुभकामनाए अर्पित करता हू ।

आपका
राही

सत्ताईस

चंडीगढ
30 1 66

प्रियवर,

शुभ आशीर्वाद ।

तुम्हारा पत्र तो बहुत पहले आ गया था । मैं बाहर (दिल्ली) गया था, वहां से लौटा तो चिट्ठिया पढना भूल गया । आज 30 जनवरी है । मेरा मौन दिन है । सो अध्ययन कक्ष की सफाई करते समय यह पत्र मिला । अब विलफार्म हस्ताक्षर करके भेज रहा हू। इलाहाबाद का किराया नहीं भी देता तो कोई हर्ज नहीं था। वहांवाले दे ही देते पर रिपोर्ट तुम्हें ठीक लगी इससे सतोष हुआ । काम उसी

तरह से होने लगे तो अधिक सतोष होगा ।

मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगा । काम बहुत बढ गया है । शक्ति के बाहर 'मगर को छूट्यो महिजाल परि'।

शेष कुशल है । आशा है सानद होंगे।

शुभेच्छु
हजारीप्रसाद द्विवेदी

अट्ठाईस

445, पश्चिमी चमनपुरी
बरेली
24-5-66

भाई शिवप्रसाद सिह जी,

आपका 15/5 का कृपा पत्र बिसौली से लौटकर यहां मिला । उसे पाकर सचमुच ही बहुत प्रसन्नता हुई है । आपके साहित्य का मैं प्रेमी पाठक हूं । जो कुछ भी मिलता रहा है, पढता रहा हूं । 'आलोचना' के स्वातत्र्योत्तर हिदी साहित्य विशेषाक में नयी कहानियों पर अपने लेख में श्री धनंजय वर्मा ने आपको क्यों शामिल नही किया - ऐसा मैने लिखकर शिवदानजी से पूछा था । जहा तक अणिमावाली समीक्षा पर आपकी आपत्ति का सवाल है उसमें एक गलत बिदु और धरातलवाली तुलना का विरोध भर है । कहीं भी मेरा उद्देश्य एक को चढाकर दूसरे को Fall Down करने का नहीं है। तुलनात्मक अध्ययन एकदम महत्त्वहीन हो ऐसा तो नहीं है लेकिन समीक्षक से एक अतिरिक्त दायित्व की अपेक्षा वह अवश्य रखता है । नागार्जुन के उपन्यासों में गावो का जो सश्लिष्ट एव सपूर्ण चित्र मिलता है, मिल सकना चाहिए। वह सब कुछ आपकी छोटी कहानियो में खोजना आपके साथ अन्याय का ही एक रूप हो सकता है, मैं तो यही समझता हू । मेरे उस Comment में आपको क्या ऐसी गंध मिली है कि मैंने अनायास ही आपका अवमूल्यन किया है ?

'कर्मनाशा की हार' बहुत पहले जब छपी ही थी तो पढ़ी थी । संग्रह अब मेरे पास नहीं है, लेकिन मिल सकता है । सचमुच आभार मानूगा, यदि आप दो सग्रह भिजवा सकें । मुरदा सराय के लिए ज्ञानपीठवालों ने भिजवाने को लिखा था । 'आलोचना' विशेषांक (2) में हिंदी की पुरानी पीढी की चौदह कहानियों पर एक लेख था—शायद आपने देखा हो, उसे पढ़कर भाई राजेंद्र यादव नाराज हो

गये हैं क्योकि उसमे गुटबदी की खिलाफत की गयी है और उनकी मरजी के खिलाफ कमल जोशी, रांगेय राघव और निर्गुण की कहानियों को विवेचित किया गया है । सप्रति नयी कहानी को लेकर जो स्थिति है वह मुझसे अधिक अच्छी तरह आप जानते है, लेकिन ईमानदारी बनाये रख सकना भी हमेशा सरल नहीं होता है । 'लहर' वालो से मेरा मतभेद और विरोध इस बात पर है कि मैं राजेद्र यादव का अनावश्यक पक्ष लेता हू । समाचार दे । योग्य सेवा लिखें ।

आपका

मधुरेश

उन्तीस

23-7-66

प्रिय भाई,

'माध्यम' (जून, 1966) मे आपका निबध मै एकाग्र होकर देख गया हू। हमारी बौद्धिक वंचना का इतना चौकस विश्लेषण शायद ही किसी ने किया हो, नहीं, किसी ने ऐसा नही किया । ऐसा बेलाग-सजग चितन इस सचाई का सबूत है कि हम बिल्कुल नपुसक नही हुए हैं, अभी भारतीय 'आत्मा' अपने अदर काफी कुछ बचाकर रखे हुए है...

मुक्त चिंतन की खुराक हासिल करने के लिए लोक-मानस इन दिनो बेलल्ला हो गया है। इस प्रकार की खुराक न पाकर वह निराश-हताश, कुंठाग्रस्त दशा में या तो अष्टयाम-कीर्तन मे शामिल हो लेता है, या रस-नटराज, उर्वशी, सेक्सी-जासूसी साहित्य की ओर या फिर अवैध गाजा-व्यापार या फिर नटवरलाली चमत्कार या बालू-सीमेंट का गोरखधधा या फिर मुखौटो की अदला-बदली...हमारा बौद्धिक भारी चालाक है --कितना ही निर्लिप्त, कितना ही अजनबी घोषित करे अपने को, मगर व्यक्तिगत जीवन मे वह 3500 (पैंतीस सौ) की तनख्वाह उठाता जायेगा, अथवा 'दिन-मान' दुरुस्त रखेगा। कोर्स में जैसे-तैसे अपनी किताबें भिडवाता चलेगा, सरकारी-गैरसरकारी धनराशि (पुरस्कार) बटोरता जायेगा, संपन्न-समृद्ध राष्ट्रों के आमत्रण की आशा में कठौती भर लार टपका देगा। वह कौन-सी नटबाजी है, जिससे हम बाज आयेंगे ? 'तेन त्यक्तेन भुजीथा', मागृध' कस्यस्विद् धनम्'--उपनिषद् का यह वाक्य आज हमें 'प्रलाप' प्रतीत होता है !! नहीं ?

बहरहाल...आपका यह लेख बेहद पसद आया । इसका अलग से 'बुकलेट्' निकलवाएं आप । निकलवायेंगे ?

अभी और क्या लिखूं ? महीना-डेढ महीना के अंदर ही काशी पहुंचने का योग लगेगा, मुलाकात होगी ही ।

कहां हो ? वहीं, कामाकोठी मे ? 'माध्यम' मे तो विभागीय पता ही छपा है न ?

—नागार्जुन

तीस

10.9.54

प्रिय भाई,

पारसनाथ सिंह जी के द्वारा आपका 'महोदय' को लिखा हुआ पत्र मिला और असर मे महोदय ने खाट पकड ली । परसों से ऑफिस जाने लगे है । मैंने उनसे कहा कि शिवप्रसाद भाई जब ऐसा कह रहे है तो इस बात मे दम होना चाहिए । जरूर तुमने कुछ गडबड की होगी तो वह कहते है कि भाई, यह आदत तो पुरानी है । इसे पकडकर किसी भी भले आदमी को हलाकान करना गलत है । और फिर खासकर मुझे ! तो मैंने उसकी बात मान ली है और यह लिखा है कि तुम भी मान लो । पत्र लिखने न लिखने पर मत जाओ, राजा, दिल देखो जो तुम देख चुके हो ! तो अबके सीधे ही उसे लिख भेजना । वह बचा-बचा सरीखा महसूस करेगा । और सब ठीक है । अगला पत्र तेवर छोडके...हा, पारसनाथ सिंह भी बीच में बीमार हो गये थे । ये बंबई है ।

तुम्हारा
भवानीप्रसाद

इकत्तीस

शुद्ध श्रावण शुक्ल 2, सं. 2023
कदम कुआं
पटना-3

प्रियवर,

जून 1966 के 'माध्यम' में आपका 'सामयिक भारतीय परिवेश और बौद्धिक

वचना' शीर्षक निबध पढने को मिला । बधाई है । सिर्फ इसलिए नहीं कि आपका यह निबंध बहुत सुदर बना है, बल्कि इसलिए भी कि जिस सफाई और सचाई के साथ आपने समस्याओ का विश्लेषण किया है, वह इस सकटग्रस्त राष्ट्र के लिए बहुत आवश्यक था । भारतीय बौद्धिक भी सत्ताधारी और गैरसत्ताधारी राजनीतिज्ञों की तरह ही, क्लीब और चेतनाशून्य हो गया है । अत: आपका यह निबंध व्यक्ति स्वातत्र्य के उपासक राष्ट्रीयतावादी उदार और लोकतत्र प्रेमी साहित्यिको को बल और प्रेरणा प्रदान करेगा, यह स्पष्ट है ।

आशा है आप प्रसन्न होगे ।

भवदीय
दिगंबर झा

बत्तीस

नया टोला
मुजफ्फरपुर
4.8.66

आदरणीय गुरुवर,

सादर वन्दे ।

जून के 'माध्यम' में प्रकाशित लेख 'सामयिक भारतीय परिवेश और बौद्धिक वचना' मे व्यक्त आपके विचारो से मै पूरी तरह सहमत हू । नवलेखन लेखकीय दायित्वों से च्युत लक्ष्यहीन साहित्यिक प्रयत्न मात्र है । आपका यह कथन तो बिल्कुल सत्य है कि ''हारने के पहले, युद्ध के पूर्व हथियार डाल देने की यह क्लीवता किसी भी बौद्धिक वर्ग के लिए शोभा की बात नही हो सकती ।''

मेरे विचार से जो साहित्य अपने देश की सामाजिक-राजनीतिक समस्याओ की उपेक्षा करके लिखा जाता है, वह कागज पर लिखा ही रह जाता है । वस्तुत: हमारे यहा आयी आधुनिकता शत-प्रतिशत कृत्रिम है । यही कारण है कि हमारे यहा सही रूप में आधुनिक बोध की अभिव्यक्ति नही हो पाती ।

आपका
नंदकिशोर

तैंतीस

एफ-8/9, माडल टाउन
दिल्ली
12.5.67

आदरणीय बंधुवर,

परिचय प्राप्त हुआ । यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई कि भारतीय ज्ञानपीठ से पुस्तक का प्रबंध हो गया है । सचमुच इस ओर आपका प्रयास स्तुत्य है । मुझे आप जो भी काम बतायेंगे मैं सहर्ष करने की कोशिश करूंगा ।

इधर 3-4 दिनों से बुखार था, नहीं तो पत्र और जल्दी देता । मैं यह लेख जून के प्रथम सप्ताहांत तक आपके पास भेज दूंगा ।

यदि उचित समझे तो डॉ वीरेंद्रनाथ श्रीवास्तव को भी कुछ लिखने को दे दें। उन्होंने प्रगतिशील आंदोलन और उपन्यास तथा भाषा विज्ञान पर काम किया है । पंडितजी के उपन्यासों पर कुछ दे दें । वे आपके भी तो मित्र हैं । खैर, इस पर आप ही को निर्णय लेना है । मैंने उनसे कुछ नहीं कहा है अभी ।

राजकमल वाले इतिहास का कितना अंश आपने पूरा कर लिया है । कब तक भेज रहे है । केवल व्यक्तिगत सूचना के लिए लिख रहा हूं । पंडितजी आजकल यहीं होंगे लेकिन अभी इतना कमजोर हूं कि जा नहीं पाऊंगा उनके दर्शनार्थ ।

भाषा विज्ञान के पर्चे अच्छे हो गये थे । अभी परिणाम नहीं आया है । वैसे प्रोफेसर पंडित प्रसन्न हैं ।

मेरी थीसिस के विषय में यदि कुछ होगा तो लीजिएगा-और निस्संकोच। इस विषय में कोई सूचना होगी तो कृपया मुझे ही दीजिएगा ।

बच्चियां और पत्नी आपको बहुत याद करती हैं । आपके यहां भी सब लोग कुशलपूर्वक होंगे ।

उत्तर तो आप शीघ्र देते ही हैं ।

आपका
विश्वनाथ त्रिपाठी

चौंतीस

वाशिंगटन यूनिवर्सिटी
सियेटल
13.11.67

प्रियवर,

द्विवेदीजी वाला अभिनंदन ग्रथ तो मिला नहीं, गोकुलचंद्र जी से कहिए शीघ्र भेज दे, जनवरी-फरवरी तक मिल ही जायेगा, यह सुना कि बाद में बहुत अच्छा समारोह किया गया, पर असली समारोह तो वस्तुत ग्रंथ ही है और इसका श्रेय आपको है।

आपसे बनारस मे मैने चर्चा की थी, आधुनिक हिंदी कथा-साहित्य की एक योजना पर काम करना चाहता हू । मेरे प्रकाशक ने आते ही तगादा किया । अब आपका सहयोग चाहता हू । 1940 के बाद (कोई एकदम खूटी नही है) की कहानिया रखना चाहता हू । पहले तो संकलन (अर्थात् अनुवाद) तैयार हो जाये तो भूमिका तथा परिचय आदि की बात होगी, इसलिए मुझे कहानिया चाहिए । आप अपनी दो कहानिया तथा कुछ चुनी हुई कहानिया हवाई डाक से भेज सके तो बडी कृपा हो । यहा सग्रह बहुत कम है, जो है वे पुराने है, मै नामवर को भी लिख रहा हू, पर नामवर औघड आदमी है, भेजे न भेजे । आप पर भरोसा है । हिंदी की साहित्यिक गतिविधि की सूचना दे।

काशी के साहित्यिक मित्रो से मेरा नमस्कार कहें । काशीनाथ सिह और पद्मधर जी से सविशेष और कोई मेरे योग्य सेवा हो तो निस्संकोच लिखे, साथ का पत्र काशी को दे दें ।

—विद्यानिवास मिश्र

पैंतीस

[डॉ वॉनरी जिन्होने मिथ्या दिल के दौरे से उत्पन्न भय से मुक्ति दिलायी।]—*संपादक*

कैंप, नयी दिल्ली
19.10.68

प्रिय शिवप्रसाद जी,

आपके विशेषांक की परिचर्चा के लिए मैंने अपनी बात अभी लिख डाली है।

बदरी विशालजी से बात हुई थी । अभी तक आपका अंक हैदराबाद पहुंचा नहीं था । मैने डाक के सकट की बात बतायी थी । इसी डर से मैं अपनी वार्ता-अंश डाक से नही भेज रहा हूं ।

आज रात जयपुर जा रहा हू । अंग्रेजी हटाओ के राज्य-सम्मेलन होने चाहिए, इसी सिलसिले मे जा रहा हू । 24 अक्टूबर तक बनारस पहुंचूंगा तब आपको अपना लिखा दूंगा । आशा है तब तक भी काम चल जायेगा । वैसे आपने कहा है कि अक चला भी गया हो तो यह अलग से आ ही सकता है ।

आशा है आप 21 अक्टूबर को डॉ. वॉनरी से मिले होंगे । आशा है पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न होगे-

—कृष्णनाथ

छत्तीस

एस. 29, ट्यूटोरियल बिल्डिंग
उर्दू विभाग
दिल्ली यूनिवर्सिटी
18.12.68

प्रिय शिवप्रसाद,

मेरा कार्ड तो मिला होगा। डॉ. वोला वाराणसी में डॉ. पनिक्कर के यहा ठहरेगे। वहा से तुमसे मिलने जायेगे। ढाई दिन वाराणसी मे रहेंगे। मेरी हार्दिक इच्छा है कि एकाध दिन उनका तुम्हारे साथ बीते। सभव हो तो मैंने ढेर-सी प्रशसा तुम्हारी उनसे कर रखी है कि असली बनारसी और बनारस के 'सजीव पुरातत्त्व' का सरस विद्वान एक शिवप्रसाद है और काशी की गलियों का नंदि, नांदीकर, त्रिलोचन। (खैर, बिल्कुल इन्हीं शब्दो मे नहीं !!) डॉ. वोला अथर्ववेद की ऋचाओ का स्पेनिश अनुवाद (दो चयन) और गीत गोविंद का अनुवाद किया है। इधर तत्र साहित्य के अध्ययन में लगे रहे है। संस्कृत काव्य-साहित्य का बृहत चयन (स्पेनिश अनुवाद मुक्त छंदों में) कर रहे हैं। तुम उनसे मिलकर उतने ही प्रसन्न होगे जितना कि वह तुमसे। त्रिलोचन का ठीक-ठीक पता मैं जानता नही, एक पत्र मैने उन्हे लिखा तो है जय की मार्फत, मालूम नहीं उनको मिला कि नहीं।

उत्तर की प्रतीक्षा में...

तुम्हारा
शमशेर

सैंतीस

डॉ. वि.ए. चेर्निशोव
शोधकर्ता
प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान
अकादमी ऑफ साइंसेज
अम्यान्स्की गली–2
मास्को (केंद्र)
यू.एस.एस.आर.

प्रिय मित्र,

मेरा पत्र पढकर आपको आश्चर्य हुआ होगा, यह स्वाभाविक ही है । क्योंकि किसी को भी दस साल तक चुप रहने के बाद अचानक पत्र आये तो बिना स्तभित हुए नही रह सकता ।

कारण यह है कि अभी आपकी कहानियो का सकलन सग्रहित तथा अनूदित करके प्रकाशित करवाने की सभावना मिली है । मेरे पास आपके तीन कहानी-सग्रह है –'आर-पार की माला', 'कर्मनाशा की हार' और 'इन्हे भी इतजार है' सुना है कि आपका एक और सकलन निकला है –'मुर्दासराय' ताकि आयोजित सकलन पूरा हो जाये। यह सग्रह भिजवाने की कृपा करे । संकलन के लिए चुनी हुई कहानियों की सूची बाद मे लिखूगा ।

उत्तर की प्रतीक्षा मे...

आपका
वी. ए. चेर्निशोव

पुनश्च : बनारस विश्वविद्यालय वाले तथा 'प्रचारक' वाले सभी मित्रो को नमस्कार बतावे।

अड़तीस

डॉ. वि.ए. चेर्निशोव
शोधकर्ता
प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान
अकादमी ऑफ साइंसेज
अम्यान्स्की गली-2
मास्को (केंद्र)
यू. एस. एस. आर.
28.6.68

प्रिय मित्र,

आपसे 'भारतीय ज्ञानपीठ' द्वारा भिजवाया हुआ रजिस्टर्ड बुक पोस्ट यथासभव प्राप्त हुआ । इस भेट के लिए धन्यवाद देता हूं । अभी एक मास्कोवाले प्रकाशन गृह से आपकी कहानियों का संकलन प्रकाशित करने के सबध में बातचीत हो रही है। आशा है कि वह सफल होगी । 'मुर्दासराय' वाला पैकेट भेजकर 'भारतीय ज्ञानपीठ' ने जो सेवा की है उसके लिए मेरी ओर से उन्हें धन्यवाद देने की कृपा करे ।

आशा है आप स्वस्थ तथा सानद हैं-

शुभकामनाओ सहित

भवदीय
वी. ए. चेर्निशोव

[प्रकाशन गृह से शायद चेर्निशोव की वार्ता सफल नहीं हुई, क्यो ? पाठक ही सोचे।]—**संपादक**

उनतालीस

प्रियवर,

यह स्टेशन से ही लिख रहा हूं—एक काम केदारनाथजी को सौंपा था जो वह कदाचित् भूल गये और आपको महज, मैं भूल गया ।

Hindi Revision में कभी पंतजी की कविता सोनजुही का अनुवाद छपा था—महादेवीजी की भी दो-एक कविताओं के अनुवाद छपे थे । यह मुझे चाहिए । H.R. के वांछित अंक यहां नहीं मिले, न दिल्ली में मिल सके । यदि आप मेरे लिए ये अक प्राप्त कर सकें या इन कविताओं की प्रतिलिपि भिजवा सकें—शीघ्र—तो अनुग्रहीत हूंगा।

दोनो अनुवाद--या पतजी का तो अवश्य चाहिए, उनका पता भी मुझे चाहिए--शायद आपको ज्ञात हो या H R के कार्यालय से मिल जाये। मै इस सामग्री की प्रतीक्षा करूगा । आशा है आप शीघ्र भेज सकेंगे ।

भेट होने के समय से ही कष्ट दिये जा रहा हू, इसके लिए क्षमा करेगे ।

सस्नेह आपका
वात्स्यायन

चालीस

पत्रालय--बाराचकिया
जिला--चम्पारण
(बिहार)
30-10-68

आदरणीय डॉक्टर साहब,

अभिवादन !

ज्ञानोदय के अक्टूबर '68 के अक मे श्री अरुणेश नीरन द्वारा प्रस्तुत आपकी अंतर्वीक्षा पढी, श्री नीरन की भाषा से तो प्रभावित हुआ ही, साथ ही आपके विचारो का कायल हो गया, मेरी भी पहली कविता 1950 मे, और पहली कहानी 1951 मे ही छपी थी, परतु बदलते युग- चरण की गति से सामजस्य स्थापित न कर सकने के कारण अलग रह गया। मेरे ह्रदय में बडी आकांक्षा जाग पडी है कि मै शीघ्र ही बनारस आकर आपके दर्शन करू, आपकी मान्यताओ का मैने श्री गणेश चौबे (भोजपुरी पर काम करने वाले ख्यातनाम विद्वान्) आदि कई विद्वानो के सामने रखा और वे आपसे सहमत मिले।

मेरे प्रणाम की स्वीकृति मुझे मिलेगी--ऐसी आशा है।

भवदीय
योगेन्द्रनाथ शर्मा

इकतालीस

5.2.1970

प्रिय शिवप्रसादजी,

नमस्ते ।

आपका पत्र मिला बडी खुशी हुई । आपने अपनी पुस्तके–तीन कहानी संग्रह तथा अलग-अलग वैतरणी उपन्यास भेजने का वादा किया है, इसके लिए बहुत धन्यवाद।

कैसे मै अपना पता लिखना भूल गया यह बात समझ मे नहीं आती है । खैर, पता पास ही लिख देता हूं ।

अगर सभव हो तो कृपा करके बताइए कि आप अपनी कौन-कौन सी कहानिया ज्यादा पसद करते है ।

प्रतीक्षा में हू...

आपका

विक्टर वालिन

[इस पत्र के उत्तर मे लेखक ने कोई चिट्ठी नहीं लिखी । क्या पता उसे कोई नापसद हो।] *सपादक*

बयालीस

संपादक

आलोचना त्रैमासिक

2.4.68

प्रिय भाई,

'हार्ट अटेक' और आपको, मै तो स्तब्ध रह गया। हल्का ही सही, लेकिन बेहद सावधानी की जरूरत है। डॉक्टर जैसा कहें आप उनके कहे मुताबिक चलिए। तनिक भी ढिलाई नहीं होनी चाहिए। देखभाल के लिए वैसे तो और लोग भी होंगे लेकिन दौड-धूप के लिए आप बेखटके काशी को बुला सकते हैं। उम्मीद है, अगली बार मै जब घर आऊगा तो आप पूर्णतः स्वस्थ मिलेंगे।

'अलग-अलग वैतरणी' पर साहीजी का लेख अब तक आपको मिल गया होगा। गोष्ठी समाप्त होने के बाद उसकी एक प्रति आप सीधे मेरे पास भिजवा दें ।,अगले अक की सामग्री जल्द ही प्रेस में जायेगी...

आपका

नामवर सिंह

तैंतालीस

112/239 स्वरूप नगर
कानपुर
1971

आदरणीय डॉ साहब,

3 तारीख को लिखा आपका पत्र मुझे कल 16 को ही मिला। डाक-विभाग कथन मे 'अहर्निश सेवामहे' का दावा अवश्य करता है पर क्रिया मे नहीं। आशा है आप मुझे क्षमा कर सकेंगे। आपके पत्र की आत्मीयता से अभिभूत हूं। आपके इस सहज पत्र एव सहायता के आश्वासन की कल्पना तो करती न थी। कारण, आपके कार्य-भार की गुरुता का ध्यान रखकर मुझे सकोच होता था, आपकी सहजता, आपका स्नेह मुझे सदैव ही मिलता रहेगा, ऐसी कामना करती हू।

'शिखरो का सेतु' उपलब्ध हो सकेगा, कदाचित् पुस्तकालय में आपने सूची भेजने को लिखा है, उसे सुविधानुसार भेज दे । इसके लिए कृतज्ञता ज्ञापन करती हू, तो वह आत्मीयता को मात्र औपचारिकता बना देगा । अत इसे रहने दे ।

आशा है आप कुशल हैं ।

आपकी स्नेहाकांक्षी
सुमति

चवालिस

गोड्डा कालेज
संताल परगना
23-3-72

आदरणीय बधु,

कहा वह रस, कहा वह रचना के लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार कीजिए। जब तक आप जैसे विश्लेषक हैं रस लुप्त नहीं हो सकता । लेख पढकर मजा आ गया। ऐसे ही बीच-बीच में नश्तर लगाते रहेंगे तो लोगों के मन पर पडे कलौंछ से मुक्ति मिलकर रहेगी । एक बार फिर मेरा धन्यवाद लें ।

जहां तक मुझे स्मरण है, मैंने 'प्रतिमान' का एक अक आपको भिजवाया था। क्या वह नहीं मिला ? मै बिल्कुल छोटी-सी जगह से प्रतिमान निकालता हू।

चाहता था कि आपका भी सहयोग मिले । मैंने इस आशय का पत्र भी आपको लिखा था, लेकिन उत्तर न पाकर निराश हो गया । अभी तक प्रतिमान के कुल तीन अंक निकले हैं । और चौथा मूल्यांकन अंक प्रेस में है, मैं तो अब भी चाहता हू कि आपकी कोई रचना इस अंक में जाये । लेकिन यह तभी सभव होगा जब आपकी ख्वाहिश हो । क्या आप प्रस्तुत होगे ? अपने अन्य समाचार लिखेंगे ?

अपना ही
श्यामसुंदर घोष

पैंतालीस

A-3/5, बसंत विहार
नयी दिल्ली-110057
16 फरवरी, 1973

प्रियवर,

नमस्कार !

अभी दस-एक दिन पहले डेढ दिन के लिए काशी गया था, सोचा था कि आपसे भेट हो जायेगी, पर सयोग नहीं हुआ । गया था । जयप्रकाशजी से मिला ही, इधर व्यस्त रहा, फिर पता लगा कि रायकृष्ण दास जी का ऑपरेशन हुआ है, और वह अस्पताल मे हैं तो बाकी समय उन्हीं के पास बैठा रहा । आप तक खबर भिजवाने का प्रयत्न किया था पर सफलता नहीं मिली । यह पत्र एक विशेष प्रयोजन से लिख रहा हूं मिलकर बात कर ली होती तो कहीं अच्छा होता पर आशा है कि पत्र भी उपेक्षित न होगा ।

विश्वविद्यालयों का गरिमामय वातावरण छोडकर फिर पत्रकारिता के गरमीमय क्षेत्र में आ गया हू, उसकी गरमाहट का एक असर यह है कि 'प्रतीक' को पुनर्जीवित करने को सोच रहा हूं । यों तो एक साहित्यिक पत्र की आवश्यकता अर्से से बहुत से लोगो को अनुभव होती रही होगी उन्हें भी जो हिंदुस्तान-धर्मयुग आदि को अभिव्यक्ति का एक मार्ग मान लेते है और उन्हें भी जो इसे नहीं स्वीकार कर पाते, पर इसके अलावा भी मैं सोचता रहा हूं कि जो लिखते हैं उनके पास काफी सामग्री जमा हो गयी होगी जिसके लिए कोई उपयुक्त माध्यम उन्हे मिलना होगा । मैं भी अब किसी पत्र-पत्रिका में कुछ नहीं भेजता, सीधे पुस्तक मे छपने की बात होती है क्योंकि कोई पत्र ही नहीं है जिसमें कुछ भेजने का स्वत· उत्साह हो बाकी कुछ जिसमें छपाकर औचित्य भी दीखे । यह मैं आशा बांधता हूं कि

'प्रतीक' का फिर से प्रकाशन कर न केवल स्वागत होगा बल्कि उसके लिए उपयुक्त सामग्री भी मिलती रह सकेगी । इसी विश्वास की परीक्षा के लिए पहले बधुओं को लिख रहा हूं कि कुछ भेजे, 'प्रतीक' निकल जायेगा तो और लोग भी विचार भेजेंगे जिनसे अभी परिचय नही है । यह प्रयोजन है इस पत्र का--आपसे एक कहानी या दो कहानियां चाहता हू, कहानी के अतिरिक्त या एक कहानी के बदले आप कोई दूसरी चीज भेजना चाहें तो वह भी सिर आंखो पर । आग्रह कृतिपक्ष पर अधिक है, कहानी या ललित गद्य पर -यों आलोचनात्मक निबंध भी हो सकता है पर मेरा अनुमान भी यही है कि आपको भी कृति भेजने में ही सुविधा और रुचि होगी ।

कब निकलेगा प्रतीक ? इस प्रश्न का उत्तर यही दे सकता हू कि मै तो कल भी निकालने को तैयार हू, इतना ही है कि निकालने से पहले दो अको की सामग्री चाहिए । जैसे ही दो अंक जुट जाये निकाल दूगा, चाहता हू कि अप्रैल में ही आरभ हो जाये, इसके बाद तो सामग्री आने लगेगी । इस प्रक्रिया को आरंभ होने के लिए दो मास का समय तो चाहिए ही इसीलिए दो अको की सामग्री माग रहा हू ।

निराश नही करेंगे । उत्तर की प्रतीक्षा रहेगी । विद्यानिवास जी को भी पत्र लिख रहा हूं ।

आशा है प्रसन्न है ।

आपका

वात्स्यायन

दस्तावेज में छपा एक पत्र

• *कुमार पंकज*

'दस्तावेज-10' मे प्रकाशित मधुरेश का लेख 'कहानीकार शिवप्रसाद सिंह' शिवप्रसाद सिह की कहानियों का पूर्वाग्रहयुक्त मूल्यांकन और 'प्रगतिशील हिंदी आलोचना' पर फिर से एक प्रश्न चिन्ह चस्पां कर देता है । 'प्रगतिशील हिंदी आलोचना' का यह दुर्भाग्य रहा है कि अधिकांशतया उसे ऐसे समीक्षक मिलते रहे है, जो अपनी व्यक्तिगत पसंद-नापसद के आधार पर विभिन्न साहित्यकारों को उठाते-गिराते रहे हैं । खेद का विषय है कि जिस मधुरेश ने 'यशपाल संतुलनहीन समीक्षा का एक प्रतीक' जैसा लेख लिखा था, वही स्वय शिवप्रसाद सिंह की कहानियों का मूल्यांकन करने में 'असंतुलन' का शिकार बनकर रह गये है।

हिंदी आलोचना की शुरुआत में जब आलोचना की निकृष्टतम विधि 'तुलनात्मक आलोचना' का दौर-दौरा चला था, तो 'देव बडे कि बिहारी' यह सिद्ध करने मे हमारे समीक्षकगणो ने जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाये थे । मधुरेश ने भी अपने लेख की शुरुआत में ही यह फतवा दे दिया है कि शिवप्रसाद सिंह में न तो मार्कण्डेय की 'वैचारिक तेजस्विता' है और न ही रेणु की तरह वह आंचलिक कहानीकारो का एक अलग वर्ग बना पाते है क्योंकि उनमें आचलिकता के प्रति एक स्वतत्र आदोलन का उत्साह नही है। अव्वल तो मार्कण्डेय जैसे 'कन्फ्यूज्ड लेखक' के साथ शिवप्रसाद सिंह जैसे 'जेनुइन लेखक' को देखना ही गलत है। नयी कहानी की शुरुआत से ही यदि हम देखें, तो मार्कण्डेय इस या उस धारा के पीछे भागते रहे है । 'गुलरा के बाबा' से लेकर 'सूर्या' और 'माही' तक की यात्रा मार्कण्डेय की किस वैचारिक तेजस्विता को हमारे सामने रखती है ? दरअसल मार्कण्डेय उन कहानीकारों में से रहे है, जो तमाम कहानी-आंदोलनों में बगैर सोचे-समझे कूदते रहे हैं । जब कमलेश्वर ने 'सारिका' में 'आम आदमी' का बिगुल बजाना शुरू किया तो 'माही' के लेखक ने पुनः 'लंबी छलांग' लगायी और वह 'बीच के लोग' जैसी कृत्रिम और आरोपित यथार्थ की कहानिया लिखने लगा ।

रेणु के साथ अलबत्ता शिवप्रसाद सिंह को देखा जा सकता है । दोनों ही

ग्रामीण वातावरण के सफल सर्जक हैं लेकिन ट्रीटमेंट दोनों का ही अलग है। रेणु शब्दों को पकड़ने में कुशल हैं । यह अदाजेबयां रेणु का सिर्फ अपना है। दूसरी तरफ शिवप्रसाद सिंह 'शिल्प' को अतिशय महत्ता देते हुए भी एव ग्रामीण यथार्थ का सफल 'सर्जन' करते हुए भी इस बात के आग्रही नहीं हैं कि उन्हें आंचलिक माना ही जाये। 'अलग-अलग वैतरणी' की भूमिका में उन्होंने लिखा है 'मै चाहे लाख चाहूं, पढनेवाले इसे यदि आचलिक उपन्यास की पंक्ति में डाल दे तो मैं कर ही क्या सकता हू ।' लेकिन जब मधुरेश यह कहते हैं कि अपनी घोषित अनांचलिकता के कारण शिवप्रसाद सिह आचलिक कहानीकारों का एक अलग वर्ग नहीं बना पाते है, तो लगता है कि जैसे अपने को आचलिक घोषित न करना एक बडा दोष है । यशपाल के 'झूठा सच' में लाहौर के मुहल्ले भोला पांधे की गली का वर्णन और अमृतलाल नागर के 'बूंदें और समुद्र' में लखनऊ के चौक मुहल्ले का वर्णन क्या किसी 'परती परिकथा' से कमतर है ? यदि 'झूठा सच' और 'बूंद और समुद्र' का आंचालक का बिल्ला नहीं लगाया गया, तो उनकी श्रेष्ठता मे क्या कोई कमी आ गयी ? अत यदि शिवप्रसाद सिंह अपने को आचलिक नही कहते, तो इससे उनकी कहानियो की प्रभावोत्पादकता कैसे कम हो जाती है ?

मधुरेश को इस बात का भी अफसोस है कि धनजय वर्मा प्रतिनिधि हिदी कहानीकारों की जब गणना करते हैं तो श्रीमती विजय चौहान तक का नाम ले लेते हैं, लेकिन शिवप्रसाद सिह उनसे छूट जाते है। लगता है कि धनंजय वर्मा ही मधुरेश की नजर मे एकमात्र आलोचक हैं। नामवर सिह ने शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'दादी मां' को नयी कहानी की एक शुरुआत माना है। कथाकार-समीक्षक राजेद्र यादव ने अपने बहुचर्चित सकलन 'एक दुनिया समानांतर' में स्वातन्त्र्योत्तर प्रतिनिधि हिदी कहानियों मे शिवप्रसाद सिह की 'नन्हो' को स्थान दिया है । मधुरेश को इस बात की भी शिकायत है कि शिवप्रसाद सिंह की इन कहानियों मे से कुछ में शोषण और अत्याचार का 'अंकन' हुआ है, लेकिन जो इस अत्याचार के शिकार हैं, उन्हे इसकी कोई चेतना नहीं है । यही कारण है कि इन कहानियो में वर्गचेतना कही भी स्पष्टता से नहीं उभर सकी है । सामाजिक परिवर्तन की आकाक्षावाले पात्रो का इन कहानियों मे दयनीय अभाव दिखायी देता है। यानी यदि शिवप्रसाद सिंह के पात्र 'आयातित कम्यूनिज्म' की बात करने लगे तो शिवप्रसाद सिंह की गिनती 'प्रतिबद्ध श्रेष्ठ कहानीकारों' में मधुरेश के मुताबिक होने लगेगी। लेकिन शिवप्रसाद सिंह 'प्रगतिशील' हैं 'प्रगतिवादी' नहीं, अतः मधुरेश की अपेक्षाओ को उनकी कहानियां पूरी कर सकने मे असमर्थ हैं। प्रेमचंद की बहुचर्चित कहानी 'सवा सेर गेहू' को ही लें । इस कहानी का प्रमुख पात्र शंकर गाव के महाजन से सवा सेर गेहूं उधार लेता है और इस कर्ज को पटाने के लिए जिदगी भर महाजन का 'बंधुआ मजदूर' बना रहता है । उसकी मृत्यु के बाद भी

कर्ज वैसे का वैसा ही बना रहता है और उसका लड़का महाजन का 'बंधुआ मजदूर' बन जाता है । यदि प्रेमचद शंकर और उसके लड़के के मुंह से 'महाजन मुर्दाबाद' के नारे लगवाने लगते तो कहानी का क्या हश्र होता, क्या इसे बताने की जरूरत है ?

मधुरेश ने मार्कण्डेय को 'ग्राम कहानी' का महत्त्वपूर्ण कहानीकार बताते हुए लिखा है कि वह इतने महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं कि उनकी कहानियों के आधार पर ही ऐसे किसी आंदोलन और नामकरण की जरूरत महसूस की गयी । यह कथन बिल्कुल भ्रातिपूर्ण है । वास्तव में रेणु ही एकमात्र ऐसे कथाकार हैं, जिनके उपन्यासों और कहानियो के प्रकाशित होते ही 'आचलिक' शब्द ने हिंदी में गदर मचा दिया। मार्कण्डेय की कहानियो के आधार पर हिंदी कहानी में कभी कोई भी आंदोलन या नामकरण नहीं हुआ है । मार्कण्डेय जैसे 'मिडियाकर लेखक' की कहानियों के आधार पर कोई आंदोलन चल भी कैसे सकता है ? मधुरेश का उपर्युक्त कथन ऐसा ही है कि कोई यह कहे कि लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास हिंदी में 'मील के पत्थर' है । जब भी श्रेष्ठ आंचलिक या ग्राम कहानियों की गणना होगी, तो उनमे 'तीसरी कसम' और 'नन्हो' का नाम आवेगा, 'भूदान' का नहीं ।

मधुरेश के अनुसार आगे चलकर अरविंद के जीवन और दर्शन के प्रति शिवप्रसाद सिंह का झुकाव कहानी की सामाजिक जमीन से उन्हें पूरी तरह काट देता है । शिवप्रसाद सिंह के अद्यतन काहनी संग्रह 'भेडिये' (1977) की कहानियों को यदि देखा-परखा जाये, तो मधुरेश का उपर्युक्त कथन भी बेबुनियाद सिद्ध हो जाता है। इस संग्रह की 'बडी लकीरें' कहानी में यदि गांव की राजनीति और बेकारी शिक्षित युवक को तोड रही है, तो 'भेड़िये' में ग्राम प्रधान के साथ मिलकर बाबू दीनासिंह लूट मचाये हुए हैं । 'तो' कहानी में उदयी जैसे वकालत फेल युवक सरलमना ग्रामीणों को ठगने-डराने में व्यस्त है, तो 'आदिम हथियार' में श्यामलाल समाज की सड़ी-गली व्यवस्थाओं को चूर-चूर कर देता है, न मधुरेश को अगर इन कहानियों में भी अरविंद का जीवन-दर्शन दिखायी पडता है, तो इसमें दोष उनका नहीं, 'प्रगतिवादी चश्मे' का है, जिसे चढाकर वह इन कहानियों को देख रहे हैं ।

गुरुधाम कालोनी, वाराणसी
(दस्तावेज, अगस्त 1981 से साभार)

अलग-अलग वैतरणी : बारह पत्र

एक

पंजाब यूनिवर्सिटी ईवनिंग कॉलेज
जालंधर शहर (पंजाब)
16 जनवरी, 1968

आदरणीय डॉ. साहिब,

सादर नमस्कार !

'अलग-अलग वैतरणी' की प्रति डॉ कुतलजी के यहा से मांग लाया था और एक ही दिन मे इसे समाप्त भी कर दिया । अब केवल यही कह सकता हूं कि पात्रों की प्रत्येक भंगिमा, प्रत्येक स्थिति और कथानक का प्रत्येक मोड जाना-पहचाना लगा, सारा समय यही लगता रहा जैसे 'करैता' की नही बल्कि अपने ही गांव और वहां के लोगों की ही कहानी पढ रहा हू ।

आपको बधाई देने योग्य अपने को नही समझता, अत· हिंदी साहित्य को इस अनुपम कृति द्वारा संपन्न बनाने के लिए धन्यवाद देता हू । कृपया स्वीकारियेगा।

भाई प्रेमचद जैन को मेरा अभिवादन पहुचा दीजिएगा ।

आशा है आप स्वस्थ एवं प्रसन्न हैं, और मुझे भूले नहीं है । मेरे योग्य कोई सेवा ?

विनीत
पुरुषोतम

दो

22.1.68

प्रिय भाई,

अभी-अभी 'अलग-अलग वैतरणी' की यात्रा समाप्त की है । इसके दृश्यों में डूबा-उतराया हूं और अनेक स्थलों ने मुझे अभिभूत किया है । प्रकृति की छवियों और मानव-मन के सवेदनो से रूपायित करने के लिए विधाता ने तुम्हें बड़ी समर्थ भाषा दी है । अकृत्रिम बधाई ।

करैता के माध्यम से उपन्यास एक टूटते हुए ग्राम-जीवन को प्रस्तुत करना चाहता है और विभिन्न परिस्थितियो से विवश होकर कई पात्र एक-एक कर धीरे-धीरे पलायन करते हैं । 'अलग-अलग वैतरणी' अपने इस उद्देश्य के प्रतिपादन में सफलता प्राप्त कर सकी है, इसमें संदेह नहीं ।

कई स्थलो पर मैंने काव्य का-सा आनंद पाया है और तुम्हारी भाषा का यह चमत्कार मैंने कहानियो में भी देखा है ।

अभी उपन्यास इतने निकट है कि कनिया, विपिन, बुझारथ, जगन मिसिर, भगत, पुष्पा असख्य पात्र मेरे चेतन पर छाये है । कमाल है कि सैकडों पात्रों का निर्वाह कथा-चक्र मे हो गया ।

अभी मेरा समीक्षक जागा नहीं है—संभवत: फिर कुछ कह सकू । हां, एक स्थल पर रसाल फल के पर्याय को गाली रूप मे पाकर थोडा अजीब लगा था... । आगे ही उपन्यास में गलती सुधार ली गयी है मादर... । डेश डालकर ।

शुभकामनाएं लो।

भाई
प्रेमशंकर

तीन

भारत के गांव की सच्ची तस्वीर 'अलग-अलग वैतरणी'

ए-5/3, राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-7
26-1-70

प्रिय भाई शिवप्रसाद सिंह,

मेरा यह पहला पत्र पाकर तुम्हें कुछ विस्मय होगा । बिना भेंट-साक्षात्कार

के सीधे स्वकीय सबोधन से पत्र लिखने की विवशता के लिए सफाई क्या दूं । फिर भी भीतर से उभरती माफी मांगने की अनिवार्यता को प्रकट किये देता हूं, भले ही तुम्हें यह थोथी औपचारिकता लगे लेकिन जिसे तुमने कभी देखा नहीं, जाना-पहचाना नहीं, वह पहले ही पत्र मे अशिष्ट क्यों दिखायी दे ।

मैं 22 जनवरी को विश्वविद्यालय के कार्य से काशी आया था । 23 को भी ठहरा था । बडी प्रबल इच्छा थी तुमसे भेंट करने की । यों आदान-प्रदान को तो कुछ न था लेकिन करैता गांव की तस्वीर उतारनेवाले के पास रखा 'नेगेटिव' देखने को मन व्याकुल था । उस दिन तुम विश्वविद्यालय नहीं आये और मैं अपनी इच्छा अपने मन में दबाये वापस दिल्ली लौट आया । हां, डॉ. बच्चन सिंह से कह आया था कि शिवप्रसाद सिंह जी से भेंट होने पर मेरी उत्कठा उन तक पहुचा देना । मालूम नहीं उन्होंने तुमसे कुछ कहा या नहीं ।

'अलग-अलग वैतरणी' को मैं प्रकाशित होते ही नहीं पढ सका था । उपन्यास मैं कभ ही पढ़ पाता हू लेकिन पठनीय को छोडता भी नहीं हूं । 'अलग-अलग वैतरणी' को पढने का विचार तो प्रारभ से था किंतु 1½ वर्ष तक पुस्तक न मगा सका और पढने की बात टलती गयी । पिछले अवकाश के दिनो मे पुस्तक मगा कर पढ़ गया हूं । पढने के बाद इच्छा हुई कि लेखक को बधाई लिखूं लेकिन उसमें भी प्रमाद होता रहा ।

एक वाक्य में कहू तो यही होगा कि करैता गांव की धमनियों में प्रवाहित होनेवाले रक्त, रक्त ही क्यों, मज्जा, मांस, अस्थि, त्वक् सभी को मैंने इस उपन्यास में देखा है । जितने छोटे गांव की कथा है, उतना ही विराट फलक है कथा-विस्तार का । कथा-विस्तार या पात्रो का जमघट शायद उतनी बडी बात नहीं होती जितनी कि कथा के भीतर व्याप्त सवेदना और पात्रो के चरित्र से संश्लिष्ट अतर्द्वद्व की सूक्ष्म पकड । मैंने गांव के पात्रों को इस सहज-स्वाभाविक रूप से उद्घाटित होते कभी नहीं पढा था । मैं चकित रह गया कि तुम बीसियों वर्षो से शहरी जीवन बिता रहे हो फिर भी गांव की अतरग सवेदना के इतने समीप सटे बैठे हो कि उनकी हर धड़कन को पकड सके हो । सवेदन का स्टेथेस्कोप तुमसे छूटा नहीं है ।

मेरे पितामह कृषक थे। गांव में रहते थे। मेरे पिता पढ़-लिखकर अध्यापक हो गए तो गांव छूट गया। बचपन के 5-7 वर्ष गांव में बिताये थे जिसकी धुंधली-सी तस्वीर मेरी याददाश्त में है। जब करैता गांव की जीती-जागती तस्वीर 'अलग-अलग वैतरणी' में देखी तो एक समूचा और सच्चा गांव मेरी आंखों के सामने साकार हो गया। इस गांव को मैं आंचलिकता की संकीर्ण परिधि में बाधने को हर्गिज तैयार नहीं हूं। आचलिकता से भूगोल का ही संबंध नहीं है, एक विशिष्ट दृष्टि भी उसमें समाई रहती है । मेरी अपनी राय मे वैसी आचलिक दृष्टि

से यह उपन्यास न तो लिखा गया है और न पढ़ा ही जा सकता है । करैता अचल को नहीं उभारता। यह समग्र अंतर्दृष्टि से गांव को और गांव के वातावरण को सांस में उतारता है । 'अलग-अलग वैतरणी' को पढते समय कुछ ऐसा लगता है कि हम उसके मात्र पाठक या द्रष्टा ही नहीं सहभोक्ता हैं—सहभोक्ता से बात साफ न हो तो कोई और अच्छा शब्द ढूंढ़ लें । मेरा मतलब गांव की धड़कन को महसूस करनेवाले उस सहभोक्ता से है जो सुख-दुख, द्वंद्व-संघर्ष को गांव के परिवेश मे सहता-भोगता हो, समझता हो ।

करैता गाव के रेशे-रेशे की धड़कन सुनने की जिसमें शक्ति होगी, वही ऐसा उपन्यास लिख सकता है । जमींदारों के अत्याचार की कहानी तो बीसियों उपन्यासो में लिखी गयी किंतु छावनी के उजड़े वैभव के बीच जैपालसिंह, बुझारथ, विपिन और कनिया की मर्मकथा लिखनेवाली लेखनी तुम्हीं पा सके हो । टूटते हुए सामती दबदबे की अंतिम कडी को पकड कर झूलनेवाले बुझारथ के चरित्र की कल्पना तो प्रेमचंद भी नहीं कर सके थे । 'महुआ की रोटी केसारी की दाल' का गीत भले ही आसूदगी से रहित दरिद्रता का द्योतक हो लेकिन अकालवादी देश मे इससे अधिक-सार्थक गीत और कौन-सा हो सकता है ! यह गीत पेट की भूख और ज्वाला को वाणी देता है ।

'अलग-अलग वैतरणी' के पहले पृष्ठ से गांव का मेला सामने आया । कस्बे के मेले मैने देखे है । बडा अंतर नहीं है । करैता का मेला, केवल मेला न होकर चरित्रों से परिचय पाने का सुयोग भी है । बालू पंडित उर्फ दयाल से पहली भेट इस मेले में ही होती है । घर से फालतू लेकिन सर्वक्षेम के लिए अनजाने समर्पित, दयाल अपनी साधारणता में ही असाधारण है । चमरपिल्ली सुगनी (चमरपिल्ली केवल एव्यूज नहीं उसके गुण-कर्म का बोधक भी लगता है) छविलवी, सिरिया, सरजूसिह वगैरह से पाठक मेले मे ही मिल लेता है । कुश्ती-दंगल, अखाडा, और न जाने क्या-क्या देखने को मिलता है । सीपिया नाले का परिवेश करैता के गुह्य को जिस आतक के साथ छिपाये हुए है, उसका आभास यहीं मिल जाता है । यदि मेले की पेशकश शुरू मे न होती तो पाठक को गांव की विविधता का ऐसा अनायास और सहज परिचय न मिल पाता ।

कैसी पैनी अंतर्दृष्टि है, कहां-कहा झाक आये हो । मन की अतल गहराइयों मे छिपी लालसा-वासना को कैसे उघाड कर रख दिया है । विपिन, पुष्पा, देवनाथ, कनिया, पटनहिया भाभी जिसे ढांपने-छिपाने मे सदैव सतर्क रहे उसे अंकित करने की सतर्कता और अधिक स्पृहणीय बन गयी है । खलील मियां की व्यथा को वही समझ सकेगा जिसने भारत विभाजन से पहले का देहात देखा हो । खलील मियां करैता गांव का सच्चा मुस्लिम-हिंदुस्तानी है । उसे अंकित करने में विभाजन का घातक प्रभाव स्वत: मुखर हो उठा है । विभाजन का प्रभाव भारत के मुसलमान

पर केवल आर्थिक या राजनीतिक ही नहीं—सांस्कृतिक भी है । यह खलील मियां के अतर्मन की झांकी से प्रकट होता है । शशिकांत और मुंशीजी पर भी तुम्हारी नजर गयी है और दोनों का चारित्रिक विरोध गांव के यथार्थ को बेपर्दा कर देता है। पात्रों के ब्योरे में मैं नहीं पडना चाहता क्योंकि पत्र व्यर्थ लंबा होगा लेकिन मुझे हर पात्र का प्रयोजन सार्थक लगा है । पात्र और उनका चरित्र गांव की जिंदगी के हालात पर जिस तरह रोशनी डालते हैं, उससे गांव पाठक की नजर में उजागर हो उठते हैं ।

करैता के कुत्सित-कदर्थित, गर्हित-पीड़ित, मत्सरी-ईर्ष्यालु, सकीर्ण-स्वार्थी, नारकी-पातकी, लोलुप-लालची पात्रों के बीच निर्भीक, सत्यप्रिय, न्यायपरायण और सहिष्णु चरित्रों की निष्ठा और तितिक्षा देखकर मुझे नाचिरागी मौजे से उम्मीद बंधी थी, लेकिन उपन्यास के अंत तक आते-आते करैता का ठनकना उग्र होता गया और मुझे लगा कि गांव सचमुच ही निर्यात के लिए रह गये है । "जो भी अच्छा है, काम का है, वह वहां से चला जाता है ।" देवनाथ भी गांव छोड़ गया, विपिन जौनपुर खिसक गया । और तो और, बहाना करके दयाल भी विपिन के साथ हो लिया । सुरजितवा ने भी करैता छोड़कर कस्बे में लौंड्री खोल ली । लौंड्री मात्र धोबी क धंधा है या इसका भी कोई प्रतीकार्थ है ? कस्बे के लोगो का मैल उतारना--या उनकी सफेदपोशी के प्रति आकर्षण से लौड्री खोलना सुरजितवा की प्रेरणा है ? अपने ग्राम जीवन के साथ लिपटी कटु-तिक्त स्मृतियो को समेट कर जब विपिन करैता छोड़ गया तब मिसिर चाचा को लगा कि जिनके पास चमक है वे खिसक रहे है । यही दुर्विपाक गाव की जीवनी-शक्ति को जर्जर कर रहा है । गांव वाहियात हो गया है यह बात मिसिर की समझ मे शायद न आयी हो क्योंकि वे तो यही कहते रहे कि "असली चीज तो धरती है, धरती ही खेमा है, खेमा खराब होगा तो इंतजाम बिगड़ेगा...।" मिसिर की बात विपिन ने भले ही न समझी हो पर बात बड़े पते की है जिसे स्वाधीन देश के नेताओ को समझना होगा—जनता को भी समझना होगा । धरती, खेमा, गाव, करैता...। ये सब वाहियात नहीं है, इनकी पकड कमजोर पड़ने से इन्हें महानगरों ने वाहियात बना दिया है । मैं नहीं कहता कि गांव बेगुनाह हैं लेकिन एक हद तक भले और भोले जरूर हैं ।

मेरे मन पर उपन्यास एक गहरा प्रभाव छोड़ गया है ? उजडते-कलपते गांवों के बसाने का दायित्व किस पर है ? दरोगा को छोड़कर करैता मे कोई अधिकारी नहीं गया । आबपाशी, आबकारी, परिवार-नियोजन, कृषि, शिक्षा अधिकारी किसी के दर्शन नहीं हुए । करैता इतना पिछडा हुआ है कि साइकिल का भी उसमें प्रवेश नहीं है । ट्रैक्टर, मोटर, इंजन की तो बात ही दूर है । इस देश के गांव को यदि करैता ही बने रहना है तो स्वतंत्रता की सार्थकता क्या है ! क्या गांवों के भाग्यों

मे करैता का ठनकना ही बदा है । शशिकांत, देवनाथ, खलील मियां, विपिन और दयाल की क्या करैता में सचमुच आवश्यकता नहीं रह गयी है । तुमने बहुत बड़ा सवाल खड़ा कर दिया । सत्तर-बहत्तर लाख गावों का देश है यह भारत। क्या करैता की विडंबना ही उनके भाग्य मे लिखी है । प्रेमचंद ने किसान, मजदूर, पंडित, पटवारी, महाजन, पुलिस-सिपाही तक ही गांव को अंकित किया था । तुम्हारी दृष्टि गांव के कण-कण में व्याप्त हो गयी है । करैता के माध्यम से वह दृष्टि भारत के पीडित-शोषित गावो के झुंड पर जाती है । लगता है कि झुड़ होना ही अभिशाप है, कलंक है । विपिन, देवनाथ और शशिकांत झुंड नहीं हो सके, अंधेरे गांव को छोड चिराग की तलाश में शहर चले गये। क्या सचमुच उन्हें वहां चिराग की रोशनी मिली होगी ? उपन्यास मेले के दृश्य से शुरू हुआ था । मेला हमेशा नहीं रहता सो इस गाव का मेला भी एक दिन खत्म हुआ—मेला खत्म होने की गूंज मेरे मन मे ध्वनित और प्रतिध्वनित हो रही है । इस गूंज की व्यंजना को पाठक बडी कसक के साथ समेटता है ।

बहुत कुछ था मेरे मन में कहने को, लेकिन अब पत्र लिखते समय भूल गया हूं । जो स्मरण रहा लिख दिया । खत में ज्यादा लिखना ठीक भी नहीं है। पुरानी मसल है-- थोडा लिखा बहुत जानना । ज्यादा क्या लिखूं । सस्नेह ।

तुम्हारा
विजयेंद्र स्नातक

डॉ. शिवप्रसाद सिंह
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी

चार

रेलवे क्वा. 769-B
मलाका कॉलोनी
इलाहाबाद
13.2.68

प्रिय भाई,

'अलग-अलग वैतरणी' अभी पढ़ा है । कहानियां तो पहले से ही पढ़ता रहा हू, और उन्हें पढते समय हमेशा लगा जैसे 'इंटेन्स एक्सपीरियेंस' से गुजरा हूं । उपन्यास पढने पर अनुभव कुछ दूसरी तरह का हुआ । मैं तो तिलमिला गया भाई, बडा 'भितरघउवा' मारा है आपने । करैता की 'ठनक' आप चाहे पूरी तरह इसमें

न उतार पाये हो लेकिन दिया लगान के समय सिवान पर खड़े होकर मैंने जिस रूप में वह 'ठनक' सुनी है उसे 'अलग-अलग वैतरणी' में शुरू से अंत तक पाया है । शायद, इसके पीछे कारण यह हो कि करैता गांव का वाशिदा होने के नाते मेरे लिए कुछ अद्भुत न रहा हो (आपसे पिछली बार मिलने पर मैंने बताया था कि मेरा घर कैथी गांव में है)। मैंने भी लगभग उसी तरह देखा-सुना है जैसा आपने । लेकिन सोचता हूं क्या वे भी इस 'वातावरण' और स्थितियों से इसी तरह संपृक्त हो पाये जिनका इस परिवेश से परिचय महज किताबी यानी ताराशकर के 'गणदेवता' के माध्यम से है। शायद नहीं । और तब वे न्याय भी कर पायेंगे। जग्गन, मिसिर, दयाल, निशिकांत, हरिया, सिरिया, पटनहिया काकी, दुलरी, सुगनी और कनिया के साथ ? मुझे संदेह है । माटी के खिलौने गढकर बिखरा तो दिया है आपने लेकिन भाई, इतने सच्चे गढे हैं कि सब इनको पहचान नही पायेंगे। माटी पहचाननेवाले ही कितने हैं ? खिलौनों की बात तो दीगर है ।

हवा कितने तरह की है, कैसी है, इसकी जानकारी हिंदी के बस एक लेखक को है–निर्मल वर्मा को । और गावो की हवा के बारे में जानना हो तो आपका साहित्य पढा जाये ।

'अलग-अलग वैतरणी' में रचना-दृष्टि के स्तर पर बन रहे उस सतुलन का सकेत मिलता है, जिसे मै 'मुक्त नियंत्रण' की सज्ञा देना चाहूंगा । लेकिन एक शंका है। विपिन और पुष्पी को करुणा की अपेक्षित गहराई तक लाकर ही क्यो छोड दिया है ? क्या भूसी की तरह सुलगते रहकर मानवीय सवेदना की प्रगाढता बढाने तक ही उनका अस्तित्व है ? या इससे भी आगे उनकी कुछ सार्थकता हो सकती है ? फिर पटनहिया काकी और देवनाथ तथा विपिन के प्रसग का -'जस्टिफिकेशन' कहा है ?

एक शका और है । उपन्यास चाहे आचलिक न हो लेकिन लगता है कि आपकी दृष्टि आचलिक ही रही है । कहीं ऐसा तो नहीं है कि मूल प्रतिज्ञा आचलिक की ही रही हो लेकिन प्रयास के बावजूद वैसा न बन सकने पर अपने बचाव के लिए (असामर्थ्य बोध कहना ठीक न होगा) इसे गैर आंचलिक कह दिया हो।

'कल्पनाए' मे इसकी विस्तृत समीक्षा करने का विचार है ।

पत्र दे ।

आशा है सानंद होगे । कभी बनारस आऊंगा तो विस्तार से बाते होंगी । शेष शुभ ।

—धनंजय

पांच

भाटे वकील का मकान,
तिलक नगर, खाम गांव
जिला बुलढ़ाना (महाराष्ट्र)
24.2.69

श्रीमान् डॉ शिवप्रसाद सिंह जी को सादर प्रणाम। क्षमा कीजिएगा। न मै आपसे परिचित हू और न मेरा आपसे कोई खास कार्य है। व्यर्थ मे ही आपको पत्र लिखकर, आपको पढने का कष्ट दे रहा हू और आपका समय ले रहा हूं। परतु बिना लिखे मुझसे रहा नहीं गया। आपका लिखा हुआ उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' मैंने पढा और मै आनद विभोर हो गया। सोचा कि आपको बधाई देना मेरा कर्तव्य है। युगचित्र खीचनेवाले उपन्यासों मे, मै 'साहेब बीवी और गुलाम' तथा 'गणदेवता' को सर्वश्रेष्ठ मानता था, परतु 'अलग-अलग वैतरणी' उससे भी बढकर है। आपकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का कमाल है। और फिर कैसी सुंदर चित्रकारी भाषा में वह सब प्रस्तुत हुआ है। कहीं भी सरसता कम नहीं होती और कहीं भी स्तर नीचे नही आता। आपके उपन्यास मे कितने ही ऐसे प्रसंग है, जहां अन्य सामान्य उपन्यासकार बह जाता, उच्छृखल हो जाता, निम्न स्तर पर आ जाता। परतु आपने बडे ही सयम से काम लिया है। कई बाते केवल ध्वनित-सूचित कर दी है, जिनसे उनका सौदर्य और भी बढ गया है। पढते समय बार-बार प्रतीत होता है कि इस लेखक की लेखनी प्रेरणादायिनी और स्फूर्तिशालिनी है। आपका यह उपन्यास विपुल परीक्षण-निरीक्षण, मनन-चितन, और सहानुभूति तथा सद्भावना का उत्कट परिपाक है। उसकी जितनी भी और जिस पहलू से भी प्रशसा की जाये, उतनी थोडी ही होगी। ईश्वर करें आपके हाथो से श्रेष्ठतर साहित्य सेवा होती रहे। कलाकार महोदय, मै आपका हार्दिक अभिनदन और बार-बार सादर प्रणाम करता हू। विपिन अंब नगर में पहुंच गया है। आज का नागर-जीवन तो भयानक है और फिर विपिन अधिकतर छात्र जीवन मे सगरस होगा। उस छात्र जगत् मे तो हाहाकर मचा है। आशा है उधर भी आप ध्यान देगे। भला मैं आपको क्या सुझाव दू ? धृष्टता के लिए क्षमा चाहता हूं। 'अलग-अलग वैतरणी' एक श्रेष्ठ कलाकृति है, महान् और प्रेरक कलाकृति है । जिसका अचल विश्वव्यापी होगा, वही उस आचलिक कहेगा ।

भवदीय
प्र.ग सहस्त्रबुद्धे

छः

13, विलिंगडन क्रिसेंट
नयी दिल्ली-11
11.3.1969

यह पत्र आपकी कृति 'अलग-अलग वैतरणी' पढकर आपको साधुवाद कहने और अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए लिख रहा हूं । पिछले अक्टूबर में जब मैं अस्पताल में पड़ा था अज्ञेयजी ने सर्वप्रथम मुझे पढने के लिए कहा था । यो मैं देर-सबेर आपकी सभी कृतिया पढ़ता हू । तीन रोज लगातार पढकर अलग-अलग वैतरणी मैने कल शाम को समाप्त किया । क्योंकि बडी-सी अच्छी रचनाएं मेरे मन को न जाने क्यों भारी-सी और उदास कर जाती हैं । कल मैने ऐसा ही अनुभव किया है । उस भारीपन और उदासी को साहित्यिक आस्वादन का सुख और मानदड भी मानने लगा । कुछ दिन पहले मैं श्रीलाल शुक्ल का रागदरबारी भी पढ चुका था । आपने निश्चय उस उपन्यास को पढा होगा । उसमे जो शिवपालगज है, वही करैता भी है । पर शुक्ल ने उसे तटस्थता और व्यग्य के साथ देखा तो आपने उससे एकात्मकता की । अपनी नस-नाडी मे उसको विविध विधि अनुभव करके । यो तो मेरा जन्म गांव में नहीं हुआ, और न तो मै गांव मे रहा । पर मैं गाव से असंपृक्त अपने को नही समझ पाता । प्रयाग के जिस भय में मेरा जन्म हुआ था, वह गांव का ही एक टुकडा था । इसलिए गाव की आत्मा को अपनी सहानुभूति देने मे मैं पीछे नहीं रहता । विशेषकर तब जब आप जैसा कथाकार उपन्यास को समस्त शक्ति से प्रस्तुत करे । इस उपन्यास को मैं फिर पढना चाहूंगा। उन पात्रों से बाते करना चाहूंगा जिन्हे आपने सजीव कर दिया है । इस समर्थ कृति पर एक बार फिर बधाई और शुभकामनाएं ।

सादर
बच्चन

सात

29/17, शक्तिनगर,
दिल्ली-7
13.3.68

प्रिय शिवप्रसादजी,

आपको जो भी सिद्ध करना या कराना है, वह किये बिना तो मानोगे नहीं। अब क्यों गरीब लेखकों को दुखी कर रहे हो ?

खुद वैतरणी पार उतर गये, अब बाकी लोग ?

गलत जगह से बहुत जोर है कि मैं ही समीक्षा करूं—नहीं करूंगा । गांव के बारे में कुछ नहीं जानता उम्मीद करना बेकार है, मगर गलत मत समझना।

और ? उत्तरकाड कब आ रहा है ? उपन्यास लिखकर देना था न ? एक गर्मिया और भी आ गयीं ।

सस्नेह
राजेंद्र यादव

आठ

नागपुर
8.5.68

आदरणीय श्री शिवप्रसाद सिह जी,

आपका 'अलग-अलग वैतरणी' उपन्यास पढते-पढते प्रेमचंद की याद आती है। प्रेमचंद के बाद यदि किसी ने गाव की धडकन को पढा है, उसे गहराई से पकड़ा है, तो आपने । गांव के परिवेश को आपने गहराई से पकडा है, आपकी पकड गहरी तथा अनुभूति गहरी है । 'गोदान' के बाद, 'अलग-अलग वैतरणी' ग्रामीण जीवन को जीते-जागते रूप में चित्रित कर सका है । 'करैता' भारतीय ग्रामों का प्रतिनिधि है । आज हमारे ग्रामीण भाई नयी रोशनी को ग्रहण करने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं और पुराने को छोड नहीं पा रहे हैं । पुरानी आस्थाएं टूट रही हैं । पुरानी परंपराएं चरमरा रही हैं । हमारे गांव एक संक्रांति काल से गुजर रहे हैं । गाव के पढ़े-लिखे युवक गांवों में अपने को समायोजित (adjust)

नही कर पा रहे अत शहरों की ओर दौड रहे हैं । गांव में वे अपने को अजनबी महसूस कर रहे है, अत गांवों का 'क्रीम' शहरो मे जा रहा है । गांव उजडते जा रहे हैं । गांव ज्यों के त्यों अपढ, गवार, उजड्ड है क्योकि गांव की नियति सिर्फ निर्यात करना है। अपनी प्रतिभाओ से गाव लाभ नहीं उठा पाते । देश के सामने यह एक बडी समस्या है । इस नियति को अब रोकना ही पडेगा ।

नवीन शिक्षा, रोशनी का प्रभाव गावो तक नहीं पहुच पाता । गाव के लोग अब भी पुलिस आदि सरकारी कर्मचारियो द्वारा शोषित किये जा रहे है । गावों मे अब भी झूठा गौरव ओढकर लोग अदर से टूटे जा रहे है । अदर सब कुछ जर्जर हो गया है । गाव की इन तमाम समस्याओं को आपने बारीकी से परखा है और उसे वाणी दी है । इसी प्रकार के कई कथानक मेरे मन मे भी चक्कर काट रहे थे, पर आपका उपन्यास पढकर लगा कि आपने मेरी बातो को वाणी दे दी । ऐसी श्रेष्ठ रचना के लिए मेरी हार्दिक बधाइया । उपन्यास मे अचल विशेष का प्रभाव स्पष्ट झलकता है । पर वह दुरूह नहीं है ।

मैने भी ग्राम्य जीवन पर कुछ कहानिया लिखी हैं । मै भी गाव की उपज हू । गाव से मेरा घनिष्ठ सबध है । ग्राम्य जीवन पर आपका उपन्यास पढकर बडा संतोष हुआ। 'अलग-अलग वैतरणी' पर कुछ अधिक लिखने की इच्छा है । हो सका तो एक लेख या रिव्यू लिखूगा । शेष सब ठीक है । भविष्य मे भी इसी प्रकार की रचनाएं आपके द्वारा लिखी जाये, यही कामना है ।

भवदीय
रामगोपाल सोनी

नौ

10 6 69

श्रीमान् शिवप्रसाद सिंह जी,

मेरे पत्र के उत्तर मे आपका पत्र मिला, मैने पूरी किताब स्वय ही नहीं पढी–बल्कि अपने परिवार के वयस्कों, पड़ोसियों तथा हिंदी मे रुचि रखनेवालों मे से कई को पढवाई है--मेरे विचार में यह एक दारुण स्थिति की सशक्त रचना है -ऐसा सजीव चित्रण, कथा सरित तथा भाषा प्रवाह मैंने इधर अनेक वर्षों से नहीं पढा । आपने सोच ही नहीं–रास्ता भी दिखाया है, अपने पत्र मे आपने लिखा है कि इस विषय को लेकर अनेक लोग चिंतित हैं, परंतु रास्ता नहीं मिलता ।

मेरे विचार मे आपने जग्गन मिसिर जैसे एक सबल, जागरूक, सशक्त तथा मेहनती किसान के चित्रण मे रास्ता बनाया है । आशा थी कि विपिन वह पात्र होगा, परंतु वह उस लाचारी में आ गया जिसमे सभी आते हैं और जूझा नहीं, न अपनी प्रेयसी के बारे में न गांव के, उससे अधिक श्रेय शशिकात को है, परंतु नहीं भागा तो जग्गन मिसिर, वह जूझा भी और झेला भी। शरीर तथा मन का बली किसान हमें चाहिए—आशा है कि आपकी इस कृति का उचित मान तथा स्वीकृति होगी।

मैं हिंदी भाषी हू । मध्य प्रदेश का रहनेवाला तथा यहां प्राध्यापक हूं शल्य चिकित्सा मे। यद्यपि अब लेखकों की आर्थिक समस्या उतनी शोचनीय नहीं है, जितनी कभी थी या अभी भी है—कोई भी हिंदी कवि या लेखक यदि अर्थाभाव से इलाज नहीं करा सकता तो उसके लिए मैं तथा मेरे कई साथी प्रस्तुत हैं। नि शुल्क तथा अच्छा क्योकि हम लोग सब मेडिकल कॉलेज में है—सुना था कि 'निर्गुण' द्विजेद्रनाथ कभी रोगग्रस्त थे, मै चाहूगा कि आप यह संदेश जरूरतमंद को पहुंचा दे । किराया वापसी का भी हम देंगे ।

विक्रम मरवाह
सुप्रसिद्ध अस्थि सर्जन

दस

एस.एस. इंटर कॉलेज,
इलाहाबाद

आदरणीय डॉ साहब,

सादर नमस्कार !

'अलग-अलग वैतरणी' पढकर हर्ष हुआ । बहुत-बहुत बधाई है आपको । आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में 'अलग-अलग वैतरणी' वह उपन्यास है, जिसमें परिवेश पूर्णतः अंचल ही है, पर उसमें जो जीवन चित्रित किया गया है, और जिस प्रकार चित्रित किया गया है, वह आंचलिक उपन्यासों में व्याप्त एक बहुत बडी खाई को पाट देनेवाला है । एक अवरोध की स्थिति को गतिशीलता प्रदान करनेवाला है, लेखक की दृष्टि 'करैता' अंचल के जीवन को ही उद्घाटित करती है, पर यहां संप्रेषणीयता की कठिनाई से वह सर्वथा मुक्त भी है । यह बड़े महत्त्व की बात है । उपन्यास आंचलिक है, साथ ही व्यापक संवेदना की क्षमता-शक्ति से परिपूर्ण भी । हर प्रदेश का पाठक इसमें अपने प्रदेशांचल की रूपाभा एवं संपूर्ण छविमयता भास्वर होते हुए देख सकता है । संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि

स्थानीयता एवं सार्वभौमता का समन्वय बिंदु यदि कहीं देखना है तो 'अलग-अलग वैतरणी' में देखा जा सकता है ।

लेखक की दृष्टि से बाह्य परिवेश के साथ ही करैता अंचल के आंतरिक जीवन की गहराइयों को देखने में समर्थ हैं । बाह्य परिवेश चित्रण के साथ ही अनुभूति की तीव्रता और अभिव्यक्ति के यथार्थ चित्रण के कारण उपन्यास का शिल्प भी महत्त्वशाली हो गया है ।

आंचलिकता, शिल्प और प्रवृत्ति दोनों ही रूपों में इस उपन्यास में दृष्टिगोचर होती हैं।

'अलग-अलग वैतरणी' के संबंध में मेरी यह तत्काल की प्रतिक्रिया है। जिस महत्त्वपूर्ण बात की ओर मेरी दृष्टि...(अंतिम वाक्य पढने में नहीं आता)..

पत्र की प्रतीक्षा में....

आपका

पातेराम सिंह यादव

ग्यारह

4, मंगल निवास

28, शिवाजी पार्क

बंबई-28

24.9.68

प्रिय डॉ शिवप्रसादजी,

गत अप्रैल में आपसे भेंट हुई थी ।

इलाहाबाद होता हुआ मैं बनारस आया था। आपके प्रकाशक 'लोक-भारती' के तरुण सज्जनों ने 'अलग-अलग वैतरणी' भेज देने का वादा किया था जिससे 'टाइम्स ऑफ इंडिया' मे उसकी समीक्षा की जा सके। इस पत्र में हिंदी पुस्तकों की समीक्षा का उत्तरदायित्व मुझ पर है । यह बात उन्हें ज्ञात थी । संभवतः किसी कारणवश वे लोग आपकी यह श्रेष्ठ कृति न भेज सके।

यहां लौटकर मैंने उसे प्राप्त किया और आद्योपांत इसका रसास्वादन कर जो आनंद मिला, वह अद्भुत था । बहुत समय से इस संबंध में आपको लिखना चाहता था, यद्यपि इस प्रकार के पत्र लिखने का हमारे देश मे सभवत: कम ही रिवाज है, और आज भी अपनी शुभकामनाएं पहुंचाने के लिए ही यह पत्र लिखा जा रहा है । और भी उपन्यास अवलोकन किये, किंतु आपके पात्र अभी भी आंखों

के सामने चलते-फिरते दिखायी दे रहे हैं । समयाभाव से कहीं कुछ न लिखा जा सका । अब आपको ही लिखकर क्षणिक संतोष प्राप्त कर रहा हूं ।

आशा है सपरिवार प्रसन्न होगे। शुभकामनाओं के साथ ।

आपका ही
जगदीश चंद्र जैन

बारह

4.11.68

प्रिय डॉ शिवप्रसादजी,

सप्रेम नमस्ते !

लौकिक दृष्टि से हम एक-दूसरे से अपरिचित है । परंतु कल ही मैने आपका उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' पढकर समाप्त किया । बडा प्रभावित हुआ । करीब-करीब 600 पृष्ठो की यह पुस्तक हाथ में लेते समय मन में विचार आया था कि इसे पढ़ पायेंगे ? परंतु सच मानिए मैंने एक ही दिन में सवेरे सात से लेकर शाम के 4 तक सपूर्ण उपन्यास पढने के पश्चात् ही पुस्तक नीचे रखी और फिर सायकाल ही मे एकदम भोजन किया । उपन्यास बड़ा सुंदर बन पड़ा है । हमारे समाज की वर्तमान स्थिति का चित्रण आपने बडे ही प्रभावी रूप से किया है । राष्ट्र जीवन के अनेक पहलुओं को आपने प्रकाशित किया। आपको भय है कि इसे आंचलिक उपन्यास न कहा जाये । केवल भाषा और उत्तर प्रदेश के किसी ग्राम का जीवन-वर्णन ही इसे माने तो निश्चय ही यह आंचलिक उपन्यास है। परंतु मेरी समझ से कुछ हेर-फेर के साथ यही संपूर्ण भारतवर्ष के गांवों का जीवन है, नाम और सबधो मे स्थानों में अंतर करने से काम चल जायेगा । मैं पजाब, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक, मध्य प्रदेश और मद्रास प्रांतों में पर्याप्त रूप में घूम चुका हूं । अत मैं जो कुछ कह रहा हूं, अनुभव के बल पर । मेरी दृष्टि से वह हमारे देश की वस्तुस्थिति है। बुरा न मानें एक बात जरूर लिखूंगा--उपन्यास मेरी दृष्टि में आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो गया है। और दूसरा, समस्याएं तो आपने सामने रख दीं, कुछ हल भी तो सुझाते ? मैं और गोवा विधानसभा के सभापति All India Radio पर जनवरी में एक परिसंवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। आपके उपन्यास की पार्श्व भूमि पर ही 'राष्ट्रीय एकात्मकता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है ?' इस विषय को हम स्पष्ट करनेवाले हैं । आज के इस भारतीय जीवन

के कारण ही हम उठ नहीं पा रहे हैं, ऐसा मुझे लगता है। परंतु यह तो 'है' का वर्णन हुआ 'फिर' का वर्णन कौन करेगा ! साहित्यिक ये यह अपेक्षा होती है कि दृष्टा होने के कारण वह मार्ग सुझाये ।

अपरिचित होने पर भी जैसा मन मे आया, लिखा है, धृष्टता के लिए क्षमाप्रार्थी हूं । इसी बात को लेकर यदि हम मित्र बन सकें, तो परमेश्वर की कृपा समझूंगा।

बबई विश्वविद्यालय ने गत तीन वर्षों से गोवा में यूनिवर्सिटी सेटर खोल रखा है । आगामी 5-6 वर्षों में स्वतत्र यूनिवर्सिटी बने ऐसी अपेक्षा है । मैं यहा हिंदी विभाग का काम देखता हूं और पढाता भी हू । हूं रहनेवाला ग्वालियर का, कभी बनारस मे ब्रह्म घाट पर मेरा निजी मकान भी था । अब महाराष्ट्र मे हूं 1953 से । इति,

भवदीय

शे.गो. राजवाड़े

गुरुदेव के छः पत्र

[महाविद्यालय की राजनीति एव व्यक्तिगत उलझनो के कारण गुरुजी से पत्र-व्यवहार भी कम हो पा रहा था । उनकी अस्वस्थता का समाचार मुझे इसी पत्र से मिला । मेरे किसी मित्र ने मुझे कुछ नहीं लिखा।]- *संपादक*

एक

सुधर्मा
13, गुरुधाम कालोनी
वाराणसी-221005
26.7.78

प्रिय प्रेमचद,

तुम्हारा पत्र मिला । मैं पिछले दो साल से सियाटिका से पीड़ित हू । दायें पैर से चला नहीं जाता। पटना से लेकर दिल्ली तक के डॉक्टरों को दिखाया; पर कोई इलाज नहीं मिला। इसी चक्कर में लिखना-पढ़ना सब बंद है । दिल्ली जाते वक्त तुम्हारी याद आयी थी, पर सकट को लेकर कितनों को परेशान करूं। आयुर्वेदिक, एलोपैथिक, होम्योपैथिक सब चिकित्साएं कराकर थक गया, यह रोग शायद जीवन साथी बनकर आया है। यूनिवर्सिटी भरे मन से जाना और ड्यूटी पूरी कर देना इतना ही शेष है, बाकी सब समय दुश्चिंताओं में व्यतीत होता है। स्वास्थ्य काफी गिर गया है। तुम्हारा भी कोई हालचाल मालूम नहीं होता। नजीबाबाद नसीबाबाद तो नहीं बनना चाहिए। तुम्हें काशी आये भी काफी दिन हो गये, हो सके तो आओ। कुछ मन हल्का होगा।

शेष ठीक है । नरेंद्र मंजु दोनों ही प्राचीन भारतीय मापदंड से विवाह योग्य हो चुके हैं । अब यह कार्य भी कर ही देना है ।

सस्नेह
शिवप्रसाद सिंह

दो

13, गुरुधाम कालोनी
वाराणसी-10
8.8.88

प्रिय प्रेम,

तुमने शायद नरेंद्र को कोई चिट्ठी लिखी थी...। तुम इतना अस्वस्थ रहते हुए भी शिवप्रसाद नामक व्यक्ति के लिए क्यो छटपटा रहे हो । क्या किया शिवप्रसाद सिंह ने पूरी जिंदगी बस एक अपठ गंवार व्यक्ति के अनुभव ही तो मिले –वह भी सिर्फ उन्हें जो अपने को उनका पाठक कहते हैं ।

इस स्थिति में जब मेरे पाठकों की संख्या लगातार बढ़ रही है, मै लगातार आलोचको के व्यूह-भेदन मे व्यस्त हू तो तुम्हे अपने स्वास्थ्य को देखना चाहिए –भाड मे जाये शिवप्रसाद सिंह । कृपया अपने को व्यर्थ के श्रम से बचाइए।

सस्नेह
शिवप्रसाद सिंह

तीन

[उद्‌बोधन एव अपने विद्यार्थी के प्रति गुरुवर की चिता।]– *संपादक*

21.8.88

प्रिय प्रेम,

तुम्हारा लबा-सा पत्र मिला। इसे पढ़कर मुझे लगा कि तुम अनावश्यक रूप से 'इसे एकमात्र लक्ष्य' बनाकर परेशानियो में फंसते जा रहे हो। पंडितजी की बात अलग थी। मैंने तो उनकी षष्टिपूर्ति पर जो कार्य किया, वह बहुत आसान था। मैंने कुछ विभागीय मित्रों से लिखवाया, कुछ पहले के प्रकाशित लेखादि थे, उन्हें जोड़-जाड़ कर स्तूप खड़ा कर दिया। तुम्हें याद होगा कि भूर्जपत्र साटकर कवर पृष्ठ भी मेरा बनाया हुआ है। तुम्हारे साथ में समस्याएं दूसरी आयेंगी।...गोपेश्वर के पुत्रों का हिमालय छूने के लिए हाथ बढाना जीवन-सिद्ध अधिकार है । मैं पिछले 10 वर्षों की पीडाजनित स्थिति को पार करूंगा, तीन-तीन उपन्यास छल्ले की तरह आसमान में उछाल दूंगा । जिन्हें लोको के लिए प्रकाशकों की होड़ थी और मैंने मन ही मन कहा—लोको इन्हें, जिसकी मुट्ठी में जितनी शक्ति

होगी कोई-न-कोई छल्ला तो वह पा ही जायेगा—उस वेदना से उठकर इस तरह पहले से कई गुना तीव्र शक्ति के साथ पुनः यवनिका हटाकर मंच पर आ जाऊंगा, इसे तो मैं ही नहीं, मेरे शत्रु भी यही समझते थे । असंभव को संभव बनाने के लिए ही पुत्री गयी मुझे छोड़कर । अब लोग कहते हैं—गुरुदेव, मंजु तो गयी, पर सरोज की तरह नहीं जिसके कारण निराला विक्षिप्त हो गये। एक नयी जीवनी से आपको भर देने का कार्य भी उसी से जुड़ा है। वही है जिसने आपको अथाह स्मृतियों और अनुभूतियों से भर दिया है ।...खैर, परेशानी से बचो, वरना मेरा जी सकना सभव नहीं रहेगा ।... सस्नेह सबको आशीष !

—शिवप्रसाद सिंह

चार

6.1.89

प्रिय प्रेम,

तुम्हारा पत्र मिला । बच्चे जब चिढ़ाते हैं तो जान लेना चाहिए कि वे सही रास्ते से जा रहे हैं ।

जैनेंद्रजी पर मैंने एक टिप्पणी लिखी थी, जिसे विष्णु प्रभाकर ने संस्मरण जैनेद्र नामक ग्रंथ में दी है । वह टिप्पणी तब लिखी जब वे जीवित थे । बहुत सख्त है। मैंने जैनेंद्र और मुनिवर स्थूलभद्र की तुलना करके जैनेंद्र को बहुत कोसा था ।

अब मैं उनके लेखक पर नहीं चिंतक पर लिख रहा हूं । जहां तक मुझे याद है, तुमने मेरा और जैनेंद्र का एक संयुक्त चित्र लिया था । दिल्ली में । वह अगर उपलब्ध हो तो उसकी एक प्रति, क्योंकि निगेटिव सुरक्षित होगा तुम्हारे यहां, यथाशीघ्र भेजो । सबको प्यार और आशीर्वाद ।...

षष्ट्यब्द समारोह के लिए क्यों चिंतित हो। समझ में नहीं आता कि मुझसे जुड़े लोगों को यह परेशानी क्यों हो रही है। अरे, साठ वर्ष की समाप्ति पर ऐसा क्या हो गया ? क्या समारोह से नियति की घड़ी की सुइया पीछे मुड़ जायेंगी ? बहुत देख ली यह दुनिया लोग यानी श्री मां और अरविंद कहते हैं, जितनी बडी कठिनाई होगी उतनी ही बडी उपलब्धि। कठिनाई तो किसी प्रकार झेल ली, पार हो गये, बहुत बडा पत्थर फेंका था प्रकृति ने।

सस्नेह
शिवप्रसाद सिंह

पांच

[प्रस्तुत ग्रथ के सदर्भ मे एक पत्रक मेरे द्वारा विविध विद्वानो को प्रेषित किया गया था । पत्र उसी से सबंधित है।] —संपादक

वाराणसी-221010
2.2.89

प्रिय प्रेम,

तुम्हारा पत्र मिला । मैंने जो बार-बार कहा कि तुम अपने को स्वस्थ रखने के लिए पूर्णत' शांति और मौन में डूबे रहने का अभ्यास करो, उसे तुमने नहीं माना और अनावश्यक तनाव के बीच कूद पडे । तुम अगर कूद पडे ही हो और चाहते हो कि तुम्हारे मनोनुकूल 'शिवप्रसादीय स्पर्श' के अनुभवी लोगों का जमघट हो तो उन्हें मत लिखो जो अह को गलाना अबौद्धिक व्यापार मानते हैं । तुम्हारे लिफाफे डॉ बच्चनसिंह के लिए और लगभग 100% रामनारायण शुक्ल के लिए कोई भी अंर्थ नही रखेंगे। तुम उन लोगो पर डिपेंड करो जो बिना तनाव के, बिना स्वार्थ के, बिना प्रलोभन के शिवप्रसाद सिह के साहित्य पर लिखते रहे है...।

—शिवप्रसाद सिंह

छः

13, गुरुधाम कालोनी
वाराणसी-221010
11.8.90

प्रिय प्रेम,

अभी कल नजीबाबाद आकाशवाणी केंद्र से दक्षिणा का चेक आया तो उसी से जाना कि इंटरव्यू 7.8.90 को प्रसारित हो चुका है। मैंने तो इन्टरव्यू के बाद उसे सुना भी नहीं । ठीक-ठाक तो रहा ही होगा । वैसे तुम्हारे केंद्र निदेशक, गढवाली कवि जी बहुत ही सज्जन और शालीन व्यक्ति हैं । प्रायः केंद्रों पर ऐसे लोग कम ही मिलते हैं । हां, यह बात जरूर कभी-कभी खटकती है कि इस तरह के सज्जन लोग मेरी पीढी से कुछ कम पर नयी पीढ़ी से ज्यादा वयोवृद्ध हैं और जब हमारी पीढ़ियां नियमानुसार कालेश्वर में विलीन हो जायेंगी तो आधुनिक दरिद्र

पीढी के पास क्या बचेगा। खैर, इसकी चिंता किसे है । अलग से सरोकार-2 की प्रति जा रही है। इधर 1857 के बाद दूसरी बार स्वतंत्रचेता साहित्यकारों का जमावड़ा इलाहाबाद में रहा । वहां निर्मल वर्मा से बातचीत हुई उन्होंने शैलूष और मंजुशिमा की प्रतियां मांगी मैंने वहीं दे दीं । उनसे बातचीत जारी रखी जाये तो वे अपना सही निर्णय लिखवा देने में हीला-हवाली नहीं करेंगे । शेष ठीक है। सबको आशीष।

—शिवप्रसाद सिंह

संपादक की नियति

एक

A-5/3 राणाप्रताप बाग,
दिल्ली-7

प्रिय डॉ प्रेमचद,

आपका पत्र मिला । डॉ. शिवप्रसाद सिंह की रचना 'अलग-अलग वैतरणी' को पढे चौदह वर्ष हो गये । मैं तो उसका कथानक भी भूल गया हूं । डॉ. सिंह के लेखन का मै प्रशंसक हूं और उन्हे एक पारदर्शी गंभीर लेखक मानता हूं । इन दिनों मै स्वस्थ नहीं हूं, कुछ लेखन कार्य भी सिर पर है, अत मार्च से पहले मै आपका काम नहीं कर सकूंगा । हा, यदि मार्च मे फुरसत हुई तो उपन्यास को पुनः पढ़कर कुछ लिख दूगा, आप मार्च के मध्य मे स्मरण करा दे ।

आशा है, आप स्वस्थ और प्रसन्न है ।

सस्नेह
आपका विजयेंद्र स्नातक

दो

239, चक, इलाहाबाद-211003
8-2-89

प्रिय बंधु,

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि आपका ध्यान गुरु-दक्षिणा चुकाने की ओर गया है । प्रस्तावित योजना इससे भी अधिक महत्त्व की है । मैं इसमें सहर्ष सहयोग करूंगा । आप दोनों ही मेरे प्रिय हैं ।

आशा ही नहीं, विश्वास है कि आपका सत्प्रयास सफल एवं सार्थक होगा। आपकी दृष्टि और हाथ जिस पर पड़ जाये वह आपके अनुकूल बन जाता है।

मंगल कामना सहित,

सप्रेम

पुनश्च : कुंभ में जहां गोते मारने की होड़ लगी है, वहां सिंहानिया की प्रतीक्षा कौन करता है । वह तो आपके साहचर्य में ही संभव है ।

—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

[पुनश्च वाला अंश सांकेतिक भाषा में है। उसे सिर्फ मैं या वे ही समझते हैं।]

—संपादक

तीन

प्रधान संपादक 'चौथा संसार'

(हिंदी दैनिक)

73, इंदौर-452003

14.2.89

प्रिय मित्र,

29/1 का पत्र आज मिल रहा है । कारण मेरा नया पता आपके पास नहीं था।

डॉ. शिवप्रसाद सिंह के शोध प्रबंध पर मैं लिखता—पर मेरे पास वह ग्रंथ नही। भेजे । पढकर लौटा दूंगा । 15 टंकित पृष्ठ मैं नहीं लिख सकता । समय ही इतना नहीं है ।

आपको लेखकों को पारिश्रमिक देना चाहिए—तब अच्छी सामग्री मिलेगी । मुफ्त की रचनाएं आजकल के 'लोभी' विद्वान बायें हाथ से लिखकर यों ही 'टालू' भेज देते हैं । यह कड़ुआ सच है ।

डॉ. शिवप्रसाद सिंह को सस्नेह स्मरण करता हूं ।

आपका

प्रभाकर माचवे

[हमने किसी 'लोभी' विद्वान् से रचनाएं आमंत्रित नहीं कीं । हमें सभी ने सीधे हाथ से लिखकर ही रचनाएं भेजीं।]—*संपादक*

चार

17.2.89

प्रिय डॉ. प्रेमचद जैन,

प्रसन्न होंगे, आपका परिपत्र मिला । मै प्रयत्न करूंगा कि इस संबंध में एक निबंध आपके लिए लिखूं, लेकिन इसके लिए थोडा समय आपको देना ही होगा। श्री शिवप्रसाद सिह जी का नया उपन्यास 'नीला चांद' अभी-अभी पढकर रखा है । इसी को दृष्टि मे रखकर आपसे कुछ बातें करना चाहता हूं । इसके बाद भी लखनऊ को केंद्र में रखकर श्री अमृतलाल नागर ने उपन्यास लिखे हैं। वैसे ही जैसे लाहौर के इर्द-गिर्द अश्क की रचनाएं घूमती हैं । ये सारी बातें अपने निबंध में समेटना चाहता हू । आशा है, आपको यह रचना पसंद आयेगी ।

आपका
ठाकुर प्रसाद सिंह
स्थानीय संपादक

पांच

13-15, गोरे नगर
सागर,
दिनांक : 21.2.89

प्रिय भाई,

आपका 12.2 1989 का पत्र मिला, पत्नी के देहात से मैं शोकमग्न हूं, यानी कुछ भी कर सकने में असमर्थ ।

आपको मैं जानता हूं और मुझे पुरानी बातें याद हैं। याद दिलाने की कोई जरूरत नहीं। मेरी स्थिति जानकर आप मुझे क्षमा कर देंगे ।

आपका
त्रिलोचन शास्त्री

छह

कलकत्ता

22.2.89

प्रिय प्रेमचंदजी

सस्नेह नमस्कार !,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप शिवप्रसादजी पर ग्रंथ प्रकाशित करने की योजना बना रहे हैं । इस योजना की सफलता के लिए मेरी शुभ कामनाएं स्वीकारे ।

इन दिनों मेरे ऊपर इतना बोझ है कि पूर्व स्वीकृत कार्यों को ही पूरा नहीं कर पा रहा हू, अत कोई भी नया काम स्वीकार नहीं कर रहा हू ।

विवशता के लिए क्षमाप्रार्थी हू ।

सानंद होंगे ।

शुभेच्छु

विष्णुकांत शास्त्री

सात

दिल्ली

24.2.89

प्रिय भाई प्रमचद जैन जी,

कृपापत्र मिला, मैने शिवप्रसाद सिंह जी की कुछेक कहानियां ही पढ़ी हैं, ज्यादा नहीं पढ़ पाया, इसलिए अधिकार के साथ कुछ भी लिख पाने की स्थिति में नही हूं, क्षमाप्रार्थी हूं ।

आपके आयोजन की सफलता की कामना करता हूं ।

सस्नेह

भीष्म साहनी

आठ

दिल्ली
9.3.89

प्रिय भाई,

कृपापत्र मिला। खेद है, मैं लेख नहीं लिख पाऊंगा । अधकचरा लेख लिखना मुझे पसद नहीं। विशेष रूप से शिवप्रसाद सिह जी के बारे में, जिन्हें मैं बड़ा महत्त्व देता हूं ।

सस्नेह
भीष्म साहनी

नौ

15-3-89

डॉ शिवप्रसाद सिह सहृदय शिक्षक, मौलिक शोधकर्ता और सफल कलाकार है। उनके अनेक छात्र जब-तब मुझसे मिलते रहे है, उनकी बातों से मैं समझ सका हू, उनके गुरु की सहृदयता ने उन्हें कितना प्रभावित किया है । अपभ्रंश के क्षेत्र में उनका कार्य उनकी मौलिक विवेचन क्षमता का प्रमाण है, कथा-साहित्य मे उनकी कलात्मक प्रतिभा की अभिव्यक्ति से हिदी पाठक अच्छी तरह परिचित है । जीवन की दारुण परिस्थितियो में वह अपने मन को साधकर शिक्षक और लेखक के कर्तव्य निभाते रहे है । मेरी मगल कामना है, वे स्वस्थ रहें और दीर्घजीवी हो ।

रामविलास शर्मा

प्रिय डॉ जैन,
इससे काम चले, तो चलायें, अधिक लिखना संभव नहीं है ।

आपका
रामविलास शर्मा

दस

आचार्य, हिंदी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय

280, चितरंजन एवेन्यू
कलकत्ता-700006
फोन 55-1348
दिनांक : 22.3.89

प्रिय प्रेमचद्रजी,

सस्नेह नमस्कार ।

आपका प्रीतिकर पत्र मिला, किंतु उससे बोझ ढोते रहने की स्फूर्ति ही प्राप्त हुई। बढाकर पूरा न कर पाने की नहीं ।

डॉ. कृष्णबिहारी मिश्रा, 7 बी, हरिमोहन राय, कलकत्ता-700015 में रहते है। वह एकदम बंगाली मुहल्ला है । अत उनका पता अंग्रेजी में लिखना अच्छा होगा।

सानद हू ।

शुभेच्छु
विष्णुकांत शास्त्री

ग्यारह

29.3.89
बड़ी बाग, गाजीपुर, उ.प्र.

बंधुवर,

आपका 20 3 89 का पत्र सामने है । आप डॉ. शिवप्रसाद सिंह पर लिखें, मेरे किसी भी लेख को छाप ले; सहर्ष स्वीकृति है । मेरा धर्मयुगवाला निबंध आपको अच्छा लगा । इसके लिए आभारी हुआ । नजीबाबाद कस्बा छोटा है तो क्या ? वहां आप हैं, साहित्य प्रेमी हैं, साधक हैं और साहित्य के सत्य से जुडे हैं, अतः वह मेरी दृष्टि में बहुत बडा है । स्मरण रहेगा । मेरी हार्दिक शुभकामनाएं लें ।

सादर सप्रेम आपका
विवेकी राय

बारह

29.3.89

प्रिय भाई,

आपका कृपापत्र मिला । मैं दो वर्ष से लगातार अस्वस्थ चल रहा हूं । अभी लंबा लेखन या अध्ययन तो दूर पत्र-व्यवहार भी कम ही कर पाता हूं । शिवप्रसादजी की इज्जत करता हूं । पर, अभी उनकी पुस्तकों को पुन: पढ़कर लेख लिखने की सामग्री जुटा पाने की स्थिति में नहीं हू ।

सस्नेह
धर्मवीर भारती,

तेरह

W-26, ग्रीन पार्क,
दिल्ली-110016
30.3.89

प्रिय भाई,

आपके दोनों पत्र मिल गये थे । पिछले दो महीने ऐसी दुर्घटनाओं में बीते हैं, कि मुझे अपनी ही जानकारी नहीं रही है ।

आपको अनाश्वस्त नहीं होना चाहिए और साधारणत ही यह मानकर चलना चाहिए की कोई दूरारा व्यक्ति भी अपनी उलझनो मे हो सकता है ।

शिवप्रसाद सिह की कहानियों पर मैं अवश्य कुछ लिखूंगा, परंतु समय की सीमा में बधना संभव नहीं है । शिवप्रसाद सिंह मेरे निकटतम मित्र ही नहीं-नयी कहानी दौर के उत्कृष्टतम लेखक भी हैं ।

अपने तात्कालिक दायित्वों और मानसिक स्थिति को देखते हुए मैं अभी चार-पांच महीनों तक गंभीर समालोचना या व्याख्याओं में स्वयं को नहीं लगा पाऊगा, अत आपसे क्षमा चाहता हूं ।

सस्नेह
कमलेश्वर

चौदह

प्रिय भाई,

'गली आगे मुड़ती है' यहां उपलब्ध नहीं है, यदि उसकी प्रति मुझे सुलभ करा सकें, तो उस पर लिखने का प्रयत्न करूंगा ।

आपका
सियाराम तिवारी
प्रो. एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग
विश्वभारती शांतिनिकेतन
731235
पश्चिमी बंगाल

पंद्रह

5-4-89

प्रिय बंधु,

20.3 का पोस्टकार्ड पत्र आज मिला । मैं यात्रा पर था ।

आप 'शिखरों के सेतु' पर मेरी 63 में छपी समीक्षा पुनः छाप सकते हैं । मेरे पास प्रतिलिपि नहीं है ।

सप्रेम
प्र. माचवे

सोलह

A-5/3, राणाप्रताप बाग
दिल्ली-7
16.4.89

प्रिय प्रेमचंदजी,

आपका पत्र मिला । श्री माखनलाल चतुर्वेदी का जन्मशती समारोह कानपुर में साहित्य अकादमी के तत्त्वावधान में संपन्न हुआ था । मेरा उसमें मुख्य भाषण

था । विद्वानो का अच्छा जमघट था, दो दिन तक अच्छी चर्चा रही, रेडियो से भी मैंने वार्ता प्रसारित की थी । जिसकी चर्चा आपने पत्र में की है । हिंदी साहित्य की सेवा मैं अपना प्रथम कर्तव्य, धर्म मानता हूं । जो कुछ बन पड़ता है, करता रहता हूं । हिंदी की जैसी उपेक्षा हमारे देश में नेताओं द्वारा हो रही है, उसका कुफल हमसे ज्यादा आगे आनेवाली पीढ़ी भोगेंगी ।

डॉ शिवप्रसाद सिंह के विषय में नया लेख लिखना तो संभव नहीं लग रहा। पहले पत्र को ही कुछ घटा–बढाकर लिख दूंगा ।

उस पत्र को डॉ सिंह ने सर्वश्रेष्ठ समीक्षा माना था ।

आज 16.4 की प्रात काल 8.30 बजे 'साहित्यकी' में हिंदी संबंधी मेरे विचार सुने होंगे, यह रेडियो कार्यक्रम था ।

नजीबाबाद में भाषा और साहित्य की चेतना अब कैसी है ? अपने समाचार लिखते रहा करें ।

सस्नेह आपका
विजयेंद्र स्नातक

सत्रह

शंकर जयंती
10.5.89

प्रियवर डॉ जैन,

मैं इस समय शंकराचार्य की कृतियों में जुटा हूं । लंबा लेख इस समय शायद न लिख पाऊ । कहिए तो नाटक कोष में लिखा अपना विचार आपके पास भेज दूं । डॉ शिवप्रसाद सिंह तो भारत-प्रसिद्ध साहित्यकार हैं । सूर्य को क्या दीपक दिखाऊं ? मेरे लेख से उनका क्या गौरव बढ़ेगा, पर आपका आग्रह टाला भी नहीं जाता । यदि आप समय दें तो जुलाई में लिखकर भेज दूं । इस समय आंखों में भी कष्ट है । बडे कष्ट से पत्र लिख रहा हूं ।

सप्रेम
दशरथ

अठारह

[डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने पुहकर कृत रसरतन का सपादन करके 'हिंदी साहित्य के अध्येताओं को महत्त्वपूर्ण सामग्री दी' डॉ. रा वि. शर्मा के पत्र मे इसी तथ्य को रेखाकित किया है । हमे खेद है कि उक्त ग्रंथ पर अलग से कोई लेख प्रस्तुत ग्रंथ में नहीं दे पाये । श्रद्धेय शर्मा जी के पत्र ने उस कमी को किसी सीमा तक पूरा किया है]—**संपादक**

नयी दिल्ली-18
14.6.89

प्रिय डॉ. जैन,

आपका 3 6 का पत्र मिला । आप मेरी पुस्तक से 'कीर्तिलता' संबंधी अंश लेना चाहते हैं, ले लें । अंत में उस अंश के स्रोत का उल्लेख कर दें।

पुहकर कृत 'रसरतन' स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल को उनकी 22वीं पुण्य तिथि पर श्रद्धांजलि के रूप में समर्पित है। शुक्लजी ने 'रसरतन' को हिंदी साहित्य में एक विशेष स्थान देने की बात कही थी। उसे यह स्थान तब तक न मिल सकता था, जब तक यह ग्रंथ सुसंपादित रूप में सुलभ न हो। डॉ. शिवप्रसादसिंह ने यह कार्य पूरा करके हिंदी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करनेवालों को महत्त्वपूर्ण सामग्री दी और शुक्लजी की स्मृति को मूल्यवान श्रद्धांजलि अर्पित की। शुक्लजी ने सूफी कवियों के लिए लिखा था, "इन्होंने मुसलमान होकर हिंदुओं की कहानियां, हिदुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामजस्य दिखा दिया।" सांप्रदायिक अलगाव से ऊपर उठकर कवि जातीय संस्कृति का विकास इसी तरह करते हैं। दरबारी कवियों में हिंदू-मुस्लिम दोनों हैं—इसलिए प्रेम कहानी लिखनेवालों में हिंदू-मुसलमान दोनों हों, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। सुसंपादित ग्रंथ को पढने के सुख के अलावा, मुझे विश्वास है, संपादक की लंबी शोधपूर्ण भूमिका से विद्वानों को अनेक समस्याओं पर विचार करने की प्रेरणा भी मिलेगी ।

आशा है, इससे आपका काम चल जायेगा ।

आपका
रामविलास शर्मा

उन्नीस

नयी दिल्ली
25 फरवरी, 1991

प्रिय भाई,

नमस्कार !

दिल्ली में हुई दोनों मुलाकातें बस यूं ही बीत गयीं, मैं कम-से-कम ऐसा ही मानता हूं । लगभग तीस वर्षों के बाद न ज्यादा सही, तीस मिनट तो हमारा 'एकांत' मिलना ही चाहिए था । बहरहाल, इस महानगरीय जंगल में बसने की यही नियति है ।

आपका आदेश सिर माथे ले चुका हूं । अपने इस आत्मीय कर्त्तव्य का निर्वाह कर सकूंगा, यह विश्वास है। लेकिन एक भारी अदरूनी आपाधापी में हू—शुरू कहां से करूं ? आप मेरा यह संकट खूब समझ सकते हैं । कितना छोड़ू— कितना सहेजूं ! जन्मना मेरा कोई बडा भाई नहीं है, और मेरे जीवन के अफाट वीराने में एकमात्र बडे भाई हैं-शिवप्रसाद सिंह। उन पर लिखना मेरे लिए 'पंचकोशी परिक्रमा' है। पूरी पोथी लिख सकता हू, लेखनुमा चीज तो 'सिनाप्सिस' की कहायेगी। फिर भी, पुस्तक की गरिमा के अनुकूल, लिखूंगा जरूर। बस, एक आग्रह अवश्य है, मुझ जैसे काहिल आदमी को इस काम के लिए थोडा अतिरिक्त समय दे देंगे । ग्रंथ की रूपरेखा, संक्षेप में, जानने का कुतूहल है। असुविधा न हो तो बतायेंगे । लेख के अलावा मेरे योग्य और कोई सेवा हो तो वह भी लिखेंगे।

सारी रात 'मंजुशिमा' पढकर पूरा किया है । आज 25 फरवरी भी है । मेरी मानसिकता का अनुमान लगा सकते हैं ।

पुनश्च : घर में मेरी ओर से सबको यथायोग्य प्रणाम और आशीष ।

सस्नेह आपका
पद्मधर त्रिपाठी

●●●